श्री महावीर ग्रन्थमाला का २० वां पुष्प

पंडित चैनसुखदास न्यायतीर्थ

प्रकाशक :

प्रबन्धकारिणी कमेटी

दि० जैन अ० क्षेत्र श्रीमहावीरजी

महावीर भवन, एस. एम. एस. हाईवे, जयपुर

सम्पादक मण्डल
पं० मिलापचंद शास्त्री
डा० कमलचंद सौगाणी
डा० कस्तूरचंद कासलीवाल

प्रबन्ध सम्पादक
ज्ञानचंद्र खिन्दूका

प्रकाशन तिथि : २५ जनवरी सन् १९७६

मूल्य : चालीस रुपये

प्राप्ति स्थान :
साहित्य शोध विभाग
दि० जैन अ० क्षेत्र श्रीमहावीरजी
महावीर भवन, एस. एम. एस. हाईवे, जयपुर

☐

मुद्रक :
मनोज प्रिन्टर्स
गोदीकों का रास्ता, किशनपोल बाजार,
जयपुर-३०२००३

□

पंडित चैनसुखदास स्मृति ग्रंथ को पाठकों के हाथों में देते हुए हमें अत्यधिक प्रसन्नता है। पंडितजी सा० राजस्थान के ही नहीं किन्तु समस्त देश के समादृत विद्वान थे। वे साहित्य एव समाजसेवी थे। उन्होंने देश एवं समाज को एक नयी दिशा प्रदान की थी, यही नहीं युवा पीढी को उनसे सतत जागरूक रहने की प्रेरणा प्राप्त हुई थी। अनेकों के वे संबल थे और अनेकों को उनसे मार्ग-दर्शन प्राप्त होता रहता था। कृशकाय होने पर भी वे अत्यधिक मानोवल वाले व्यक्ति थे। उनका साधु के समान जीवन था तथा गृहस्थी में रहते हुये भी वे सन्त कहे जाने योग्य थे। उनकी विभिन्न सेवाओं के प्रति स्मृति ग्रंथ के प्रथम खण्ड में विभिन्न विद्वानों, समाजसेवियों एवं राजनेताओं ने जो भावभीनी श्रद्धाञ्जलियां समर्पित की हैं उनसे उनके महान् व्यक्तित्व का सहज ही अनुमान लगाया जा सकता है।

पंडितजी सा० का एवं श्री दि० जैन अतिशय क्षेत्र के मंत्री एवं अन्य सभी कार्यकर्त्ताओं का सम्बन्ध अत्यधिक मधुर एवं सौहार्दपूर्ण रहा। पंडितजी द्वारा समय समय पर दिये गये अमूल्य सुझावों एवं सत्परामर्श का खूब उपयोग किया जाता रहा। श्री महावीर क्षेत्र के तत्कालीन मंत्री श्री रामचन्द्रजी खिन्दूका, सेठ बधीचन्दजी गंगवाल एवं श्री केशरलालजी बख्शी का उनसे घनिष्ठ सम्बन्ध रहा। क्षेत्र द्वारा संचालित साहित्य शोध विभाग, छात्रवृत्ति फण्ड एवं असहाय सहायता फण्ड के स्थापना में पंडितजी की सतत् प्रेरणा ने अत्यधिक योगदान दिया। यही कारण है कि उनके निधन पर आयोजित श्री महावीर क्षेत्र की प्रबन्धकारिणी कमेटी की शोक सभा में पंडित जी की स्मृति में एक स्मृति ग्रंथ प्रकाशन का तत्काल निर्णय लिया गया और उसी निर्णयानुसार यह स्मृति ग्रंथ प्रकाशित किया जा रहा है।

स्मृति ग्रंथ को चार भागों में विभक्त किया गया है। इसके प्रथम खण्ड में पंडितजी के जीवन पर विस्तृत प्रकाश डालने का प्रयास किया गया है उनके जीवन का अध्ययन करने से पता चलता है कि उन्होंने जिन सामाजिक

आन्दोलनों का नेतृत्व किया था वे आज सामाजिक इतिहास के बहुमूल्य पृष्ठ बन चुके हैं। स्मृति ग्रंथ के शेष तीन खण्डों में जैनधर्म, दर्शन, इतिहास एवं पुरातत्व से सम्बन्धित लेखों को स्थान दिया गया है।

यह स्मृति ग्रंथ महावीर ग्रंथमाला का २०वां पुष्प है। इसके पूर्व १६ ग्रंथों का प्रकाशन हो चुका है जिनकी विस्तृत सूची इसी स्मृति ग्रंथ के पिछले भाग पर प्रकाशित है। इन पुस्तकों में राजस्थान के जैन शास्त्र भण्डारों की ग्रंथ सूची के पांच भाग जिनमें ४० हजार से भी अधिक हस्तलिखित ग्रंथों का विवरण दिया गया है, उल्लेखनीय हैं। विश्वविद्यालयों में प्राकृत, संस्कृत, अपभ्रंश, राजस्थानी एवं हिन्दी साहित्य में एवं विशेषतः जैन साहित्य के विभिन्न पक्षों पर शोध कार्य करने वाले विद्यार्थियों के लिये ये ग्रन्थ सूचियां वरदान सिद्ध हुई हैं। अनुसन्धान के क्षेत्र में वर्तमान में जो गतिशीलता दिखलायी दे रही है उसमें क्षेत्र द्वारा प्रकाशित साहित्य का महत्वपूर्ण योगदान रहा है। ग्रंथ सूचियों के अतिरिक्त हिन्दी पद संग्रह, राजस्थान के जैन संत, जैन शोध और समीक्षा, महाकवि दौलतराम कासलीवाल व्यक्तित्व एवं कृतित्व, जिणदत्त-चरित एवं प्रद्युम्नचरित जैसी कृतियां उल्लेखनीय हैं जिनके प्रकाशन से न केवल साहित्यिक क्षेत्र गौरवान्वित हुआ है अपितु साहित्य जगत् के अज्ञात एवं अब तक उपेक्षित साहित्य सेवियों को भी प्रकाश में लाने का महत्वपूर्ण कार्य हुआ है। इसी तरह प्रस्तुत स्मृति ग्रंथ से पंडितजी के जीवन एवं साधना का मूल्यांकन तो हो ही सकेगा किन्तु वह भविष्य में विद्वानों तथा समाज सेवियों के लिये दीपस्तम्भ का भी कार्य करेगा ऐसा हमारा पूर्ण विश्वास है।

ग्रंथ के प्रबन्ध सम्पादक एवं सम्पादक मंडल के तीनों विद्वानों का मैं क्षेत्र कमेटी की ओर से अत्यधिक आभारी हूँ जिन्होंने स्मृति ग्रंथ के सम्पादन में हमें पूर्ण सहयोग प्रदान किया। मैं उन सभी विद्वान् लेखकों का भी आभारी हूँ जिन्होंने अपने महत्वपूर्ण लेखों को इस स्मृति ग्रन्थ में प्रकाशनार्थ भेज कर इसके प्रकाशन में सहयोग दिया।

अन्त में मैं पंडितजी साहब के महान् व्यक्तित्व के प्रति हार्दिक श्रद्धांजलि समर्पित करता हूँ तथा आशा करता हूं कि हम उनके बतलाये हुये मार्ग पर निरन्तर बढ़ते हुये उनके स्वप्नों को साकार कर सकेंगे।

मोहनलाल काला
अध्यक्ष

पंडित चैनसुखदास जी न्यायतीर्थ का समूचा जीवन अध्ययन, मनन, अध्यापन एवं साहित्यसृजन में ही व्यतीत हुआ। 22 जनवरी 1899 को जन्म लेने के बाद पंडितजी का बचपन एवं कैशोर्य अत्यन्त कठिन परिस्थितियों में व्यतीत हुआ था लेकिन स्थित-प्रज्ञ के समान पंडितजी ने इन सब ही विघ्नबाधाओं को सहन किया और अपने जीवन को सफलता और सिद्धिकी ऊंचाइयों तक ले गये। वे ऐसे यशस्वी विद्वान् थे जिन्हें सांसारिक वेश में रहते हुये भी ऋषि और तपस्वी का मान प्राप्त था। वे जन्म जात शिक्षक थे जो अध्यापन के लिये जीये न कि अध्यापन द्वारा। हिन्दी और प्राकृत के साथ संस्कृत साहित्य पर भी उनका पूर्ण अधिकार था। वे जितने उत्कृष्ट वक्ता और व्याख्याता थे उतने सिद्धहस्त लेखक व कुशल सम्पादक भी थे। "जैन दर्शनसार", "भावना विवेक" और "पावन प्रवाह जैसी संस्कृत की मौलिक एवं स्वतंत्र रचनाओं में उनके प्रगाढ़ पांडित्य के स्पष्ट दर्शन होते हैं। इसके साथ ही राष्ट्र और समाज में व्याप्त बुराइयों, कुरीतियों और रुढ़ियों के वे तीव्र आलोचक थे। उनने कितनी ही सामाजिक संस्थाओं को अपनी प्रेरणा और आशीर्वाद से सफल बनाया।

दिगम्बर जैन अतिशय क्षेत्र श्री महावीरजी द्वारा संचालित साहित्यिक व धार्मिक गतिविधियों के विकास में स्वर्गीय पंडितजी का विशेष योग दान रहा है। मेधावी किन्तु आर्थिक दृष्टि से परेशान विद्यार्थियों को छात्रवृत्ति देने, विधवाओं की सहायता करने एव वृद्ध व असमर्थ व्यक्तियों को अनुदान देने आदि की योजनाओं को क्षेत्र द्वारा प्रारम्भ करने में पंडित साहब का बड़ा हाथ रहा है साहित्य प्रकाशन के कार्य में क्षेत्र को पंडितजी ने जीवन पर्यन्त वहुमूल्य निर्देशन दिया। पंडितजी के प्रति मेरे पिताजी श्री स्वर्गीय

रामचन्द्रजी खिन्दूका जिनके मंत्रित्व काल में क्षेत्र से ये योजनाएं प्रारम्भ हुई, पंडित साहब में बडी श्रद्धा रखते थे। क्षेत्र के कार्यों में पंडित साहब का सद्परामर्श व प्रेरणा उन्हें सदैव मिलती रही यदि मैं यह कहूं कि पंडितजी के प्रति श्रद्धा मुझे मेरे पिताजी से विरासत में मिली तो भी अत्युक्तिनहीं होगी और मैं इस सम्बध में अपने को भाग्यशाली मानता हूं कि मुझे पंडित साहब का भरपूर दुलार और विश्वास मिला। २५ जनवरी की रात्रि को मृत्यु के समय मैं इस महामानव के चरणों में उपस्थित था।

पंडितजी के निधन के पश्चात् २६ जनवरी की शोकसभा में दिगम्बर जैन अतिशय क्षेत्र श्री महवीरजी ने क्षेत्रहितैषी इस मूर्धन्य विद्वान् के प्रति अति कृतज्ञतापूर्वक श्रद्धांजलि समर्पित की ओर उनकी स्मृति में स्मृति ग्रन्थ प्रकाशित करने का निर्णय लिया—प्रस्तुत ग्रन्थ उसी निर्णय का परिणाम है। कुछ विशेष कारणों से ग्रंथ के प्रकाशन में पर्याप्त विलम्ब हुआ है जिनके लिये हम क्षमा प्रार्थी हैं।

इस ग्रन्थ को चार खंडो में विभाजित किया गया है। प्रथम खंड में स्वर्गीय पंडितजी के जीवन, व्यक्तित्व एवं कृतित्व पर सामग्री है डाक्टर कस्तूरचन्दजी कासलीवाल ने बड़े परिश्रम से पंडितजी के जीवन पर विस्तृत लेख लिखा है जिसमें उनके जीवन के विभिन्न पक्षों पर प्रकाश डाला गया है और उनकी कृतियों का मूल्यांकन किया गया है। राष्ट्र के विभिन्न विद्वानों एवं विशिष्ट व्यक्तियों ने पंडितजी को जो श्रद्धा सुमन प्रस्तुत किये हैं वे इस ही खंड में संग्रहीत हैं।

स्मृति ग्रंथ के शेष तीन खंडों में धर्म एवं दर्शन, साहित्य एवं संस्कृति, पुरातत्व एवं इतिहास सम्बन्धी लेख है—ये सब ही विषय पंडितजी को अत्यन्त प्रिय थे और वे उनको लेख, व्याख्यान आदि में प्रायः समाविष्ट करते रहते थे।

स्मृति ग्रन्थ के संपादन में डा० कमलचन्द सोगाणी उदयपुर, डा० कस्तूरचन्दजी कासलीवाल एवं पंडित मिलापचन्दजी शास्त्री ने अनवरत परिश्रम किया है जिसके लिए हम उनके अत्यन्त आभारी हैं। इनके कुशल और अनुभवी संपादन में ही यह संकलन पूरा हो सका है।

मैं उन सब ही विद्वानों और लेखकों का भी अत्यन्त कृतज्ञ हूं जिनने अपनी श्रद्धाञ्जलियां व सारगर्भित लेख भेजकर इस ग्रन्थ के प्रकाशन में महत्वपूर्ण योगदान दिया है।

मैं उन लेखकों से भी क्षमाप्रार्थी हूं जिनके लेखों को हम किन्हीं कारणों से इस स्मृति ग्रन्थ में स्थान देने में असमर्थ रहे हैं। दिगम्बर जैन अतिशय क्षेत्र श्री महावीरजी की प्रबन्धकारिणी कमेटी का आभार भी हम नहीं भूल सकते जिसने इस ग्रन्थ की महत्ता का मूल्यांकन कर इसके प्रकाशन का सारा भार स्वयं वहन किया है।

ज्ञानचन्द्र खिन्दका

जयपुर को अपने स्थापना काल से ही जैन संस्कृति का प्रमुख नगर रहने का सौभाग्य प्राप्त है। जैन समाज की संख्या एवं प्रभुत्व की दृष्टि से इसे जैनपुरी कहा जाता है। यहां के शासन में जैनों का गत २०० वर्षो से वर्चस्व रहा और वे शासन के सभी उच्च पदों पर जैन कार्य करते रहे हैं। साहित्यिक क्षेत्र में यहां सैकड़ों जैन विद्वान् हुए जिन्होंने साहित्य के माध्यम से देश में एक नयी साहित्यिक क्रांति को जन्म दिया। इस दृष्टि से महाकवि दौलतराम, महापंडित टोडरमल, पं० जयचन्द्र छावड़ा, बख्तराम साह, सदासुख कासलीवाल के नाम उल्लेखनीय हैं जो आज भी अखिल भारतीय स्तर के विद्वान् माने जाते हैं। यहां के विशाल और कलापूर्ण जैन मन्दिर जयपुर जैन समाज के प्राचीन वैभव का स्मरण कराते हैं। मन्दिरों की संख्या की दृष्टि के यहां का स्थान सर्वोपरि है। सामाजिक क्षेत्र में भी जयपुर जैन समाज ने अपने विद्वानों, दीवानों एवं सामाजिक कार्यकर्त्ताओं के माध्यम से सारे देश को प्रशस्त नेतृत्व दिया। इसीलिए आज भी जयपुर जैन समाज का नाम बड़े गौरव से लिया जाता है।

पं० चैनसुखदासजी न्यायतीर्थ भी महापंडित टोडरमल, दौलतराम, जयचन्द छावड़ा की कोटि के विद्वान थे जिनका समस्त जीवन समाज एवं साहित्य सेवा में समर्पित रहा, जिन्होंने देश एवं समाज के हितों को सर्वोपरि माना तथा अहर्निश इसी धुन में जीते रहे। यही कारण है कि पंडितजी का नाम लेते ही जयपुर के नागरिक आज भी श्रद्धावनत हो जाते हैं तथा उनके गुणों की प्रशंसा करते नहीं थकते। पंडितजी सा० अत्यधिक प्रतिभा सम्पन्न विद्वान् थे तथा ओजस्वी वक्ता, कुशल लेखक, आशुकवि, वरिष्ठ पत्रकार एवं सम्पादक सभी कुछ थे। वे दार्शनिक विद्वान् थे, संस्कृत एवं प्राकृत के प्रकांड ज्ञाता थे तथा सरस्वती के वरद पुत्र थे। किसी विद्वान् में इतने अधिक गुण एक साथ मिलना सहज संभव नहीं है किन्तु पंडित जी सा० ऐसे सर्व गुण सम्पन्न थे जिसकी किसी से तुलना करना उनके गुणों की उपेक्षा करना है। तीस वर्षो से भी अधिक समय तक उनका जयपुर जैन समाज पर पूर्णतः

प्रभाव रहा और समाज की प्रत्येक गतिविधि उनके आशीर्वाद के साथ सम्पन्न हुई। इन वर्षों में जयपुर जैन समाज को जानने के लिए पं. चैनसुखदासजी के पास जाना अनिवार्य माना जाता रहा।

स्मृति ग्रन्थ के तीनों सम्पादकों को भी उनके शिष्य होने का सौभाग्य प्राप्त है। प्रतिवर्ष जब उनकी जन्म तिथि आती तो सामूहिक रूप से उनका शिष्य परिवार उनके चरणों में श्रद्धा पुष्प समर्पित करने पहुंचते। उसी समय उनके अभिनन्दन ग्रन्थ प्रकाशन की बात चलती। पंडित जी सा० को यह बात मालूम पड़ने पर हमें बुलाकर उस पर निषेधाज्ञा प्रसारित कर देते। उस समय उनकी आज्ञा को शिरोधार्य करने के अतिरिक्त हमारे पास कोई चारा नहीं बचता था। लेकिन फिर भी उनकी जन्म तिथि के दिन उनका शिष्य परिवार एवं जयपुर नगर के सैकड़ों नागरिक उनके यशस्वी एवं दीर्घ जीवन की कामना करते। यह क्रम १५-२० वर्षों तक बराबर चलता रहा। २२ जनवरी १९६९ को उनकी ७० वीं जन्म तिथि उनकी रुग्णावस्था में ही मनायी गयी तथा उनके शीघ्र ही आरोग्य लाभ की प्रार्थना की गयी। वे साधारण रूप से बीमार थे तथा किसी को भी यह आशंका नहीं थी कि यह उनका अन्तिम जन्म दिन होगा। दिनांक २६ जनवरी १९६९ लगते ही वे सदा के लिए इस देह से मुक्ति पा गये। इसलिए उनका अभिनन्दन ग्रन्थ निकालने की कहानी अधूरी रह गयी तथा स्मृति ग्रन्थ ने अभिनन्दन ग्रन्थ का स्थान ले लिया।

प्रस्तुत स्मृति ग्रन्थ श्री महावीर क्षेत्र की ओर से प्रकाशित हो रहा है। इस क्षेत्र के विकास में पंडित जी सा० को कितनी रुचि थी यह इस ग्रन्थ के प्रकाशकीय तथा प्रबन्ध सम्पादकीय वक्तव्य से जाना जा सकता है। किसी विद्वान् की स्मृति में देश के सर्वाधिक लोक प्रिय अतिशय क्षेत्र की ओर से स्मृति ग्रन्थ प्रकाशित होना स्वयं उस विद्वान् की महत्ता को प्रकट करता है। यद्यपि स्मृति ग्रन्थ के प्रकाशन का प्रमुख दायित्व उनके शिष्यों एवं प्रशंसकों का माना जाता है। और वे यह चाहते भी हैं किन्तु इसके प्रकाशन में श्रीमहावीर अतिशय क्षेत्र की प्रबन्ध कारिणी समिति ने तत्काल निर्णय लेकर जिस दायित्व का वहन किया है वह सर्वथा प्रशंसनीय है।

स्मृति ग्रन्थ को चार खण्डों में विभाजित किया गया है। प्रथम खण्ड उनके व्यक्तित्व और कृतित्व से सम्बन्धित है। उसमें देश के सम्मान्य विद्वानों समाज सेवियों तथा नेताओं ने पंडित जी के अनिन्द्य एवं पावन जीवन पर जो कुसुमाञ्जलि समर्पित की है वह उनके महान् व्यक्तित्व का परिचायक है। इन श्रद्धांजलियों एवं संस्मरणों में पंडित जी का अपने शिष्यों के प्रति सहज स्नेह उनके हितों के प्रति अहर्निश जागरूकता, दुःखी और अभाव ग्रस्त

लोगों को देखकर उनकी सहायता के लिए चिन्तित होना, असाम्प्रदायिक मनोवृत्ति तथा प्रत्येक व्यक्ति के लिए उनका सहज सुलभ होना आदि कितने ही गुणों का परिचय प्राप्त हो सकता है। स्मृति ग्रन्थ के सम्पादक डा० कस्तूर चन्द कासलीवाल ने उनके सम्पूर्ण जीवन एवं साहित्य पर विस्तृत प्रकाश डाला है वह उनकी जीवन गाथा को जानने के लिए अत्यन्त महत्वपूर्ण है। यद्यपि उनके सम्बन्ध में इससे भी अधिक लिखा जा सकता था लेकिन स्थानाभाव के कारण वह सम्भव नहीं हो सका।

स्मृति ग्रंथ के शेष तीन खण्डों में धर्म, दर्शन, साहित्य, संस्कृति, इतिहास एवं पुरातत्व विषयक लेखों को स्थान दिया गया है। इन लेखों की संख्या ४६ है जो देश के विभिन्न मूर्धन्य विद्वानों द्वारा लिखे हुए है। इन लेखों के आधार पर जैन धर्म एवं दर्शन का सभी दृष्टियों से सामान्य ज्ञान प्राप्त किया जा सकता है और उसके महत्व को समझा जा सकता है एक ही ग्रन्थ में हमनें अधिक से अधिक उपयोगी लेखों को स्थान देने का प्रयास किया गया है। समाज में महिला लेखकों की संख्या भी बढ़ रही है और इस स्मृति ग्रन्थ में ऐसी ही कुछ विदुषी महिलाओं के निबन्धों का प्रकाशन इसका प्रत्यक्ष प्रमाण हैं। अन्त में हम विद्वान् लेखकों के आभारी हैं जिन्होंने अपने महत्वपूर्ण लेख भेज कर स्मृति ग्रंथ के प्रकाशन में सहयोग दिया। क्योंकि यदि उनका सहयोग प्राप्त नहीं होता तो स्मृति ग्रन्थ के प्रकाशन की दिशा में एक कदम भी आगे बढ़ना संभव नहीं था।

हम क्षेत्र की प्रबन्धकारिणी कमेटी के सभी सदस्यों, अध्यक्ष श्री मोहनलालजी काला, प्रबन्ध सम्पादक श्री ज्ञानचन्द्रजी खिन्दूका के भी आभारी हैं जिन्होंने स्मृति ग्रन्थ को प्रकाशित करवाकर एक अविस्मरणीय कार्य का सम्पादन किया और जिसके लिए वर्तमान पीढ़ी ही नहीं अपितु भावी पीढ़ी भी सदा आभारी रहेगी।

मिलापचन्द शास्त्री

कमलचन्द सौगानी

कस्तूरचन्द कासलीवाल

विषयानुक्रम

खण्ड- १

श्रद्धाञ्जलियाँ, जीवन, व्यक्तित्व, कृतित्व एवं संस्मरण

खण्ड- २

धर्म एवं दर्शन

खण्ड- ३

साहित्य एवं संस्कृति

खण्ड— ४

इतिहास एवं पुरातत्व

पं० चैनसुखदास न्यायतीर्थ

जन्म २२ जनवरी सन् १८९९ स्वर्गवास २६ जनवरी सन् १९६९

खण्ड १
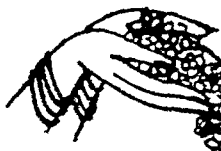
मंगल मंत्र

णमो अरहंताणं

णमो सिद्धाणं

णमो आइरियाणं

णमो उवज्झायाणं

णमो लोए सव्वसाहूणं

गुरुदेव !

जीवन निर्माता, सत्यनिष्ठ

गुरुदेव ! श्रेष्ठ साहित्यकार ।

निर्भीक प्रवक्ता, गुणग्राही,

कवि, सफल समीक्षक, पत्रकार

जन-मानस प्रिय, कर्मठ नेता

सुस्तम्भ संस्कृति, अति उदार ।

हितमितभाषी, गृह वैरागी

सादर चरणों में नमस्कार ।।

अनूपचन्द न्यायतीर्थ

श्रद्धाञ्जलियां

पं० चैनसुखदास जी के निधन से समाज की काफी क्षति हुई है। पंडित जी बहुत बड़े विद्वान् थे, समाज की एक निधि थे। वे मिलनसार और असमर्थों के सहायक थे। उनके अभाव से सभी को बहुत दुख हुआ है। मेरा उनसे काफी पुराना परिचय था, उनसे घंटों बातें हुई हैं। सचमुच ऐसे व्यक्ति बहुत कम देखने में आते हैं। उनके गुणों को ग्रहण करना ही उनके शिष्यों की सच्ची श्रद्धाञ्जलि है। दिवंगत आत्मा को शान्ति लाभ हो।

आचार्य विमल सागर

(प्रेषिका—चित्रा बाई जैन)

श्री चैनसुखदास घर में वैरागी

भद्रपरिणामी श्री पं० चैनसुखदास जी न्यायतीर्थ अपने समय के जैनदर्शन के उद्भट विद्वान थे। उनमें शास्त्र बोध की अद्भुत प्रतिभा थी। अधीत विषय को हृदयंगम कर उसे अपनी विशिष्ट शैली में व्यक्त करना उन्हें खूब आता था। जैन सिद्धान्तों के प्रति उनकी श्रद्धा अविचल थी। उनका स्वतन्त्र चिन्तन तथा अध्ययन प्रौढ कोटि का था। जिस विषय का उन्हें परिज्ञान था, उसमें संशय अथवा भ्रान्ति दोष नहीं रखते थे। निरन्तर आगम स्वाध्याय उनको प्रिय था। परिग्रहों के प्रति उदासीन भाव रखने से वे समाज में समाहत थे तथा जयपुर के निवासी "नव पीढी गुरु" कहे जाने का उन्हें गौरव प्राप्त था। आगम रहस्यों को जान कर उन्हें तीर्थंकर देव के अनुयायियों में कुशलतापूर्वक प्रचारित करना, उनके जीवन का उद्देश्य था—उनके श्वासोश्वास का संचलन था। उन्हें कभी स्वार्थ अथवा लोभवश अनीति किन्तु असत्य से मैत्री नहीं रहीं, वह असामान्य विद्वान्, विशिष्ट वक्ता, अद्भुत तर्ककुशल पंडित थे। विद्वान् व त्यागी उनसे मार्ग-दर्शन लेते थे। वे कपड़े से ढके मुनि के समान थे।

उपाध्याय विद्यानन्द मुनि

स्वर्गीय पं० श्री चैनसुखदास जी न्यायतीर्थ एक प्राचीन और उद्भट विद्वान् थे। उनकी लेखन व प्रवचन शैली प्रभावक थी। समाज में उन जैसे कर्मठों की अत्यन्त आवश्यकता है।

क्षु. शीतल सागर

पंडित चैनसुखदास न केवल एक विद्वान्, विचारक एवं लेखक ही थे अपितु एक सफल पत्रकार भी। उन्होंने अपने कृतित्व एवं व्यक्तित्व की छाप प्रत्येक क्षेत्र में डाली है। मुझे आशा है कि उनके जीवन से समाज प्रेरणा लेगा।

व० वे० गिरी

भूतपूर्व राष्ट्रपति

मुझे यह जानकर बड़ी प्रसन्नता हुई कि स्वर्गीय पं० चैनसुखदासजी न्यायतीर्थ के उपदेशों एवं आदर्शों को "पं० चैनसुखदास स्मृति ग्रन्थ" के नाम से प्रकाशित किया जा रहा है। स्वर्गीय पण्डित जी एक प्रतिभाशाली व्यक्ति थे जिन्होंने साहित्य, ज्ञान प्रसार और समाज सेवा में अपना महत्त्वपूर्ण योग दिया। यद्यपि उनका विशेष विस्तृत कार्य क्षेत्र जैन साहित्य की खोज प्रकाशन रहा तथापि वे एक शिक्षक पत्रकार और कवि भी थे। मैं उन्हें श्रद्धाञ्जलि अर्पित करते हुए प्रकाशन की सफलता चाहता हूं।

हरिदेव जोशी

मुख्य मन्त्री, राजस्थान

यह जान कर प्रसन्नता हुई कि स्व० पं० चैनसुखदासजी की स्मृति में एवं उनके प्रति श्रद्धांजलि समर्पित करने के उद्देश्य से एक स्मृति ग्रन्थ का प्रकाशन करने का संकल्प किया गया है। वास्तव में स्व० पं० जी की साहित्य क्षेत्र में अपार एवं महत्वपूर्ण सेवायें रही हैं। मुझे पूर्ण विश्वास है कि इस ग्रन्थ में संकलन की गई सामग्री द्वारा उनके बताए गए आदर्शों को सरल भाषा में दर्शाया जायेगा ताकि समाज के हर वर्ग के नागरिक को उससे प्रेरणा मिल सके। मैं उनके प्रति अपनी श्रद्धांजलि अर्पित करते हुए आपके इस प्रयास की पूर्ण सफलता की कामना करता हूं।

प्रकाशचन्द्र सेठी

मुख्य मन्त्री, मध्य प्रदेश

मुझे यह जानकर प्रसन्नता है कि श्री दिगम्बर जैन अतिशय क्षेत्र श्रीमहावीरजी की प्रबन्धकारिणी कमेटी ने पंडित चैनसुखदास स्मृति ग्रन्थ का प्रकाशन करने का कार्यक्रम बनाया है।

पंडित चैनसुखदास न्यायतीर्थ संस्कृत साहित्य, धर्म और दर्शन के उच्चकोटि के विद्वान् थे। प्रचार से दूर रह कर निरन्तर ठोस रचनात्मक कार्य करने वाला व्यक्तित्व हमारे बीच में से नियति ने उठा लिया इसका पूरे राजस्थान के विद्वत् समाज को शोक है।

श्री चैनसुखदासजी का जीवन एवं कृतित्व समाज के सभी वर्गों के लिए प्रेरणा का स्रोत है।

मैं अतिशय क्षेत्र महावीर जी की प्रबन्धकारिणी कमेटी के निर्णय का स्वागत करता हूं और उनके "स्मृति ग्रन्थ" प्रकाशन की सफलता चाहता हूं, तथा स्व० श्री चैनसुखदास न्यायतीर्थ के प्रति अपनी विनम्र श्रद्धांजलि अर्पित करता हूं।

मोहनलाल सुखाड़िया
(राज्यपाल मैसूर)

मुझे यह जानकर प्रसन्नता हुई कि पं० चैनसुखदास की स्मृति में एक ग्रन्थ का प्रकाशन किया जा रहा है।

मैं आशा करता हूं कि इस ग्रन्थ में पं० चैनसुखदास जी के जीवन एवम् आदर्शों के सम्बन्ध में महत्वपूर्ण लेख प्रकाशित किये जावेंगे। पंडितजी ने धर्म, दर्शन, संस्कृति एवं समाज इतिहास आदि पर पुस्तकें लिख कर राजस्थान को अनमोल साहित्य प्रदान किया है।

हमारी सबसे बड़ी श्रद्धाञ्जली यही होगी कि हम उनके बताये मार्ग का अनुसरण करें।

मैं ग्रन्थ के प्रकाशन की सफलता की कामना करता हूं।

शिवचरण माथुर
खाद्य एवं रसद मन्त्री

यह जानकर प्रसन्नता हुई कि आप स्वर्गीय पं० चैनसुखदास जी की स्मृति में एक ग्रन्थ प्रकाशित करने का आयोजन कर रहे हैं। आपका यह विचार बहुत उपयुक्त है और मैं उसकी सफलता के लिये अपनी हार्दिक शुभ कामनायें प्रेषित करता हूं।

अपने विद्वानों का आदर करना हम सब का कर्तव्य है। इसी प्रकार हम उनकी स्मृति को स्थायी रख सकते हैं और उनकी जीवनियों तथा उनके कार्यों से प्रेरणा ले सकते हैं।

मुझे आशा है कि आपका यह स्मृति-ग्रन्थ ऊंचे स्तर का होगा और इसके द्वारा इसके पढ़ने वालों को अच्छा लाभ पहुंचेगा।

भक्त दर्शन
(भूतपूर्व शिक्षा राज्य मन्त्री)
भारत सरकार, नई दिल्ली

पं० चैनसुखदास स्मृति ग्रन्थ का प्रकाशन आप कर रहे हैं जानकर प्रसन्नता हुई। मैंने तो पण्डित जी के सम्बन्ध में अधिक सुना है, कोई मेरा निजी सम्पर्क अधिक नहीं हुआ, एक दो बार मिले अवश्य ही हैं। उनकी धर्म और समाज के प्रति बड़ी लगन थी और धर्म के मूल तत्व को अपनाने की उनकी बड़ी आकांक्षा थी। वे भारतीय दर्शन के ज्ञाता होने के साथ साथ पश्चिमी दर्शन से भी अनभिज्ञ नहीं थे और जो आज के समाज के बच्चे हैं उनमें धार्मिकता और नैतिकता बढ़ाने की ओर उनकी बराबर दृष्टि रहती थी। समस्त समाज की उनमें श्रद्धा थी और विद्वज्जन उनको बहुत आदर से देखते थे।

साहु शान्तिप्रसाद जैन

मेरा जन्म जोबनेर में हुआ और भाई चैनसुखदास जी का जन्म भादवा में जो जोबनेर से दसेक मील है। बाद में वे अत्यन्त प्रसिद्ध पंडित चैनसुखदास जी हो गये। उन्होंने प्रारम्भिक संस्कृत शिक्षा जोबनेर निवासी पंडित सूरजमल जी से ग्रहण की थी। ऐसी स्थिति में चैनसुखदास जी और मैं सर्वथा भाई-भाई हो गये थे।

मैं पंडित चैनसुखदास जी की ख्याति बराबर सुनता रहा। पर मेरा उनसे साक्षात्कार बड़ी देर से हुआ। यह भी कोई संयोग ही था कि पंडित जी का बड़ा भारी प्रशंसक मैं उनसे रहा दूर ही। जब मैं पहले पहले उनसे मिला तो उनके व्यक्तित्व की गहरी छाप मुझ पर पड़ी। उनकी शारीरिक स्थिति को देखकर उनके प्रति मेरी सहानुभूति हुई, पर उनकी बौद्धिक प्रखरता और कार्यक्षमता ने मुझे आश्चर्य में डाल दिया।

पंडित चैनसुखदास जी स्वभावतः परोपकारी थे। उनकी अहिंसक वृत्ति ने उन्हें परोपकार परायण बना दिया था। जो कोई पंडित जी के पास चला जाता उसकी सहायता वे अवश्य करते थे। एकाध अवसर पर मैंने भी उनसे सहायता की प्रार्थना की किसी सार्वजनिक मामले में और उन्होंने मुझे सहर्ष सहायता प्रदान की।

पंडित चैनसुखदास जी के प्रतिभाशाली व्यक्तित्व की याद मुझे हमेशा बनी रहेगी और मुझे सदैव गर्व रहेगा कि पंडित जी का स्नेह मुझ जरा से व्यक्ति के प्रति था।

हीरालाल शास्त्री

संस्थापक

वनस्थली विद्यापीठ

श्रीमान् पण्डित चैनसुखदास जी न्यायतीर्थ जैन समाज के मूर्धन्य विद्वान् थे। विद्वान् ही नहीं समाज सेवा और पथ प्रदर्शक भी थे। आपकी सहृदयता ने न जाने कितने असहाय छात्रों को मार्गदर्शन कर सुयोग्य बनाया है। आप विचारक और सुलेखक थे। जो रूढियां आपको पसंद नहीं पड़ती थीं उनका आप निर्भय होकर विरोध करते थे।

आपकी वक्तृत्व कला विरोधी को भी अपनी ओर आकृष्ट कर लेती थी। किसी कार्य का निश्चय आप बहुत विचारपूर्वक करते थे और निश्चय के बाद उसमें इतने दृढ़ हो जाते थे कि उच्च से उच्च शक्ति भी आपको उससे विचलित नहीं कर सकती थी। मैं स्वर्गीय पण्डित जी के प्रति विनम्र श्रद्धांजलि प्रकट करता हूं।

पन्नालाल साहित्याचार्य

वे प्रेरणा श्रोत थे

पं० चैनसुखदास जी न्यायतीर्थ निर्भीक एवं ओजस्वी लेखक, सम्पादक एवं प्रवक्ता थे। उनकी विद्वत्ता एवं निर्भीकता की अमिट छाप उनकी शिष्य मण्डली एवं समाज पर स्थायी रूप से अंकित हो चुकी है। वे विद्वानों के लिये प्रेरणा श्रोत थे। वे कभी कहीं भी भावुकता से किसी दलबन्दी में नहीं बह सके। वे अपने चिन्तन में सदैव स्वतन्त्र रहे। मनीषी गण यदि उनका पथ अपनालें तो सम्पूर्ण विवाद समाप्त हो सकता है।

प्रकाश हितैषी शास्त्री

विनीत श्रद्धांजलि

इस युग के उच्चकोटि के जैन विद्वानों में श्री पण्डित चैनसुखदासजी न्यायतीर्थ का प्रमुख स्थान है। मैं उनके उच्च एवं सरल विचारों से प्रभावित हुआ हूं। उनके विचार धार्मिक पृष्ठभूमि पर आधारित होते हुए भी सुलझे हुए होते थे। वे सामाजिक एकता के दृढ़ समर्थक थे। वे प्राचीन होने के नाते प्राचीनता का समर्थन नहीं कर उसकी अच्छाइयों के कारण समर्थन करते थे। उन्होंने साहित्यान्वेषण एवं मौलिक लेखन को प्राथमिकता दी। मुझे वे शब्द याद हैं जो डा० ए. एन. उपाध्ये ने उनके लिये गत वर्ष कहे थे। उन्होंने बताया था कि "हम राजस्थान की तरफ से निश्चिन्त हैं जहां अकेले पं० चैनसुखदास जो शिक्षण से लेकर साहित्यानुसंधान एवं लेखन, प्रकाशन आदि का पूर्ण काम सम्भाले हुए है"।

स्व० बाबू छोटेलाल जी के अभिनन्दन स्वरूप ग्रन्थ के सम्पादन के लिये पण्डितजी ने अथक श्रम स्वयं ही नहीं किया अपितु हम सब को बराबर प्रेरणा

देते रहे। उन्होंने इस वृद्धावस्था में भी इस स्मृति ग्रन्थ को अपने तत्वावधान में प्रकाशित कराया। इस सम्बन्ध में ही मेरा उनसे विशेष सम्पर्क हुआ था। मेरी इच्छा थी कि वे स्मृति ग्रन्थ के समर्पण समारोह के समय कलकत्ता अवश्य आवें किन्तु खेद है कि उन्होंने आना स्वीकार नहीं किया। उन्होंने कहा कि "ग्रन्थ प्रकाशन महत्वपूर्ण कार्य था जो हो गया अव इस समारोह में तो समर्पण आभार आदि की औपचारिक क्रियायें होंगी उन्हें मैं खास महत्व नहीं देता।"

मै स्व० पण्डितजी के प्रति अपनी विनम्र श्रद्धांजलि प्रकट करता हुआ कामना करता हूं कि उनके द्वारा संचालित और संस्थापित संस्थायें, साहित्य, संस्कृति, समाज एवं देश की अधिकाधिक सेवाएं करें।

जुगमंदिरदास जैन
कलकत्ता

पण्डित जी संस्कृत एवं दर्शन के प्रकाण्ड विद्वान् तथा एक स्वतन्त्र विचारक थे और राष्ट्रपति जी ने इनकी सेवाओं से प्रभावित होकर राष्ट्रीय पुरस्कार से अलंकृत किया था।

सरदार हुकुमसिंह
(भूतपूर्व राज्यपाल, राजस्थान)

यह कहने की आवश्यकता नहीं है कि पं० साहव जैन समाज के विद्वानों की परम्परा में असाधारण प्रतिभा के धनी थे, विद्वत्समाज में उनका स्थान मूर्धन्य था। बेशक उन्होंने जीवन भर जैन समाज, धर्म एवं साहित्य की उल्लेख-नीय सेवाएं की हैं जो निश्चय ही चिरस्मरणीय रहेंगी।

मूलचन्द पाटणी, बम्बई

पण्डित जी के व्यक्तित्व में विरोधी प्रतीत होने वाले गुणों का अद्भुत समन्वय था। वे दृढ़ता के साथ-साथ अत्यन्त कोमल और सहृदय थे परम्परा और आधुनिकता के मिलन-विन्दु पर वे खड़े थे। वे दूसरों की पीड़ा से स्वयं दुखी हो उठते थे। कितने ही निराश छात्रों के जीवन में आशा का संचार कर पण्डित जी ने उन्हें प्रगति के मार्ग पर आगे वढ़ाया धार्मिक मतमतान्तरों से वे ऊपर उठे हुए थे।

पण्डितजी उच्च विचार और सादा जीवन के मूर्त्तरूप थे। उनमें राष्ट्रीयता के साथ-साथ विश्व मानवता के मूल भाव समाविष्ट थे। उनका निरभिमान पांडित्य और सहज उपलब्ध व्यस्त जीवन सब में प्रेरणा और स्फूर्ति की भावना भरता था। वे आदर्श गुरू-परम्परा की महत्वपूर्ण कड़ी थे। उनके निधन से सांस्कृतिक परम्परा की एक कड़ी ही टूट गई है।

हमारा कर्त्तव्य है कि हम उनके द्वारा वताये गये आदर्शो पर चलकर सांस्कृतिक नव–निर्माण में एक जुट होकर अपना योगदान दें। पण्डित जी की आत्मा के प्रति यही हमारी सच्ची श्रद्धांजलि होगी।

डा० नरेन्द्र भानावत

उनकी मृत्यु से न केवल जैन वाङ्मय का एक प्रकांड पण्डित उठ गया, अपितु पूरे हिन्दी, संस्कृत साहित्य का एक कोना रिक्त हो गया। हिन्दी के लिये यह क्षति अपूरणीय है।

वासुदेव सिंह
काशी विद्यापीठ वाराणसी

पण्डित जी के निधन के समाचारों से वड़ा ही आघात पहुंचा है। उनके जैसा जैन समाज का सच्चा हित चिन्तक व महान सेवक जिसकी सेवाओं की जैन समाज को नितान्त आवश्यकता थी चला जाना अपूरणीय क्षति है। मेरे लिए तो यह आघात असहनीय है। व्यक्तिगत दृष्टि से मैं उन्हें अपना ज्येष्ठ बन्धु मानता था। उनका जो मुझ पर अपार स्नेह था वह अकथनीय है। इस मृत्यु को मैं वहुत वड़ी हानि ही मानता हूं। फिर मेरे सामाजिक कामों में उनका सदा सहारा एवं समर्थन रहता था। निराशा के दिनों में वे मुझे धैर्य देते रहते थे।

जैन एकता के वे सच्चे समर्थक थे। उन्होंने अपनी एकता की निष्ठा को प्रतिकूल परिस्थतियों में भी मन्द नहीं पड़ने दिया, सदा ज्वलन्त रखा और स्पष्ट विचार प्रकट करने में उन्होंने कभी भी संकोच नहीं किया। वे भारत जैन महामण्डल के वहुत वड़े समर्थक थे। उनसे हमें सदा समर्थन मिलता रहा। सचमुच मंडल को तथा जैन एकता को उनके जाने से महान क्षति हुई है। जयपुर में सभी सम्प्रदायों में वे मान्य व्यक्ति थे। धर्मनिष्ठ होते हुए भी उनके विचार प्रगतिशील थे। उन्होंने अनेकों विद्वानों एवं कार्यकर्त्ताओं का निर्माण किया था। उनमें समाज हित के लिए अद्‌भुत तड़फ थी। उनके विचारों में विशालता थी और राष्ट्र तथा मानवता प्रेमी थे। जैन समाज को ऐसे महापुरुष की स्मृति में कोई ठोस काम करना चाहिए जिससे उनकी क्षति की पूर्ति हो सके।

रिषभदास राँका
(सम्पादक–अणुव्रत एवं जैन जगत्)

पण्डित साहब के निधन के समाचार से हृदय को बड़ा आघात पहुंचा। उनके निधन से समाज और देश की अपार क्षति हुई।

अक्षयकुमार जैन
सम्पादक— नवभारत टाइम्स

मेरे लिए पंडित जी आत्मीय थे। बीस--पच्चीस वर्ष पूर्व पहली बार उनसे भेंट हुई थी तब से जब-जब जयपुर जाना हुआ उनसे बराबर मिलता रहा। नाना समस्याओं पर उनसे विचार सुनकर प्रसन्नता होती। अपने मत के प्रति उनका आग्रह नहीं रहता था। उदार चिन्तन उनकी ऐसी विशेषता थी जो हमेशा के लिए मेरे मन पर छाप छोड़ गई है। धर्म के मूल सिद्धांतों के वे पुजारी थे और दृढ़ता पूर्वक वे उनका पालन करते थे। वे सिद्धान्त सभी धर्मो में समान हैं।

शास्त्रों में उनकी अपार गति थी। 'अर्हत् प्रवचन' जैसा उत्तम संकलन उनके अगाध पांडित्य और सूक्ष्न ज्ञान का प्रतीक है। उनका व्यक्तिगत जीवन एक संत का जीवन था। पण्डित जी तो साधु, सर्वजन श्रद्धेय थे ही उनको तो अपने सुकृतों के फलस्वरूप भगवद्धाम प्राप्त होगा ही उनके लिए हमें शोक और प्रार्थना करने की आवश्यकता नहीं। ज्ञानी सन्त तो जीवन मुक्त होते ही हैं।

प्रो० रामसिंह तोमर
अध्यक्ष, हिन्दी विभाग, विश्व भारती

पंडित जी अत्यन्त सरल स्वभावी, मिलनसार, व्यवहार कुशल, स्पष्ट वक्ता थे। जैन समाज को आपके वियोग से महान क्षति हुई है, जिसकी पूर्ति हो ही नहीं सकती।

परसादीलाल पाटनी
दिल्ली

आप सुधारक एवं मीमांसक विद्वान् थे। लेखक, पत्रकार, कर्मठ कार्य-कर्त्ता, संस्था संचालक आदि विभिन्न रूपों में आपके दर्शन होते थे। सिद्धांतवादी थे, सिद्धांत के समक्ष वे किसी की नहीं चलने देते थे, ढोंग, आडम्बर एवं पाखंडों की खूब पोल खोलते थे। आप समाज मान्य ही नहीं थे अपितु राज्य मान्य भी थे। स्वभाव के मृदुल, भद्र, सरल एवं उदार थे। अनेक संस्थाओं के संस्थापक, संचालक, पोषक एवं मूक सेवक थे।

आपका हृदय, उदार विशाल एवं गम्भीर था। विद्वानों के प्रति सतत सम्मान की भावना रखते थे।

ज्ञानचन्द्र जैन 'स्वतन्त्र'

वीरवाणी के लब्ध प्रतिष्ठ, सुयोग्य सम्पादक जैन समाज से चल बसे। यह क्षति साहित्य संसार के लिए पूर्ण होनी कठिन है। पण्डित जी प्राचीन

विचारधारा और नवीन इन दोनों के समन्वय से लेख प्रकाशित करते थे। जिससे समस्त जैन जनता को लाभ पहुंचता था।

चन्दा बाई
(जैन बाला विश्राम, आरा)

पंडित जी साहब ने धर्म व समाज की जो सेवाएं की हैं उसको कभी भुलाया नहीं जा सकता है।

राजकुमार सिंह,
इन्दौर

वह एक व्यक्ति नहीं थे, अपितु संस्था-संघ थे, तपस्वी और योगी थे। उनके वैदुष्य का वर्चस्व राजस्थान की प्राचीन पांडित्य परम्परा का प्रतीक था। उनकी क्षति अपूरणीय है। उस प्राच्य एवं पाश्चात्यज्ञान के समन्वित संस्करण और साहित्याकाश के ज्वाजल्यमान नक्षत्र ने इस तकनीकी युग में शोध के सहारे संस्कृत को सभी राष्ट्रीय समस्याओं के सन्दर्भ में समाधान के रूप में प्रस्तुत करने के जिस ज्ञान दीपक को प्रज्वलित किया था उसकी यत्न पूर्वक रक्षा ही उनके प्रति श्रद्धांजलि होगी।

मोतीलाल जोशी
महामन्त्री— राजस्थान संस्कृत साहित्य सम्मेलन।

पंडित जी की भव्य आकृति, सौम्य स्वभाव व आत्मज्ञान स्मरणीय है।

प्रेमचन्द जैन
जैना वाच कम्पनी, दिल्ली

पण्डित जी अखिल जैन समाज के एक महान स्तम्भ थे, संस्कृति के सबल संरक्षक और साहित्याकाश के प्रकाशपुंज नक्षत्र थे।

-डा० ज्योतिप्रसाद जैन
लखनऊ

पण्डित जी बहुश्रुत और यशस्वी विद्वान् थे। उनके सम्पर्क में एक बार भी जो व्यक्ति पहुंचा, वह सदैव के लिए उनका बन गया। यह निश्चय है कि राजस्थान में पण्डित श्री चैनसुखदास जी ने टोडरमल जी के अधूरे और अपूर्ण कार्यों को पूर्ण करने का प्रयास किया है। जिन रूढियों के उन्मूलन करने का संकल्प टोडरमल जी ने लिया था उस संकल्प की पूर्ति पण्डित जी ने की है। उनके रिक्त स्थान की पूर्ति अब हो सकेगी या नहीं, यह शंकास्पद है।

कर्त्तव्यपरायण महानात्माएं किसी समाज या देश के सौभाग्य से ही जन्म ग्रहण करती हैं। पण्डित श्री चैनसुखदास जी की जन्म भूमि और कर्म भूमि होने का सौभाग्य राजस्थान की वीर वसुन्धरा को प्राप्त हुआ, यह राजस्थान के जैन समाज के लिए गौरव का विषय है। साहित्य निर्माण, प्रवचन

एवं प्राध्यापक या प्रधानाचार्य के रूप में पण्डित जी ने अ० भा० जैन समाज की अभूतपूर्व सेवा की है।

डा० नेमिचन्द्र शास्त्री
आरा

पंडित जी के निधन से संस्कृत जगत् की जो क्षति हुई है, वह अपूरणीय है।

वाचस्पति उपाध्याय,
वाराणसेय संस्कृत विश्वविद्यालय,
वाराणसी

जैन समाज के दुर्भाग्य से विद्वानों की श्रंखला कम होती जा रही है। श्री पं० चैनसुखदास जी के स्थान की पूर्ति शीघ्र नहीं हो सकती। उन जैसा उदार नेता, गरीब छात्रों का आश्रयदाता, समाज हित चिन्तक विद्वान् मिलना कठिन है।

बाबूलाल जैन जमादार
मन्त्री– दि० जैन शास्त्री परिषद्–बड़ौत
(मेरठ)

पंडित चैनसुखदास जी जैन समाज की अनन्य विभूति थे। उन्होंने जैन समाज और जैन साहित्य को समृद्ध किया।

यशपाल जैन,
सस्ता साहित्य मण्डल, नई दिल्ली

पूज्य पंडित जी प्राचीन पद्धति के विद्वानों में अग्रगण्य थे। वे अपने क्रान्तिकारी विचारों एवं सुधारवादी प्रवृत्तियों के कारण नई पीढ़ी के भी श्रद्धा-भोजन थे। अपने यश के पीछे वे कभी नहीं पड़े, किन्तु राजस्थान ने उन्हें सरस्वती पुत्र समझकर सदैव अपने सिर माथे पर रखा है।

डा० राजाराम जैन, आरा

आदरणीय पंडित जी ने जैन समाज की जो सेवा की है वह कभी नहीं भुलाई जा सकती। वे स्वयं में एक संस्था थे। वे एक ओजस्वी वक्ता थे और उनकी वाणी में आकर्षण था। उनका प्रवचन हृदयग्राही, मर्मस्पर्शी और समाज के कल्याण के लिए ही होता था। पंडित जी की करनी व कथनी में कोई अन्तर नहीं था। वे उच्चकोटि के शिक्षक थे और जिसके फलस्वरूप उनको राष्ट्रपति पुरस्कार मिला। वे वर्तमान पीढ़ी के लिए प्रेरणा श्रोत रहे हैं।

रामप्रसाद लढ्ढा
भूतपूर्व सिंचाई मन्त्री, राजस्थान

पंडित जी के त्यागमय जीवन, उदार विचार एवं साहित्य तथा समाज सेवा के प्रति मेरी हार्दिक सहानुभूति एवं श्रद्धांजलि स्वीकार करें।

डा० सूर्यदेव पाण्डेय
मुजफ्फरपुर।

पंडित जी वास्तव में एक महा मानव थे। उन्होंने जैन समाज व साहित्य में एक नया युग स्थापित किया था। भारतवर्ष में जैनियों में सबसे अधिक जागृति जयपुर में पाई जाती है, इसका श्रेय पंडित जी को है।

शोध के क्षेत्र में विद्वानों को हमेशा प्रेरणा देते थे। विद्यार्थियों को पुत्र तुल्य समझते थे। वास्तव में मुझे व्यक्तिगत बड़ा आघात पहुंचा है।

डा० कैलाशचन्द जैन
उज्जैन

जयपुर उनकी कीर्ति को अक्षुण्ण बनावे। शोध का कार्य चालू रहे। महावीर जयन्ती सर्वदा की तरह सजीव रहे। श्रमणमार्ग सतत् जन जीवन का मार्ग दर्शन करे, ये बातें पंडितजी को प्रिय थीं। इन कार्यों को बढ़ाना ही उनके प्रति श्रद्धांजलि है।

रामचन्द्र जैन
डाइरेक्टर–इन्स्टीट्यूट आफ इण्डोलोजिकल–लोजिकल
रिसर्च, श्रीगंगानगर (राजस्थान)

वे मेरे सहपाठी थे। हम दोनों साथ ही न्यायतीर्थ हुए थे। समवयस्क थे, वे मुझ से सिर्फ ढ़ाई माह छोटे थे। मित्रता तो थी ही, पर सुधारक होने के कारण कुछ विशेष अनुराग भी था। उनके जाने से जैन समाज का एक विचारक विद्वान् चला गया जिसकी पूर्ति कठिन है।

सत्यभक्त दरबारीलाल
सत्याश्रम, वर्धा

पंडित जी के विचारों में प्रौढ़ता के साथ–साथ युवकोचित साहस, उत्साह, काम करने की लगन, अन्ध–विश्वासों व रूढ़िगत मान्यताओं के प्रति विद्रोह की भावना आदि का इतना अच्छा समन्वय हुआ था कि उनसे चर्चा करते समय यह कभी भान ही नहीं होता था कि किसी "बुढ़ऊ" से बात कर रहे हैं।

उनकी सहृदयता व आत्मीयता कभी भुलाई जा नहीं सकती। उनके जरिये समाज का असीम उपकार हुआ है।

फतहचन्द सेठी
अजमेर

वे जैन समाज के एक विरले विभूति थे। उनकी सेवाएं सदा अविस्मरणीय रहेंगी।

अगरचन्द नाहटा
बीकानेर

राजस्थान के राज्यपाल सरदार हुकुमसिह, मुख्य न्यायाधीश श्री जवानसिंह राणावत एवं पंडित साहब भाषण देते हुए
←

पंडित साहब के गुरु
पंडित सूरजमलजी शर्मा,
जोबनेर→
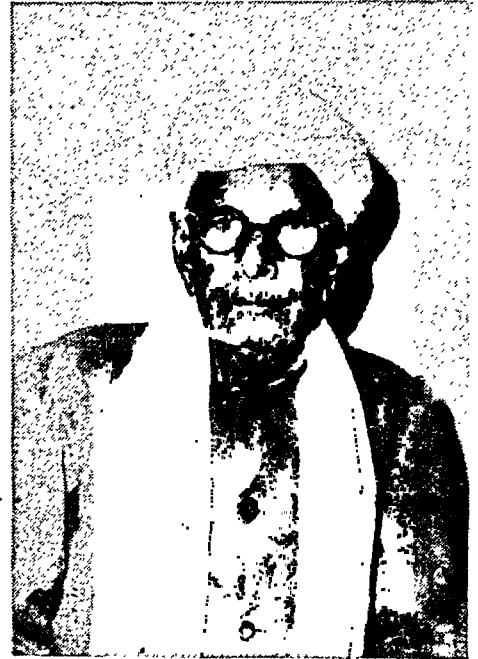
महावीर जयन्ती समारोह के अवसर पर लिया गया एक चित्र। मंच पर बैठे हुए काका कालेलकर के साथ पंडित साहब
←

पं० चैनसुखदास न्यायतीर्थ–व्यक्तित्व एवं कृतित्व

डॉ० कस्तूरचंद कासलीवाल

राजस्थान प्रदेश का देश के इतिहास में महत्वपूर्ण स्थान माना जाता है । यहां की साहित्यिक एवं सांस्कृतिक विरासत ने देश के विकास में उल्लेखनीय योगदान किया है । वीरता यहां की मिट्टी के कण-कण में समाहित रही है । देश एवं मातृभूमि पर विपत्ति आने पर जीवन उत्सर्ग की कहानी की सैकड़ों बार पुनरावृत्ति हुई है । किन्तु बलिदान एवं उत्सर्ग के साथ-साथ यहां की मिट्टी में पैदा होने वाले वीरों. बुद्धिजीवियों, सन्तों एवं शासकों ने निर्माण की कहानी को भी पचासों बार दोहराया है । यहां के कण-कण में साहित्यिक एवं सांस्कृतिक विकास को गतिशीलता देने में स्फूर्ति एवं उत्साह देखा गया हैं । राजस्थान के प्राचीन एवं कलापूर्ण मन्दिर, एवं प्रदेश के कोने-कोने में स्थापित ग्रन्थागार इसके प्रत्यक्ष उदाहरण हैं । वास्तव में यहां के ग्रन्थागार एवं मन्दिर हमारे साहित्यिक एवं सांस्कृतिक उत्कर्ष के महान् प्रतीक हैं । जिस प्रकार महाराणा प्रताप पर समूचे राजस्थान को गर्व है उसी पर राजस्थान–वासियों को जैसलमेर, नागौर, जयपुर, अजमेर के जैन ग्रन्थालयों एवं राजकीय पुरातत्व संग्रहालयों पर भी कम गर्व नहीं है । राजस्थान के महापंडित आशाधर, महाकवि माघ, भट्टारक शिरोमणि पद्मनन्दि एवं भट्टारक सकलकीर्ति जैसे दिग्गज साहित्य-सेवियों एवं सन्तों की जन्म एवं कर्म-भूमि होने का गौरव प्राप्त है । न जाने कितने युगों की साधना के पश्चात् महापंडित टोडरमल ने राजस्थान में जन्म लेकर साहित्यिक एवं सामाजिक क्रांति का बिगुल बजाया था तथा महाकवि दौलतराम ने विशाल काय गद्य-पद्यात्मक ग्रन्थों की रचना करके साहित्यिक यज्ञ को प्रज्वलित किया था ।

राजस्थान के ऐसे ही गौरवशाली विद्वानों में पं० चैनसुखदास जी न्यायतीर्थ का नाम भी उल्लेखनीय हैं । वे राजस्थान के अत्यधिक प्रतिभा-शाली एवं प्रकाण्ड विद्वान् थे और उनका समूचा जीवन मां भारती की सेवा में व्यतीत हुआ था । वे अपने समय के सर्वाधिक लोकप्रिय एवं श्रद्धास्पद विद्वान् माने जाते थे । 'स्वदेशे पूज्यते राजा विद्वान् सर्वत्र पूज्यते' वाली लोकोक्ति उनके जीवन में अक्षरशः सही उतरी थी । वे साहित्य गगन के सूर्य थे और जयपुर जैन समाज के मुकुट थे । वे क्या गये मानों सामाजिक जीवन की मर्यादा एवं गरिमा ही समाप्त हो गयी । उनका समग्र जीवन ही सेवा की मूर्ति था और जीवन के अन्तिम क्षण तक वे इसी व्रत को पालते रहे । जयपुर नगर के जैन समाज का गत ३० वर्षो का इतिहास ही मानों उनके जीवन का इतिहास है । उनका व्यक्तित्व समाज की प्रत्येक गतिविधि पर छाये रहा और बाहर से भिन्न होते हुये भी उनका एवं समाज का जीवन मानों एकाकार रूप में रहा । यही कारण है कि समूचा समाज वर्षों तक उनके इशारों पर चलता रहा और उन जैसे तपस्वी विद्वान् को पाकर वह निहाल हो गया ।

पण्डित जी के जीवन की कहानी अत्यधिक रोमांचक एवं आकर्षक है । जिसे पढ़ने एवं जानने की

सभी में उत्सुकता बनी रहती हैं। उनका जन्म माघ कृष्णा अमावस्या विक्रम संवत् १९५६ को जयपुर जिलान्तर्गत भादवा ग्राम में हुआ। उस समय दिन के २ बजे थे। आकाश में सूर्यग्रहण चल रहा था। चारों ओर भक्ति एवं भजन हो रहे थे तथा हरिजन भाई मुक्त हस्त से दान की मांग कर रहे थे। ऐसे समय पण्डितजी की माता धापूबाई ने पुत्ररत्न को जन्म देकर अपने गृहस्थी के कर्त्तव्य से मुक्ति मांगी। बालक की जब जन्म कुण्डली बनाई गई तो उसमें प्रताप, प्रभाव एवं विद्याबुद्धि तीनों का असाधारण योग निकला। माता-पिता यह जानकर फूले नहीं समाये। बालक चैनसुखदास एक वर्ष के हुये, दो वर्ष के हुये और तीन वर्ष को पार करके जब चौथे वर्ष में प्रवेश किया तो विपत्ति ने आ दबाया और बायें पैर में लकवा मार गया। लकवा होने की भी विचित्र घटना रही। बालक चैनसुखदास अपनी बड़ी बहिन की गोद में थे। बहिन दरवाजे पर खड़ी-खड़ी ककड़ी खा रही थी। उसी समय वहां लकड़ी को टेकते-टेकते एक वृद्धा आ गयी और बालिका से ककड़ी मांगने लगी। तथा अपनी भूख का रोना रोने लगी। बालिका को वृद्धा का मांगना अच्छा नहीं लगा। उसने वृद्धा को लात मारी जिसको वह सह न सकी और वहीं गिर पड़ी। थोड़ी देर में वह वृद्धा तो वहां से चली गयी किन्तु अकस्मात् ही पण्डितजी को गोद में लिये हुए वहीं बालिका (गोद में अपने भाई को लिये हुये) वहां गिर पड़ी और फिर अपने आप वह उठ भी नहीं सकी। माता दौड़ी हुई आयी और दोनों भाई बहिन को वहां से उठाकर अलग-अलग शैय्या पर सुला दिया। पण्डितजी के पिताजी जवाहरलाल जी तत्काल स्थानीय वैद्य जी को ले आये। उनको देखने से पता चला कि दोनों को ही लकवा मार गया है। चारों ओर निराशा छा गयी। एक ४ वर्ष का पुत्र एवं एक ६-७ वर्ष की नन्ही बालिका। माता-पिता के सामने भविष्य मुंह फाड कर खड़ा हो गया और उनके सुनहले स्वप्न ताश के पत्तों के महल के समान टूटते दिखायी देने लगे। पर्याप्त इलाज कराया गया लेकिन सब व्यर्थ रहा।

बहिन की रोग मुक्ति

कुछ दिनों पश्चात् पंडित जी ने गांव भादवा में नटों की पूरी पार्टी आयी और गाँव के बाजार में अपने कोतूहल पूर्ण खेल दिखलाने लगी। पूरा गांव नटों का खेल देखने के लिये उमड़ पड़ा। पण्डितजी के भी सभी घर वाले खेल देखने के लिये गये। रह गये घर में दोनों भाई-बहिन जो पैर से लाचार थे। बहिन ने अपने माता-पिता से बहुत अनुनय विनय किया लेकिन सब व्यर्थ रहा। सबके चले जाने के पश्चात् उनकी बहिन लाली में क्या दैवी चमत्कार आया कि वह स्वयमेव ही उठ खड़ी हुई और भाग कर नटों का जहाँ खेल हो रहा था वहीं पहुंच गयी। बहिन का लकवा दूर हो गया और वह स्वस्थ हो गयी। लोगों के आश्चर्य का ठिकाना नहीं रहा। लेकिन बालक चैनसुखदास वहीं बैठे रहे। धीरे-धीरे बालिका पूर्ण स्वस्थ हो गयी। बड़ी होने पर उसका विवाह जोबनेर के एक प्रतिष्ठित परिवार के श्री नेमिचन्द पाटनी से हो गया जिसके सुपुत्र श्री सुगनचन्द पाटनी जोबनेर म्युनिसिपैलिटी के वर्षों तक चैयरमैन रहे तथा आजकल वहां के प्रतिष्ठित सामाजिक कार्यकर्त्ता माने जाते हैं।

बड़े भाइयों का दुखद निधन

भादवा गांव में ही एक पाठशाला थी। उसके अध्यापक थे श्री मगनमलजी शर्मा। उस समय अधिकांश गांवों में एक अध्यापकीय शालाएं चलती थी। पाठशाला वहीं के जैन मन्दिर में लगती थी और उसमें उच्च वर्ग के ही बालक पढ़ने आते थे। शाला प्रातः और सायं दो बार लगती थी। पण्डितजी के बड़े भाई मांगीलाल और चचेरे भाई

केशरीमल भी उसी पाठशाला में पढ़ते थे। वे दोनों ही वहां के मेधावी छात्र माने जाते थे। उस समय विद्यार्थियों को लघु कौमुदी एवं रत्नकरण्डश्रावकाचार पढ़ाया जाता था। लेकिन गांव में पाठशाला की आलोचना करने वाले भी कुछ व्यक्ति थे। ऐसे लोगों के कारण वह पाठशाला कुछ समय बाद बन्द हो गयी और गांव के विद्यार्थी उधर-इधर घूमने लगे। काम तो कुछ रहा नहीं इसलिये एक दिन १०-१२ विद्यार्थी गांव से ८ मील की दूरी पर स्थित गुदली नामक तलैया में नहाने के लिये चले गये। उन विद्यार्थियों में पंडितजी के दोनों भाई भी थे। वे दोनों ही तैरना जानते थे। इसलिये दोनों ने तलैया की एक दूसरी छोर से तैरते हुये बीच में मिलने का निश्चय किया और तलैया में कूद पड़े। तलैया के बीच में कुवा था। दोनों बच्चे ही तो थे। बीच में आते-आते वे दम तोड़ बैठे और बीच के कुवे में डूब गये। उनके साथियों ने उन्हें निकालने का बहुत प्रयत्न किया लेकिन वे उसमें सफल नहीं हो सके। उस घटना से चारों ओर हाहाकार मच गया तथा गांव के एवं आस-पास के सैकड़ों व्यक्ति वहां एकत्रित हो गये। उस दिन गांव भर में किसी के खाना नहीं बना। वहां का जागीरदार भी रात भर वहीं रहा और पुलिस थानेदार के आने पर जब बच्चों को तलैया में से निकाला गया तो उन दोनों सुन्दर एवं भोले-भाले बच्चों को देखकर सारे व्यक्ति जोर-शोर से रोने लगे। पण्डितजी के पिताजी एवं परिवार के लोगों के दुःख का तो कहना ही क्या ? उस दर्दनाक दृश्य का वर्णन करना भी कठिन है। जब थानेदार ने शेष बालकों को गिरफ्तार करने पर जोर दिया तो पण्डितजी के पिताजी ने विनम्र शब्दों में मना किया और कहा कि उनका और हमारा ऐसा ही भाग्य था।

प्लेग का प्रकोप

संवत् १९६१ में भादवा गांव में प्रथम बार प्लेग का प्रकोप बड़े भयंकर रूप में हुआ। पहिले यह महामारी चूहों पर आयी। वे नाच-नाच कर मरने लगे इसके पश्चात् मनुष्यों पर पर महामारी ने अपना असर जमाना प्रारम्भ किया। पहिले जोरदार बुखार आता। फिर उसके गले में, कान के नीचे अथवा जांघ के बगल में गांठ होती। इस गांठ के प्रकोप से लोग तीन-चार दिन में ही मृत्यु को प्राप्त हो जाते। बड़ी भयानक बीमारी थी, डाक्टर और वैद्य गांव में थे ही नहीं। छोटे से गांव में १५-२० व्यक्ति प्रतिदिन मरने लगे। चारों ओर भय और आतंक छा गया। पण्डितजी के घर में भी महामारी ने प्रवेश किया और सर्वप्रथम पंडित के बाबाजी की लड़की गंगली को उसने अपना शिकार बनाया। गंगली बहुत तेज थी इसलिये वह घोड़ी के नाम से प्रसिद्ध थी। इसकी मृत्यु के पश्चात् उसके पिताजी चन्द्रलालजी मर गए और तीन दिन बाद ही पंडितजी की दादी और चन्द्रलालजी की पत्नी मर गयी। फिर पंडितजी के छोटे बाबा महामारी के शिकार हो गये। घर में कोई परिचर्या करने वाला भी नहीं रहा। परिवार के एक के बाद एक सदस्य मरने लगे। छोटे बाबा के लड़के गंगालाल को भी प्लेग ने घर दबाया। उससे भयभीत होकर इनके बाबाजी गेरुलालजी गांव छोड़कर कहीं चले गये। अब पंडितजी के पिताजी का नम्बर आया। घर सूनसान हो गया। उनका उपचार करने वाला कोई नहीं बचा। इसलिये उन्हें मकान में ही एक खाट पर लिटा दिया। सारा गांव खाली हो गया और लोगों के सामने मृत्यु मुंह बाये खड़ी रही। लेकिन उनकी आयु शेष थी इसलिये वे स्वतः ही बिना किसी उपचार के ही अच्छे हो गये।

पिताजी की मृत्यु

पंडितजी जब १०-१२ वर्ष के थे तभी उनके

पिताजी की मृत्यु हो गयी। बीमारी कोई खास नहीं थी। केवल मुंह में छाले थे। लेकिन गांव के वैद्य ने उन्हें रसकपूर दे दिया जिससे वे अत्यधिक परेशान हो गये। रसकपूर शरीर में फूट-फूटकर निकलने लगा। घर की आर्थिक स्थिति विशेष अच्छी नहीं थी और उनकी खर्चीली तबियत थी यद्यपि वे गांव के कामदार थे, किन्तु खर्चीले होने से कुछ बचता नहीं था पडितजी ने स्वयं ने लिखा है कि वे गरीबों की बहुत सहायता किया करते थे। दान देने की शक्ति नहीं होने पर भी वे राजा हरिश्चन्द्र बने हुये थे। एक बार पंडितजी के सामने ही एक गरीब आदमी ने कहा कि उसके पास पहिनने को कुछ नहीं है तो उनके पिताजी ने अपनी अंगरखी खोल कर उसे दे दी। इसी तरह एक बार तो उन्होंने अपनी पगड़ी भी उतार कर दे दी थी। इस कारण गांव में उनका पूरा सम्मान था। उन्हें दादूपंथी साधुओं के जमात को जिमाने का बहुत शोक था। कभी-कभी तो २०–२५ दादूपंथी साधू पंडितजी के घर पर भोजन के लिए आमंत्रित किये जाते थे। भोजन के पहले वे गाना गाते और फिर भोजन करते। दोनों ही कार्यो में जवाहरलालजी की बहुत रुचि थी। वे अपने घर से किसी को निराश नहीं लौटाते थे।

पंडितजी ने अपने संस्मरण में लिखा है कि उस समय गांवों में किसानो की बहुत स्थिति खराब थी। सब जौ खाते थे और गेहूं की रोटी तो तब बनती थी जब कभी कोई मेहमान घर आ जाता। बच्चों को जब गेहूं की की रोटी मिलती तो बड़े खुश होते। कभी तो एक गेहूं कि रोटी के टुकड़े करके बच्चों को मिठाई के समान दिया जाता था। चावल के तो दर्शन ही होली दीवाली होते थे। और जब चावल का भोजन बनता तो उस दिन त्यौहार माना जाता था। पंडितजी के बाबाजी चन्दूलालजी की की स्थिति और भी कमजोर थी। महीने में कई बार तो घर में चूल्हा भी नहीं जलता था। लेकिन उनकी पत्नी बड़ी समझदार थी और जब कभी घर में अन्न नहीं होता तो वह धुवां करके अपने यहां भोजन बनने का प्रदर्शन कर लेती थी। कोई रोजगार था नहीं। नमक बेच कर कैसे गुजर हो सकता था। वैसे किसी के पास भी अच्छा धन्धा नहीं था। यदि २) रुपये महीने की भी किसी को नौकरी मिल जाती तो उसे अच्छा माना जाता था।

पिताजी की मृत्यु के पश्चात् घर की हालत और भी खराब हो गयी। घर में केवल तीन प्राणी थे। स्वयं पंडितजी, उनका छोटा भाई सरदारमल एवं वृद्धा मां। मां कातने का काम करने लगी। दिन भर कातती और रात्रि को भी वही काम करती। फिर भी तीनों का पेट भरना कठिन हो गया था। इसलिये पंडितजी ने कपास लोढ़ने का कार्य प्रारम्भ किया। एक चर्खा मंगाया गया। चैनसुखदासजी प्रतिदिन ५ सेर कपास लोढ़ लेते थे और इससे उनको एक आना रोज का मिलने लगा। पढ़ने में वे चतुर थे। कक्षा में सब विद्यार्थियों से आगे रहते थे इसलिये इनके अन्य साथी भी जब घर पर आते तो वे पंडितजी की सहायता करते। अब २) रु. महीना पंडितजी और २) रु. महीना उसकी मां कमाने लगी और ४) रु. महीने में तीन प्राणियों का जैसे-तैसे खर्च चलने लगा। पंडितजी के मामा मीठड़ी (जोधपुर) ठिकाने के कामदार थे। वे घर से सम्पन्न भी थे। जब उन्होंने इन तीनों को अपने यहां ले जाना चाहा तो उनकी मां ने मना कर दिया। और अपने द्वारा उपार्जित आय से ही अपना काम चलाना चाहा।

पंडितजी प्रारम्भ से ही पढ़ने में चतुर थे। इसलिये गांव के सारे बच्चों को वे पढ़ाया करते थे। एक बार जब वे अपनी मां के साथ अपने ननिहाल जाने को तैयार हुए तो सारे गांव के लोग इकट्ठे होकर उनकी माता के पास आये और उन्हें वही

छोड़ कर जाने का आग्रह करने लगे। क्योंकि उनके विना विद्यार्थियों का आवारा होने का डर था। पंडितजी की मां को आखिर गाँव वालों की बात माननी पड़ी और अश्रु पूरित नेत्रों से अपने लाड़ले को छोड़कर जाना पड़ा।

जव वे १२ वर्ष के थे तो जोवनेर पढ़ने के लिये चले गये। वहां वे २ वर्ष तक पढ़ते रहे। वहां जैन पाठशाला थी। पंडित सूरजमलजी वहां के अध्यापक थे। उसी समय जोवनेर में एक विशाल जैन मेले का आयोजन किया गया। गांव के वाहर एक विशाल मंडप वनाया गया। उसमें जैन समाज के बड़े-वड़े विद्वान् भी सम्मिलित हुए थे उसी समय समाज के प्रसिद्ध विद्वान् प. गोपालदासजी वरैया एवं आर्य समाज के प्रसिद्ध विद्वान् स्वामी दर्शनानन्दजी के मध्य शास्त्रार्थ हुआ। विषय था "ईश्वर कर्तृत्व"। शास्त्रार्थ कई घण्टों तक चला। इसमें जैनों की जीत हुई। पं. गोपालदास ने अपने पांडित्य से आर्य समाज को बुरी तरह हराया। इस शास्त्र में विधुपुरा(इटावा) के कुंवर दिग्विजयसिंह भी सम्मिलत हुए थे। वे पहिले आर्य समाजी थे लेकिन वाद में वहीं पर जैन हो गये। अन्य विद्वानों में जयपुर के प्रसिद्ध देश एवं समाज सेवी श्री अर्जुनलाल सेठी, इटावा के चन्द्रसैन जैन वैद्य एवं प. पुट्टूलाल के नाम उल्लेखनीय हैं। इन विद्वानों ने भी शास्त्रार्थ में भाग लिया था। आर्य समाज की हार का जोवनेर के ठाकुर कर्णसिंहजी के स्वास्थ्य पर गहरा असर पड़ा और वे कुछ ही दिनों पश्चात् मृत्यु को प्राप्त हो गये। पंडित चैनसुखदास के जीवन में इस प्रकार के बड़े समारोह को देखने का प्रथम अवसर था। पंडितजी प्रारम्भ में अच्छे गायक भी थे। जव भजन गाते श्रोताओं को अपनी ओर सहज ही आकृष्ट कर लेते थे। मेले में पण्डितजी ने एक भजन गाया था। इससे प्रसन्न होकर एक सेठ ने उन्हे १) रु. और पुस्तक पुरस्कार में दी थी।

पंडितजी ने अपने संस्मरण में लिखा है कि पं० गोपालदासजी का प्रभाव आश्चर्यजनक था। उनके तर्क अकाट्य होते थे और सहज ही अपने विरोधी को जीत लेते थे। वे शरीर में वहुत दुबले-पतले थे उनको वहुमूत्र का रोग भी था इसलिये शास्त्रार्थ के वीच-वीच में उन्हें उठकर जाना पड़ता था। जोवनेर में उन्होंने पंडितजी के बहनोई श्री नेमीचन्द पाटनी के यहां एक समय भोजन भी किया था इसलिये उस समय पंडितजी को उन्हें समीप से ही देखने का अवसर मिला था। किसी बड़े विद्वान से, पंडितजी की यह प्रथम भेंट थी।

दो वर्ष जोवनेर विद्याध्ययन करने के पश्चात् वे पुनः अपने गांव आ गये। उन दिनों सेठ केशरीमलजी सेठी गयाजी से भादवा आते रहते थे। गांव की पाठशाला भी उन्हीं की प्रेरणा से चलती थी। जव कभी वे भादवा आते तो पाठशाला में भी निरीक्षण के लिये जाते। उनकी दृष्टि में पंडितजी अच्छे एवं कुशाग्र वुद्धि के छात्र लगे इसलिये उनकी इच्छा उन्हें गयाजी ले जाने की होने लगी।

एक वार उन्होंने गयाजी से ही पंडितजी के काकाजी नाथूलालजी को पत्र लिखा जिसमें उन्होंने पंडितजी को गयाजी भेजने का आग्रह किया। पंडितजी के हृदय में अध्ययन की तीव्र लालसा थी। इसलिये उन्होंने शीघ्र ही अपनी मांताजी एवं वावाजी का आशीर्वाद लेकर गयाजी के लिये प्रस्थान कर दिया। उस समय उनकी आयु १६ वर्ष की थी। गांव में यातायात का साधन नहीं था। वहां से १३ मील आसलपुर का स्टेशन था। वहीं से रेल गाड़ी पकड़नी पड़ती थी। गांव से स्टेशन तक ऊंट पर जाना पड़ता था। पंडित जी भादवा से आगे कुछ ही दूर पहुंचे होंगे कि आकाश में वादल छा गये और घोर वर्षा होने लगी। रेगिस्तान में कहीं ठहरने का स्थान नहीं था। लेकिन आप जरा भी नहीं घवराये

और अपने लक्ष्य पर चलते ही रहे। यह मानों इन्द्रदेव द्वारा आपका पहिला स्वागत था और सरस्वती द्वारा प्रथम परीक्षा।

गयाजी में पंडितजी का मन नहीं लगा और वे वहां से और कहीं जाने की सोचने लगे। उसी समय महाविद्यालय में पढ़ने वाला एक विद्यार्थी सेठजी की दुकान पर आया। वह वहां से भाग कर आया था। वह विद्यार्थी कलकत्ता के किसी सेठ का लड़का था। स्वभाव से ही वह तेज था। इसलिये विद्यालय से लड़ झगड़ कर आया था। उसने आते ही केशरीमलजी सेठी के सामने विद्यालय की निन्दा करना प्रारम्भ कर दिया। सेठीजी विद्यालय की कार्यकारिणी के सदस्य थे तथा उसे आर्थिक सहायता भी देते रहते थे। कमेटी में उनकी अच्छी प्रतिष्ठा थी। किन्तु वह विद्यार्थी काफी समय तक जब विद्यालय की बुराइयां करता ही रहा तब सेठीजी ने उसे भला बुरा कह कर उसे वहीं जाकर अध्ययन करने का आग्रह किया। पंडितजी वहीं बैठे थे और बड़े ध्यान पूर्वक उनकी बात सुन रहे थे। तत्काल उनके मन में बनारस जाकर पढने की इच्छा हुई और उन्होंने अपने विचार सेठीजी के सामने रख दिये। सर्व प्रथम तो सेठीजी ने उन्हें जाने की सलाह नहीं दी लेकिन कुछ समय पश्चात् पंडितजी के पुनः आग्रह करने पर वे सहमत हो गये। और स्याद्वाद महाविद्यालय में पढ़ाने को राजी हो गये। पंडितजी की खुशी का पारावार नहीं रहा। उनके लिये तत्काल कुर्त्ता एवं कोट सिलाया गया और उस लड़के के साथ एक पत्र लिखकर उन्हें भी वाराणसी पढ़ने के लिये भिजवा दिया। स्वयं सेठीजी उन दोनों विद्यार्थियों को स्टेशन पर छोड़ने के लिये गये।

फिर विपत्ति

रेल से चलकर वे दोनों वाराणसी आ गये। पंडितजी तो प्रथम बार वाराणसी आये थे इसलिये उन्हें तो विद्यालय का कुछ पता ही नहीं था। वह विद्यार्थी उन्हें सर्व प्रथम श्वेताम्बर मन्दिर में ले गया जो स्याद्वाद महाविद्यालय के समीप ही था। उसने वहां जाकर कहा कि "विद्यालय तो प्रातः होने पर चलेंगे। अभी अपने कपड़े खोल कर सो जावो।" पंडितजी ने ऐसा ही किया। गर्मियों का समय था इसलिये सोते ही गहरी नींद आ गयी और आंख खुली तो मालूम पड़ा कि न तो वह विद्यार्थी ही है और न उनके कपड़े एवं पैसे। पहिले तो उन्होंने इधर उधर देखा और जब कहीं दिखायी नहीं दिया तो वे जोर-जोर से रोने लगे। और कोई उनके पास चारा भी क्या था। बनारस में उन्हें कोई नहीं जानता था और न वे विद्यालय को ही जानते थे। शरीर से अलग लाचार। कहीं जाने-आने में अत्यधिक कष्ट होता था। आयु भी १६ वर्ष से अधिक नहीं। रोने की आवाज सुनकर मन्दिर का पुजारी उन्हें डांटने फटकारने लगा। और तत्काल मन्दिर से चले जाने के लिये कहने लगा। लेकिन भाग्य को यह स्वीकार नहीं था। अनायास ही स्याद्वाद महाविद्यालय के तत्कालीन अधिष्ठाता श्री नन्दकिशोरजी जैन वहां आ गये और उन्हें रोता हुआ देखकर पूछताछ करने लगे। वे पंडितजी को पूछने लगे कि वे क्यों रो रहे हैं और कहां से आये हैं। पंडितजी ने उन्हें अपने पर बीती पूरी घटना सुना दी तथा कहा कि उन्हें सेठ केशरीमलजी सेठी ने विद्यालय में पढ़ने के लिये भेजा है। लेकिन उन्होंने जो पत्र अधिष्ठाता महोदय को लिखा था वह भी कोट में रखा था जो वह लड़का लेकर चला गया। पंडितजी ने अपना पूरा वृत्तान्त रोते-रोते कहा। अधिष्ठाताजी को बालक पर दया आ गयी और वे उसे विद्यालय में अपने साथ ले गये। उन्होंने तार द्वारा पहिले केसरीमलजी से पंडितजी के बारे में पूछताछ की और जब उन्हें

सन्तोष हो गया तो पंडितजी को विद्यालय में प्रवेश दे दिया। तत्काल दर्जी को बुलाया गया और उनके लिये कपड़े सिलाये गये। पंडितजी ने लिखा है कि "जब तक वे विद्यालय के अधिष्ठाता रहे उनके साथ उनका वर्ताव अत्यधिक "सौहार्दपूर्ण रहा।"

महाविद्यालय के स्नातक

पंडितजी ने अपना अध्ययन पूरे मनोयोग से प्रारम्भ किया। जो कुछ वे पढ़ते थे उसे पूरा याद कर लेते इसलिये वे शीघ्र ही विद्यालय के प्रिय छात्र बन गये। पहले वे स्वयं पढ़ते और फिर वे अपने साथियों को भी पढाया करते। पंडितजी के साथी उनका काम सहज ही में कर देते थे। वे वहाँ अनपेड छात्र थे। (१) रु० मासिक उन्हें हाथ खर्च का मिलता था। वे उसी में अपना काम चला लेते थे। पंडित कैलाशचन्द जी शास्त्री पं० चैनसुखदास जी के साथी थे। उन्होंने एक स्थान पर लिखा है कि मेरे बाल्यकाल में विद्यालय में तीन छात्र प्रमुख थे। "पं० चैनसुखदासजी जयपुर, पं. जीवन्धरजी इन्दौर और पं. रमानाथजी इन्दौर। मैं पं० चैनसुखदासजी के ग्रूप में था। और मेरे परम मित्र पं० राजेन्द्रकुमारजी न्यायतीर्थ पं० जीवंधरजी के ग्रूप में थे। तीनों में जब कभी बात छिड़ जाती थी तो आनन्द आ जाता था। फिर तो संस्कृत वाग्धारा की सरिता बहने लगती। पं० चैनसुखदासजी अवस्था की दृष्टि से तीनों में छोटे थे किन्तु बोलने में विशेष पटु थे। विद्यालय जोभी विद्वान् पधारते उससे संस्कृत में जमकर चर्चा छिड़ती और हम लोग उसका रसास्वादन करते। एक बार एक दण्डी साधु हाथ में दण्ड लिये विद्यालय के तट से जा रहा था। ऊपर हम लोग खड़े थे। पं० चैनसुखदासजी ने उसे छेड़ दिया। वह भी विद्वान् था। फिर तो संस्कृत में वाग्युद्ध छिड़ गया और बहुत ही आनन्द आया।"

अध्ययन की समाप्ति

पंडितजी पाँच वर्ष तक स्याद्वाद महाविद्यालय के छात्र रहे और इस बीच में उन्होंने बंगाल संस्कृत एसोसियेशन की न्यायतीर्थ एवं काशी विद्यापीठ के आचार्य का "प्रथम खण्ड" पास किया। जैन शास्त्रों का आपने गम्भीर ज्ञान प्राप्त किया। आपकी तार्किक शक्ति बड़ी तेज थी इसलिये विद्यार्थी अवस्था में आपको तर्कचन्द के नाम से पुकारा जाता था। वहां आपका एक अलग ही ग्रूप था और आपके ग्रूप में अच्छे विद्यार्थी थे। विद्यार्थियों में आप सदा ही लोकप्रिय रहे। वहां पढ़ते भी रहे और दूसरों को पढ़ाते भी रहे। छात्रों की ओर से संस्कृत में एक पत्र निकाला जाता था उसके भी आप सम्पादक रहते थे। विद्यार्थी अवस्था में ही वे आप्तपरीक्षा एवं प्रमेयरत्नमाला को अच्छी तरह पढ़ाते। विद्यार्थियों को संस्कृत में अनुवाद कराते और उनको संस्कृत में बोलना सिखाते।

स्याद्वाद विद्यालय आपके जीवन निर्माण का स्थल रहा। वहां रह कर संस्कृत एवं जैन दर्शन का उच्च अध्ययन किया। वास्तव में स्याद्वाद महाविद्यालय आप जैसे मेधावी छात्रों के कारण स्वयं गोरवान्वित हो गया। और आपके नाम के साथ सदा ही उसका नाम जुड़ गया। पांच वर्ष तक पंडित जी का व्यक्तित्व विद्यालय के छात्रों पर ही नहीं अपितु वहां के अधिकारियों पर छाये रहा और वे अपनी विद्वत्ता, वाग्पटुता तथा सादगी से विद्यालय में सर्वाधिक लोकप्रिय रहे। पांच वर्ष के अल्प जीवन में ही वे समाज के मूर्द्धन्य विद्वान् बन गये और अपनी अलौकिक सूझबूझ से सब पर अपना प्रभाव स्थापित कर लिया।

स्वदेश को

सन् १९१९ में वे स्वदेश लौट आये। उस समय उनकी आयु २१ वर्ष की थी। विद्याध्ययन पूर्ण कर जब वे गांव लौटे तो उनका भव्य स्वागत

किया गया। वृद्धों ने उन्हें आशीर्वाद दिया तो साथियों ने उन जैसा साथी पाकर अपने आपको गौरवशाली समझा। माता ने स्नेहमय आंसुओं से अपने पुत्र को छाती से लगाया तो छोटे भाई प्रसन्नता से फूला नहीं समाया और सारे गांव में घूम-घूम कर अपने भाई के आगमन की सूचना दी। पं० चैनसुखदासजी भी अपने गांव में अपने परिवार एवं इष्ट मित्रों के मध्य में अपने आपको पाकर अत्यधिक प्रसन्नता व्यक्त की एवं स्नेह के लिये सबके प्रति आभार व्यक्त किया। पहिले वे केवल चैनसुखदास थे किन्तु बाद में वे पं० चैनसुखदास न्याय-तीर्थ कहलाने लगे। सबने मिलकर यह निश्चय किया कि आज शाम को मन्दिर में पं० चैनसुखदासजी शास्त्र पढ़ेंगे। गांव के प्रत्येक घर में बुलावा भेजा गया। बालक, वृद्ध एवं महिलायें सभी सायंकाल की प्रतीक्षा करने लगी जब वे बनारस से पढ़कर आये हुए अपने ही गांव के पण्डितजी से शास्त्र सुनेंगी। पूरा मन्दिर भर गया। युवा पंडितजी ने जब शास्त्र पढ़ा तो उनकी प्रवचन शक्ति को देखकर सब लोग मंत्र मुग्ध हो गये और ऐसे 'पंडित' को पाकर अपने आपको भाग्यशाली मानने लगे। गांव के सभी निवासी आपकी सादगी तथा नम्रता तथा विद्वत्ता की प्रशंसा करने लगे। मन्दिर का आंगन शाम को प्रतिदिन भरने लगा और लोगों में अद्भुत उत्साह दिखाई देने लगा। कुछ दिन इस प्रकार व्यतीत हो गये। आपके विवाह के प्रस्ताव आने लगे। उस समय में लड़कियां कम थी और लड़के अधिक थे। पंडितजी पैर से लाचार होने पर भी उनके कुछ लोग अपनी लड़की देने को तैयार हो गये। लेकिन आपने विवाह करना स्वीकार नहीं किया और आजन्म ब्रह्मचर्य व्रत पालन करने का निश्चय किया।

एक बार आपको विवाह में सम्मिलित होने के लिये कुचामन (मारवाड़) जाना पड़ा। वहां भी आपका भव्य स्वागत हुआ। नगर में जैन समाज के द्वारा एक सभा बुलायी गयी और आपको प्रमुख अतिथि के रूप में आमंत्रित किया गया। आपके व्याख्यान का विषय था "जैन धर्म का महत्व"। इस सभा में कुचामन नगर के प्रसिद्ध पंडित भवदत्त जी शास्त्री भी सम्मिलित हुए। वे आपके भाषण से अत्यधिक प्रभावित हुए। इन्होंने पंडितजी के भाषण के पश्चात् कहा कि "उन्हें कितने ही विद्वानों के भाषण सुनने का अवसर मिला किन्तु आज एक युवा विद्वान् के मुख से जितना प्रभावशाली भाषण सुनने को मिला उतना इसके पूर्व कभी नहीं मिला।" कुचामन के निवासी भी पंडितजी का भाषण सुन कर झूम उठे और अपने ही प्रान्त के युवा विद्वान् को पाकर अत्यधिक प्रसन्नता व्यक्त की। तथा उन्होंने अपनी हार्दिक इच्छा व्यक्त की कि पंडितजी यहीं कुचामन में रहें। उस समय कुचामन में सेठ गम्भीरमलजी पांड्या की ओर से एक विद्यालय चलता था सेठजी भी एक योग्य विद्वान् की तलाश में थे। फिर क्या था उनके घर बैठे गंगा आ गई थी इसलिये वे भी उनसे लाभ लेने को आतुर हो उठे। जब सेठजी ने आपसे विद्यालय में सेवा करने के लिये अत्यधिक आग्रह किया तो आपने उसे स्वीकार कर लिया और वे उस विद्यालय के प्रधानाध्यापक नियुक्त किये गए।

समाज सेवा करने का प्रथम अवसर

दिगम्बर जैन विद्यालय कुचामन के प्रधानाध्यापक के पद नियुक्ति होते ही आपकी कीर्ति चारों ओर फैलने लगी। पैर से लाचार होते पर भी स्वस्थ एवं सुन्दर वदन, ओजपूर्ण वाणी, संयमी जीवन एवं स्वाभिमानी स्वभाव इन सब गुणों ने आपके व्यक्तित्व को ऊंचा उठाने में पूर्ण सहयोग दिया। जिस विद्यालय में पहिले विद्यार्थियों का अभाव रहता था वहाँ अब आस-पास के ग्रामों के विद्यार्थी आने लगे और एक-दो वर्ष में ही वहां

द्यार्थियों की अच्छी संख्या हो गयी। पं. सत्यन्धर-
नारजी सेठी, पं. चान्दमलजी काला, गुलाबचंन्दजी
ावाल रेनवाल आदि ने कुचामन में ही विद्या
प्त की थी। कुचामन विद्यालय में आपने १२
र्ष तक सेवा की और उसे प्रान्त का आदर्श
द्यालय बना दिया।

शिक्षण कार्य के अतिरिक्त जो भी आपको
मय मिलता उसे आप सामाजिक कार्यों में लगाने
गे। भादवा, जोबनेर एवं बनारस के विद्यालयों
अध्ययन करते समय भी आपसे जितनी अधिक
वा हो सकती थी करते रहे थे। पंडितजी प्रारम्भ से
ी उदार विचारों के रहे। समाज के विकास में उनकी
्रांतिकारी विचारधारा रही। उन्होंने सदा ही समाज
ो झकझोरना चाहा और उसे जाग्रत करके विकास
ी ओर लगाने का प्रयास किया। वे रूढ़ियों का सदा
ी विरोध करते रहे। चौका-चूल्हा एवं छुआछूत
के सदा हो विरुद्ध बोलते रहे और उस समय भी
अपने साहस का परिचय दिया जब समाज में कट्टर-
पंथियों का बोलबाला था तथा सारा समाज उनकी
मुट्ठी में था।

जब आप कुचामन में थे तो खण्डेलवाल महा-
सभा का पूरा प्रभाव था। लेकिन पंडितजी सा०
की दिगम्बर जैन खण्डेलवाल महासभा से अधिक
नहीं पटी क्योंकि उसके सभी कर्णधार पुरानी
विचारधारा के थे और सुधार का उन्हें नाम भी
नहीं सुहाता था। इसलिये पंडितजी ने राजावाटी
गोड़ावाटी दिगम्बर जैन महासभा के नाम से एक
संस्था की स्थापना की थी जिसका प्रमुख उद्देश्य
समाज में व्याप्त कुरीतियों को मिटाने एवं परस्पर
के विवादों को निपटाना था। उन्होंने इस महासभा
के माध्यम से उस प्रदेश में वृद्ध विवाह, दहेज एवं
कन्या विक्रय जैसी कुरीतियों में काफी सुधार किया।
पंडितजी सामाजिक समस्याओं को सुलझाने के लिये
पंच (जज) का कार्य करते थे। वादी एवं प्रतिवादी
की दलीलें सुनते, पक्ष विपक्ष में तर्क दिये जाते और
अन्त में पंडितजी द्वारा फैसला सुनाया जाता जो
सबको मान्य होता। कहते हैं कुछ लोग अपने पक्ष
में फैसला देने के लिये पंडितजी को लोभ लालच
भी देने का प्रयास करते लेकिन वे अपने पद से
विचलित नहीं होते और जो उचित प्रतीत होता
वही फैसला सुनाते। पंडितजी के इस बढ़ते हुए
प्रभाव से बडे-बड़े मठाधीशों के सिंहासन हिल गये
और वे भी पंडितजी की इच्छा के विरुद्ध कार्य करने
में डरने लगे।

एक बार बरसात के दिनों में भादवा से
कुचामन जाते समय बाज़न नदी की तेज धारा तथा
गहरे पानी में मना करने पर भी ऊंट वाला
आपको ले गया। उसने सोचा था कि नदी में अधिक
पानी नहीं है और ऊंट को वह आसानी से निकाल
ले जावेगा। लेकिन नदी का बहाव तेज था तथा
पानी भी गहरा हो गया था। ऊंट जब नदी के
मध्य में पहुंचा तो उसकी गर्दन के अतिरिक्त वह
पूरा डूब गया था। बड़ी मुश्किल हो गई। न आगे
जाया जा सकता था और न पीछे मुडा जा सकता।
ऊंट वाला भी घबरा गया और पंडितजी ने तो
जान लिया कि उनके जीवन का अन्त सन्निकट है।
वे णमोकार मंत्र का जाप करने लगे। धीरे-धीरे
ऊंट ने जब बड़ी सावधानी से नदी पार की तभी
दोनों के जान में जान आयी।

जयपुर आगमन

१२ वर्ष कुचामन विद्यालय में कार्य करने के
पश्चात् दिनांक ३० अक्टूबर सन् १९३१ की शुभ
एवं पावन वेला में पंडितजी सा० ने दिगम्बर जैन
महापाठशाला जयपुर के प्रधानाध्यापक पद का
कार्यभार सम्हाला। यहां से उनके जीवन का नया
मोड़ प्रारम्भ हुआ। अब तक उनकी गतिविधियां
प्रमुख रूप से कुचामन एवं उसके आस-पास के

प्रदेश तक ही सीमित रही थी लेकिन जयपुर में आजाने के पश्चात् उनका क्षेत्र सारा देश हो गया और उनके जीवन विकास का नया अध्याय प्रारम्भ हुआ। उनकी आयु भी उस समय ३३ वर्ष की थी। उनका शरीर पूर्ण यौवनत्व को प्राप्त था। शरीर से यद्यपि अशक्त थे। डंडे के सहारे चलते थे। लेकिन उनका उन्नत भाल, चमकता हुआ आकर्षक चेहरा तथा ओजस्वी वाणी किसी भी व्यक्ति को अपनी ओर आर्कर्पित करने में पर्याप्त थी।

पंडितजी सीधे-सादे वेश में रहते। मारवाड़ी ढंग की पगड़ी बांधते। खद्दर की धोती और कुर्त्ता अथवा कमीज पहिनते। हाथ में डंडा रखते और अपनी उपस्थिति का सबको ज्ञान करा देते।

पंडितजी जयपुर आकर पाठशाला के प्रबन्ध को देखने लगे। पढ़ाई की स्थिति देखी। विद्यार्थियों की जब संख्या देखी तो मालूम पड़ा कि ऊंची कक्षाओं में विद्यार्थी ही नहीं हैं। अधिकांश विद्यार्थी प्रवेशिका पास करके पाठशाला छोड़ देते थे। इसलिये उच्च कक्षाओं में विद्यार्थी कैसे आते। वे एक दूसरे को देखकर वापिस चले जाते। महापाठशाला को स्थापित हुए ३० वर्ष से भी अधिक समय हो गया था लेकिन इतने वर्षों में ४–५ शास्त्री से अधिक नहीं निकल सके। वास्तव में यह एक प्रकार से पंडितजी को चुनौती थी जिसको उन्होंने सहर्ष स्वीकार किया। इसके अतिरिक्त महापाठशाला की आन्तरिक व्यवस्था भी एकदम बिगड़ चुकी थी। समाज का प्रबन्धकों पर विश्वास नहीं रहा था इसलिये मंत्री और प्रधानाध्यापकों में बराबर परिवर्तन होता रहता। इस प्रकार पंडितजी को जयपुर आने पर अनेक समस्याओं का सामना करना पड़ा।

सर्व प्रथम उन्होंने विद्यार्थियों पर ध्यान दिया। उस समय उपाध्याय कक्षा में पढ़ने वालों में पं० भंवरलालजी न्यायतीर्थ, पंडित श्रीप्रकाश शास्त्री, पंडित मिलापचन्दजी शास्त्री, पंडित भैरूलालजी शास्त्री एवं पंडित आनन्दीलालजी न्यायतीर्थ के नाम विशेषत: उल्लेखनीय हैं। पंडितजी ने ३० अक्टूबर को महा पाठशाला का चार्ज लिया और २ नवम्बर को उन्होंने पंडित भंवरलालजी को अपने पास बुलाया। इस प्रथम भेंट का पं० भंवरलालजी ने अपने एक लेख में जो वर्णन उपस्थित किया है वह निम्न प्रकार है :—

मैं विद्यालय गया। मैंने देखा—एक पगडीबंध, छोटे से कद के, डंडा हाथ में लिये मारवाड़ी व्यक्ति खड़े हैं दीवार के पास। मुझे कहा गया कि ये नये पंडितजी हैं। रजिस्टर में तुम्हारी गैरहाजरी होने से बुलाया है। मैं नमस्कार करके उनके समीप खड़ा हो गया।

उन्होंने पूछा तुम्हारा क्या नाम है? मैंने अपना नाम बतलाया। उनका दूसरा प्रश्न था तुमने विद्यालय में पढ़ना क्यों छोड़ दिया? मैंने उत्तर दिया कि संस्कृत मुझे समझ में नहीं आती। मैं अंग्रेजी पढ़ना चाहता हूँ। तीसरी बार उन्होंने कहा कि यदि संस्कृत तुम्हारी समझ में आने लगे और अंग्रेजी भी तुम्हें पढ़ाया जाय तो पढ़ोगे? मेरे पास उसका उत्तर सिवाय हां करने के कुछ नहीं था। वह था सर्व प्रथम पूज्य पण्डितजी साहब के दर्शन। पहली बातचीत और पहली मुलाकात।"[1]

पं० भैरवलाल सेठी को भी पण्डितजी ने बुलवाया और उनको भी अपना अध्ययन प्रारम्भ करने का परामर्श दिया। इसी घटना को उन्होंने

---

१. पं० चैनसुखदास जयन्ती विशेषांक पृष्ठ संख्या ७७।

भी अपने एक लेख "मेरे निर्माता" में निम्न प्रकार प्रस्तुत किया है—"सन् १९३९ में मैंने प्रवेशिका परीक्षा उत्तीर्ण कर अपनी शिक्षा लगभग समाप्त कर दी थी और अपने चाचाजी के कार्य में सहायक हो चुका था। गुरुजी इन्हीं दिनों जयपुर पधारे थे। उन्हें मालूम हुआ और उन्होंने बुलाया। तथा पढ़ाई बन्द करने के कारणों को सुना। मेरी आर्थिक स्थिति का परिचय पाकर कहा कि तुम दिन में अपना काम करो और रात के ८ बजे पश्चात् मेरे पास पढ़ने आओ। मेरे परम सखा श्री भंवरलालजी न्यायतीर्थ तथा मैं दोनों रात को पढ़ने आने लगे। पण्डितजी शास्त्र प्रवचन करके आते और रात को २—३ घंटे हम दोनों को बंगाल संस्कृत एशोसियेशन की प्रथम परीक्षा की तैयारी कराते। फरवरी में प्रथमा परीक्षा दी और सफलता प्राप्त की। इसी बीच मेरे ट्यूशनों की व्यवस्था भी बैठा दी।"[1]

इस प्रकार पण्डितजी सा० ने जयपुर आते ही विद्यार्थियों से अपना सम्पर्क बढ़ाया और उन्हें उसमें पर्याप्त सफलता मिली। एक के पश्चात् दूसरे विद्यार्थी आने लगे और इस तरह प्रवेशिका, उपाध्याय एवं शास्त्री कक्षाओं में जो पहिले प्रायः खाली पड़ी रहती थी फिर विद्यार्थियों से भरने लगी। पण्डितजी दिन भर विद्यार्थियों को पढ़ाते और रात्रि को बड़े दीवानजी के मंदिर में शास्त्र प्रवचन करते। इस तरह शनै-शनै उनकी विद्यार्थियों में एवं समाज में लोकप्रियता बढ़ने लगी।

जैन दर्शन का सम्पादन

तीन वर्ष में जयपुर जैन समाज में लोकप्रियता प्राप्त करने तथा दिगम्बर जैन महापाठशाला की व्यवस्था में पर्याप्त सुधार करने के पश्चात् पण्डित जी बिजनौर से प्रकाशित होने वाले पाक्षिक पत्र जैन दर्शन के प्रमुख सम्पादक बनाये गये। यह पत्र श्री भारतवर्षीय दिगम्बर जैन शास्त्रार्थ संघ का प्रमुख पत्र था तथा एक वर्ष पूर्व ही पण्डित अजित-कुमारजी शास्त्री एवं पण्डित कैलाशचन्दजी शास्त्री के सम्पादकत्व में निकल रहा था। दूसरे वर्ष के प्रथम अंक से (१ अगस्त, १९३४) आपने इसके सम्पादन कार्य को अपने हाथ में लिया तथा पण्डितजी के पास ही जैन दर्शन में प्रकाशनार्थ लेख एवं कवितायें भेजे जाने के लिये विद्वानों से निवेदन किया गया। इसके पश्चात् जैन दर्शन पत्र का "स्याद्वाद विशेषांक" का आपने जिस योग्यता एवं पांडित्य से सम्पादन किया उसकी उन दिनों सारे समाज में अत्यधिक प्रशंसा हुई। आपके पांडित्य की चारों ओर प्रशंसा होने लगी और कुछ ही समय में 'जैन दर्शन' समाज का लोकप्रिय पत्र बन गया। इस पत्र के माध्यम से जयपुर के जैन युवकों को लेख, कविता एवं कहानी लिखने का अच्छा अभ्यास हो गया। जिन नवयुवक विद्वानों की जैन दर्शन में विशेष लेख एवं कवितायें प्रकाशित हुई थी उनमें पं० भंवरलालजी न्यायतीर्थ, पं० मिलाप चन्दजी शास्त्री पं० कैलाशचन्द जी शास्त्री न्याय-तीर्थ, पं० आनन्दीलालजी न्यायतीर्थ, पं० श्री प्रकाश जी शास्त्री, पं० चान्दमलजी शशि के नाम विशेषतः उल्लेखनीय हैं।

जुलाई १९३४ में लेखक अपने छोटे भाई (वैद्य प्रभुदयाल भिषगाचार्य) के साथ पंडितजी सा० के चरणों में सैंथल ग्राम से पढ़ने के लिये आये। लेखक का यह परम सौभाग्य रहा कि उनके पिताजी स्वर्गीय श्री गैंदीलालजी ने उन्हें ऐसे महापुरुष के चरणों में समर्पित किया जिनके कारण हम दोनों भाइयों का जीवन निर्माण हो सका।

---

1. पं० चैनसुखदास जयन्ती विशेषांक पृष्ठ संख्या ८३।

इस प्रकार जयपुर जैन समाज में पंडितजी सा० की लोकप्रियता बढ़ने के साथ ही समाज में विरोध की भावनाएं भी समाप्त होने लगी थीं। दिगम्बर जैन महा पाठशाला की व्यवस्था में सुधार होने लगा था। पंडितजी सा० स्वयं प्रातः काल से लेकर रात्रि को १० बजे तक विद्यार्थियों को पढ़ाते रहते। यही नहीं कालेज में पढ़ने वाले विद्यार्थियों के अतिरिक्त भी अन्य विद्यार्थियों को बुला कर पढ़ाते और उन्हें प्रतिवर्ष किसी न किसी परीक्षा में बैठा देते। तीन-चार वर्ष में ही जयपुर में उनके शिष्यों की अच्छी संख्या हो गयी।

जैनबन्धु का सम्पादन

दो वर्ष तक जैन दर्शन के प्रथम सम्पादक रहने के पश्चात् पण्डितजी ने एक नये पाक्षिक पत्र का प्रकाशन प्रारम्भ किया। पत्र का नाम था जैनबन्धु और प्रकाशन स्थान था कलकत्ता। इसके प्रकाशक तनसुखलाल पांड्या थे। जैन बन्धु के प्रथम वर्ष के प्रथम अंक के अपने सम्पादकीय में जैनबन्धु के प्रकाशन के उद्देश्य का निम्न शब्दों में उल्लेख किया था "जैन बन्धु किसी दल विशेष का पत्र नहीं होगा। वह सारे जैन समाज का पत्र है। इसका प्रधान उद्देश्य समाजगत (शास्त्रानुमोदित) रूढ़ियों को नष्ट कर समाज में नव जीवन का संचार करना है। विपथगामी नवयुवकों को सत्पथ पर लाकर उन्हें सुयोग्य समाज सेवी बनाना है। प्राचीन और अर्वाचीन साहित्य के प्रचार के द्वारा जैन धर्म प्रभावना करना है। इसमें प्रधानतया जैन साहित्य, जैन दर्शन, कला, अर्थशास्त्र और स्वास्थ्य आदि विषयों पर लेख रहेंगे। और किसी भी ऐसे सामयिक आन्दोलन के सम्बन्ध में भी गवेषणा पूर्ण लेख रहेंगे जिनका सम्बन्ध खास कर जैन समाज से होगा। यदि आवश्यक समझा जायगा तो किसी भी विषय के खण्डन-मण्डन के लेखों को भी स्थान दिया जा सकेगा। "पंडितजी सा० ने जैन बन्धु पत्र का जय-जय" जैनबन्धु अभिराम" कविता रूप में स्वागत किया। स्वागत का एक चरण निम्न प्रकार है—

पावनता का घन आधार,
निर्भय हो पर कभी न हार,
परोपकृति ही रख व्यापार,
समुत्थान का ही सद्धाम। जय जय जैनबन्धु अभिराम

लोहडसाजन आन्दोलन का श्रीगणेश

जैन बन्धु के प्रकाशन का प्रमुख उद्देश्य लोहड साजन आन्दोलन का श्रीगणेश करना था। तथा समाज के कुछ व्यक्ति आचार्य श्री सूर्यसागर जी महाराज के विरुद्ध भी अनर्गल बातें लिखा करते थे उन्हें भी समुचित उत्तर देना था। जयपुर को आन्दोलन का केन्द्र बनाया गया तथा समाज के सर्वाधिक लोकप्रिय नेता दानवीर रावराजा सर सेठ हुकमचन्दजी इन्दौर, सेठ तोलारामजी एवं सेठ गजराजजी गंगवाल लाडनू आदि का पूर्ण सहयोग प्राप्त किया गया। जैन बन्धु के प्रथम वर्ष के द्वितीय अंक में सर्व प्रथम पंडितजी सा० के प्रमुख शिष्य पं० भंवरलालजी न्यायतीर्थ ने "पक्षपात का पिशाच" नामक लेख से आन्दोलन का श्रीगणेश किया और उसमें आचार्य श्री सूर्यसागरजी महाराज के आलोचकों तथा खण्डेलवाल समाज के एक वर्ग लोहसाजडन समाज की जाति बहिष्कृत जैसी कार्यवाहियों का खुलकर विरोध किया गया। इसी वर्ष ज्येष्ठ वदी १२ को जयपुर में पं० मक्खनलालजी का आगमन हुआ। कहते हैं उनका उद्देश्य भी आचार्य श्री को अपने पक्ष में लेना था। लेकिन पंडित मक्खनलालजी को इसमें सफलता नहीं मिली। इसी तरह आचार्य श्री का जब लाडनू में चातुर्मास हो रहा था उस समय भी कुछ दूसरी पार्टी के विद्वानों ने आचार्य श्री से अनेक प्रश्न पूछे और उन्हें अपने पत्रों में बदनाम करने का भी प्रयास किया लेकिन, उन्हें

किसी में भी सफलता नहीं मिली। पंडितजी का जैनवन्धु पत्र आगे बढ़ता गया और शीघ्र ही समाज में वह लोकप्रिय पत्र माना जाने लगा। इन्हीं सामाजिक आन्दोलनों के सम्बन्ध में पंडित जी सा० ने एक-एक व्यक्ति को मैदान में उतार और दूसरे अंक में ही पं० भंवरलालजी न्यायतीर्थ के लेख के अतिरिक्त श्री सरदारमलजी सेठी लाडनूं का "निन्दनीय चेष्टा", श्री नानूलाल पोल्याका का "श्री १०८ आचार्य श्री शांतिसागर जी महाराज की लोहड़साजनों के आहार लेने की मनाई नहीं है" तथा श्री मालचन्दजी पाटनी लाडनूं का "अनाधिकार चेष्टा" लेख प्रकाशित हुए। इन सब लेखों का उद्देश्य अजमेर से प्रकाशित होने वाले पत्र चन्द्रप्रकाश "जिसके सम्पादक पं० सुजानमलजी सोनी थे तथा खण्डेलवाल जैन हितेच्छु जिसके सम्पादक प० इन्द्रलालजी शास्त्री थे, के लेखों का उचित जवाब देना था। इसके वाद तो जैन बन्धु में इन समाचार पत्रों में प्रकाशित होने वाले लेखों के विरुद्ध एक के पश्चात् दूसरे लेख आने लगे। पण्डितजी सारे समाज में समाज सुधार के पक्ष में अलख जगाना प्रारम्भ किया। युवकों को सामाजिक आन्दोलनों में सक्रिय भाग लेने के लिये प्रोत्साहित किया और इसका परिणाम यह हुआ कि जयपुर, कलकत्ता, इन्दौर, लाडनूं, दाँता, किशनगढ़, रेनवाल आदि पचासों गांवों एवं नगरों में युवकों के दल के दल तैयार हो गये और वे पण्डितजी को अपना आदर्श नेता मानने लगे।

नयी कृति का निर्माण एवं प्रकाशन

'जैन वन्धु' में पंडितजी अपने आपको दार्शनिक कवि के रूप में तो प्रस्तुत कर ही रहे थे कि उन्होंने वन्धु के प्रथम वर्ष के दूसरे अंक से अपनी संस्कृत रचना "पावन प्रवाह" को क्रमशः प्रकाशित करना प्रारम्भ किया। यह एक सुभाषित कृति है।

आचार्य सूर्यसागरजी का चातुर्मास

आचार्य सूर्यसागरजी महाराज एक वर्ष से भी अधिक समय तक मारवाड़ एवं शेखावाटी के ग्रामों एवं नगरों में विहार किया एवं वहां की जनता में धर्म प्रभावना करने के पश्चात् बैशाख शुक्ला ५ सं० १९९३ को पुनः जयपुर नगर में पदार्पण हुआ। रात्रि को नगर के बाहर स्थित नशियां में ध्यानस्थ होना तथा दिन में आहार के पश्चात् पाटोदी के मन्दिर में प्रवचन एवं धर्म चर्चा करना आपका कार्यक्रम था। तत्कालीन कवि स्व० चान्दमलजी शशि की आचार्य श्री के सम्बन्ध में निम्न पंक्तियां उल्लेखनीय हैं—

> द्वाविंशति कर सहन परीषह
> द्वादशानुप्रेक्षा में मग्न।
> परमविरागी शान्त सूर्य मुनि
> धर्म ध्यान में हैं संलग्न।
> जीवमात्र को धर्म भाव हो
> रखकर यह हित भाव विशाल।
> ख्याति नाम से दूर सूर्य मुनि
> रहते नित परमारथ काल।

आचार्य श्री के साथ तत्वचर्चा में भाग लेने वालों में पण्डितजी के अतिरिक्त मा० नानूलालजी, स्वर्गीय पंडित कस्तूरचन्दजी साह, स्व० पं० भूंथालालजी, दुलीचन्दजी साह, रामचन्द्रजी खिन्दूका, बख्शी केशरलालजी, एवं जमनालालजी की पत्नी के नाम उल्लेखनीय हैं। तत्वचर्चा के पश्चात् आचार्य श्री रात्रि को नगर के बाहर जगंलों में चले जाते और रात भर कहीं ध्यानस्थ' रहते। जयपुर में उनका चातुर्मास सानन्द सम्पन्न हुआ और उनके चातुर्मास के कारण सैंकड़ों युवकों में धार्मिक भावनाएं जाग्रत हुई।

पंडितजी साहब की अस्वस्थता

अप्रेल १९३८ में पंडितजी साहब का स्वास्थ्य खराब हो गया। अपनी अस्वस्थता के कारण उन्होंने

जैनबन्धु के सम्पादकत्व से अवकाश ग्रहण कर लिया और अपने स्थान पर पं० श्रीप्रकाश जी न्यायतीर्थ, पंडित कैलाश चन्दजी न्यायतीर्थ, एवं पं० भंवरलाल जी न्यायतीर्थ को सम्पादन का कार्य भार सौंप दिया और जैनवन्धु के तीसरे वर्ष के १२ अंक इन्हीं तीनों के सम्पादन में प्रकाशित हुये। लेकिन तीन वर्ष तक निकलने के पश्चात् जैनवन्धु वन्द कर दिया गया। वास्तव में यह पत्र लोहडसाजन आन्दोलन को गति देने के लिये प्रारम्भ किया गया था और उसमें पूर्ण सफलता मिलने के पश्चात् पत्र को वन्द करने का स्वयं पंडित जी साहव ने ही निर्णय लिया।

वीरवाणी का प्रकाशन

सन् १९४७ को महावीर जयन्ती से एक नये पाक्षिक पत्र 'वीरवाणी' का प्रकाशन प्रारम्भ किया गया। पंडित जी साहव के अतिरिक्त पं० भंवरलाल जी न्यायतीर्थ भी इसके सम्पादक वने। पत्रिका का वार्षिक मूल्य ३)रु. एवं एक अंक का चार आना रखा गया। पंडितजी साहव ने वीरवाणी का प्रकाशन निम्न संकल्प के साथ प्रारम्भ किया गया।

नालसा: प्राप्नुवन्त्यर्थं न क्लीवा: न च मानिन :
न च लोकरवाद्भीता: न च शश्वत्प्रतीक्षिण: ।।

वीरवाणी के प्रथम वर्ष के प्रथम अंक में पंडित जी ने पत्रिका प्रकाशन के उद्देश्य को निम्न शब्दों में प्रस्तुत किया–

"वीर-वाणी" का यह पहला अंक पाठकों के हाथों में पहुंच रहा है। पाठक नये वच्चे की तरह इसे प्यार करें और अपना मंगलमय आशीर्वाद दें। प्रकृति के वहुत से आघातों को पार कर वच्चा जैसे आगे वढता है; किसी पत्र की भी ठीक यही दशा है। उसे वहुत सी प्रतिकूल परिस्थितियों का सामना करना पड़ता है। यदि वह समर्थ हुआ तो उन सव को परास्त कर आगे वढता है; किन्तु किसी भी पत्र का सामर्थ्य उसके पाठकों के अनुकम्पा पूर्ण अनुग्रह पर ही अवलम्बित है। उनके सहानुभूति मय अनुग्रह से ही वह समुद्र के समान विपत्तियों को भी आनन फानन में तैर जाता है।

सामयिक पत्रों की उपयोगिता एवं आवश्यकता के वारे में दो मत नहीं हो सकते। आधुनिक जीवन में इनका महत्व बढ़ता जा रहा है। किसी भी आन्दोलन को सफल वनाना हो तो किसी न किसी पत्र का सहारा पकड़ना ही पड़ता है। राष्ट्रीय, सामाजिक अथवा किसी भी प्रकार का कोई आयोजन पत्रों की सहायता के विना कभी आगे नहीं बढ़ सकता। एक प्रकार से तो हम यह भी कह सकते हैं कि इस समय का राज्य शासन भी पत्रों के सहारे ही चल रहा है। विचार परिवर्तन अथवा विचार-निर्माण में पत्रों का कितना हाथ है यह पत्र पाठकों से छिपा नहीं है। आज के नागरिक के दैनिक जीवन में सामयिक पत्र-पठन का महत्वपूर्ण स्थान होता जा रहा है। समय आ रहा है जव यह मनुष्य के अनिवार्य नित्य कर्मों में स्थान पा जायेगा। हम नये लेखकों एवं कवियों को आमन्त्रित करते हैं कि वे 'वीरवाणी' में अपनी रचनाएं अवश्य भेजें उन्हें यथा सम्भव अनुत्साहित नहीं किया जायेगा।" वीरवाणी के सम्पादकीय लेखों में पंडित जी द्वारा समाज एवं साहित्य के विकास के लिये अच्छा प्रकाश डाला जाने लगा। सामाजिक बुराइयों पर कस कर लिखा जाने लगा तथा उसमें कितने ही ऐतिहासिक एवं साहित्यिक लेख मालाएं प्रारम्भ कीगयी। जयपुर के जैन दीवानोंएवं विद्वानों पर विशेष लेख प्रकाशित होने लगे और इस प्रकार सामाजिक पत्र-पत्रिकाओं में वीरवाणी ने शीघ्र ही अपना विशेष स्थान वना लिय।

श्री महावीर क्षेत्र से पंडित जी का आरम्भ में ही काफी सम्पर्क रहा। क्षेत्र के प्रथम मन्त्री स्व० श्री रामचन्द्रजी खिन्दूका का पंडितजी से गहरा सम्वन्ध था और वे क्षेत्र के कार्यों में उनसे परामर्श

लेते रहते थे। उन्हीं के आग्रह के कारण वे सन् १९५० के आरम्भ में श्री महावीरजी गये।

श्री रामचन्द्र जी खिन्दूका का स्वर्गवास

१३ जुलाई सन् १९५० की संध्या को जैन समाज के लोकप्रिय समाजसेवी श्री रामचन्द्र जी खिन्दूका का आकस्मिक निधन हो गया। खिन्दूका जी जयपुर जैन समाज के वरिष्ठ समाज सेवी थे। वे श्री दिगम्बर जैन अतिशय क्षेत्र श्री महावीर जी के १८-१९ वर्ष तक मंत्री रहे। उन्होंने अपने मन्त्रित्व काल में क्षेत्र की जो सुन्दर व्यवस्था की थी उसके लिये उन्हें सदैव स्मरण किया जाता रहेगा। पण्डित जी साहब के वे श्रद्धालु प्रशंसक थे और उनसे सामाजिक कार्यों में बराबर परामर्श किया करते थे। श्री महावीर क्षेत्र की ओर से साहित्य शोध विभाग की स्थापना उनके परामर्श का एक प्रमुख परिणाम है। वीरवाणी में अपने सम्पादकीय लेख में पण्डितजी ने श्री खिन्दूका जी के निधन को समाज की एक महान क्षति बतलाया। पण्डित जी के शब्दों में "खिन्दूका जी केवल जैनों में ही नहीं अजैनों में भी काफी परिचित थे। साम्प्रदायिक कट्टरता उनमें नहीं थी। उनका समय समय पर दिया गया दान भी सभी संस्थाओं को पहुंचता था। यदि वे राष्ट्रीय क्षेत्र में कार्य करते होते वे आज एक प्रसिद्ध नेता अथवा किसी प्रान्त के शासकों में से होते। पर उन्होंने अपने कार्य क्षेत्र की सीमा समाज सेवा तक ही रखी।"

बधीचन्द जी गंगवाल का स्वर्गवास

२६ दिसम्बर १९५८ को जयपुर जैन समाज के प्रतिष्ठित व्यक्ति तथा श्री महावीर क्षेत्र के मन्त्री श्री बधीचन्द जी गंगवाल का स्वर्गवास हो गया सेठ बधीचन्द जी मिलनसार एवं भद्र परणामी सज्जन थे तथा पंडित जा साहब के विशेष अनुरागी गे। उनके मृत्यु से पण्डित जी के पर्याप्त दुःख हुआ और वीरवाणी में उन्होंने गहरी संवेदना प्रकट की।

पंडित जी की उदयपुर यात्रा

७ अक्टूबर १९६० को पण्डित जी को अपने मित्रों के आग्रह से अखिल भारतीय दर्शन परिषद् के छट्ठे अधिवेशन में भाग लेने के लिये उदयपुर जाना पड़ा। पण्डित जी वहां ७ अक्टूबर से १० अक्टूबर तक ठहरे। उन्होंने वहाँ धर्मतत्व के विषय में एक निबन्ध पढ़ा तथा उस विभाग की अध्यक्षता भी की। उदयपुर में पण्डित जी का भावभीना स्वागत हुआ। उन्होंने जैन समाज द्वारा आयोजित सभा में अपना भाषण दिया तथा एक आयुर्वेद विद्यालय के उद्घाटन में सम्मिलित हुए। इसी बीच पण्डत जी केशरिया जी अतिशय क्षेत्र के दर्शनार्थ भी गए।

मालीलाल जी दीवान का निधन

भादवा सुदी १४ सं० २४८८ के दिन समाज के वयोवृद्ध नेता एवं दिगम्बर जैन अतिशय क्षेत्र श्री महावीर के सभापति श्री मालीलाल जी दीवान का स्वर्गवास हो गया। आप स्थानीय बड़ा मंदिर तेरहपंथी में प्रातः शास्त्र प्रवचन करते थे। दिनांक २० सितम्बर १९६२ को बड़े दीवान जी के मन्दिर में शोक सभा का आयोजन किया गया जिसकी अध्यक्षता पं० चैनसुखदास जी न्यायतीर्थ ने की।

महाकवि बनारसीदास की ३७७ वीं जयन्ती समारोह

२२ जनवरी सन् १९६३ को आने वाला पंडित जी का ६४ वां जन्म दिवस साहित्यिक समारोह के रूप में मनाया गया और इस अवसर पर हिन्दी जैन साहित्य के महाकवि बनारसीदास की ३७७वीं जयन्तीसमारोह मनाया गया। इसी अवसर पर वीरवाणी का "बनारसीदास विशेषांक प्रकाशित किया गया। समारोह डा० माताप्रसाद जी गुप्त अध्यक्ष हिन्दी विभाग, राजस्थान विश्वविद्यालय की अध्यक्षता में सम्पन्न हुआ। विभिन्न विद्वानों ने महाकवि बनारसीदास पर एवं पंडित जी के जीवन

पर प्रकाश डाला। समारोह का संयोजन डा० कस्तूर चन्द कासलीवाल ने किया।

ग्रन्थ की पाण्डुलिपि भेंट

महान् साहित्य सेवी श्री सत्यदेव विद्यालंकार ने अपने २५-३० वर्षों के अनुभव के आधार पर लिखी गयी जैन धर्म सम्बन्धी एक पुस्तक की पाण्डुलिपि मार्च ६३ में पण्डित जी साहब को भेंट की और उसे प्रकाशित करवा कर जनता के हाथों में पहुंचाने का अनुरोध किया।

षोडशकारण एवं दशलक्षण पर्वो पर प्रवचनों की विशेष व्यवस्था

भाद्रपद के षोडशकारण एवं दशलक्षण पर्वों के दिनों में पण्डित जी साहब के बड़े दीवान जी के मन्दिर में विशेष प्रवचनों का आयोजन होता था जिसमें जयपुर के नागरिक भारी संख्या में भाग लेते थे। मन्दिर का सारा चौक खचाखच भर जाता था और ऊपर छतों पर भी श्रोतागण जा बैठते थे। पण्डितजी के भाषण बड़े ही प्रभावोत्पादक होते थे और श्रोतागण सुनते-सुनते भूम उठते थे। २० वर्ष से भी अधिक समय तक इन धार्मिक आयोजनों में पण्डित जी साहब का व्यक्तित्व छाया रहा और इन पर्वो के दिनों में ऐसा मालूम होने लगता जैसे मानों सारा जयपुर नगर एक धार्मिक नगर बन गया हो। इन दिनों में नगर के बड़े-बड़े विद्वानों के भाषण आयोजित कराये जाते और वे सभी पण्डित जी साहब के महान् व्यक्तित्व से अत्यधिक प्रभावित होते थे।

शाकाहारी दल स्वागत समिति की अध्यक्षता

यूरोप से शाकाहारी व्यक्तियों का एक दल दिनांक २२ जनवरी १९६४ को जयपुर में भ्रमण के लिये आया। इनमें आठ महिलाएं और आठ पुरुष थे। उनमें कुछ जन्म से शाकाहारी थे और कुछ बाद में शाकाहारी बने थे। इनके स्वागतार्थ पंडित जी साहब की अध्यक्षता में एक एडहाक कमेटी का निर्माण हुआ था। महाराजाज् मल्टीपरपज स्कूल में एक सार्वजनिक सभा का आयोजन किया गया। जिससे सभी ने शाकाहार के महत्व पर प्रकाश डाला।

जयपुर में मुनि श्री विद्यानन्द जी का चतुर्मास

जून सन् १९६७ में जयपुर नगर में आचार्य देशभूषण जी महाराज एवं मुनि श्री विद्यानन्द जी का विहार हुआ। मुनि बनने के पश्चात् मुनि श्री का यह प्रथम चतुर्मास था। आचार्य देशभूषण जी की ख्याति तो पहिले से ही व्याप्त थी इसलिये इनके आने से नगर में धार्मिक चहल पहल प्रारम्भ हो गयी। जेष्ठ शुक्ला पंचमी के दिन मुलतान समाज की ओर से आदर्श नगर के मन्दिर में जब ऋतु पंचमी पर्व मनाया गया तो सभा में पंडित जी साहब की मुनिश्री से प्रथम भेंट हुई। श्रमण संस्कृति के महान उपासकों ने एक दूसरे को देखा और एक ही प्लेटफार्म से श्रुतपंचनी के महत्व पर भाषण दिये। इसके पश्चात् पंडितजी साहब मुनिश्री के प्रति और मुनिश्री पंडित जी के प्रति आकर्षित होते गये। इसके बाद तो जयपुर में जितने भी समारोह हुए उनमें पहिले पंडित जी बोलते और फिर मुनि श्री प्रवचन करते। पूरे चतुर्मास में यही प्रक्रिया चलती रही। इस वर्ष का भाद्रपद मास विशेष समारोह का वर्ष रहा। प्रातः मुनि श्री का प्रवचन होता था जिसमें रविवार एवं विशेष पर्वो पर १५-२२ हजार जनता एकत्र होती थी तथा रात्रि को बड़े दीवानजी के मन्दिर में पंडित जी का प्रवचन होता था और और वहां भी हजारों की संख्या में श्रोतागण उपस्थित होकर उनका प्रवचन सुनते थे। ऐसा मालूम होने लगा था कि मानों नगर की समस्त समाज ने मुनि श्री एवं पंडित जी के प्रति अपनी समस्त श्रद्धा एवं भक्ति समर्पित कर दी हो।

जयपुर के चतुर्मास ने मुनिश्री के जीवन को महत्वपूर्ण दिशा प्रदान की। यही नहीं पंडित जी

साहब के सम्पर्क में कितनी ही अनुभूतियां हुईं। जब मुनिश्री ने चातुर्मास समाप्ति की घोषणा की तथा आगे विहार निश्चित सा हो गया तो आतिश में एक विशाल सभा का आयोजन किया गया जिसमें २५ हजार से भी अधिक नागरिक उपस्थित होंगे। इतनी अधिक संख्या में लोगों का किसी भी संत एवं साधु का भाषण सुनने के लिये एकत्रित होने का यह प्रथम अवसर था। वास्तव में मुनिश्री ने जयपुर के नागरिकों पर अपने महान् व्यक्तित्व की जो छाप छोडी वह आज भी उनके हृदयों में समायी हुई है।

वीरवाणी का "राजस्थान क जैन साहित्य सेवी विशेषांक"

अप्रेल ६६ को वीरवाणी का' राजस्थान के जेत साहित्य मेवी विशेषांक ' प्रकाशित किया गया। यह विशेषाक अपनी दृष्टि से सभी विशेषांकों से अनूठा रहा। उसमें राजस्थान के प्राकृत, अपभ्रंश संस्कृत, हिन्दी एवं राजस्थानी भाषा के साहित्यकारों का संक्षिप्त परिचय प्रस्तुत किया गया। प्राचीन एवं अर्वाचीन दोनों ही साहित्यकारों का परिचयात्मक विशेषांक का प्रकाशन साहित्य जगत् को नयी देन स्वीकार की गयी। इस विशेषांक में २०० से भी अधिक साहित्यकारों का परिचय प्राप्त हुआ। विशेषांक की सभी दृष्टियों से सराहना की गयी।

वीरवाणी का "पं० चैनसुखदास न्यायतीर्थ विशेषांक"

'वीरवाणी' पत्रिका का पंडित जी के ६८ वें जन्म के उपलक्ष में "पं० चैनसुखदास जयन्ती विशेषांक" निकाला गया। विशेषांक के सम्पादक पं० भंवरलाल न्यायतीर्थ, डा० कस्तूरचन्द कासलीवाल एवं डा० ताराचन्द बख्शी थे। एक समारोह का गठन किया गया जिसके अध्यक्ष श्री केशरलाल बख्शी, थे। समारोह का संयोजन भंवरलाल न्यायतीर्थ एवं डा० कस्तूरचन्द कासलीवाल ने किया। यह प्रथम अवसर था जब किसी जैन विद्वान के जीवन काल में ही किसी पत्रिका का विशेषांक निकाला गया था। विशेषांक में ६० से भी अधिक विद्वानों समाज सेवियों एवं कार्यकर्ताओं ने पंडित जी की साहित्यिक एवं सांस्कृतिक सेवाओं के भारी प्रकाश डाला औरउनका हार्दिक अभिनन्दन दिनांक २२ जनवरी को एक भव्य समारोह में किया गया। पंडित जी साहब को इस विशेषांक की एक प्रति भेंट की गयी।

दीक्षांत भाषण

जुलाई १९६६ में श्री जैन मुमुक्षु मंडल के तत्वावधान में जयपुर नगर में धार्मिक शिविर का आयोजन किया गया। इसमें लगभग १०० विद्यार्थियों ने धार्मिक शिक्षण प्राप्त किया। अन्त में पंडित जी साहब ने दीक्षांत भाषण देकर नवयुवकों को धार्मिक शिक्षा के प्रति अभिरुचि दिखलाने के लिये साधुवाद दिया। राजस्थान जैनसाहित्य परिषद् जयपुर द्वारा आयोजित दीक्षांत समारोह की अध्यक्षता भी आपने ही की थी। यह समारोह सितंबर सन् १९६६ में मनाया गया था।

वर्धमान स्थानकवासी जैन श्रावक संघ द्वारा अभिनन्दन

दिनांक २६-११-६६ को लाल भवन जयपुर में वर्धमान स्थानकवासी जैन श्रावक संघ जयपुर द्वारा पंडित जी साहब का ओजस्वी वक्ता, निर्भीक पत्रकार, साहसी समाज सुधारक, दर्शन, साहित्य एवं संस्कृति के मर्मज्ञ के रूप में स्मरण किया गया।

महा पंडित टोडरमल द्विशताब्दि समारोह

श्री सेठ पूरणचन्द जी गोदीका द्वारा नव निर्मित टोडरमल स्मारक भवन का उद्घाटन, प्रतिष्ठा समारोह एवं टोडरमल द्विशताब्दि समारोह का आयोजन दिनांक ६ मार्च १९६७ से १६ मार्च

१९६७ तक किया गया। टोडरमल स्मारक भवन के निर्माण की प्रेरणा देने में पंडितजी प्रमुख थे। यह समारोह अपने ढंग का एक अभूतपूर्व समारोह था जिसमें स्थानीय एवं बाहर के हजारों व्यक्तियों ने भाग लिया। समारोह के आयोजन में पंडित जी साहब के व्यक्तित्व की प्रमुख छाप रही। पूज्य श्री कानजी स्वामी अपने संघ के साथ समारोह में पधारे और स्मारक भवन का उद्घाटन किया। इसी अवसर पर 'वीरवाणी' का टोडरमल जयन्ती स्मारिका विशेषांक निकाला गया। स्मारिका के सम्पादक मंडल में पंडित जी के अतिरिक्त पं० फूल चन्द जी सिद्धांत शास्त्री, सेठ खेमचन्द जेठावाल, पं० हरिलाल जैन, पं० भंवरलाल न्यायतीर्थ एवं डा० कस्तूरचन्द कासलीवाल थे। विशेषांक की सभी ओर से प्रशंसा की गयी।

राष्ट्रीय पुरस्कार से सम्मानित

पंडित जी साहब की शिक्षा के क्षेत्र में की गयी विशिष्ठ सेवाओं को देखते हुए भारत सरकार की ओर से उन्हें राष्ट्रीय शिक्षक पुरस्कार से सम्मानित किया गया। जयपुर समाज के किसी भी विद्वान का ऐसे राष्ट्रीय पुरस्कार से सम्मानित होने का यह प्रथम अवसर था। पंडित जी के इस सम्मान से सारे नगर में ही नहीं किन्तु देश में प्रसन्नता व्यक्त की गयी। अनेक संस्थाओं द्वारा पंडित जी का अभिनन्दन दिया गया। जोबनेर के शान्तिवीर जैन गुरुकुल द्वारा दिनांक ६–१०–६७ को विशेष समारोह आयोजित करके उन्हें मानपत्र समर्पित किया। इस समारोह में १० हजार से भी अधिक जनता उपस्थित थी।

दर्शन संगोष्ठी

दिसम्बर १९६७ में राजस्थान विश्वविद्यालय द्वारा एक दर्शन गोष्ठी का आयोजन किया गया। इस गोष्ठी का उद्घाटन पंडित साहब ने किया। सेमिनार में बंगाल, बनारस, आंध्र के कितने ही विद्वान् सम्मिलित हुए थे। स्वयं पंडित जी ने इसमें स्याद्वाद पर अपना मौलिक निबन्ध पढा।

अन्तिम अभिनन्दन

पंडित जी साहब का २२ जनवरी १९६९ को ७० वां जन्म दिवस मनाया गया। प्रातः उनके निवास स्थान पर शिष्य परिवार की ओर से उनका हार्दिक अभिनन्दन एवं उनके दीर्घ जीवन की कामना की। रात्रि को एक सभा में नागरिकों की ओर से उनकी सेवाओं का स्मरण करते हुए उनके जीवन को देश के लिये महान् धरोहर बतलाया।

महायात्रा

लेकिन ४ दिन भी पूर्ण नहीं होने पाये कि दिनांक २६ जनवरी ६९ को १॥ बजे वे सदा के लिये महायात्रा पर चल पड़े। उनके आकस्मिक निधन ने सारे नगर को ही नहीं किन्तु देश एवं समस्त समाज को स्तब्ध कर दिया। जयपुर में जिसने भी उनकी मृत्यु के समाचार सुने वही रो पड़ा और पंडित जी के अन्तिम दर्शन करने उनके घर की ओर चल पड़ा।

पंडित जी की शवयात्रा में नगर के हजारों व्यक्ति सम्मिलित हुए। यही नहीं पंडित जी साहब के दर्शनों के लिये हजारों स्त्रियां गलियों एवं बाजारों की छतों पर एकत्रित हो गयी और 'पंडित चैनसुखदास जी की जय हो,' 'गुरुदेव अमर रहें' के नारों के मध्य सभी ने अश्रुपूरित नेत्रों से पुष्पाहार एवं पुष्पवर्षा के साथ श्रद्धांजलियां समर्पित की। मार्ग में जिसने भी पंडित जी के मृत्यु के बारे में सुना वही उनकी शव यात्रा के साथ हो गया।

पंडित जी के निधन ने देश एवं समाज के मानस को कम्पित कर दिया। समाज के विद्वान, समाजसेवी संस्थाओं के अधिकारी शोक सागर में डूब गये। जयपुर नगर तो मानों अनाथ ही हो गया। उसके सिर पर से किसी का वरद हस्त उठ

गया। इस अवसर पर राजस्थान के राज्यपाल से लेकर सामान्य कार्यकर्ता ने अपनी श्रद्धांजलि समर्पित की। वास्तव में पंडित जी पहिले व्यक्ति थे जिनके निधन पर जयपुर नगर में अनेक शोक सभायें आयोजित की गई हों। २६ जनवरी १९६९ को रात्रि को राजस्थान जैन सभा के तत्वावधान में समस्त जैन समाज एवं जयपुर के नागरिकों की ओर से पंडितजी साहब की महान सेवाओं का स्मरण करते हुए उन्हें सादर श्रद्धांजलि अर्पित की गई। राजस्थान विश्वविद्यालय के संस्कृत विभाग एवं महाराजा संस्कृत कालेज, जयपुर की ओर से पंडित जी की संस्कृत साहित्य के प्रति की गई सेवाओं का स्मरण करते हुए हार्दिक श्रद्धांजलि समर्पित की गई। दिगम्बर जैन अतिशय क्षेत्र श्री महावीर जी प्रवन्ध कारिणी कमेटी की ओर से उसी रात्रि को शोक सभा आयोजित की गई और पंडित जी द्वारा की गयी क्षेत्र की सेवाओं की स्मृति में 'पं० चैनसुखदास स्मृति ग्रन्थ' निकालने का निश्चय किया गया। राजस्थान के नवोदित तीर्थक्षेत्र पद्मपुरा की प्रवन्ध कारणीकमेटी द्वारा अपनी आवश्यक वैठकमें पंडितजी की सेवाओं की भूरी भूरी प्रशंसा की गई। पंडित जी क्षेत्र कमेटी के प्रारम्भ से ही प्रमुख सक्रिय सदस्य रहे। राजस्थान जैन साहित्य परिषद् ने पंडित जी साहब के निधन को साहित्यिक क्षेत्र में एक भारी आघात माना। पंडित जी साहित्य परिषद् के पहिले अध्यक्ष एवं फिर उसके संरक्षक रहे थे। इसी तरह दिगम्बर जैन शिक्षा परिषद् की प्रवन्ध कारिणी कमेटी ने पंडित जी के निधन को समाज के लिये गहरा संकट माना।

दिगम्बर जैन संस्कृत कालेज की प्रवन्ध कारिणी कमेटी ने उनके ३७ से भी अधिक वर्षो की सेवाओं का स्मरण करते हुए कालेज को वर्त-मान रूप देने में उनके योगदान को याद किया और उनका कालेज भवन में एक चित्र लगाने का निश्चय किया गया। इसी तरह जैन इतिहास निर्माण समिति जयपुर, वर्धमान स्थानकवासी जैन श्रावक संघ, जयपुर, आचार्य विनयचन्द ज्ञान भण्डार (शोध प्रतिष्ठान), दिगम्बर जैन औषधा-लय, जयपुर, श्री वीर सेवक मण्डल, महावीर दि० जैन वालिका विद्यालय, ज्ञान वाल निकेतन, जैन श्वेताम्बर तेरापंथी माध्यमिक विद्यालय, ज्ञान विद्यालय, प्रवन्ध-कारिणी कमेटी दि० जैन मन्दिर ठोलियान, प्रवन्ध-कारणी कमेटी दि० जैन मन्दिर वड़ा दिवान जी, राजस्थान दि० जैन परिषद, भारत जैन महामण्डल जयपुर शाखा, दि० जैन मुमुक्षु मंडल आदि अनेक संस्थाओं ने पंडित जी के निधन को देश एवं समाज के लिये महान संकट स्वीकार किया।

दिनांक २-२-१९६९ को महावीर पार्क में एक सार्वजनिक शोक सभा का आयोजन राजस्थान के भूतपूर्व मुख्यमंत्री श्री हीरालाल शास्त्री की अध्य-क्षता में किया गया। इसमें जयपुर के प्रमुख नागरिकों ने तथा विभिन्न संस्थाओं के प्रतिनिधियों ने पंडित जी के गुणों के प्रति प्रकाश डालते हुए अपनी अपनी हार्दिक श्रदान्जलि समर्पित की गयी।

गुण-पूजा

इस अवसर पर जयपुर के सर्वाधिक लोक प्रिय दैनिक पत्र "राजस्थान पत्रिका" के सम्पादक ने दिनांक २९ जनवरी के अंक के सम्पादकीय में पंडित जी के व्यक्तित्व के समवन्ध में निम्न उद्गार प्रकट किये।

"पं० चैनसुखदास के निधन से राजस्थान की विद्वन्मंडली का एक वहुमूल्य रत्न जाता रहा है। स्वर्गीय चैनसुखदास उच्चकोटि के विद्वान् शास्त्र मर्मज्ञ, व्याख्याता, वक्ता, लेखक, समाज सुधारक तथा समाज सेवी थे। वह जैन धर्म के अनुयायी थे, परन्तु जैन धर्मावलम्बियों में आम तौर पर जो धार्मिक कट्टरता पाई जाती है, वह उनमें लेशमात्र

भी न थी। वे किसी धर्म की आलोचना नहीं करते थे, वल्कि सभी धर्मों के मूल तत्वों की एकता पर जोर देते थे। इस दृष्टि से उन्हें जैन धर्म के मूल सिद्धान्त स्याद्वाद का प्रतीक माना जा सकता था।

हम कामना करते हैं कि हमारी रत्नगर्भा मातृभूमि स्वर्गीय पंडित जी की कोटि के विद्वान उत्पन्न करे जो आज के युग में फैले हुए अन्धकार में भटकते हुए लोगों को प्रकाश की किरण वन कर रास्ता दिखायें।"

पंडित सा० की जन्म-भूमि भादवा में जव निधन का समाचार पहुंचा तो सारा गांव उनके निधन से शोकाकुल हो गया और एक दिन की पूर्ण हड़ताल रखी गयी। इसी दिन एक सभा करके पूज्य गुरुदेव को समस्त ग्रामीण समाज ने भावभीनी श्रद्धांजलि अर्पित की।

कलकत्ता

कलकता नगर में पंडित जी के निधन के समाचारों ने समस्त जैन समाज को शोकाकुल कर दिया। दिनांक २७ जनवरी को वजवज जैन समाज द्वारा और दिनांक २ फरवरी को अहिंसा प्रचार समिती हाल में २१ संस्थाओं की ओर से श्री नन्दलाल जी जैन की अध्यक्षता में एक शोक सभा का आयोजन किया गया। सभा में अनेक वक्ताओं ने पंडित जी साहब के जीवन एवं उनकी विभिन्न क्षेत्रों में की गई सेवाओं पर प्रकाश डाला गया तथा एक शोक प्रस्ताव पारित करके उनके प्रति हार्दिक श्रद्धांजिलियाँ अर्पित की गयी। यह शोक सभा नगर की संस्थाओं की ओर से आयोजित की गई थी।

अ० वि० जैन मिशन कार्यालय में एक शोक सभा का आयोजन हुआ जिसमें समाज के प्रख्यात मनीषी आर्ष ग्रन्थों के आधुनिक व्याख्याता श्रीमान् चैनसुखदास न्यायतीर्थ के निधन पर शोक प्रकट हुआ। डा० महेन्द्रसागर प्रचंडिया, केन्द्रीय सह संचालक ने पंडित जी के कृतित्व और व्यक्तित्व पर प्रकाश डाला और इसे सारस्वत जगत में अनर्थकारी घटना कहा। उनकी कृति 'अर्हत प्रवचन' के कुछ श्लोकों को दुहरा कर उन्हें श्रद्धांजलि अर्पित की गयी।

देश एवं समाज के नेताओं, विद्वानों, समाज सेवियों एवं नवयुवकों ने भी पंडित जी के निधन को साहित्य एवं संस्कृति के लिये गहरा आघात माना। उपाध्याय विद्यानन्द मुनि ने उन्हें कपड़े से ढके मुनि के समान संज्ञा दी तथा आचार्य विमलसागर जी ने उन्हें समाज निधि मानकर उनकी आत्मा को शान्ति लाभ की कामना की। राजस्थान के तत्कालीन राज्यपाल सरदार हुकुमसिंह ने पंडित जी को संस्कृत एवं दर्शन के प्रकाण्ड विद्वान् के रूप में स्वीकार किया। श्रावक शिरोमणि साहु शान्तिप्रसाद जैन ने उन्हें देश के वरिष्ठ एवं सच्चे नेता के रूप में स्मरण किया। नवभारत टाइम्स के सम्पादक अक्षयकुमार जैन ने उन्हें परहितकारी एवं विद्रोही मान कर श्रद्धांजलि अर्पित की। डाइरेक्टर संस्कृत शिक्षा राजस्थान श्री स्व० के० माधवकृष्ण ने उनके जीवन को एक ज्ञान यज्ञ के रूप में स्वीकार किया। प० मोतीलाल जोशी, महामन्त्री राजस्थान संस्कृत साहित्य सम्मेलन ने उनको संस्कृत साहित्याकाश के ज्वाजल्यमान नक्षत्र के रूप में स्मरण किया। डा० ज्योतिप्रसाद जैन लखनऊ ने पंडित जी के निधन को जैन जगत् पर अनभ्रवज्रपात वतलाया। डा० मण्डन मिश्र, सचिव एवं निदेशक श्रीलालवहादुर शास्त्री राष्ट्रीय संस्कृत विद्यापीठ ने पंडित जी के निधन को भारतीय संस्कृति की अपूरणीय क्षति माना। कलकत्ता के प्रसिद्ध समाज सेवी स्व० लाला जुगमन्दिर दास जैन पंडित जी के निधन के समाचार सुनकर अत्यधिक मर्माहत हो गये। अ० भा० दि० जैन विद्वत् परिषद् के अध्यक्ष डा० दरवारी लाल कोठिया ने पंडित जी को समाज का स्वाभिमानी, समाजसेवी, साहित्यसाधक, निष्पक्ष

समालोचक, कुशल पत्रकार, प्रभावशाली प्रवक्ता एवं सहृदय प्राध्यापक के रूप में मानते हुए अपनी श्रद्धांजलि समर्पित की। अणुव्रत एवं जैन जगत् के सम्पादक श्री रिषभदास रांका ने पंडित जी को राष्ट्र एवं मानवता प्रेमी बतलाया तथा उन्हें जैन एकता का सच्चा समर्थक कह कर अपनी सादर श्रद्धांजलि समर्पित की। राजस्थान विधान सभा के तत्कालीन अध्यक्ष श्री निरंजननाथ आचार्य ने पंडित जी के निधन को अपनी व्यक्तिगत क्षति माना। डा० आदिनाथ नेमिनाथ उपाध्ये ने पंडित जी को जैन सिद्धान्त का महान् विद्वान् बतलाकर अपनी श्रद्धांजलि समर्पित की। संस्कृत साहित्य मंडल नयी दिल्ली ने पंडित जी को समाज की अनन्य विभूति स्वीकार किया। अ० भा० दि० जैन शास्त्री परिषद् के मन्त्री श्री बाबूलाल जमादार ने श्रद्धांजलि समर्पित करते हुए कहा कि उन जैसा उदार नेता, गरीब छात्रों का आश्रयदाता, समाज हित चिन्तक विद्वान् मिलना कठिन है। स्व० डा० नेमिचंद शास्त्री आरा ने कहा कि साहित्य निर्माता, प्राध्यापक एवं प्रधानाचार्य के रूप में पंडित जी ने अखिल भारतीय जैन समाज की अभूतपूर्व सेवा की है"। डा० रामजीसिंह दर्शन अध्यक्ष विभाग भागलपुर विश्वविद्यालय ने पंडित जी के प्रति श्रद्धांजलि समर्पित करते हुए कहा कि पंडित जी ने ठीक कर्मयोगी की तरह अपने आपको एक संस्था बना डाला था।

जैन दर्शन के सम्पादक डा० लालबहादुर शास्त्री ने पंडित जी के निधन को विद्वत् संसार की अपूरणीय क्षति माना। राजश्री पिक्चर्स प्राइवेट लिमिटेड बम्बई के श्री ताराचन्द बड़जात्या ने पंडित जी के निधन को जैन जगत् के लिये महान् क्षति स्वीकार की। तत्कालीन गृहमन्त्री राजस्थान सरकार श्री दामोदरलाल व्यास ने पंडित जी को गिने चुने संस्कृत विद्वानों में से एक मान कर अपनी श्रद्धाञ्जलि समर्पित की।

इसी तरह देश के सैंकड़ों विद्वानों एवं समाज सेवियों ने पंडित जी के निधन पर पंडित जी के गुणों को विभिन्न रूपों में स्मरण करते हुए उनके प्रति अपनी हार्दिक श्रद्धांजलि समर्पित की। देश के ऐसे ही सम्माननीय व्यक्तियों में श्रीमती चन्दाबाई आरा, पं० ब्रजसुन्दर शर्मा भूतपूर्व चिकित्सा एवं श्रम मन्त्री, राजस्थान, मूलचन्द जी पाटनी बम्बई, श्री राजकुमारसिंह जी कासलीवाल, इन्दौर, श्री प्रेमचन्द जैना वाच कम्पनी दिल्ली, श्री लाला उग्रसेन जैन कानपुर, डा० वासुदेवसिंह वाराणसी, डा० गोकलचन्द जैन वाराणसी, स्व० श्री अनंतराज वैद्य उज्जैन, प्रो० ईश्वरानन्द शर्मा डूंगरपुर, डा० महेन्द्र भानावत, उदयपुर, श्री कोमल कोठारी पीपाड़ शहर, श्री वंशीधर शास्त्री कलकत्ता, प्रो० उदयचन्द जैन वाराणसी, पं० गोपीलाल अमर सागर, पं० नाथूलाल जी शास्त्री, इन्दौर, सेठ सुनहरीलाल जैन आगरा, श्री महावीरप्रसाद गोधा मिर्जापुर, रमेशचन्द जैन देहली, वाचस्पति उपाध्याय वाराणसी, प्रो० खुशालचन्द गोरेवाला, डा० राजाराम जैन आरा, पं राजकुमार शास्त्री निवाई, लाला भगतराम जैन देहली, श्री लालचन्द कासलीवाल कलकत्ता, श्री गजानन्द डेरोलिया श्री महावीरजी, नन्हेलाल शास्त्री राजाखेडा, पं० पन्नालाल साहित्याचार्य सागर, माई दयाल जैन देहली, भंवरलाल सेठी इन्दौर, श्री देवकुमारसिंह इन्दौर, फतहचन्द सेठी, अजमेर, मिलापचन्द रतनलाल कटारिया केकड़ी, लखमीचन्द चौधरी सोनागिर, डा० कैलाशचन्द जैन उज्जैन, पं० परमेष्ठीदास जी जैन ललितपुर, चांदमल नलवाड़ी (आसाम), श्री रतनलाल छाबड़ा टोंक, श्री रामचन्द्र जैन श्री गंगा नगर, पं० दीपचन्द पांड्या केकड़ी, प्रो० रामावतार शर्मा उदयपुर, सुरेशकुमार जैन गार्गीय पानीपत, पं० वर्धमान पार्श्वनाथ शास्त्री, डा. राजकुमार जैन

आगरा, डा. नाथूलाल पाठक लाडपुरा कोटा, पं० रूप नारायण शर्मा न्यू देहली, हीराचन्द बोहरा कलकत्ता, डा० केशरीमल ठोलिया सांभरलेक प्रो० अमृतलाल शास्त्री वाराणसी, स्व० चिरंजीलाल बडजात्या वर्धा आदि के नाम उल्लेखनीय हैं।

जयपुर में पंडित जी शिष्यों ने एवं सभी सामाजिक एवं राजनैतिक कार्यकर्त्ताओं ने पंडित जी के निधन पर जिस रूप में गहरा शोक एवं हार्दिक वेदना प्रकट की वह सदा स्मरणीय रहेगी। वीरवाणी का पं० चैनसुखदास श्रद्धांजलि अंक निकाला गया और उसमें पं० भंवरलाल न्यायतीर्थ, डा० कस्तूरचन्द कासलीवाल, पं० मिलापचन्द शास्त्री, पं०अनूपचन्द न्यायतीर्थ, प्रकाशचन्द कासलीवाल जैम पैलेस, सुरज्ञानीचन्द न्यायतीर्थ, वैद्य प्रभुदयाल भिषगाचार्य, डा० ताराचन्द बख्शी, पं० भंवरलाल पोल्याका, वैद्य फूलचन्द शास्त्री, प्रो० प्रेमचन्द रांवका, श्रीमती सुशीलादेवी कासलीवाल आदि ने विभिन्न लेखों के माध्यम से अपने हृदय के उदगार प्रकट किये और सबको ऐसा अनुभव हुआ जैसा उनका सर्वाधिक हितैषी व्यक्ति सदा के लिये चला गया है।

हजारों शिष्यों के गुरु

पंडित जी के १००-२०० शिष्य नहीं किन्तु उनकी संख्या हजारों में है। इसके अतिरिक्त सभी उनके शिष्यत्व को स्वीकार करना चाहते थे। उन्होंने विद्यार्थियों को न्यायतीर्थ की उपाधि दिलायी, शास्त्री एवं आचार्य उपाधि परीक्षायें पास करायी। बी. ए. एवं एम० ए० के विद्यार्थियों को पढ़ाया और यही नहीं पी-एच० डी० एवं डी० लिट्० जैसे उच्च-स्तरीय उपाधियों को प्राप्त करने में उन्होंने अपने विद्यार्थियों का मार्ग-दर्शन किया। ऐसे शिष्यों में डा० कैलाशचन्द जैन, डा० कस्तूरचन्द कासलीवाल एवं डा० कमलचन्द सोगाणी का नाम प्रमुख रूप से लिया जा सकता है। आज इन विद्वानों द्वारा जैन साहित्य एवं संस्कृति की जो सेवा हो रही है उन सब में उन्हीं की प्रेरणा काम कर रही है। उनके प्रमुख शिष्यों में पं० भंवरलाल जी न्यायतीर्थ, पं० मिलापचन्द जी शास्त्री, पं० अनूपचन्द जी न्यायतीर्थ, पं० गुलाबचन्दजी दर्शनाचार्य, पं० सत्यंधरकुमार सेठी, पं० चिरंजीलाल जी जैन दर्शनाचार्य, पं० कीर्तिचन्द जी जैन दर्शनाचार्य के नाम विशेषत: उल्लेखनीय हैं।

कृतित्व

पं. चैनसुखदास जी का जितना महान् व्यक्तित्व था उतना ही उनका महान् कृतित्व भी था। कृतित्व शक्ति उन्हें जन्मजात प्राप्त थी। कहानी एवं निबन्ध तो वे लिखते ही रहते थे। संस्कृत, प्राकृत, हिन्दी एवं राजस्थानी भाषा पर उनका पूर्ण अधिकार था। वे दर्शनिक थे इसलिये दर्शन शास्त्र की कितनी ही गुत्थियों को वे अपनी कृतियों में सुलझाया करते थे। देश के विभिन्न दैनिक, साप्ताहिक एवं मासिक पत्र-पत्रिकाओं में उनके लेख प्रकाशित होते रहते थे। यदि उनकी साहित्यिक शक्ति का का पता लगाना हो तो जैन दर्शन, जैन बन्धु एवं वीरवाणी की फाइलें उठाकर देख लीजिये आपको उनमें उनकी बहुमुखी प्रतिभा के दर्शन हो सकेंगे। इन पत्रिकाओं की अधिकांश सामग्री वे ही लिखते इसलिये उनकी लेखनी अजस्र चलती रहती। नपे तुले शब्दों में और वे भी सीधे सरल किन्तु आकर्षक शब्दों से ओतप्रोत उनकी हम कृतियों को पायेंगे। उनकी कृतियां गागर में सागर का कार्य करती है जो उनकी शब्दों के चयन शक्ति का परिचय देती है। पंडित जी द्वारा सम्पादित एवं निबद्ध कृतियों के नाम निम्न प्रकार हैं :

१. जैन दर्शन सार २. प्रद्युम्न चरित
३. भावना विवेक ४. अर्हत् प्रवचन
५. प्रवचन प्रकाश ६. सर्वार्थसिद्धिसार

७. दार्शनिक के गीत ८. निक्षेपचक्र
९. संयम प्रकाश १०. पावनयवाह

उक्त कृतियों में जैन दर्शनसार, भावनाविवेक, निक्षेपचक्र पावन प्रवाह एवं दार्शनिक के गीत उनकी मौलिक कृतियां हैं। अर्हंत प्रवचन, प्रवचन प्रकाश, संयम प्रकाश एवं प्रद्युम्न चरित उनकी सम्पादित कृतियां हैं। इसी प्रकार सर्वार्थ सिद्धिसार उनकी संक्षिप्त की हुई कृति है। उक्त कृतियों के अतिरिक्त उनके सैकड़ों निबन्ध, कहानियां, देश एवं समाज के जन मानस को आंदोलित करने वाले सैकड़ों सम्पादकीय लेख एवं टिप्पणियां उनके महान् एवं विशाल कृतित्व शक्ति के परिचायक है। जैन समाज के सामयिक विषयों पर उनके उद्‌गार जन मानस को आंदोलित करने वाले होते थे और वे पाठकों के हृदय पर सीधी चोट करते थे। पत्रकारिता उनका स्वाभाविक गुण बन गया था। उनके लेख कल्याण, हिन्दुस्तान दैनिक, साप्ताहिक, नवभारत टाइम्स, राष्ट्रदूत एवं राजस्थान पत्रिका आदि में छपते रहते और इनके माध्यम से वे समाज एवं राष्ट्र के बुद्धिजीवियों से सम्पर्क बनाये रखते थे। वास्तव में एक ही व्यक्ति में इतने अधिक गुण मिलना सहज सम्भव नहीं है।

पण्डित जी स्वभाव से चिन्तनशील थे। जैन दर्शन की अष्टसहस्री, प्रमेयकमलमार्तण्ड, राजवार्तिक, गोम्मटसार, सर्वार्थसिद्धि, प्रमेयरत्नमाला एवं समयसार जैसी कृतियां उनके स्वाध्याय का अंग बन गयी थीं इसलिये जो कुछ वे लिखते, बोलते उन सब में इन महान् ग्रन्थों की छाया अवश्य दृष्टिगोचर होती थी। भावना विवेक, पावन प्रवाह, दार्शनिक के गीत एवं जैदनर्शनसार जैसी कृतियों में उनका मौलिक चिन्तन मिलता है।

१. जैनदर्शनसार

जैन दर्शन के प्रमुख विषयों पर निबद्ध 'जैन दर्शनसार' पंडित जी की महत्वपूर्ण मौलिक कृति है। जैन दर्शन के सभी गूढ़ तत्वों को विद्वान् लेखक ने जिस प्रकार प्रस्तुत किया है वह उनके गम्भीर ज्ञान का परिचायक हैं। जैन दर्शन पर अष्टसहस्री, प्रमेयकमलमार्त्तण्ड, सर्वार्थसिद्धि जैसे कितने ही महान् ग्रन्थ उपलब्ध होते हैं लेकिन वे तो अथाह समुद्र के समान हैं जिनमें तैरना प्रत्येक पाठक के लिये सहज नहीं हैं। इसी दृष्टि को ध्यान में रख कर पंडित जी ने जैनदर्शनसार की रचना की। वास्तव में जैन दर्शन पर ऐसा सांगोपांग ग्रन्थ गत सैकड़ों वर्षों में भी नहीं लिखा जा सका। यही कारण है उसे प्रकाशित होते ही राजस्थान विश्वविद्यालय में एम.ए. (संस्कृत) के पठ्यक्रम में स्वीकृत कर लिया गया।

'जैनदर्शनसार' में चार अध्याय हैं। प्रथम अध्याय में जीवतत्व के सम्बन्ध में प्रकाश डाला गया है। उसके उपयोगमयत्व, अमूर्त्तित्व, कर्त्तत्व, स्वदेहपरिमाणत्व तथा उद्धवगतित्व स्वभाव के सम्बन्ध में विवेचन किया गया है। इसी अध्याय में अजीव तत्व तथा उसके प्रमुख स्वरूप पुद्‌गल द्रव्य के साथ ही में धर्म, अधर्म, आकाश एवं काल द्रव्य पर भी सुन्दर प्रकाश डाला गया है। इसी के आगे आस्रव, बंध, संवर, निर्जरा एवं मोक्ष तत्वों पर महत्वपूर्ण वर्णन मिलता है। इस प्रकार पंडित जी ने एक ही अध्याय में जैन दर्शन के षड् द्रव्यों एवं सात तत्वों का विषद वर्णन करके अपनी स्वाभाविक प्रतिभा का परिचय दिया है।

ग्रन्थ के दूसरे अध्याय में जैन धर्म के दार्शनिक स्वरूप को प्रस्तुत किया गया है और प्रत्यक्ष प्रमाण के साथ ही स्मृति प्रत्यभिज्ञान, तर्क, अनुमान एवं आगम प्रमाण का स्वरूप एवं उनके लक्षण का वर्णन मिलता है। प्रस्तुत वर्णन प्रमेयकमलमार्तण्ड एवं अष्टसहस्री में उपलब्ध वर्णन के आधार पर आधारित है लेकिन पंडित जी ने दर्शन शास्त्र के इन

गूढ लक्षणों को बहुत ही सरल शब्दों में प्रस्तुत करके अपनी दार्शनिक एवं तर्कणाशक्ति का परिचय उपस्थित किया है। छोटे छोटे वाक्यों में दार्शनिक शब्दों के लक्षण प्रस्तुत करना सरल नहीं है किन्तु पंडित जी ने उसे भी सरल बना दिया है।

तीसरे अध्याय में नय के लक्षण के पश्चात् स्याद्वाद एवं सप्तभंगी का विवेचन पंडित जी की महत्वपूर्ण देन है। प्रत्येक वस्तु में सात भंग किस प्रकार उपलब्ध होते हैं इसे उदाहरण के द्वारा अच्छी तरह समझाया गया है। सप्तभंगी के दो भेद किये हैं एक प्रमाण सप्तभंगी एवं दूसरी नय सप्तभंगी। अनेकान्त का लक्षण ही नहीं किया है किन्तु क्या अनेकान्तवाद छल मात्र है, क्योंकि एक ही वस्तु को नित्य एवं अनित्य, एक एवं अनेक, बतलाया गया है और इस प्रकार विविध शंका समाधानों के साथ अनेकान्त एवं स्याद्वाद के स्वरूप का विश्लेषण किया है।

इसी अध्याय में अहिंसा तत्व का विस्तृत वर्णन है। किसी भी दार्शनिक ग्रन्थ में अहिंसा का वर्णन नहीं मिलता है लेकिन पंडित जी साहब ने उसका भी वर्णन प्रस्तुत करके आज के युग की मांग पूरी की है। अपने अहिंसा तत्व के कथन में उन्होंने ज्ञानार्णव, एवं समयसार के वर्णन को मुख्य आधार बनाया है और अहिंसा को भगवती के रूप में प्रतिष्ठित किया है।

इसी अध्याय की एक और विशेषता है—'जाति' शब्द पर प्रकाश डालने का उपाय जैनधर्म जातिवाद के सिद्धान्त पर आधारित नहीं है। पंडित जी ने इसमें लिखा है कि कर्म सिद्धान्त के अनुसार एकेन्द्रियादि भेद से पांच प्रकार की जातियां हैं। मनुष्य जाति एवं पशु जाति भेद किया जा सकता है। ब्राह्मण एवं क्षत्रिय जाति आदि भेद तो आचार भेद के कारण से कर दिया गया है जो सही नहीं है क्योंकि वस्तु दृष्टि से न तो कोई ब्राह्मण है न क्षत्रिय और न वैश्य। अपने समर्थन में उन्होंने पूर्वोक्त आचार्यों के कथन को उद्धृत किया है। "जाति रेषा गुणैः सम्पद्यते गुणध्वंसैश्च विपद्यते। जातिर्हि गुणैः गुणेन कर्मणा वा भवति न तु जन्मना" इस प्रकार बहुत ही स्पष्ट होकर उन्होंने जातिवाद पर करारी चोट की है।

इसके चतुर्थ अध्याय में निक्षेप का वर्णन मिलता है। अर्थ का शब्दों में और शब्दों का अर्थ में आरोप करना ही निक्षेप कहलाता है निक्षेप नाम, स्थापना, द्रव्य और भाव की अपेक्षा से चार प्रकार का है।

जैनदर्शनसार का प्रकाशन फरवरी सन् १९५० में प्रथम बार हुआ। श्री सी० एस० मल्लिनाथन ने इसकी अंग्रेजी में महत्वपूर्ण प्रस्तावना लिखी जिसमें जैन दर्शन के सभी पक्षों पर विद्वत्ता पूर्ण प्रकाश डाला गया है।

२. प्रद्युम्न चरित

हिन्दी की आदिकालिक कृति 'प्रद्युम्न चरित' कविवर राजसिंह की कृति है जिसे उन्होंने संवत् १४११ में पूर्ण की थी। हिन्दी विद्वानों ने इसे ब्रज भाषा की प्रथम कृति के रूप में स्वीकार किया है। और इसके आधार पर ब्रज भाषा साहित्य की कितनी ही दिशाओं का परिचय प्राप्त होता है। इसमें श्रीकृष्ण जी के पुत्र प्रद्युम्न का जीवन चरित का वर्णन मिलता है। इसमें ७०१ छन्द हैं इसलिये कितने ही विद्वान् उसे सतसई रचना भी कहते है। इसकी पाण्डुलिपि जयपुर के दिगम्बर जैन मन्दिर पाटोदी के शास्त्र भण्डार में संग्रहीत है।

प्रद्युम्न चरित का सम्पादन पंडित जी ने और डा० कस्तूरचन्द कासलीवाल ने मिल कर किया तथा इसका प्राक्कथन डा० माताप्रसाद जी गुप्त ने लिखा। उस समय वे इलाहबाद विश्वविद्यालय में हिन्दी के रीडर थे। उन्होंने अपने

महत्वपूर्ण प्राक्कथन में हिन्दी के आदिकाव्य पर विस्तृत प्रकाश डाला तथा ऐसी अलभ्य एवं अज्ञात कृतियों के प्रकाशन की अत्यधिक प्रशंसा की। प्रद्युम्न चरित की दोनों सम्पादकों ने खोजपूर्ण प्रस्तावना लिखी जिसमें हिन्दी के आदिकाल के विकास पर सुन्दर प्रकाश डाला गया है। जैन विद्वान द्वारा रचित हिन्दी काव्य का ऐसा सुन्दर प्रकाशन श्री दि० जैन अतिशय क्षेत्र श्री महावीर जी के साहित्य शोध विभाग की ओर से किया गया। उसके प्रकाशक थे क्षेत्र के तत्कालीन मन्त्री श्री केशरलाल जी बख्शी।

प्रद्युम्न चरित की उपलब्धि एवं प्रकाशन का परिचय जब हिन्दी के विद्वानों को मिला तो उसकी सर्वत्र प्रशंसा की गयी। हिन्दी के महारथी विद्वान, महापंडित राहुल सांकृत्यायन, डा० हजारी प्रसाद द्विवेदी, डा० रामसिंह तोमर प्रभृति विद्वानों ने ऐसी महत्वपूर्ण कृति का हार्दिक स्वागत किया और उसे हिन्दी जगत् के लिए महान उपलब्धि बतलाया।

३. भावना विवेक

भावना विवेक पंडित जी साहब की मौलिक संस्कृत कृति है जिसमें सोलह कारण भावनाओं पर विस्तृत प्रकाश डाला गया है। पूरी कृति में ३१० पद्य हैं। पंडित जी ने इस कृति को कब पूर्ण की थी इसका तो उन्होंने कहीं उल्लेख नहीं किया किन्तु यह कृति हिन्दी अनुवाद सहित ३३ वर्ष पूर्व संवत् १९९८ के भाद्रपद मास में सद्बोध ग्रन्थ माला जयपुर की ओर से प्रकाशित हुई थी। हिन्दी अनुवादक हैं पं० भंवरलाल न्यायतीर्थ (जो पंडित जी के प्रमुख शिष्यों में से हैं) संस्कृत भाषा में इस प्रकार की कृति प्रथमबार उपलब्ध करा कर पंडित जी ने स्वाध्याय प्रेमियों के लिये महान् कार्य किया। इस कृति में उनकी विद्वत्ता सहज दृष्टव्य है। तथा वह उनकी काव्य निर्माण शक्ति की सहज परिचायक भी है।

'षोडशकारण भावना' से तीर्थंकर प्रकृति का बन्ध होता है। जैन समाज में भाद्रपद मास में षोडशकारण की प्रतिदिन पूजा की जाती है तथा शास्त्र सभाओं में उसके महत्व पर प्रकाश डाला जाता है। लेकिन इतना होने पर भी षोडशकारण भावना पर अब तक कोई स्वतंत्र कृति उपलब्ध नहीं होती थी। पंडित जी का इस कमी की ओर ध्यान गया और उन्होंने षोडशकारण भावनाओं पर एक स्वतंत्र कृति की रचना कर डाली।

४. अर्हत् प्रवचन

यह पंडित जी की संकलित एवं सम्पादित कृति है। इसमें प्राकृत भाषा के प्रमुख ग्रन्थ समयसार, प्रवचनसार, नियमसार, अष्टपाहुड, पंचास्तिकाय, द्रव्यसंग्रह जैसे कुछ प्रमुख ग्रन्थों में से भगवान महावीर द्वारा निरूपित सिद्धान्तों पर आधारित प्राकृत गाथाओं का संकलन किया गया है। सम्यग्दर्शन, सम्यग्ज्ञान एवं सम्यक्चारित्र के अतिरिक्त गुणस्थान, श्रावक, आत्म प्रशंसा, पर निंदा, शील, संगति, वैराग्य, श्रमण, तप आदि कुछ सामयिक विषयों पर निबद्ध महत्वपूर्ण गाथाओं का संकलन किया गया है। गाथाओं के नीचे हिन्दी अर्थ दिया गया है। पंडित जी साहब ने इसके संकलन में पर्याप्त परिश्रम करके पाठकों को महत्वपूर्ण सामग्री उपलब्ध कराई है। इस कृति की लोकप्रियता इससे स्पष्ट है कि अब तक देश के कितने ही विश्वविद्यालयों ने इसे पाठ्य पुस्तक के रूप में स्वीकृत कर लिया है। इसका प्रथम संस्करण सितम्बर सन् १९६२ में प्रकाशित हुआ था।

५. प्रवचन प्रकाश

'अर्हत् प्रवचन' के संकलन एवं सम्पादन के पश्चात् पंडित जी ने संस्कृत ग्रन्थों में से एक और संकलन 'प्रवचन प्रकाश' के नाम से सम्पादित करके उसे २२ नवम्बर ६८ को प्रकाशित कराया। इसमें विविध चरित काव्यों, पुराण संज्ञक काव्यों, स्तोत्रों

एवं महाकाव्यों में से १७ विषयों पर आधारित संस्कृत पद्यों का संकलन किया गया है। ये विषय सर्वसाधारण के लिये भी अत्यधिक उपयोगी हैं। प्रवचन प्रकाश के प्रमुख विषय हैं—आत्मा, धर्म, कषाय विजय, पाप और उसका निरोध, आशा पिशाची, विषय भोगों की मृग मरीचिका, वैराग्य का कायाकल्प, इन्द्रिय मनोविजय, मोहद्वन्द्व, साम्य-भाव, भक्ति, ध्यान आदि। वैसे स्वयं पंडित जी ने अपने प्राक्कथन में लिखा है कि "यह संकलन भी मैंने अपने ही स्वाध्याय के लिये सम्पादित किया है।" प्रस्ताव पर अभिमत लिखते हुए स्व. श्री के. माधव-कृष्ण शर्मा निदेशक संस्कृत शिक्षा राजस्थान ने लिखा है कि "श्री चैनसुखदास जी न्यायतीर्थ संस्कृत, प्राकृत, अपभ्रंश व हिन्दी साहित्य एवं विशेषतः जैन साहित्य व दर्शन के उच्च कोटि के विद्वानों में अपना महत्वपूर्ण स्थान रखते हैं। आपने अपनी इस नवीन कृति 'प्रवचन प्रकाश' द्वारा प्राच्य विद्या प्रेमियों को और भी अधिक ऋणी बना दिया है।"

अर्हत् प्रवचन के समान ही प्रवचन प्रकाश का भी विद्वान् समाज एवं स्वाध्याय प्रेमियों द्वारा खूब स्वागत किया गया। इसके उपोद्घात में भी सम्पादक ने विभिन्न विषयों पर बहुत ही सुन्दर प्रकाश डाला है। यह पंडितजी की अन्तिम कृति है।

६. सर्वार्थसिद्धिसार

तत्वार्थ सूत्र पर आचार्य पूज्यपाद की संस्कृत टीका सर्वार्थसिद्धि के नाम से प्रसिद्ध है। सर्वार्थ-सिद्धि का सिद्धान्त ग्रन्थों में महत्वपूर्ण स्थान है। यह एक विशालकाय ग्रन्थ है। पंडित जी साहब ने इसका संक्षिप्तीकरण किया और ग्रन्थ के पूरे विषयों को सार रूप में प्रस्तुत करके अपनी महान् विद्वत्ता से सबको लाभान्वित किया। तीसरा एवं चौथा अध्याय जिसमें स्वर्ग एवं नरक का वर्णन मिलता है उसे इस संस्करण में स्थान नहीं दिया। प्रस्तुत पुस्तक राजस्थान विश्वविद्यालय के एम०ए० (संस्कृत) के पाठ्यपुस्तक में कितने ही वर्षों तक स्वीकृत रही थी। इसका प्रकाशन मई सन् १९५१ में श्री दिगम्बर जैन अतिशय क्षेत्र श्री महावीर जी के साहित्य शोध विभाग की ओर से हुआ था।

७. दार्शनिक के गीत

पंडित जी लेखक ही नहीं थे किन्तु दार्शनिक कवि भी थे। कविता करना उन्हें अत्यधिक रुचिकर लगता था। पंडित जी ने अपना जीवन भी सम्भवतः एक कवि के रूप में प्रारम्भ किया। ४० वर्ष तक की आयु में उन्होंने सैकड़ों कवितायें एवं गीत लिखे और उनमें अपने दार्शनिक स्वभाव की अमिट छाप छोड़ी। पंडित जी की मृत्यु के पश्चात् उनकी कविताओं का एक संग्रह "दार्शनिक के गीत" नाम से प्रकाशित हुआ। इस संग्रह में उनकी कविताओं का संकलन है। सभी कवितायें उच्चस्तरीय एवं भावपूर्ण हैं। इस संग्रह के अतिरिक्त अभी और भी कवितायें है जो जैन दर्शन, जैनबन्धु, वीरवाणी आदि पत्रों में प्रकाशित हो चुकी हैं। पंडित जी की शेष तीन रचनाओं का परिचय स्मृति ग्रन्थ के दूसरे भाग में दिया गया है।

पत्रकार की दृष्टि से

पंडित जी जीवन भर पत्रकार बने रहे। अध्ययन समाप्त करने एवं जयपुर आने के पश्चात् ही वे किसी न किसी पत्र का सम्पादन करते रहे। पहिले 'जैनदर्शन' निकाला, फिर 'जैनबन्धु' का सम्पादन किया और अन्त में 'वीरवाणी' का सम्पादन प्रारम्भ किया। इन सभी पत्रों के माध्यम से उन्होने जैन जगत् को ही नहीं किन्तु समस्त देश को जो बौद्धिक प्रेरणा दी वह इतिहास में अनूठी मानी जावेगी। पंडित जी स्वतन्त्र विचारक थे तथा जो कुछ लिखते थे अपने विचारों के अनुसार ही लिखते थे। उन्होंने सामाजिक आन्दोलन चलाये। सामा-जिक आन्दोलनों का उन्होंने जिस सफलता के साथ

किसी को कैसे प्रोत्साहित किया जाता है

प्रो० भागचन्द जैन 'भागेन्द्र'

श्रद्धेय पं० चैनसुखदास जी के निधन से भारतीय साहित्य और संस्कृति के लिए एक अपूरणीय क्षति हुई है। वे उच्चकोटि के साधक और सरस्वती के आराधक थे। उदारता, सरलता त्याग, कारुण्य आदि सद्गुण उनके माध्यम से मानो मूर्त्तमान हो उठे थे, विद्वत्ता साकर हो उठी थी। उनका दृष्टिकोण बहुत सुलझा हुआ था। वे स्वस्थ, चिन्तक कुशलवक्ता, साहित्यकार और कर्तव्यनिष्ठ अध्यापक के रूप में देखे गये। उनकी सेवाएं सभी को सुलभ थी।

कल्पतरु

अनेक ग्रन्थ, पत्र-पत्रिकाएं और संस्थाएं पं० जी के जीवन्त स्मारक तो हैं ही, उनकी प्रतिभा से प्रेरणा, प्रोत्साहन और लाभ प्राप्त करने वाले भी उससे कम नहीं हैं। जब कभी जिस किसी के सामने कोई समस्या उपस्थित हुई, पं० जी उसके समाधान हेतु सदैव प्रस्तुत रहते थे। अनेक शोधार्थियों को तो वे 'कल्पतरु' थे। प्रोत्साहित करने की क्षमता उनमें अभूतपूर्व थी। उनके एक पत्र ने ही मुझे उनका पूर्ण प्रशंसक बना दिया।

अब यद्यपि उनका पार्थिव शरीर शेष नहीं है, किन्तु उनका अनन्त कृतित्व तो अब भी विद्यमान है, विद्यमान रहेगा। उनके देहावसान से मैं बहुत दुःखी हूं तथा उनके पावन गुणों का स्मरण कर अपनी विनम्र श्रद्धांजलि तथा शतशः प्रणाम उन्हें अर्पित करता हूँ।

(शेष पृष्ठ ३८ का)

संचालन किया वह उनके महान् व्यक्तित्व एवं साहस का द्योतक है। उन्होंने अपने पत्र में सामाजिक रूढियों के विरुद्ध खूब लिखा और उनकी हृदय से भर्त्सना की। उनकी सम्पादकीय टिप्पणियों से समाज के कुछ व्यक्ति नाराज भी रहे किन्तु वे अपने मार्ग से नहीं हटे और समाज को बराबर सावधान करते रहे। उनके पत्र घाटे में चलते रहे लेकिन उन्होंने पैसे के लिये किसी के सामने हाथ नहीं पसारे। यह उनके जीवन की सबसे बड़ी विशेषता थी कि धन के लिये वे कभी भी किसी से दबे नहीं और न धनिकों की व्यर्थ की प्रशंसा की। वास्तव में वे सच्चे रूप में पत्रकार बने रहे।

इस प्रकार पं० चैनसुखदास न्यायतीर्थ ने विशाल साहित्य की रचना एवं सम्पादन करके तथा सैकड़ों लेख एवं टिप्पणियां लिख कर समाज एवं देश को नयी दिशा प्रदान की। पंडित जी के देश में हजारों शिष्य एवं प्रशंसक थे। वे उनके पास प्रायः आते रहते थे और अपने जीवन विकास के सम्बन्ध में उनसे परामर्श लिया करते थे। पंडित जी के पास आये हुए ऐसे सैकड़ों पत्र हैं जिनको पढ़ने से ज्ञात होता है कि वे कितने विद्यार्थियों के जीवन निर्माता थे तथा कितने विद्यार्थी उनसे पत्र व्यवहार करते रहते थे।

पं० चैनसुखदास जी और कुचामन विद्यालय

श्री सत्यंधरकुमार सेठी, उज्जैन

श्रद्धेय पडित जी जैन दर्शन के उद्भट विद्वान् तो थे ही लेकिन वे एक स्वतन्त्र विचारक और निर्भीक वक्ता भी थे। यह उनमें एक विशेषता थी। उन्होंने जयपुर आने के बाद ३५ वर्ष तक निरन्तर शास्त्र सभा की। जिसमें जयपुर जैन समाज के चोटी के विद्वान्, वकील, उच्च पदाधिकारी, राज्य शासन के मन्त्रीगण तक सम्मिलित होते थे। वे अधिकतर अपने प्रवचनों में सामाजिक एवं धार्मिक रूढ़ियों के विरोध में कहा करते थे। वे समाज और वर्तमान साधु जीवन में व्याप्त अनुशासन हीनता पर बड़े दुखी थे। समाज की वर्तमान दशा और साधु अवस्था से उनको बड़ी अन्तःपीड़ा थी। वे समाज को क्रांतिकारी विचारों को अपनाने की प्रेरणा देते थे।

पंडितजी का जीवन एक सदाचार पूर्ण जीवन था। सादगी उनमें कूट-कूट कर भरी हुई थी। इतने बड़े विद्वान् और प्रतिभासम्पन्न आदर्श पुरुष होते हुए भी उनमें कभी प्रतिष्ठा का लोभ और अभिमान के कारण नहीं देखे गये। वे एक सन्त पुरुष की तरह रहा करते थे और अजस्र साहित्य सेवा और समाज सेवा में रत रहा करते थे।

जीवन परिचय

श्रद्धेय पण्डितजी का जन्म स्थान भादवा ग्राम था। उसी ग्राम में मुझे भी जन्म लेने का सौभाग्य प्राप्त हुआ है। उनके चरणो के सानिध्य में ही नही किन्तु उनका शिष्य रहने का सौभाग्य भी मुझे मिला है। जिस घर में श्रद्धेय पण्डितजी का जन्म हुआ था वह एक सम्पन्न घराना था। आपके पिता श्री जवाहरलाल जी उस प्रान्त के एक प्रतिष्ठित व्यक्ति थे। वहां की सरकार के कामदार थे और थे शास्त्र सभा के प्रमुख वक्ता। लेकिन श्रद्धेय पण्डितजी अधिक समय तक उनका प्यार नहीं पा सके। वे छोटी सी उम्र में इनको छोड़कर परलोक चले गये। इनकी पूज्य मातेश्वरी का नाम धापूबाई था। वह बड़ी धर्मनिष्ठ एवं सरल स्वभावी महिला थी। दो वर्ष की उम्र में पंडितजी के एक पैर पर पक्षाघात हो गया और वह जीवन पर्यन्त रहा।

पांच वर्ष की आयु में भादवा जैन पाठशाला में पढ़ने के लिए आपको बैठाया गया और थोड़े से समय में आपको धार्मिक ज्ञान अच्छा हो गया। इनकी प्रतिभा से प्रभावित होकर श्रीमान् केशरीमल जी गयाजी वाले इनको अपने साथ ले गये और बनारस स्याद्वाद महाविद्यालय में भर्ती करवा दिया। उस समय आपकी आयु १६ वर्ष की थी। इस थोड़ी सी उम्र में आपने न्यायतीर्थ परीक्षा पास की और आचार्य की प्रथम खण्ड व द्वितीय खण्ड की परीक्षा भी दे डाली। आपकी बुद्धि तीव्र थी। तर्क शक्ति अद्भुत थी। संस्कृत में धारा प्रवाह रूप से आप बोला करते थे और संस्कृत-पत्रिका का सम्पादन भी किया करते थे।

आप अध्ययन समाप्त करने के बाद भादवा आ गये। वहां बराबर शास्त्र सभा किया करते थे।

थोड़े से समय में आस-पास में आपकी काफी ख्याति फैल गई।

कुचामन प्रवास

एक बार एक बरात में आपको कुचामन जाना पड़ा। वहां आपके आगमन से जैन समाज में हल चल मच गई। एक अल्प वयस्क जैन विद्वान् को पाकर सब आनन्द से उछलने लगे और उन्होंने एक विशाल आम सभा का आयोजन कर डाला। उस सभा के अध्यक्ष वहां के माने हुए विद्वान् पण्डित मधुसूदन थे। आपका जैन धर्म पर इतना सुन्दर व्याख्यान हुआ कि वहां की जैनाजैन सब ही जनता प्रभावित हुई और वहां के प्रसिद्ध सेठ गम्भीरमलजी पांड्या ने अपने विद्यालय में रहने के लिए आग्रह किया और कहा कि मेरे विद्यालय में प्रधानाध्यापक के पद पर बैठकर सेवा करने का अवसर दें। श्रद्धेय पण्डितजी ने क्षीण मुस्कराहट के साथ अपनी स्वीकृति दी और करीब १३ वर्ष तक आदर्श ढंग से विद्यालय की अपूर्व सेवा की। आपका व्यक्तित्व मारवाड़ प्रान्त के कोने-कोने में बिखर गया और दूर-दूर से विद्यार्थी आकर आपसे शिक्षण लेने लगे। वहां के बोर्डिंग ने एक विशाल रूप ले लिया। पण्डितजी प्रारम्भ से ही कट्टर धार्मिक रहे। आपके जीवन की छाप विद्यर्थियों की आत्मा पर चुम्बक की तरह लगती थी।

आप हमेशा क्रांतिकारी पुरुष रहे। उस समय मारवाड़ प्रान्त में मिथ्यात्व का बोलवाला था। उसके खिलाफ आपने आवाज उठाई और आपके प्रभाव से समस्त संस्कार जैन विधि से होने लगे। आपने जैनत्व की मारवाड़ प्रान्त में अपूर्व रूप से ध्वजा फहराई। आपके पास वही छात्र रह सकता था जो पहले कन्दमूल खाने का त्याग करता था।

श्रद्धेय पण्डितजी ने विद्यालय की सेवायें एक संरक्षक के रूप में की। कुचामन में ठीक ४ बजे वे उठ जाते थे। स्वयं घंटी बजाकर विद्यार्थियों को उठाते थे। स्वयं प्रार्थना में खड़े रह कर प्रार्थना करवाते थे और इसके बाद आप सबके बीच में बैठकर याद करने को कहा करते थे। शाम को शास्त्र सभा में स्वयं बैठकर छात्रों से शास्त्र सभा करवाते थे और उनसे पूछा करते थे कि क्या समझे। रात्रि को १० बजे तक लड़कों को पढ़ने का आदेश देते थे और कभी-कभी स्वयं हाथ में लाठी टेके-टेके बतौर जांच के पहुंच जाते थे। इसका यह परिणाम निकला कि वहां के छात्र अच्छे से अच्छे विद्वान् निकले जो समाज और धर्म सेवा में आज भी अग्रसर हैं।

पण्डितजी अंग्रेजी के जानकार नहीं थे। लोगों को यह मालूम नहीं था कि ये अंग्रेजी नहीं जानते। एक दिन एक मियाँ तार लेकर आ गया। आपके हाथ में तार थमा दिया। आप पढ़ नहीं सके। मियां को पूछा कोई बीमार था क्या। उसने कहा हां। तो पंडितजी ने तुरन्त कह दिया कि वह मर गया। दैवयोग से वह बात ठीक निकली। लेकिन उसके जाने के बाद आपको गहरा पश्चाताप हुआ और तय किया कि मैं शीघ्र अंग्रेजी पढ़ूं। पण्डितजी हमेशा अपने संकल्प के धनी रहे है। और थोड़े दिनों में अंग्रेजी के वे अच्छे विद्वान् बन गये।

इन सबके बीच कई बार आपके विवाह के प्रस्ताव आये। आपने मां के आग्रह को भी नहीं मानकर उन सब प्रस्तावों को ठुकराया। आपका बाल्यकाल से लेकर अन्तिम समय तक सारा जीवन एक साधक के रूप में बीता। आप आदर्श बाल ब्रह्मचारी रहे। कभी भी विकार की रेखाएं युवावस्था में भी आपके चेहरे पर देखने को नहीं मिली। वास्तव में उस युग में पंडितजी एक महात्मा के रूप में रहे और अपने जीवन को बढ़ाया।

स्वतन्त्र विचारक

पंडितजी स्वतन्त्र विचारक थे। महासभा के नावा अधिवेशन में जिसके सभापति सेठ गम्भीर मल जी पांड्या के छोटे भाई सेठ प्रभुलालजी थे विजातीय विवाह का विरोध करने हेतु पंडितजी पर बहुत दबाव डाला गया लेकिन पंडितजी महासभा के प्लेट फार्म पर भी जाने को तैयार नहीं हुए।

इसी तरह फतेहपुर महासभा के अधिवेशन की एक विचित्र घटना है। उस अधिवेशन में मैं भी गया था। समाज में श्रद्धेय पूज्य ब्रह्मचारी शीतलप्रसादजी के खिलाफ आन्दोलन था। उन्होंने एक मुसलमान को जैन बना दिया था। मैं उसको ठीक समझता था। करीब उस प्रतिष्ठा में १५–२० हजार जैन भाई एकत्रित थे। स्वर्गीय पंडित रघुनाथदासजी सरनौ शास्त्र सभा कर रहे थे। आदि पुराण में त्रेपन क्रियाओं का वर्णन था। उन्होंने कहा कि दीक्षान्वय क्रिया के आधार से कोई भी जैन हो सकता है। यह सुनते ही मैंने प्रश्न कर डाला कि जब हर एक जैन हो सकता है तो शीतलप्रसाद जी ने मुसलमान को जैन बनाकर क्या अन्याय किया। यह कहते ही सारा पंडित समाज तिलमिला उठा और मेरे ऊपर झपट पड़ा। कहने लगे यह छोकरा कौन है– यह नास्तिक है, धर्मद्रोही है। इसको पूछा जाये कहां पढ़ता है, मुझे यह भान नही था कि मेरे पूछने से यह कांड होगा। मैं घबड़ा गया। रघुनाथदास जी सरनौ ने मुझे पास बुलाया और कहा कि बेटा कहां पढ़ता है, कौन गुरु है? मैंने कहा-कुचामन विद्यालय में पढ़ता हूं और श्रद्धेय पण्डित चैनसुख दासजी का शिष्य हूं। यह कहते ही सारा पंडित समाज क्रुद्ध हो गया। और कहने लगे ये 'चैनसुख दास नाश करके रहेगा। नास्तिकों की सेना तैयार कर रहा है। शास्त्र सभा बन्द करो और पंडित चैनसुखदास को बुलावो। मेरी आफत आ गई। मैंने कहा कि मैं तो मरा सो मरा लेकिन उन पर आक्रमण क्यों? सेठ गम्भीरमलजी वहीं थे। उन्होंने कहा कि चैनसुखदास को हटाया जाये और इस लड़के को भी विद्यालय से निकाला जाये। श्रद्धेय पंडितजी पचासों पंडितों के बीच आ गये। उन्होंने समझ लिया कि सत्यंधर ने कहीं न कहीं गड़बड़ की है। वह चुप नहीं रहता।

उनसे पूछा गया कि यह शिष्य आपका है। उन्होंने कहा कि इसको अभी का अभी निकाला जाये। ये अमुक-अमुक प्रश्न करता है, नास्तिक है। श्रद्धेय पंडितजी ने मेरी पीठ ठोकते हुए कहा कि शाबास सत्यंधर। यही प्रश्न पूछा। मैंने कहा यही। पण्डितजी ने कहा कि आप लोगों में कोई उदारता नहीं। यदि इस प्रश्न का उत्तर आपके पास नहीं था तो आप शास्त्र की गद्दी पर नहीं बैठते। मैं इस लड़के पर गर्व करता हूं। यह विद्यालय में पढ़ेगा। मैं त्याग पत्र दे सकता हूं। लेकिन यह नहीं जा सकता। पंडितजी की वह निर्भीकता देखने लायक थी। वास्तव में वे एक लौह पुरुष थे जिन्होंने हर बात का साहस पूर्वक सामना किया।

उन्होंने कभी अपना काम छात्रों से नहीं करवाया। हम तरसा करते थे लेकिन वे यही कह देते थे कि अपना काम हाथ से करना चाहिए। सच मायने में वहएक महात्मा थे। आज भी हमारे मानस पर वे स्मृति में अंकित हैं और जब याद आती है तो श्रद्धा से उनके चरणों में मस्तक झुक जाता है।

जयपुर में पंडित जी के प्रारम्भिक बीस वर्ष

पं० भंवरलाल न्यायतीर्थ
सम्पादक वीरवाणी जयपुर

गुरुदेव स्व० चैनसुखदासजी जैन समाज के एक क्रांतिकारी सुधारक, अनेकों शिक्षा शास्त्रियों के जन्मदाता, अभाव ग्रस्तों के संकट-निवारक, छात्रों के मार्ग दृष्टा, विधवाओं और भूखों के अन्नदाता, सच्चे सलाहगीर, संस्थाओं के प्राण, साहित्य के उद्धारक, निर्भीक, ओजस्वी वक्ता, कलम के धनी, सरलता, सज्जनता, सादगी और त्याग की मूर्ति, प्रेरणास्पद व्यक्तित्व, दर्शन व सिद्धांत के प्रकांड विद्वान, सफल पत्रकार, कुशल सम्पादक आदि अनेक गुण, विभूषित सच्चे मानव थे। उनकी सी सर्वतोमुखी प्रतिभा विरलों में ही मिलती है। जयपुर जैन समाज में ऐसा व्यक्ति आचार्य कल्प पं० टोडरमलजी के समय से अब तक नहीं हुआ।

प्रारम्भिक जीवन

राजस्थान के छोटे से ग्राम भादवा में माघ कृष्णा अमावस्या सं० १९५६ में आपका जन्म हुआ। आरम्भिक शिक्षा-दीक्षा भादवा व जोवनेर में हुई। उच्च शिक्षा बनारस में प्राप्त की। सर्व प्रथम कुचामन विद्यालय में एक युग तक अध्यापन कार्य किया और वहां से ३० अक्टूबर, १९३१ को स्व० पं० जवाहरलालजी शास्त्री की प्रेरणा से जयपुर दिगम्बर जैन महा पाठशाला में (वर्तमान दिगम्बर जैन संस्कृत कालेज, जयपुर) प्रधानाध्यापक के पद पर कार्य भार सम्भाला। उनसे १-२ नवम्बर सन् १९३१ को लेखक की सर्व प्रथम भेंट हुई और अन्तिम भेंट २५ जनवरी; १९६९ को। इस ३७ वर्ष के समय में लेखक को गुरुदेव के चरणों में बैठकर बहुत कुछ सीखने को मिला पर सच यह है कि हम लोग उतना लाभ नहीं ले पाये जो लेना चाहिये था। आज उनके चले जाने के बाद यह बात पचासों व्यक्ति महसूस करते हैं। जयपुर जैन समाज में आज ऐसा कोई व्यक्ति नहीं रहा जिस पर सबकी आस्था हो जिसे सब अपना दुःख-दर्द कह सकें।

धार्मिक चेतना

पंडितजी ने जयपुर आते ही सर्व प्रथम कालेज के बराबर बड़े दीवनजी के मन्दिर में शास्त्र प्रवचन प्रारम्भ किया और सैकड़ों श्रोतागण आपकी वाणी को सुनने प्रति दिन आने लगे। ज्ञान पिपासुओं को ज्ञान मिला, छात्रों को सुशिक्षा मिली, युवकों को प्रेरणा मिली जिससे उनमें जीवन आया और सुपुप्त शक्ति जाग्रत हुई। शास्त्र स्वाध्याय की परिपाटी जो ढीली पड़ गई थी पुनः तेजी से चलने लगी। इस प्रकार एक धार्मिक चेतना पंडितजी ने समाज में फैलाई।

संस्था उद्धारक

जैन पाठशाला की स्थिति खराब थी। अदम्य साहस और परिश्रम से एक पैसा जमा पूंजी न होते हुए भी पंडितजी ने संस्था का संचालन किया। समय पर अध्यापकों को वेतन दिया। संस्था से बीसों वर्ष में जहां एक-दो शास्त्री निकलते थे। वहां सन् १९३१ से अब तक शताधिक स्नातक तैयार हो गये। संस्था को जहां ५०) रु० मासिक सरकारी सहायता मिलती थी वहाँ ढाई-तीन हजार रुपये मासिक सहायता मिलती है। यह पं० का ही प्रयत्न है कि अंग्रेजी के युग में भी संस्कृत संस्था की निरंतर प्रगति होती रही। पंडितजी की यह सबसे बड़ी देन है और जब तक संस्था रहेगी पंडितजी की स्मृति बनी रहेगी।

शिथिलाचार विरोधी

पंडितजी के जयपुर आने के पश्चात् ही जयपुर में मुनि संघ का पदार्पण हुआ। शुद्र जल त्याग, जनेऊ, पंचामृताभिषेक, स्त्री प्रक्षाल, त्रिवर्णाचार चर्चा सागर, हरित काय आदि की चर्चाएं उन दिनों जोरों पर थी। पंडितजी ने न केवल इन शास्त्र विरुद्ध परिपाटियों का विरोध किया अपितु शिथिलाचार के विरुद्ध एक जमात खड़ी कर दी जिसने डटकर लोहा लिया।

समाज सुधारक

इन्हीं वर्षो में समाज के एक अंग को तिरस्कृत और उसे समाज से वहिष्कृत करने के लिए खंड़ेलवाल समाज में लोहड साजन आन्दोलन हुआ। पंडितजी ने खोज की और सिद्ध किया कि लोहड साज़न शुद्ध हैं-हमारे ही भाई हैं। इनको प्रक्षाल एवं रोटी वेटी व्यवहार में अलग नहीं किया जा सकता है। यह आन्दोलन अखिल भारतीय स्तर पर चला। इसके लिए पंडितजी ने जैन वन्धु नामक एक पत्र भी निकाला जिसने अपने मिशन में पूर्ण सफ़लता प्राप्त की। इस प्रकार समाज में एक क्रांतिकारी परिर्वतन लाने में पंडितजी का पूर्ण हाथ रहा और वे समाज सुधारक के रूप में प्रसिद्ध हुए।

सरस्वती सेवक पंडित जी

जहां धार्मिक और सामाजिक क्षेत्र में पंडितजी ने जवर्दस्त कार्य किया वहां साहित्यिक क्षेत्र में तो उससे भी अधिक ख्याति उनकी हुई। महावीर क्षेत्र की ओर से अनुसंधान विभाग के संचालन तथा क्षेत्र के तत्कालीन मंत्री श्री राम चन्द्रजी खिन्दूका द्वारा इसका आरम्भ पंडितजी की प्रेरणा की देन है। ग्रन्थ सूचियों का कार्य वड़ा महत्वपूर्ण हुआ। देश के चोटी के जैनेतर विद्वानों ने इस कार्य की प्रशंसा ही नहीं की वल्कि जैन साहित्य की महानता के वारे में महत्वपूर्ण जानकारी प्राप्त की। पंडितजी ने कई स्नातकों को डाक्टरेट की उपाधि लेने के लिए प्रेरित किया, उन्हें पढ़ाया फलतः आज अनेकों डाक्टर समाज में दिखने लगे। पढ़ने-पढ़ाने के कार्य में कोई भी व्यक्ति किसी भी समय पंडितजी के पास आता वे उसे ना करना जानते ही नहीं थे। चाहे वह प्रथम कक्षा का छात्र हो अथवा एम. ए. का। पंडितजी से पढ़ने के निमित्त कई श्वेताम्वर साधु जयपुर में चतुर्मास करते थे। सभी विचारधारा के वच्चों को पंडितजी वड़े प्रेम से पढ़ाते थे। उनका दर्शन विषयक ज्ञान तो अगाध था ही- पर वे साहित्य में निष्णात थे। उनकी प्रतिभा चर्तुमुखी थी। यही कारण था कि वे साहित्य जगत् में विख्यात थे। संस्कृत शिक्षा विभाग के निदेशक अधिकारी होते हुए भी पण्डित जी का गुरु तुल्य आदर करते थे। राजस्थान विधान सभा के अध्यक्ष आचार्य निरंजननाथ जी तो उनको गुरुदेव कहकर पुकारते थे। राजस्थान के सभी राजनैतिक नेता पण्डितजी को आदर से देखते थे।

सिद्धांत के धनी

पण्डितजी सिद्धान्त के पक्के थे। उनकी सिद्धान्तवादिता को न किसी का व्यक्तित्व गिरा सकता था और न पैसा। आचार्य सूर्यसागरजी के कुचामन चर्तुमास के समय लोहड़ साजन प्रश्न को लेकर सेठ गम्भीरमलजी और उनकी पार्टी का तथा पण्डितजी का खुली आम सभा में जिसके सभापति अजैन थे वाद—विवाद हुआ। पण्डित मखनलालजी आदि वुलाये गये पर विरोधियों के गढ़ में सिंह की तरह पण्डितजी की गर्जना से सव पस्त हिम्मत हुए—उनकी करारी हार हुई। उस समय पण्डितजी के मित्र सेठ गजराजजी ने विदा के समय एक रकम भेंट देना चाहा तो पंडितजी ने कहा कि हम सिद्धान्त के लिए लड़ते हैं। हम पैसों के दास नहीं हैं। सेठजी ने अपनी भूल स्वीकार की और पंडित जी क्षमा मांगी। श्री तोलारामजी पण्डितजी के

प्रतिभा के धनी

पं० कैलाशचन्द शास्त्री वाराणसी

स्व० पं० चैनसुखदास जी प्रतिभा के धनी थे। विद्यार्थी जीवन से ही वह तर्कणाशील और व्याख्यानपटु थे। एक पैर से लाचार होने के कारण उनका पूरा समय विद्यालय में ही बीतता था और उसका उपयोग वह पठन पाठन में करते थे। पठित ग्रन्थ उन्हें इतनी अच्छी तरह अभ्यस्त थे कि विद्यार्थी जीवन में ही उन्हें दूसरों को पढ़ाते थे। मैंने आप्त परीक्षा और प्रमेयरत्नमाला का अध्ययन उन्हीं से किया था। उस समय वे न्यायतीर्थ की परीक्षा देते थे और मैंने इससे पूर्व न्याय का कोई ग्रन्थ नहीं पढ़ा था। फिर भी उनकी शैली इतनी उत्तम थी कि मुझे उक्त दार्शनिक ग्रन्थों को समझने में कोई कठिनाई नहीं हुई और मेरी न्याय विषयक व्युत्पत्ति सुदृढ़ हो गई।

उस समय उनकी अवस्था १९–२० वर्ष के लगभग थी। स्याद्वाद विद्यालय में बड़े–बड़े छात्र थे किन्तु वे किसी से डरते नहीं थे। संस्कृत भाषण में पटु थे। उनका मौखिक द्वन्द्वयुद्ध भी संस्कृत में ही होता था।

बनारस से जाने के बाद मेरा उनके साथ निकट सम्पर्क पत्र द्वारा ही रहा। जयपुर में आने के बाद उनकी प्रतिभा चमकी। उन्होंने राजस्थान में अनेक जैन छात्रों को विद्यादान देकर विद्वान् बनाया। महावीर जी अतिशय क्षेत्र के द्रव्य का उपयोग छात्रवृत्ति और शास्त्रोद्धार में होने का बहुत कुछ श्रेय उन्हीं को है। वह एक निस्पृह विद्वान थे। किसी से अर्थ की आकांक्षा नहीं रखते थे। फलत: उनका प्रभाव भी विशेष था। सुवक्ता होने से उनकी शास्त्रसभा में प्रतिदिन अच्छी उपस्थिति होती थी और श्रोतागण उनकी वाणी से प्रभावित थे।

प्रकृति से वह सुधारक थे अतः स्थिति पालक पक्ष उन्हें अच्छी दृष्टि से नहीं देखता था। किन्तु उन्होंने इस उपेक्षा की परवाह नहीं की। जयपुर समाज में उनका इतना प्रभाव था कि जिस कार्य का वे बीड़ा उठाते थे उसे सफल करके ही दम लेते थे। यदि वे समाज में राजस्थान से बाहर भी जा सकते तो उनकी ख्याति और कार्यशीलता में चार चांद लग जाते।

शरीर से बहुत कृश होने पर भी उनकी आत्मा में अदम्य शक्ति थी और उसी शक्ति के बल पर वे जीवित रहे। उनके अवसान से विद्वत्समाज की ही नहीं, पूरे समाज की ऐसी क्षति हुई है जिसकी पूर्ति सम्भव नहीं है।

पृष्ठ ४४ का शेष—

मित्र थे। पर जब गजराजजी ने सिद्धान्त के विरुद्ध विवाह किया तो उनका बहिष्कार करने में भी पण्डितजी पीछे नहीं हटे। सिद्धान्त के आगे मित्रता बाधा न बन सकी। ऐसे थे सिद्धान्तवादी पण्डितजी।

इस प्रकार हम देखते हैं कि पण्डितजी ने धार्मिक, सामाजिक एवं साहित्यिक क्षेत्र में जो क्रांतिपूर्ण कार्य किए वे सदा अमिट रहेंगे और सदा समाज को प्रेरणा देते रहेंगे।

मां सरस्वती के सच्चे उपासक गुरुदेव को मेरा शतशः प्रणाम।

व्यापक और विशिष्ट

रूपनारायण कावरा

जब पहली बार उन्हें देखा तो उस तपःपूत मनीषी के प्रति हृदय में सहज श्रद्धा जागृत हो उठी मैंने झुककर चरण स्पर्श किये। उन्हें संकोच सा हुआ। कितनी महानता थी उनके इस संकोच में। और फिर उनसे वार्तालाप हुआ। मेरी लेखन में रुचि जानकर उन्होंने अपना वरद् हस्त मेरे मस्तक पर रखा और प्रेरित करते हुए कहा कि मैं आपकी प्रतिभा को और प्रखर करने का प्रयास करूंगा-आप रचनायें भेज दीजिये।

मैं लगभग दो घंटे आपके साथ बैठा और इसी में आपके सुलझे विचार, विद्वत्तापूर्ण अध्ययन, दार्शनिक चिन्तन, आपकी अध्ययनशीलता एवं कर्मठता से अभिभूत एवं प्रभावित हुआ। आपके स्वास्थ्य एवं अवस्था को देखते हुए आपकी कर्मशीलता अत्यन्त ही आश्चर्यजनक थी। छात्रों के बारे में वे केवल यही नहीं सोचते थे कि वह पास होगा कि नहीं। वस्तुतः उनका लक्ष्य था विद्यार्थी गुरुजनों का सम्मान करना सीखे, जीवन के प्रति उत्साह, आस्था एवं विश्वास रखे एवं प्रमाद से दूर रह कर कुसंग से बचें। नैतिक आदर्शों के परिपालन में ही अपेक्षित उपलब्धियां निहित हैं। ऐसी आपकी मान्यता थी।

जन-जन के देवता

कितने छात्रों को आपने वह ज्योति दी कि जिससे उनके जीवन आलोकित हो उठे। जन जन का देवता कितने विनीत शब्दों में मुझे पत्र लिखता और मैं नतमस्तक हो उठता था। उन्होंने अत्यन्त विषाद एवं वेदना के साथ कहा था—ग्राम भादवा की जनता मेरे प्रभाव एवं सहयोग का कोई उपयोग नहीं करना चाहती है और क्षुद्र बातों को लेकर परस्पर विभक्त रहती है। काश! मैं अपने ग्राम का विकास जी खोलकर कर पाता। पर.........।

कितने स्नेह से उन्होंने कहा था "कावरा जी बड़ी इच्छा है आप मेरे यहां मेरे साथ बैठ कर खाना खायें" पर हाय दुर्दैव यह इच्छा पूर्ण न हो सकी। मैं पुनः दर्शनार्थ पहुंच भी नहीं पाया कि वे चल दिये और मैं आलस्य में योजना बनाता ही रह गया। तभी तो वे कहा करते थे—प्रमादी न बनो - कर्म में तत्पर रहो।

उनके साथ मेरा यह साक्षात्कार और वार्तालाप प्रथम एवं अन्तिम रहा। मेरी स्मृति में यह एक अमूल्य निधि है और उनके स्मरण, चिन्तन से मुझे एक नई चेतना और प्रेरणा मिलती है। मैं भूल नहीं सकता उस महान व्यक्तित्व को जो कितना व्यापक और विशिष्ट था।

एक निरभिमान, सहज व्यक्तित्व

महावीर कोटिया, जयपुर

जन साहित्य से सम्बन्धित कतिपय जिज्ञासाएं थी। पंडित जी का नाम सुना था, अतः उनके दर्शन करने का निश्चय किया। गलियों में घूमकर एक एक मन्दिरनुमा भवन में जैन-संस्कृत कालिज स्थित है। सीढियों से चढकर एक बडा कमरा है, जिसके एक ओर बड़ी सी मेज के पीछे बैठा हुआ एक अदना सा आदमी दो-तीन विद्यार्थियों को संस्कृत की कोई पुस्तक पढ़ा रहा था। क्या यही पं० चैनसुखदास है? नाम बड़ा पर दर्शन............? सीधे-सादे सज्जन पुरुष। ईश्वर-कृपा से पंगु और कृश शरीर, अति-साधारण वेश भूषा, बातचीत-व्यवहार में सरलता, सभी प्रकार से सामान्य, बड़प्पन जैसी कोई चीज नहीं। थोड़ी देर बाद छात्रों से निवृत्त होकर मेरी ओर मुड़े। मैंने अपनी जिज्ञासाएं, समस्याएं रखीं और उनका सहयोग चाहा। सहज-भाव से उन्होंने अपने विद्वत्तापूर्ण समाधान प्रस्तुत किए, अपना पर्याप्त समय दिया। उनके प्रति स्थायी स्नेह मिश्रित श्रद्धा का भाव हृदय में घर कर गया। इसके बाद तो उनके निकट-सम्पर्क में आने का अवसर मिलता गया। अपरिचित से परिचित बन गए। पर उनकी महानता की, उनकी निस्पृह सरलता की, उनके सहज-स्नेह की ओर इन सबके साथ उनकी विद्वत्ता की जो छाप लगी, वह आज भी मेरे निकट एक धरोहर है।

निरभिमान सहज व्यक्तित्व

मैं आज अनुभव करता हूँ कि पंडित जी की महानता का रहस्य उनके निरभिमान सहज व्यक्तित्व में सन्निहित था। उनकी सादगी, उनकी विनम्रता, अपरिचितों के प्रति भी उनका सहज स्नेह सब उनके सहज व्यक्तित्व से उद्भूत थे। उनके प्रथम-दर्शन की इस पुण्य वेला का उल्लेख मैंने इसीलिए किया है कि पंडित जी से मिलने वाला हर व्यक्ति मेरी ही तरह उनकी महानता से प्रभावित होता था।

इसके बाद तो ऐसे अनेक अवसर मिले हैं, जब कि पंडितजी की इस निच्छल सहज प्रकृति के दर्शन हुए हैं। उनका पुण्य-स्मरण यह याद दिलाता है कि ज्ञान-प्राप्ति के इच्छुक व्यक्ति को विनम्रता, सादगी, सरलता, सभी के प्रति निष्कपट सहज स्नेह आदि गुणों को अवश्य अपनाना चाहिए। उनके जाने से जयपुर नगर में जो रिक्तता पैदा हो गई है, उसका समाधान शायद ही हो सके, जब कि पंडित जी अपने जीवन भर सभी जिज्ञासु विद्यार्थियों को समाधान सुझाते रहे थे।

'अर्हत् प्रवचन' एक दृष्टि

डा० हरीन्द्र भूषण जैन,

आदरणीय पं० चैनसुखदास जी की पुण्य स्मृति में एक "स्मृति-ग्रन्थ" निकालने की योजना बनाकर विद्वानों के समादर करने की प्राचीन परम्परा का निर्वाह ही किया जा रहा है। जयपुर ने अनेक जैन विद्वान्, साधक, तपस्वी एवं विचारक जिनवाणी की सेवा के लिए समर्पित किये हैं। पं० चैनसुखदास जी उन्हीं महामनीषियों में से एक थे।

पंडित जी द्वारा सम्पादित 'अर्हत् प्रवचन' को मैंने आद्योपान्त बड़े ध्यान से पढ़ा। पंडित जी ने प्राकृत भाषा की गाथाओं के माध्यम से श्रावक एवं श्रमण दोनों के लिए परमोपयोगी तत्वों का संकलन करके इस ग्रन्थ को तैयार किया है। श्री रामसिंह तोमर, अध्यक्ष, हिन्दी विभाग, विश्व भारती, शांति निकेतन के 'अर्हत् प्रवचन' पर दिए गये इस अभिमत से मैं पूर्ण सहमत हूँ कि पंडित जी का यह ग्रन्थ गीता और धम्मपद के समान नित्य पाठ के लिए जैन समाज को उपयोगी होगा। यह ग्रन्थ पंडित जी की साहित्यिक प्रतिभा एवं धार्मिक अभिरुचि का परिचायक है।

सरल हिन्दी में अनुवाद

'अर्हत प्रवचन' पर एक अन्य दृष्टि से भी विचार करना आवश्यक है। आजकल लोग प्राकृत भाषा के अध्ययन अध्यापन से दिन प्रतिदिन विमुख होते जा रहे हैं। समस्त प्राचीन जैन वाङ्मय प्राकृत भाषा में है। अतः प्राकृत-भाषा की ओर जैन-विद्वानों तथा साधारण समाज की रुचि जागृत हो इस बात को ध्यान में रखकर दूरदर्शी पंडित जी ने अनेक आगम ग्रन्थों से प्राकृत गाथाओं को चुनकर उनका सरल हिन्दी में अनुवाद कर इस ग्रन्थ का प्रणयन किया है।

मेरा सभी से निवेदन है कि वे पण्डित जी द्वारा प्रणीत 'अर्हत् प्रवचन' नामक ग्रन्थ का अधिक से अधिक प्रचार करें। प्रायः प्रत्येक विश्वविद्यालय के संस्कृत के साथ अनिवार्य रूप से प्राकृत भाषा के पाठ्य ग्रन्थ के रूप में इसे सम्पूर्ण अथवा कुछ भाग पाठ्यग्रन्थ के रूप में निर्धारित किया जा सकता है। जैन-विद्यालयों में तो जैन परीक्षा बोर्ड के माध्यम से इसके पढ़ाई की व्यवस्था हो सकती है।

मेरा पूर्ण विश्वास है कि यदि 'अर्हत प्रवचन' का प्रचार हमने किया तो हम पं० चैनसुखदास जी की स्मृति को स्थायी रखने में सफल हो सकेंगे।

———

सौम्य मूर्ति पंडित चैनसुखदासजी
न्यायतीर्थ

जन्म तिथि के अवसर पर लिया
गया पंडित साहब का चित्र
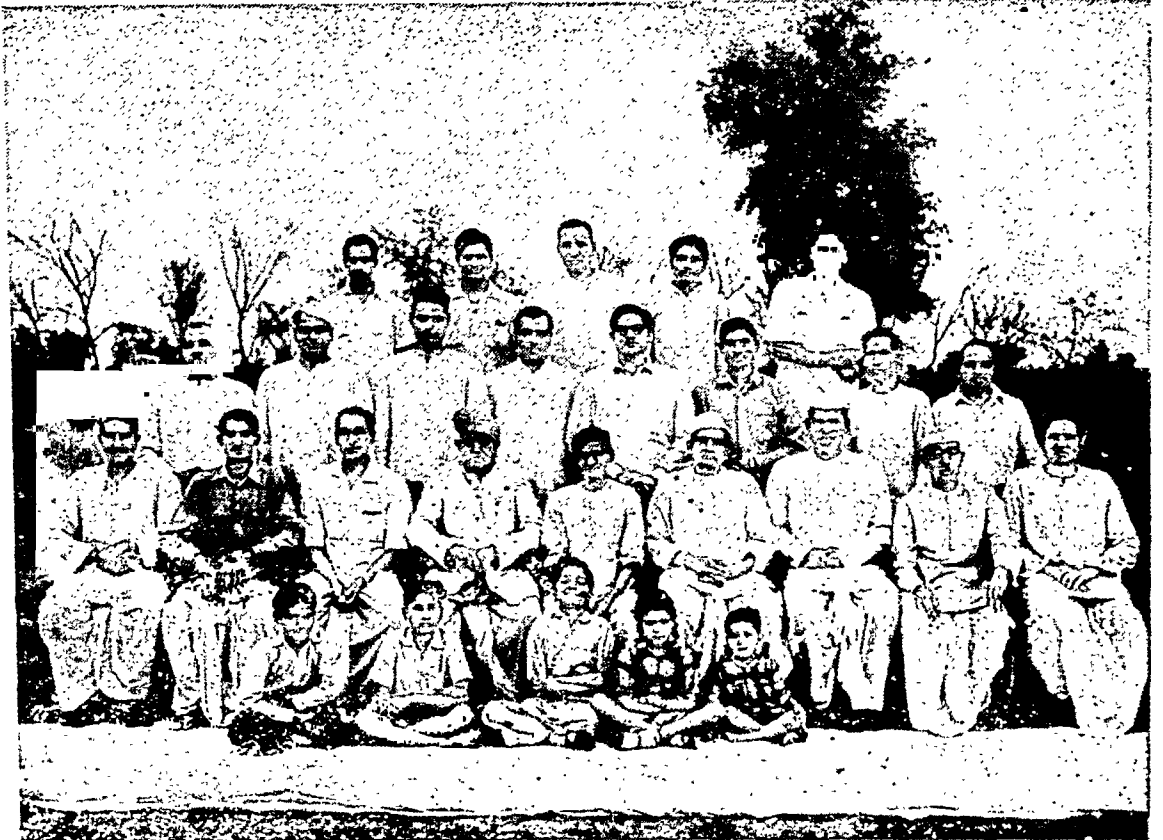
पंडित चैनसुखदासजी न्यायतीर्थ अपने शिष्य परिवार के साथ ।

जिनकी स्मृति ही आज हमारा संबल है

पं० भंवरलाल पोल्याका जैनदर्शनाचार्य

श्रद्धेय गुरूदेव का असामयिक निधन जहां राष्ट्र और समाज की अपूरणीय क्षति है वहां वह बहुत से लोगों की वैयक्तिक क्षति भी है। इन पंक्तियों का लेखक भी उनमें से एक है। वे मेरे ज्ञानदाता गुरू ही नहीं थे, मां की सी ममता और पिता का सा प्यार भी मुझे उनसे मिला था। मेरी व्यक्तिगत कठिनाइयों की जितनी चिन्ता उनको थी और उनको दूर करने में जितने प्रयत्नशील वे रहते थे मैं निःसंकोच स्वीकारता हूं कि उतनी मेरे जन्मदाता स्वर्गीय पूज्य पिताजी एवं अन्य निकटतर सम्बन्धियों को भी नहीं थी। उनके चले जाने से आज मैं अपने को नितान्त एकाकी सूना-सूना अनुभव करता हूं।

वे सच्चे अर्थों में महा मानव थे। गृहस्थावस्था में भी संत थे। मानवता का ऐसा कौनसा गुण था जो उनमें नहीं था। पर हित निरतता उनमें कूट-कूट कर भरी थी। दीन, अनाथ और असमर्थों के वे मसीहा थे। चारित्र उनका आदर्श और अनुकरणीय था। रहन-सहन सादा, बोलचाल में नम्र, घमण्ड जिन्हें छू भी नहीं गया था। "विद्या ददाति विनय" सच्चे अर्थों में उनके जीवन में खरी उतरी थे। वे जैन दर्शन के साथ-साथ अन्य दर्शनो के भी तल स्पर्शी विद्वान थे। विचारों से वे युगानुसारी थे। उनकी लेखनी और वाणी में जादू था। शिथिलाचार और रूढ़ियों से उन्होंने डटकर लोहा लिया था। बड़ा से बड़ा प्रलोभन भी उन्हें अपने आदर्श और कर्तव्यों से च्युत नहीं कर सकता था। वे आदर्श अध्यापक थे। अपने शिष्यों के साथ उनका पुत्रवत् स्नेह था। उनका प्रत्येक क्षण अमूल्य था और ज्ञानार्जन में व्यतीत होता था। वे सच्चे अर्थों में अभीक्ष्ण ज्ञानोपयोगी थे।

पूज्य गुरुदेव स्वयं में एक संस्था थे। हजारों कन्धे मिलकर भी जिस बोझ के उठाने में असमर्थ थे उसे वे अकेले उठा रहे थे। उनके निधन से वह बोझ आज हम सब पर पड़ा है। उसे उठाने की शक्ति और सामर्थ्य हम सबमें उत्पन्न हो, जिस संस्था को उन्होने अपने रक्त से सींचा, परोपकार की जो पावन और निर्मल मंदाकिनी उन्होंने बहाई, जिस देशघाती और समाजघाती शिथिलचार और रूढ़ियों के विरुद्ध वे जन्म भर अपनी वाणी, अपनी लेखनी और अपनी करनी से लोहा लेते रहे, हम उस संस्था को जीवित रखें उस धारा को सूखने नहीं दें और क्रांति की मशाल को बुझने नहीं दें। यही उनके प्रति सच्चे अर्थों में श्रदांजलि है और उनका सच्चा स्मारक है।

'ज्ञान-मूर्ति'

श्री० प्रेमचन्द रांवका, एम. ए.

"ज्ञान-मूर्ति स्वर्गीय पंडित चैनसुखदासजी न्यायतीर्थ का स्मरण आते ही उन्नत ललाट, आकर्षक नयन, मझोला कद, कृश-विकलांग देह किन्तु उस पर आध्यात्मिक सन्त आभा, की स्वस्थ एवं पवित्र मूर्ति, प्रदीप्त तेज, आजानुवाहु एवं सादा भद्रवेश से मण्डित एक वन्दनीय व्यक्तित्व सामने आ जाता है। प्राचीन ऋषि-मुनियों की त्याग तपस्या; आधुनिक ज्ञान-विज्ञान से समुत्पन्न अकाट्यतर्कणा शक्ति, यशतन्तु जैसा शिष्य-वात्सल्य, पर दुःख कातरता की भावना और अद्भुत समभाव का वह प्रहरी किसे अपनी ओर आकर्षित नहीं करेगा। उनका वाह्य व्यक्तित्व जितना सूक्ष्म, कोमल एवं दुर्वल था, अन्तरंग व्यक्तित्व उनका उतना ही दृढ़, सवल और गम्भीर था। उनमें उन देवत्व गुणों की प्रकाश रेखा थी, जो व्यक्ति को अपने अहं से नहीं सहज दुलार और स्नेह भाव से सही दिशा की ओर अभिमुख करती थी, लक्ष्य संकेत करती थी और मार्ग में आने वाली वाधाओं से सावधान कर उनसे मुकावला करने की शक्ति प्रदान करती थी। शक्ति, शील एवं सौन्दर्य का उनमें अद्भुत समन्वय था।

प्राय: पांडित्य और सादगी का समवाय स्वरूप विरले ही व्यक्तियों में देखने को मिलता है। शुभ्र भूमि पर शयन करना, स्वच्छ खद्दर के अल्प वस्त्र धारण करना और सात्विक अल्पाहार ग्रहण करना ज्ञान मूर्ति स्वर्गीय पूज्य पण्डित साहब के सादा रहन-सहन को प्रमुख विशेषता थी। वे उन साधकों में से थे जो अहर्निश ज्ञानाराधना और साहित्य साधना में संलग्न रहते हैं। संसार के आडम्बर पूर्ण कार्यों में उनकी कोई रुचि नहीं रहती थी। दर्शन, विज्ञान एवं साहित्य की मौलिक समस्याओं पर ऊहापोह तथा समाज एवं राष्ट्र के विविध कार्यकलापों की समीक्षा, स्वस्थ एवं निष्पक्ष रूप में प्रस्तुत करना ही उनका लक्ष्य था। एक शासकीय मान्यता प्राप्त महाविद्यालय के प्राचार्य के रहन-सहन के सम्बन्ध में किसी की यह कल्पना भी नहीं हो सकती कि ज्ञानमूर्ति पण्डित चैनसुखदास इतनी सादी वेष भूषा में किस प्रकार रहते थे। उनकी अपनी आवश्यकताएं इतनी अत्यल्प थी कि वे हृदय खोलकर अपने शिष्यों को ज्ञान के साथ अर्थ से भी सहयोग प्रदान करते थे। वास्तव में उनका जीवन उस गाय के समान था, जो घास खाकर समाज को वदले में मधुर-दुग्ध प्रदान करती है।

उस ज्ञान-मूर्ति का अहर्निश अध्ययन-अध्यापन में व्यतीत होता। उनके अध्ययन-अध्यापन से प्रभावित होने वाले दाक्षिणात्यवासी, भारतीय प्राच्य विद्या प्रेमी और राजस्थान संस्कृत शिक्षा विभाग के निदेशक स्व० श्री के० माधवकृष्ण शर्मा उन्हें ऋग्वेदकालीन आदर्श अध्यापक मानते थे। वे उपनिषद् के उस सूक्त के चरितार्थक थे- जिसमें गुरू शिष्य से कहता है कि वत्स। आओ तुम और हम दोनों मिलकर अज्ञान से लड़ें। वे एक ऐसे आचार्य थे- जिनकी शिष्य परम्परा आज समूचे भारतवर्ष में है। विद्यार्थियों एवं शोधार्थियों के लिए उनके द्वार हमेशा खुले रहते थे। केवल शिक्षण समय में ही ज्ञान चर्चा नहीं करते, अपितु अहर्निश अपने अध्ययन-अध्यापन द्वारा शिष्य वर्ग एवं जिज्ञासुओं की शंकाओं का समाधान करते रहते थे।

(शेष पृष्ठ ५१ पर)

जन्मजात शिक्षक

श्री के० माधव कृष्ण शर्मा

जब १९५१ में, निरीक्षक संस्कृत विद्यालय के पद पर मैं जयपुर आया, मैंने स्वयं को एक विचित्र वातावरण में पाया। इससे पूर्व मैं शोधक्षेत्र में था, जहां शोध कार्य एवं अध्ययन के साथ साथ मुझे विद्वानों के सम्पर्क तथा मार्ग दर्शन का सौभाग्य प्राप्त था। जब मुझे संस्कृत पाठशालाओं के उन शिक्षकों के बीच रहना था, वहां यद्यपि पुरानी परम्परा के कुछ विद्वान पं० जी तो थे किन्तु आधुनिक ज्ञान व शोध से उनका कोई सम्पर्क नहीं था तथा वर्तमान संस्कृत पीढी प्राय: संस्कृत में ठोस ज्ञान से रहित थी। ऐसे वातावरण में, मुझे जीवन में कुछ रिक्तता का आभास सा होने लगा था।

अचानक एक दिन राजकीय कार्यों के दौरान मेरी भेंट स्वर्गीय पं० चैनसुखदास जी से हुई। यह तो मुझे निश्चित रूप से स्मरण नहीं कि हम प्रथम बार कब मिले, किन्तु इतना अवश्य प्रतीत हुआ कि मुझे एक ऐसा आदमी मिला है जिसे पाकर मेरे जीवन की इस रिक्तता का एक भाग भर सका है। मुझे उस दिन असाधारण प्रसन्नता का आभास हुआ क्योंकि आखिर मैंने एक अच्छे विद्वान् को पाया था। ज्यों-ज्यों मैं उनके अधिक सम्पर्क में आया त्यों त्यों यह आकर्षण बढता गया। मैंने उनमें असाधारण गुणों का समन्वय पाया, यद्यपि कालिदास ने कुमार सम्भव में कहा है कि साधारणतया हम एक ही स्थान पर, एक ही व्यक्ति में गुण नहीं पा सकते—

बहुमुखी प्रतिभा

मैंने पंडित साहब को न केवल एक आदर्श शिक्षक के रूप में पाया, अपितु वे एक प्रकाण्ड विद्वान्, शोध-कर्ता, दार्शनिक, कवि, सफल पत्रकार, समाज सुधारक और प्रभावशाली वक्ता भी थे। सच तो यह है कि वे स्वयं एक जीवित परम्परा और संस्था के रूप में थे जहां से बहुत से छात्रों ने ज्ञान, मार्ग दर्शन तथा प्रेरणा प्राप्त की। शिक्षकों को आज प्रशिक्षित किया जाता है। पर वे जन्म जात शिक्षक थे जो अध्यापन के लिए जीये न कि अध्यापन के द्वारा। पाश्चात्य दार्शनिक शापन होवर ने कहा है कुछ दर्शन के लिए रहते हैं जब कि दूसरे दर्शन के द्वारा"। पं० साहब भी अध्ययन अध्यापन के लिये रहे न कि अध्ययन के द्वारा जीवन यापन के लिए। वे विद्या की चारों अवस्थाओं की पूर्ति के एक उदाहरण थे।

विशिष्ट सेवाएं

संस्कृत शिक्षा और शोध के क्षेत्र में उनकी विष्टि सेवायें थीं। दिगम्बर जैन संस्कृत कालेज उनकी आजीवन सेवाओं का मूर्तरुप है। वे संस्कृत सलाहकार मण्डल के सदस्य थे। और संस्कृत के क्षेत्र में उनकी विशिष्टि सेवाओं के लिए राष्ट्रपति पुरस्कार से सम्मानित भी किया गया था।

(शेष पृष्ठ ५० का)

ऐसे वन्दनीय व्यक्ति का वियोग किसे व्याकुल नहीं करेगा? इन पंक्तियों का लेखक भी उस महान् आत्मा के वरद हस्त से लाभान्वित था। यह व्यक्ति आज जितने अहं में है, वह सब उन्हीं की अनुकम्पा फल है वस्तुत: संसार में साक्षात् ज्ञान की मूर्ति पंडित चैनसुखदास सदृश महनीय व्यक्तित्व के धारक विरले ही हुआ करते हैं।

था उसका भिन्न प्रकार से विश्लेषण किया गया। आज उसका जो रूप प्राप्त है, उसको छांट-फटक कर वास्तविकता मालूम करना आवश्यक है। कुछ लोग, जो कुछ जब कभी लिखा गया, सही मानते हैं। मैं चाहूंगा कि वे भी अपनी दृष्टि शोध-परक तो रक्खें ही। मेरा उद्देश्य यह नहीं है कि वे अपना श्रद्धान त्याग दें। श्रद्धा रक्खें, गाढ श्रद्धा रक्खें, किन्तु उसे अन्ध न बनने दें। पं० चैनसुखदास जी सुश्रद्धानी थे। उन्होंने कभी अन्ध श्रद्धा नहीं सहेजी। इसी कारण अन्य लोगों से वे ऊपर उठे हुए थे। और इसी कारण उन्हें समझने में यदा-कदा भूल हुई है।

सहृदय

वे आदमी थे और उनमें भी दिल था। उन्होंने दर्शन के ग्रन्थों का अध्ययन किया था, किन्तु अनुभूतियों को प्रमुखता दी। वे सहृदय थे। उन्हें जितना आनन्द दार्शनिक ग्रन्थों में आता था, उतना ही काव्य कृतियों में भी। इसी कारण वे सदैव तटस्थ रहे। निष्पक्षता उनका गुण था। सन्तुलन ही उनका जीवन था। उनका प्रत्येक कार्य विवेकपूर्ण और सन्तुलित होता था और यही कारण था कि उनका दिल कभी भी, किसी के प्रति कलुष को स्थान नहीं दे सका। उन्होंने कलुष के ऊपर ग्रन्थों के ज्ञान का आवरण कभी नहीं चढ़ाया। वे ज्ञानी बने साफ दिल के साथ। मुझे उनकी यह बात भाती थी।

यह सुख का विषय है कि उन्होंने एक युवा जैन साधु को अपनी दृष्टि समझा ही नहीं दी थी, अपितु उसकी अनुभूतियों को भी उसी दिशा में मोड़ दिया था। १०८ मुनिश्री विद्यानन्द जी के प्रवचनों में आज वही दृष्टिकोण पग-पग पर प्रशस्त किया जा रहा है। अपार जन समूह—जैन हो या अजैन उनकी वाणी सुनने के लिए आतुर रहता है। क्योंकि भेद-विभेद से ऊपर उठकर वे सही धर्म समझा पाते हैं। यही कारण था कि हिमवान के उत्तुंग शिखरों पर, जटा जूट धारी वैदिक साधुओं ने भी उनका सन्मान किया। उनके प्रवचन कुछ नहीं, जैन धर्म का विश्लेषण-भर है, किन्तु एक सही व्यापक और मधुर दृष्टिकोण के साथ। वे विरोध की बात करते ही नहीं, फिर उनसे किसको विरोध होगा। मुनिश्री को इस दिशा में मोड़ देना ही मैं पंडित चैनसुखदास की सबसे बड़ी विशेषता मानता हूं।

———

(शेष पृष्ठ ५२ का)

सच्चा स्वरूप था सत्य तो यह है कि वे जीवन पर्यन्त शिक्षक ही रहे। वो आदर्श शिक्षक जो जीवन की शिक्षा देता है और संघर्ष का दृढ़ता से सामना करते हुए आगे बढ़ने की प्रेरणा देता है। उनकी कक्षा में रहने वाला हर छात्र उनके जीवन से ही सम्पूर्ण शिक्षा ग्रहण कर सकता था। पंडित जी स्वयं में एक संस्था थे, और परम्परागत संस्कृत शिक्षा प्रणाली को जीवित रखते हुए उन्होंने संस्कृत शिक्षा की अभूतपूर्व सेवा की है।

पंडित जी आज हमारे बीच नहीं हैं ऐसा कह कर हम उनके भौतिक शरीर का अभाव भले ही स्वीकार कर लें— किन्तु शिक्षक, सम्पादक, कवि, साहित्यकार पंडित चैनसुखदास जी सबके बीच हैं और आने वाले युगों में रहेंगे।

मैं चाहूंगा कि, उनके शिष्य उनके इस जीवन दृष्टिकोण को अपनायें और समाज में फैलायें। यही उनके प्रति सच्ची श्रद्धांजलि होगी।

———

जयपुर के धीमान ! चैनसुखदास तुम्हारी जय हो

सुधेश जैन नागौद

'जयपुर' के धीमान। चैनसुखदास तुम्हारी जय हो।
हे अनुपम मतिमान। चैनसुखदास तुम्हारी जय हो।।

तुमसे सूना 'जयपुर' अब पर यश तन अमर हुआ है।
और तुम्हारे कारण विश्रुत 'जयपुर' नगर हुआ है।।
जगा तुम्हारे प्रति आदर है, हर प्रबुद्ध के उर में।
जो तुम पर श्रद्धालु न ऐसा कौन जैन 'जयपुर' में।।
हे सम्मानित विद्वान् चैनसुखदास। तुम्हारी जय हो।
'जयपुर' के धीमान चैनसुखदास। तुम्हारी जय हो।।१।।

तुम शिक्षक, साहित्यकार थे, पत्रकार थे, कवि थे।
जो अज्ञान-तिमिर हरने को ज्ञान ज्योतिमय रवि थे।।
तुमने शोध-खोज के कार्यों को सदैव नव गति दी।
'महावीर' जी क्षेत्र समिति को तुमने नव सम्मति दी।।
मूर्तिमान सद्ज्ञान चैनसुखदास तुम्हारी जय हो।
जयपुर के धीमान् चैनसुखदास तुम्हारी जय हो।।२।।

जाने कितने श्रेष्ठ गुणों का तुममें रहा समागम।
औ कण्ठस्थ तुम्हें था प्रायः सारा प्रमुख जिनागम।।
विद्यामृत के कोष। वस्तुतः तुम थे विद्यासागर।
विद्यार्थी तव तट पर आकर भरते थे निज गागर।।
शिक्षा के सोपान, चैनसुखदास तुम्हारी जय हो।
जयपुर के धीमान चैनसुखदास तुम्हारी जय हो।।३।।

युग युग तक भी अमर रहेगी तव गौरवमय गाथा।
ओ तव पद युग पर नत होगा भावी-युग का माथा।।
प्राप्त जिन्हें भी तो होगा तव सत्कार्यों का परिचय।
वे कृतज्ञतापूर्वक तुमको नमन करेंगे सविनय।।
शिष्यों के भगवान चैनसुखदास तुम्हारी जय हो।
जयपुर के धीमान चैनसुखदास तुम्हारी जय हो।।४।।

जहां चैनसुख हो ओ तुम अब वही चैनसुख पाओ।
कवि की यही कामना है तुम दिवस रैन सुख पाओ।।
तव जीवन से नयी प्रेरणा मिले सदा जन-जन को।
तथा मिले प्रोत्साहन आगम के अध्ययन मनन को।।
निर्मल सम्यग्ज्ञान चैनसुखदास। तुम्हारी जय हो।
'जयपुर' के धीमान चैनसुखदास। तुम्हारी जय हो।।५।।

बहुमुखी प्रतिभा के धनी

श्री जगन्नाथसिंह मेहता

भौतिक आडम्बर के इस युग में जहां एक ओर व्यक्तित्व पर भौतिकता का प्रभुत्व लदता जा रहा है और मानवीय गुणों का निरन्तर ह्रास हो रहा है वहां समय समय पर समाज के गहन संघर्षों के बीच कुछ ऐसे भी व्यक्तित्व आते जाते रहे हैं जिन्होंने अपने आदर्श जीवन के माध्यम से एक या अनेक वर्गों पर प्रभुत्व की अमिट छाप छोड़ी है। जो भी उनके सम्पर्क में एक बार आ गया उनके रंग में रंगे बिना नहीं रह सकता। प्रसिद्ध जैन दार्शनिक एवं शिक्षक पं० चैनसुखदास जी न्यायतीर्थ भी इसी प्रकार के व्यक्तित्वों में से थे।

पंडित जी से भेंट के अवसर मिले। हर बार उस क्षीणकाय महापुरुष में नयी विलक्षणता का आभास हुआ। जैसा कि सभी जानते हैं धार्मिक पीठ में प्रवचन हो अथवा धार्मिक एवं दार्शनिक व्याख्यान, शैक्षणिक कार्यक्रम हो या सामाजिक उत्सव– सब अवसरों पर अपनी सहज प्रतिभा से वे श्रोताओं को प्रभावित कर लेने में सक्षम थे।

सम्पादक

पंडित जी में कितनी विशेषताएं थी उनका उल्लेख कहीं एक स्थान एवं व्यक्ति के द्वारा कर पाना असम्भव है। धार्मिक व्यक्तियों के समाज में रह कर भी उनमें जो परम्परानुकरण के विरुद्ध भाव थे वे उनके सदैव परम्परागत रूढ़ियों का विरोध किया, भले ही प्रारम्भ में उन्हें इसके लिए विरोध सहन करना पड़ा हो। उनकी यह धार्मिक टिप्पणियां एक सुधारवादी दृष्टिकोण लिए रहती थी। "वीरवाणी" के सम्पादक के रूप में न केवल उन्होंने जैन समाज के लिए ही सुधारक कार्य किये अपितु अपने विद्वत्तापूर्ण लेखों, सामयिक टिप्पणियों व अग्रलेखों के माध्यम से भारतीय सामाजिक जीवन व राजनैतिक गतिविधियों के सम्बन्ध में भी निष्पक्ष विचार रखने में वे पीछे नहीं रहे।

साहित्यकार

साहित्यकार के रूप में पंडित जी ने बहुत कुछ कार्य तो 'वीरवाणी' के माध्यम से ही किया पर जैन दर्शन की जटिल दार्शनिक ग्रन्थियों को सुलझाने में भी उनके विभिन्न ग्रन्थ बहुत सहायक रहे हैं। उनकी प्रसिद्ध पुस्तक "जैनदर्शन सार" जैन धर्म के मूलभूत तत्वों का श्रेष्ठ एवं सारगर्भित विवेचन है, जिसकी उपयोगिता को समझ कर अनेक विश्वविद्यालयों ने पाठ्यग्रन्थ के रूप में अपनाया है। इसी प्रकार "प्रवचन-प्रकाश" दार्शनिक विचारधाराओं पर समीक्षात्मक ग्रन्थ है। कवि के रूप में भी पंडित जी काव्य साहित्य के क्षेत्र में सफल हुए जो उनके बहुमुखी व्यक्तित्व की एक झलक प्रस्तुत करता है।

जीवन पर्यन्त शिक्षक

लेखक–कवि, सम्पादक इन सबसे भिन्न पंडितजी का जो सबसे प्रभावशाली और आदर्श स्वरूप चिरस्मरणीय रहेगा वह है शिक्षक का रूप। आज तक दिगम्बर जैन संस्कृत कालेज और पंडित चैनसुखदास एक ही शब्द के पर्याय थे। "शिक्षक" ही उनका

(शेष पृष्ठ ५४ पर)

पं० चैनसुखदास ज्ञानी थे

डा० प्रेमसागर जैन

पं० चैनसुखदासजी ने यदि एक ओर धार्मिक ग्रन्थों का तलस्पर्शी अध्ययन किया तो दूसरी मनन और चिन्तन से उसके मर्म को भी समझा। ग्रन्थ पढ़-पढ़ कर पण्डित बनना आसान है किन्तु उसके मर्म का साक्षात् कर लेना उतना ही कठिन है। ऐसा विरले ही कर पाते हैं। पण्डितजी उनमें से एक थे। इसी कारण मैं उनको ज्ञानी कहता हूं। उनके जीवन का प्रत्येक पहलू इस ज्ञान से प्रभावित रहा। शायद यही कारण था कि उन्होंने एक शानदार जिन्दगी एवं जीवन बिताया—गौरव और स्वाभिमान के साथ। आज वह नहीं है, किन्तु जीने का एक ढंग दे गये हैं, जिसे हम चाहें तो अपना सकते हैं।

पण्डित जी सीधा देखते थे तो सही देख पाते थे। उन्होंने न कभी टेढा देखा और न गलत देख सके। उन्हें देखने का यह तरीका जैन शास्त्रों से प्राप्त हुआ था। गांधी जी का भी यही ढंग था। उन्हें भी जैन माध्यम से मिला था। अन्तर इतना ही था कि गांधी जी ने उसे राजनीति के व्यापक क्षेत्र में अपनाया, वहां पंडित जी समाज तक ही सीमित रहे। ढंग दोनों का एक था। इसी कारण दोनों को सफलता मिली। मुझे दुःख है कि आज जैन लोग उस ढंग को नहीं अपना रहे हैं। यदि अपना पायें तो उनके प्रति जो व्याप्त उपेक्षा है, दूर हो जाये।

आत्मबल के धनी

हर बात को सीधे देखने की नजर अहिंसा और प्रेम से मिलती है। आज जैन समाज के बडे बड़े विद्वान् अहिंसा पर साधिकार बोलते हैं, किन्तु वे उसे अपने जीवन में एक तिनके के बराबर भी नहीं उतार पाते। पंडित चैनसुखदासजी उसके प्रतीक ही थे। जो उनके पास गया, उनका हो गया। एक अपंग, अशक्त, सूक्ष्म से व्यक्ति, किन्तु आत्मबल के धनी। उन्होंने अपने स्व को विस्तार दिया था। एक बार जयपुर पहुंच गया। जान न पहचान। पण्डितजी का जो स्नेह मिला आज भी अमृत की बूंदों की तरह सहेजे हूं। दूसरों को प्रेम वही दे पाता है, जो भेद-विभेद से ऊपर उठा हो, जिसने अपने पराये का अन्तर मिटाया है। ऐसा व्यक्ति ही सच्चा अहिंसक होता है। प्रेम के बिना अहिंसा एक संकीर्ण-सी चुभती चली जाती है। उसका कोई मूल्य नहीं। वह अहिंसा है ही नहीं।

निर्भीकता

निर्भीकता सम्यक्त्व का पहला गुण है। हर कोई सम्यक्त्व की बात करता है, किन्तु छोटासा भय भी दूर नहीं कर पाता। भय दूर होता है स्वार्थ-त्याग से और हम स्वार्थ कहां छोड़ पाते हैं। इसी कारण निर्भीक नहीं बन पाते। पंडित जी में निर्भीकता थी, ऐसा मैं समझ सका हूं। वह जैन ग्रन्थों के सतत अध्ययन और मनन से आई थी। मनन के पीछे भी शोध-खोज की सुपुष्ट भूमिका थी। बिना उसके, ग्रन्थों से असली तत्व पा लेना आसान नहीं है। काल की मोटी तहों ने, विविध संस्कृतियों के आदान-प्रदान ने और मध्यकालीन अनेक बाह्याडम्बरों के प्रभाव ने उसे दबा कर रख दिया है। उसकी असलियत मालूम करने के लिये एक तेज आंख की जरूरत है। ऐसी आंख जो मोटी परतों के भीतर तक देख सके। पं० चैनसुखदास जी देख पाते थे। वे केवल इस पर विश्वास नहीं करते थे कि जो कुछ लिखा रखा है, वह सब भगवान की दिव्यध्वनि से निःसृत हुआ था। यह सत्य है कि तीर्थंकर की मूलवाणी में बहुत कुछ मिलावट हुई,

एक दार्शनिक विभूति

पं० गोविन्द नारायण शर्मा न्यायचार्य

पं० चैनसुखदास जी न्यायतीर्थ उन गुणग्राही व्यक्तियों में से थे, जिन्होंने अपना समूचा जीवन, सांसारिक असारता को समझते हुए पर-हिताय लगा दिया। वे इस संसार में रहते हुए भी अपने को अन्तरग में सबसे विलग समझते थे। पर ऐसा समझ कर समाज से उन्होंने कभी पलायन नहीं किया। इस दृष्टि से उनका जीवन जल में कमल सदृश था। इस भेद-ज्ञान को वे भली-भांति जानते थे और उसे अपने जीवन में उतार कर अपने सम्पर्क में आने वाले को भी बोधित करते थे। उनका यह दार्शनिक सिद्धान्त बड़ा अनूठा था।

प्रकांड विद्वान्

आधुनिक भारतीय दार्शनिक विद्वानों में उनका स्थान स्मरणीय है। जैन दर्शन के तो वे प्रकांड विद्वान् थे। उनका समूचा जीवन ही दर्शन का जीता-जागता उदाहरण था। उनके दर्शन सम्बन्धी अनेकों लेख भारतीय पत्र-पत्रिकाओं में प्रकाशित हुए और आधुनिक दार्शनिक जीवन के सन्दर्भ में उनसे पाठकों को मौलिक एवं नवीन चिन्तन प्राप्त होता रहा। अब वे लेख इस राष्ट्र और संस्कृति की सम्पत्ति बन गये हैं। उनकी एक पुस्तक 'जैन दर्शन सार' राजस्थान विश्वविद्यालय के एम०ए० (संस्कृत) के पाठ्यक्रम में चलती है। यह पुस्तक जैन दर्शन पर संक्षिप्त एवं सारभूत सामग्री पाठकों को देती है। वर्तमान में इस पुस्तक ने भारतीय दर्शन जगत् में अपना एक महत्त्वपूर्ण स्थान पा लिया है। वस्तुतः उनकी यह मौलिक कृति अनूठी सिद्ध हुई है।

उनकी दूसरी पुस्तक 'अर्हत प्रवचन' उदयपुर विश्वविद्यालय के एम०ए० पाठ्यक्रम में निर्धारित है। इसमें जैन दर्शन से सम्बन्धित प्राकृत गाथाओं का सुन्दर एवं सुव्यवस्थित सम्पादन किया गया है।

'प्रवचन प्रकाश' उनकी अन्तिम सम्पादित कृति है। जिसमें उन्होंने संस्कृत जैनाचार्यों की विविध विषयक सूक्तियों का संकलन किया है। यह एकत्र संकलन शोध की दृष्टि से एक बड़ी आवश्यकता की पूर्ति करता है। इसके अतिरिक्त उन्होंने भावना-विवेक, पावन-प्रवाह एवं नय-चक्र आदि की भी रचना कर साहित्य जगत् को गौरवान्वित किया है। 'वीरवाणी' में उनकी सम्पादकीय टिप्पणियां साहित्य-जगत् में सामान्य पाठक से लेकर शोधार्थियों तक को विविध निबन्धों पर सामग्री प्रदान करती है।

संस्कृत के विद्वानों में अग्रणी

संस्कृत जगत् में उनकी सेवाएं चिरस्मरणीय रहेगी। संस्कृत के पठन-पाठन के लिये वे सामयिक परिस्थितियों के सन्दर्भ में इसकी अनिवार्यता को अनुभव करते थे। संस्कृत के प्रति उनका प्रगाढ़ स्नेह था। राजस्थान के आधुनिक संस्कृत के विद्वानों में ये अग्रणी थे। राजस्थान संस्कृत सलाहकार मण्डल के वे पदेन सदस्य थे। जैन संस्कृत कॉलेज के गत ४०वर्षों तक अध्यक्ष रह कर उन्होंने कई शिष्यों का निर्माण किया जो आज विविध क्षेत्रों

(शेष पृष्ठ ६४ पर)

एक अविस्मरणीय प्रसंग

☐ डा० दरबारीलाल कोठिया, वैराणसी

स्व० पं० चैनसुखदास जी समाज के उन मूर्धन्य और सेवाभावी विद्वानों में से एक थे, जिन पर समाज को गर्व है। उनकी सामाजिक और साहित्यिक सेवाएं उल्लेखनीय एवं सदा अविस्मरणीय है। यद्यपि उनका कार्य-क्षेत्र सामाजिक दृष्टि से जयपुर ही रहा और जितनी प्रवृत्तियां उनके द्वारा चलायी गयी उनका केन्द्र भी प्रायः जयपुर रहा, पर बौद्धिक सेवा की दृष्टि से उनका सेवा क्षेत्र जयपुर से आगे बढ़ कर समग्र भारत रहा। यह नहीं कि उनकी कोई प्रवृति जयपुर में ही अवरुद्ध रही हो। सूर्य किरणों की तरह उनकी प्रवृत्तियों का प्रकाश सब जगह पहुंचा। उनके ज्ञान और विचारों का प्रसार उनकी 'जैनदर्शन सार" 'अर्हत्प्रवचन' आदि ज्ञान-पूर्ण कृतियों तथा पाक्षिक 'वीरवाणी' पत्रिका द्वारा सर्वत्र हुआ है। जो पाठक उनकी कृतियों और 'वीरवाणी' पत्रिका के अध्येता होंगे, वे सहज ही जान सकते हैं कि उनकी विचारधारा कितनी तथ्यपूर्ण, उदार और प्रभावयुक्त थी।

उन्होने ऐसे ज्योतिर्धरों का सर्जन किया है; जो ज्ञान ज्योति सदा प्रज्वलित करते रहेगें। वे सभी वाङ्मय के सतत् प्रकाशक एवं कर्मण्यता के ज्वलन्त प्रतीक है। ऐसे कर्मण्य और योग्य शिष्यों की परम्परा कम विद्वानों की मिलेगी।

स्व० पण्डित जी विद्वान् तो थे ही, वे सहृदय और उच्चकोटि के मनुष्य भी थे। जान-अनजान में हुयी अपनी भूल को स्वीकार करने वाले बहुत कम लोग होते हैं। पर पंडित जी ऐसी भूल को स्वीकार ही नहीं कर लेते थे, अपितु उस पर खिन्नता भी व्यक्त करते थे। एक घटना उनसे ऐसी हो गयी जिसका सम्बन्ध हम से था। जब उन्हें तथ्य ज्ञात हुआ तो उन्होंने पं० राजेन्द्रकुमार जी न्यायतीर्थ मथुरा से उसके लिए खेद प्रकट किया। बहुत वर्षो बाद जब मैं सपरिवार जयपुर गया और उनसे मिला तो उन्होंने न केवल उस भूल का उल्लेख किया, किन्तु अपनी सहृदयता एवं आत्मीयता का व्यवहार किया। दूसरी बार जब मैं पुनः १९६४ के दिसम्बर में स्व० डा० सम्पूर्णानन्द राज्यपाल राजस्थान की अध्यक्षता में राजस्थान विश्वविद्यालय जयपुर में आयोजित अखिल भारतीय दर्शन परिषद् में अपने काशी हिन्दू विश्वविद्यालय की ओर से जैन दर्शन में सर्वज्ञता की सम्भावनाएं विषय पर पेपर पढ़ने के लिए गया और आप से मिला तो आपने जिस आत्मीयता का प्रदर्शन किया वह मेरे मानस पर आज भी अंकित है-उसे भुलाया नहीं जा सकता। वस्तुतः विद्वान् होना अन्य बात है और सहृदय एवं उच्चकोटि का मनुष्य होना दूसरी बात है। ऐसे मनुष्यों की गणना देवत्व कोटि में की गयी हैं।

मेरा ख्याल है कि प्रतिभामूर्ति पं० टोडरमल के बाद इतना तथ्य पूर्ण विवेचक, निर्भीक और प्रभावशाली विद्वान जयपुर में यदि कोई हुआ तो स्वर्गीय पं० चैनसुखदास जी हुए, जिन्होने वाङ्०मय के प्रति अनन्य निष्ठा एवं आस्था रखते हुए सदा विवेक और तर्क से जैन तत्वों की विवेचना की और समाज को प्रबुद्ध किया।

ऐसे प्रबुद्ध, निर्भीक, लोकप्रिय विद्वान् के प्रति हम लोगों की यही श्रद्धांजलि होगी कि हम उनकी छोड़ी परम्परा को सुरक्षित ही नहीं आगे भी बढ़ायें।

★★★

पं० चैनसुखदास जी : एक संस्मरण

☐ डा० पी० एल० भार्गव, जयपुर

पं० चैनसुखदास जी उन विरले व्यक्तियों में थे जो प्रथम भेंट में ही अपनी विनय, अपनी विद्वत्ता, अपने विचारों और अपने व्यवहार से मिलने वाले को मुग्ध कर लेते थे। मुझे पंडित जी से अनेक बार मिलने का सौभाग्य प्राप्त हुआ और प्रत्येक बार मैं उनके गुणों से अधिकाधिक प्रभावित हुआ। अनेक गुणों के बीच भी उनके तीन गुण विशेष रुप से उल्लेखनीय है।

संस्कृत की प्रसिद्ध उक्ति 'विद्या विनयेन शोभते' यदि किसी पर पूर्ण रुप से घटित होती थी तो पं० चैनसुखदास जी पर। उनका प्रकाण्ड पांडित्य वास्तव में विनय के संयोग से चमक उठा था। इसीलिए उनके सम्पर्क में आने वाले प्रत्येक व्यक्ति को उससे बात करने में एक अध्यात्मिक सुख प्राप्त होता था। उनके मधुर व्यवहार के कारण ही उनकी विद्वत्ता इतनी प्रभावशालिनी हो सकी थी।

पंडित जी का दूसर महान् गुण था उनका उदार सामाजिक दृष्टिकोण और उनकी तर्क सम्मत विचार पद्धति। जैनधर्म में दृढ़ श्रद्धा रखते हुए भी अन्धविश्वास से वे कोसों दूर थे। समाज में प्रचलित कुरीतियों की वे वेझिझक निन्दा करते थे। धर्म और दर्शन के उन जैसे अधिकारी विद्वान के मुख से निकले हुए समाज सुधार सम्वन्धी विचारों का कितना प्रभाव होता था यह कहने की आवश्यकता नहीं है।

पंडित जी का तीसरा गुण जिसका उल्लेख करना मैं आवश्यक समझता हुं, उनका आतिथ्य भाव था। भारतीय संस्कृति में आतिथ्य का जो महत्व है उसका साकार रूप उनके घर जाने पर दिखाई देता था। मैं एक वार अपने मित्र को लेकर उनके घर गया था। मेरे मित्र को अपने अनुसन्धान कार्य में उनसे कुछ सहायता लेनी थी। पंडित जी ने वडे प्रेम से मेरे मित्र की प्रार्थना सुन कर उनका मार्ग निर्देशन किया और भविष्य में भी उनकी सहायता करने का वचन दिया। कार्य सम्पन्न हो जाने पर जब हमने उनसे विदा मांगी तो पंडित जी वोले–ऐसा कैसे हो सकता है? विना कुछ खाये पिये आप यहां से कैसे जा सकते है? यह कह कर आग्रहपूर्वक उन्होने हमें विठाया और एक वालक को भेज कर जयपुर का प्रसिद्ध कलाकन्द मंगाया। जव हमने वह स्वादिष्ट कलाकन्द खा लिया तभी उन्होने हमें जाने की अनुमति दी।

पंडित जी निस्सन्देह हमारे नगर की विभूति थे। उनके देहावसान से जो क्षति हुई है उसकी पूर्ति सम्भव नहीं है।

सच्ची श्रद्धांजलि

□ पं. बंशीधर शास्त्री,

वह दिन मुझे अभी तक याद है जब मेरे स्व० पू० बाबाजी श्री छोगालाल जी २२ वर्ष पूर्व पंडित चैनसुखदास जी के पास ले गये थे। मैं काव्य मध्यमा एवं हिन्दी प्रभाकर की परीक्षा देने वाला था, आगे क्या पाठ्यक्रम हो इसलिए मुझे उनके पास ले गये थे। उन्होंने मुझ जैसे अपरिचित किशोर के साथ भी ऐसे स्नेह से बात की कि मैं भाव विभोर हो गया। उन्होंने मुझे न्याय लेने को कहा, मैंने कहा कि किशनगढ (रेनवाल) में जहां मैं पढ़ता था न्याय के अध्यापन का प्रबन्ध नहीं है, इसलिए न्याय का अध्ययन सम्भव नहीं होगा। उन्होंने मुझे लेख वगैरह लिखने की भी प्रेरणा दी। मैंने सर्वप्रथम खण्डेलवाल जाति के गोत्रों के सम्बन्ध में एक लेख लिखा जिसे उन्होंने "वीरवाणी" में अविकल रूप से छाप दिया, इससे मेरा लिखने के प्रति उत्साह बढ़ा।

मैं सन् १९४८ में जयपुर रह कर अध्ययन करने लगा तब उनसे बराबर सम्पर्क रहा। मैंने देखा कि वे सभी विद्यार्थियों से समान रूप से स्नेह करते थे। वे विद्यार्थी को ज्ञान एवं चारित्र के विकास के लिए अधिक जोर देते थे। अध्ययनशील विद्यार्थियों के प्रति उन्हें विशेष प्रेम रहता था। वे उन्हें उच्च कोटि का साहित्य पढ़ने, समाचार-पत्र पढ़ने एवं लेख लिखने की बराबर प्रेरणा देते थे।

वे समाज की अविवेकपूर्ण रूढियों कुरीतियों को समाज के लिए अत्यन्त हानिकार समझते थे। अतः इनके विरोध में वे हमेशा तैयार रहते थे। वे सत्-श्रद्धा विवेक के साथ निर्मल चरित्र में विश्वास करते थे किन्तु उन्होने चरित्र के नाम पर ढोंग का कभी समर्थन नहीं किया इसी कारण वे कुछ व्यक्तियों के कोपभाजन भी बने रहे किन्तु उन्होने कभी ऐसे कोप की परवाह नहीं की।

उनकी मृत्यु से २ माह पूर्व मैं उनसे मिला था। तब उन्होंने पद्मपुरा में होने वाली पंचकल्याणक प्रतिष्ठा की स्पष्ट शब्दों में अनावश्यकता बताते हुए असहमति प्रकट की थी। इस असहमति को प्रकट रुप देने के लिए उन्होने पद्मपुरा तीर्थ क्षेत्र कमेटी से त्याग पत्र दिया था। जब उनके त्याग पत्र का मेला के निर्णय पर कोई असर नहीं पड़ा तब उन्हो ने मुझे लिखा "मैंने क्षेत्र कमेटी से त्याग पत्र दे दिया किन्तु प्रतिष्ठा होगी ही। इसको रोकने के लिए जबरदस्त क्रांति की आवश्यकता है"।

●●●

स्मृतियों के दर्पण में : पण्डित जी

□ डा० देवेन्द्रकुमार शास्त्री, नीमच

गौर वर्ण, मध्यम आकार और दुबली-पतली काया में समाविष्ट पंडित जी का व्यक्तित्व बाह्य में जितना सुकुमार, सहज और साधारण था अन्तरंग में उतना ही कठोर, गम्भीर और असाधारण था। ज्ञान की गरिमा से मण्डित होने पर भी वे सरल और विनम्र थे। स्वाभिमान तो उनमें कूट-कूट कर भरा था। और यह एक ऐसा गुण था, जिसके कारण वे इतर पण्डितों से भिन्न थे। उनके व्यवहार में जहां एक ओर सरलता थी वहीं अनुशासन में वे अत्यन्त कठोर थे। वे सबके लिए सुलभ होने पर भी इस एक गुण के कारण अलङ्घ्य और दुर्लभ थे। इसलिये जैन समाज में उत्पन्न होने के कारण समाज उन्हें नहीं पहचान सकी और न उनके हार्द के अनुसार विशेष योग दे सकी।

मैं जब भी पण्डित जी की आकृति को अपने सामने छायावत् देखता हूं तो मेरे स्मृति-पटल पर उक्त रेखाएं एक साथ उभर आती हैं। मैं सोचने लगता हूं कि पण्डित जी मुझे कितना चाहते थे, क्यों ? क्या मैं उनके गांव का था। या हूं, क्या उनके प्रान्त का था या हूं, क्या उनसे अध्ययन किया था, क्या अन्य प्रकार से—शिक्षा पाई, क्या किसी साहित्य-लेखन में वे मेरे पथ-प्रदर्शक थे ? इन सभी का उत्तर नहीं है। और मैं उन्हें किस श्रद्धा की दृष्टि से देखता रहा हूं, यह कोई लिखने की बात नहीं है। किन्तु मुझे कारण बताने में किसी प्रकार की हिचकिचाहट नहीं है। क्योंकि मैं मानता हूं कि जैन समाज में विद्वान् बहुत हैं और सम्भवतः एक से एक बढ़कर भी हैं; परन्तु पण्डित जी जैसा कोई पण्डित नहीं है।

भविष्य द्रष्टा

उनके जीवन की जो स्मृतियां मेरे अन्तर्मन से जुडी हुई है वे मानो श्रद्धा की पुंज हैं। उनके आलोक में मुझे अतीत और वर्तमान ही नहीं भविष्य की रेखायें भी स्पष्ट झलकती हुई लक्षित होती हैं। वे भविष्यदृष्टा थे। और इसलिए समाज में प्राचीन तथा आधुनिक पीढ़ियों एवं विद्वत्सरिताओं के मध्य ऐसे सेतु थे, जिसका आलम्बन लेकर समाज की विभिन्न समस्याओं का निराकरण हो सकता था किन्तु दुर्भाग्य से आज वे हमारे बीच नहीं है। और जब थे तब हम व्यर्थ की बातों में उलझे रहे। काश। आज हमारे बीच होते।

एकता के हामी

मैं जहां तक पण्डित जी को समझ सका हूं उनके भीतर एक तड़प थी और वे हृदय से चाहते थे कि उनके जीवन काल में ही समाज एक और तेजस्वी बने।

समाज के तथा विशेषकर राजस्थान एवं जयपुर के विभिन्न सांस्कृतिक एवं सामाजिक कार्यों में पण्डित जी का प्रत्यक्ष एवं अप्रत्यक्ष रूप से सहयोग रहता था। कई महत्त्वपूर्ण कार्य आपके बिना सम्पन्न ही नहीं हो सकते थे। ऐसे महान् शिक्षाशास्त्री तथा आदरणीय पण्डित जी को विनीत भाव से श्रद्धांजलियां समर्पित करता हूं और आशा करता हूं कि जैन समाज उनके अधूरे स्वप्नों तथा आदर्शों को एक साथ प्रेम से मिल कर सम्पन्न करने में सहयोग देगी।

प्रौढ विद्वान्

☐ सर सेठ भागचन्द सोनी, अजमेर

पं० चैनसुखदास जी न्यायतीर्थ समाज के उन शिरोमणि विद्वानों में से थे जिन्होंने समाज के निर्माण में उल्लेखनीय सहयोग प्रदान किया है। पंडित जी साहब की सेवाएं समाज के सीमित क्षेत्र में ही नहीं रही अपितु उन्होंने अपना सम्पूर्ण जीवन धर्म, समाज तथा देश सेवामय बना लिया था। जेयपुर के साथ उनका अन्योन्याश्रित सम्बन्ध था, वहां उनका प्रत्येक क्षेत्र में सदैव अग्रणी स्थान रहा।

पंडित जी दिगम्बर जैन संस्कृत कालेज के एक मात्र उन्नायक थे। कालेज के माध्यम से शिक्षा जगत को उनकी सदैव 'अविस्मरणीय सेवाए' प्राप्त हुई। यही कारण है कि कुशल शिक्षा शास्त्री के रूप में राष्ट्रपति पुरस्कार से समादृत होने वाले समाज में वे प्रथम प्रज्ञापुरुष थे।

प्रभावशाली व्यक्तित्व

विद्वानों के जन्मदाता पंडित जी के मार्गदर्शन में अनेक अनुसंधित्सुओं ने पी० एच० डी० आदि की उपाधियां प्राप्त की। अनुसंधान तथा प्राचीन वाङ्-मय के शोध खोज की दिशा में आपकी रुचिपूर्ण अनेक उपलब्धियां रहीं। श्री महावीर जी क्षेत्र के अन्तर्गत शोध विभाग का प्रारम्भ आपकी ही सफल प्रेरणा से हुआ। आपकी अनेक मौलिक कृतियां भी इस दिशा में समाज की धरोहर है।

पंडित जी का व्यक्तित्व प्रभावशाली तथा वाणी ओजस्वी थी। वे निर्भिक वक्ता मनीषी, साहित्यकार, कुशल पत्रकार, सुयोग्य सम्पादक, कर्मठ अध्यापक तथा सफल शिक्षा शास्त्री के रूप में सदैव अविस्मरणीय रहेंगे। एक ओर जहां शिक्षा जगत उनकी अनुपम सेवाओं के लिये स्मरण करेगा वहीं दूसरी ओर समाज उनको कुशल उपदेष्टा तथा मार्गदर्शक के रूप में विस्मृत न कर सकेगा। पाक्षिक पत्रिका 'वीरवाणी' के माध्यम से २१ वर्ष तक अपने समाज को अनवरत मार्गदर्शन प्रदान किया। उनकी लेखन शैली प्रभावक एवं सशक्त तथा सम्पादकीय सामयिक, निर्भीक एवं प्रेरक होते थे।

दिवंगत पंडित जी का निधन समाज की अपूरणीय क्षति है। मैं अपने हार्दिक श्रद्धा-सुमन स्वर्गीय आत्मा को समर्पित करता हूं तथा विश्वास करता हूँ कि समाज उनके कृतित्व से प्रेरणा प्राप्त करेगा।

एक संस्था, एक तीर्थ

★ डा॰ गोकुलचन्द्र जैन, वाराणसी

पण्डित चैनसुखदास जी का जीवन तीर्थ सा पावन और फूल-सा कोमल था। वे अकेले एक बड़ी संस्था के बराबर थे। उनके व्यक्तित्व में एक चुम्बकीय आकर्षण और संग्राहकता थी जिसके कारण उनके सम्पर्क में आने वाला हर व्यक्ति उनका अपना हो जाता था। उनकी आत्मीयता और निश्छल वाणी का जादुई असर होता था। यही कारण था कि उनके यश का सौरभ जयपुर और राजस्थान की परिधि से पार दूर दूर तक फैल गया था।

मैं पंडित जी से फरवरी १९६५ में पहली बार मिला था, पर पत्र व्यवहार द्वारा जो सम्पर्क था उसके कारण मुझे तनिक भी ऐसा नहीं लगा कि पहली बार मिल रहा होऊं। थोड़े ही दिन पहले उन्होने "वीरवाणी" में मेरे द्वारा सम्पादित 'सत्य शासन-परीक्षा' की समीक्षा की थी। जैन न्याय उनका प्रिय विषय था, इसलिए उनको पुस्तक बहुत रूची थी। उसकी लम्बी प्रस्तावना और सम्पादन पद्धति से वे काफी प्रभावित हुए थे। जब मैं उनसे मिला तो उनका स्नेह इसलिए और अधिक उमड़ आया कि मैं उनकी परिकल्पना से कम उम्र का था।

जयपुर में दो दिन रुका था। पंडित जी के साथ अनेक महत्वपूर्ण विषयों पर चर्चा हुई थी। श्री महावीर जी क्षेत्र द्वारा संचालित साहित्य शोध विभाग के कार्य आदि के विषय में विस्तार से चर्चा हुई थी। उनकी हार्दिक इच्छा थी कि साहित्य शोध विभाग का एक अच्छे अनुसंधान संस्थान के रूप में विकास किया जाये। जैन वाङ्मय और संस्कृति के अनुसंधान और प्रचार-प्रसार के लिए उनके मन की आतुरता को मैंने अनुभव किया। उनके चले जाने से एक अपूरणीय क्षति हुई है।

आजीवन स्मरणीय

★ प्रो० अमृतलाल जैन दर्शनाचार्य, वाराणसी

श्रद्धेय कविरत्न पं० चैनसुखदासजी न्यायतीर्थ, अध्यक्ष जैन, कालेज, जयपुर का नाम प्रथमत: मुझे मासिक पत्र 'जैन दर्शन' से ज्ञात हुआ था, जिसके आप प्रधान सम्पादक थे। उसमें प्रकाशित भावपूर्ण हिन्दी संस्कृत कवित्ताओं और विद्वतापूर्ण लेखों के जो आपकी लेखनी से अनुस्युत रहते थे, अध्ययन ने मेरे हृदय में आपके प्रति श्रद्धा उत्पन्न कर दी। न केवल विशिष्ट छात्र, वल्कि वरिष्ठ अध्यापक भी समय समय पर आपके लेखों व कविताओं की मुक्त-कण्ठ से प्रशंसा किया करते थे। फलत: आपके दर्शनों की अभिलाषा हुई। सोचता रहा जैन समाज में अन्य विद्वानों की भांति कभी आप भी काशी पधारेंगे तो अनायास ही अभिलाषा की पूर्ति हो जायगी, पर ऐसा न हो सकेगा।

जहां तक स्मरण है सन् १९५७ में ग्रीष्मावकाश के समय मुझे केकड़ी जाना पड़ा। वहाँ भी श्रीमान् पं० मिलापचन्द्र जी कटारिया आदि प्रखर समालोचक विशिष्ट विद्वानों से आप के वैदुष्यकी भूरी-भूरी प्रशंसा सुनी। विचार किया कि लौटते समय आपके दर्शन अवश्य करूंगा।

सम्भवत: २० जून १९५७ को जयपुर पहुंचा। एक जैनेतर धर्मशाला में सामान रख कर आपके पास गया। उस समय आप कुछ जिज्ञासु ज्ञान पिपासु सज्जनों को पाणिनीय व्याकरण पढ़ा रहे थे, यद्यपि ग्रीष्मावकाश के कारण कालेज बन्द था। मिलते ही आपने पूछा—सामान कहां है? मैंने कहा धर्मशाला में। तुरन्त ही उन्होंने वहां से सामान मंगवा लिया और अपने पास जैन कालेज में ही ठहरा लिया, जहां वे चौवीसों घण्टे रहा करते थे। आप केवल भोजन के लिए हि प्रतिदिन दो वार घर जाते थे। मुझे भी वे प्रतिदिन दोनों समय भोजन कराने के लिए अपने ही घर लिवा जाते थे।

मुझे 'नेमिनिर्वाणम्' महाकाव्य के कुछ संदिग्ध स्थलों का मिलान करने के लिए प्राचीन हस्तलिखित प्रतियों की आवश्यकता थी। आपने अपने स्थानीय शास्त्र भण्डारों से उन्हें शीघ्र ही मंगवा दिया। उन्हीं के कमरे में बैठकर मैं एक सप्ताह तक प्रतियों का मिलान करता रहा और वे अपने कार्यों में व्यस्त रहे।

मैं एक सप्ताह पास में रह कर अपना जो अध्ययन किया उसके आधार पर यह समझा कि आप अनुपम आदर्श विद्वान् हैं। असाधारण अनेक विशेषताओं के कारण आप आजीवन स्मरणीय हैं।

●●●

बहुमुखी प्रतिभा सम्पन्न व्यक्तित्व

□ डा० कैलाशचन्द्र जैन, उज्जैन

पंडित चैनसुखदास जी से मेरा विशेष सम्पर्क १९५३ ई० से हुआ जब मैं पटना से प्राचीन भारतीय इतिहास एवं संस्कृति में एम० ए० करके जयपुर लौटा था। उन्होंने मुझे 'राजस्थान में जैन धर्म' पर शोध करने के लिये प्रेरित किया। इस विषय को पूरा करने के पश्चात् डी० लिट् के विषय 'राजस्थान के प्राचीन नगर और उनकी संस्कृति' पर लिखने को वे लगातार प्रोत्साहन देते रहे। उनकी हमेशा यह कामना रहती थी कि मुझे शोध कार्य में अधिक से अधिक सफलता मिले। वे इसके लिये सब प्रकार की सहायता देने को तैयार रहते थे।

मुझे जयपुर में शोध कार्य हेतु बहुत लम्बे समय तक संस्कृत कालेज में पण्डित जी के साथ रहना पड़ा। मैंने बारीकी से उनके व्यक्तित्व को परखा। उनका व्यक्तित्व बहुमुखी प्रतिभा सम्पन्न था। वे एक आदर्श गुरु, विद्वान्, लेखक, ओजस्वी वक्ता, समाज सुधारक तथा कुशल नेता थे। ऐसा व्यक्ति अब सम्पूर्ण जैन समाज में देखने को नहीं मिलता।

●●●

(शेष पृष्ठ ५६ का)

में कार्य कर रहे हैं। वस्तुतः वे एक आदर्श अध्यापक थे। प्रातः काल से लेकर रात्रि शयन-समय तक उनकी समूची दिनचर्या अध्ययन अध्यापन में ही व्यतीत होती थी। उनके इन्हीं कार्य-व्यापारों से प्रभावित होकर सन् १९६७ में राजस्थान से एक मात्र श्रेय संस्कृत अध्यापक के रूप में भारत सरकार ने उन्हें अध्यापक-दिवस पर पुरस्कृत किया।

राजस्थान संस्कृत सलाहकार मण्डल की मीटिंग में उनके कई बार दर्शन हो जाया करते थे। वे बहुमुखी प्रतिभा के धनी थे। उनके इस संसार से चले जाने से दर्शन एवं संस्कृत दोनों क्षेत्रों में एक ऐसी क्षति हुई है, जो आगामी कई वर्षों तक पूरी नहीं हो सकती। अस्तु, आज वे भले ही भौतिक शरीर से इस ससार में न हों, पर अपनी कृतियों से सदैव अमर रहेंगे और हमारा मार्ग दर्शन करते रहेंगे। हमारी सच्ची श्रद्धांजलि इसी में है कि उनके बताये गये आदर्शों को हम अपने जीवन में उतार कर उनकी ही भांति स्व-पर हित में लगे रहें।

●●●

मेरे जीवन निर्माता

सुरज्ञानीचन्द न्यायतीर्थ

पूज्य पंडितजी साहब का आशीर्वाद मुझे मेरे बचपन से ही मिलने लगा था। जब वे जयपुर आये तब मैंने महापाठशाला में प्रवेश लिया ही था। धीरे-धीरे सम्पर्क में आता गया और प्रवेशिका श्रेणी में आने के पश्चात् तो मेरी गणना उनके प्रिय शिष्यों में होने लगी। उन्होंने मुझे न्यायतीर्थ की उपाधि परीक्षा दिलायी। मैं दिन में दुकान पर बैठता और प्रातः एवं रात्रि को उनके पास पढ़ता पंडितजी के आशीर्वाद से मुझे न्यायतीर्थ में प्रथमबार ही सफलता प्राप्त हुई उसके पश्चात् उनके स्नेह में बराबर वृद्धि होती रही। और जीवन के प्रत्येक क्षेत्र में उनका मार्ग दर्शन मिलता रहा। मेरे लघु भ्राता चिरंजीलाल को उन्होने दर्शनाचार्य कराया। इस प्रकार हमारे पूरे परिवार पर उनकी असीम कृपा रही। जब कभी हमारे सामने कोई समस्या आती हम उनके पास चले जाते और अपनी पूरी राम कहानी सुना कर उनके मार्ग दर्शन की प्रतीक्षा करते और जैसा भी वे कहते उसी के अनुसार हम लोग बढते। मुझे सामाजिक क्षेत्र में काम करने की प्रेरणा उन्होंने ही दी और जब तक वे जीवित रहे मुझे बराबर किसी न किसी संस्था में कार्य करने का अवसर देते रहे। साहित्य क्षेत्र में कार्य करने के लिये भी वे बराबर प्रेरित किया करते। वास्तव में वे मेरे जीवन निर्माता थे।

पंडित जी सा० मेरे गुरु थे यह मेरे लिये गौरव है। मै उनके सांनिध्य में कितने ही वर्षों तक रहा और जीवन निर्माण की मंजिल को ओर बढता रहा। आज मैं जो कुछ हूँ वह सब उन्ही के आशीर्वाद का सुफल है। वे क्रान्तिकारी विद्वान् थे इसलिये देश एवं समाज में व्याप्त बुराइयों के विरुद्ध जीवन पर्यन्त संघर्ष करते रहे। उन जैसा कर्मठ नेता कभी कभी ही हुआ करते हैं। मैं अपनी अनन्त भावनाओं से उनके चरणों में श्रद्धांञ्जलि समर्पित करता हूँ।

कपूरचन्द पाटनी

निर्धन के राम

श्री गजानन्द डेरोलिया

जैन दर्शन केप्रकाण्ड पंडित, वीरवाणी के सम्पादक तथा आदर्श अध्यापक श्रद्धेय पंडित चैनसुख दासजी के निधन के समाचार पढ़कर मैं हतप्रभ रह गया । जीवन भर सामाजिक बुराइयों और अंध विश्वास से संघर्ष करते रहने के कारण स्वर्गीय पंडितजी की काया वैसे ही कृशकाय थी, उसके उपरान्त घरेलू से भी अधिक वे सामाजिक समस्याओं के लिए चिन्तित रहते थे ।

पंडितजी जीवन ने भर अपने स्वयं के लिए कुछ नहीं चाहा परन्तु प्रायः सदा ही वे अभावग्रस्त लोगों के लिए सहायता की व्यवस्था करने में व्यस्त रहते । अनेक निर्धन बालकों की शिक्षा की व्यवस्था करके उन्हें पंडित बनाया । उनके दर्जनों शिष्य डाक्टरेट पाकर आज साहित्य जगत में सम्मान प्राप्त स्थानों पर है । वे स्वयं संस्थानों के निर्माता थे । उनके ही प्रयासों से भारत के प्रसिद्ध जैन तीर्थ श्री महावीरजी का प्रबन्ध समिति ने साहित्य शोध विभाग और छात्रवृत्ति कोष की स्थापना की । उनकी सतत प्रेरणा से राजस्थान के विभिन्न शास्त्र भंडारों में अस्त-व्यस्त पड़ा जैन साहित्य प्रकाश में आ सका और उनकी विस्तृत सूचियां तैयार कराई गई ।

अनेक वर्षों से वे दिगम्बर जैन संस्कृत महाविद्यालय के आचार्य पद पर कार्य कर रहे थे और राष्ट्रपति द्वारा उन्हें आदर्श अध्यापक के रूप में पुरस्कृत किया गया था । जयपुर जिले के भादवा नामक एक छोटे से ग्राम में जन्मा यह वाणिक् पुत्र कालान्तर में उद्‌भट विद्वान प्रगतिशील विचारों का प्रतिनिधि विचारक बनकर सभी क्षेत्रों में सम्मान प्राप्त करेगा इसकी किसी को कल्पना तक नहीं थी । अपने विचार प्रधान पाक्षिक पत्र "वीरवाणी" द्वारा वे सदा सामाजिक बुराइयों, अन्याय, भ्रष्टाचार तथा प्रगति विरोधी आचरण पर करारी चोट करते रहे । जयपुर में उनके अनुयायियों, समर्थकों और भक्तों की जोरदार पंक्ति है । चुनावों के समय सभी राजनैतिक दलों के प्रतिनिधि उनका आर्शीवाद प्राप्त करने को लालायित रहते थे । उनकी लोकप्रियता और निष्पृहता का पता तो इसी से चलता है कि एक बार सभी राजनैतिक दलों के प्रतिनिधियों ने उन्हें सर्व सम्मति से संसद में भेजने की पेशकश की थी जिसे पंडितजी ने विनम्रता पूर्वक यह कह कर अस्वीकार कर दिया कि मेरा स्थान तो साहित्य साधना में ही है ।

जैन विद्वत् समाज में वे प्रगतिशील विचारों के मुखिया माने जाते थे । एक पैर के पक्षाघात से ग्रस्त होने के उपरान्त भी पंडितजी लेखन कार्य में घोर परिश्रम करते थे । गणतंत्र दिवस के पावन दिन लगभग एक पखवाड़े तक अस्वस्थता से जूझकर पंडितजी ने नश्वर शरीर का त्याग कर दिया । उसके कुछ दिन पूर्व ही उनके प्रशंसको ने उनकी रोग शैया के समीप हीं उनके ७०वें जन्म

(शेष पृष्ठ ७१ पर)

सनत्कुमार जैन

स्वनाम धन्य पूज्य पंडित साहब

पूज्य गुरुदेव कविरत्न पं० चैनसुखदास जी को दिवंगत हुए करीब ७-८ वर्ष होने को आये किन्तु ऐसा आभास होता है कि वे आज भी हमारे सामने मोजूद हैं और हमें कुछ आदेश दे रहे हैं। जिस समय वे जयपुर की दि० जैन महापाठशाला में पधारे उस समय मैं प्रवेशिका में पढ़ता था। सम्मवत: वह वर्ष सन् १९३१ था और मेरी आयु उस समय १४ वर्ष की थी। उस समय उपाध्याय परीक्षा में सर्वार्थसिद्धि और न्याय सिद्धान्त मुक्तावली भी पढाई जाती थी। सर्वार्थिसिद्धि आप हमें पढाया करते थे। तभी आप ने हम लोगों को कलकत्ता यूनिवर्सिटी की परीक्षाओं में विठाने का सिलसिला चालू किया और उसके परिणाम स्वरुप सर्वप्रथम न्यायतीर्थ परीक्षा पास करने का सौभाग्य पं० भंवरलाल जी, पं० मिलापचन्द जी और पं० कैलाशचन्द जी को मिला। इसके वाद तो प्रतिवर्ष न्यायतीर्थ निकलते ही रहे। अभी हाल में आपके दो प्रमुख शिष्य पं० भंवरलाल जी न्यायतीर्थ एवं डा० कस्तूरचन्दजी कासलीवाल क्रमश: समाजरत्न एवं इतिहासरत्न की उपाधि से अलंकृत किये जा चुके हैं।

आपके निधन से जो समाज की क्षति हुई है उसकी पूर्ति होना असम्भव है। उनकी शिक्षाओं को यदि हम शतांश में भी अपने जीवन ने उतार सके तो उनकी आत्मा को असीम शन्ति होगी इसमें कोई सन्देह नहीं है।

(शेष पृष्ठ ६७ का)

दिन के अवसर पर उन्हें अभिनन्दन ग्रंथ तथा एक अच्छी राशि भेंट करने का संकल्प किया था। इस सम्मान को प्राप्त करने के लिए पंडितजी जीवित नहीं रह सके। एक ज्ञान का पुंज बुझ गया।

स्पष्टवादिता स्वर्गीय पंडितजी का विशेष गुण था जिसे उन्होंने कभी नहीं त्यागा। जैन दर्शन का शोध सम्बन्धी उनका कार्य अभी चल रहा है। समाज सुधार की जो जागृति जयपुर जैन समाज में आई थी पंडितजी के बिना उसका कार्य अपेक्षाकृत अधूरा रह गया है। उनके देहावसान पर हुई शोक सभाओं में पंडितजी का प्रेरणा योग्य स्मारक वनाने का निश्चय हुआ है। आडम्वरों से सदा ही दूर रहने वाले इस मूक और दृढ़ निश्चयी, समाज सेवी का स्मारक पत्थर का वुत नहीं वन कर जीता जागता विद्या मन्दिर, संस्कृति केन्द्र अथवा सरस्वती का आराधना स्थल वने जहां हर ज्ञान का प्यासा अपनी ज्ञान पिपासा को शांत करने के लिए अनुकूल वातावरण, साधन और सुविधा प्राप्त कर सके तो यह निश्चिय ही पंडित जी के लिए सच्ची श्रद्धांजलि होगी।

वैद्य फूलचन्द जैन

युग निर्माता

पण्डितजी साहब समाज के गतिशील विद्वानों में से एक थे। आप उच्चकोटि के लेखक, कुशल सम्पादक, विचारक, सफल साहित्यकार के साथ साथ निर्भीक वक्ता थे। आपके व्यक्तित्व में एक अनूठी शक्ति थी। आपने अपने तेजस्वी पूर्ण भाषणों से एवं मौलिक लेखों से समाज में व्याप्त अंध विश्वास, कुरूतियों व शिथिलाचारों को दूर करने का भरसक प्रयत्न किया। साथ ही युवकों में नवीन विचारों की क्रांति लाने का भी प्रयास किया।

युवक वर्ग आपकी विद्वता, सादगी से बहुत प्रभावित हुआ और कुछ ही समय में आपका पुजारी बन गया। वर्तमान में जो दिगम्बर जैन संस्कृत कालेज है वह पहिले जैन पाठशाला थी लेकिन इसको कालेज 'महाविद्यालय' बनाने का श्रेय श्रद्धेयवर को ही रहा। यह राजस्थान की शिक्षण संस्थाओं में अपना महत्त्वपूर्ण स्थान रखती है तथा पण्डित साहब की प्राण है जिसे उन्होंने अपनी मेहनत रूपी पसीनों से सींचा है। इसमें जैन दर्शन, साहित्य, संस्कृत, अंग्रेजी की शिक्षा दी जाती हैं। आपके स्नातकों में अनेक न्यायतीर्थ, शास्त्री व आचार्य हैं जो भारत भर में यश प्राप्त कर रहे है।

पण्डितजी साहब की आयुर्वेद में पूर्ण आस्था थी अत: उन्होंने संस्कृत विभाग के साथ आयुर्वेद विभाग की भी स्थापना करवाई जिसके परिणाम स्वरूप अनेक छात्रों ने उनकी छात्रावास में रहकर आयुर्वेद का अध्ययन किया।

बाहर से जितने छात्र छात्रावास में आकर रहते उन सभी को पण्डितजी साहब इस प्रकार रखते थे जैसे कि उनको घर का सुख वहीं मिल पाया हो। वहीं उनका हरा भरा परिवार था जिसे वे सदैव सुखी देखना चाहते थे।

पण्डितजी साहब सर्वगुण सम्पन्न, शास्त्रों के ज्ञाता, निर्भीक वक्ता, कुशल लेखक, समालोचक, निष्पक्ष विचारक, सन्मार्ग प्रदर्शक, सधर्म प्रचारक, सुकवि, विद्वन्रत्न, सज्जनोत्तम, विद्यावारिधी, सच्चे साहित्य सेवी, कुशल अध्यापक, परोपकारी, हितोपदेशी, श्रेष्ठ विचारक, हृदय के उदार एवं निपुण सम्पादक थे।

सामाजिक शक्ति और शोभा के प्रतीक

डा० कपूरचन्द जैन

मैंने उनसे एक प्रसंग में एक प्रश्न पूछा—"आप गांधीवादी विचारों के व्यक्ति है फिर सामाजिक दायरे से ऊपर क्यों नहीं उठते ?" उन्होंने कहा प्रश्न तुम्हारा वजनदार है। गांधीवादी दृष्टि एक अच्छाई का नाम है। जैन धर्म में अपरिग्रहवाद उससे ऊंची और स्थायी व्यवस्था है। यदि मैं गांधीवादी हूं तो इसका यह अर्थ तो नहीं है कि मैं जैन धर्म से हट जाऊं। जैन धर्म गांधीवादी से अधिक व्यापक है जैन धर्म कतई साम्प्रदायिक नहीं है। सच तों यह है कि लोगों ने गलत समझा है। इसीलिए लोग सामाजिक कार्यकर्ता को सीमित दायरे का आदमी मान लेते हैं। मनुष्य को सेवा का काम अपने घर से ही शुरू करना चाहिए। धीरे-धीरे उसका क्षेत्र बढ़ता जाता है फ़िर वही अखिल भारतीय स्तर का कार्यकर्ता हो जाता है। जैन धर्म को सीमित दायरे में रखने की भूल हमें हमेशा दुख देने वाली साबित होगी। मेरी मशा यह है कि जैन धर्म की व्यापक और सर्वाधिक जानकारी के लिए हमारे विद्वानों को अनेक भाषाओं का विद्वान् होना चाहिये तभी वे प्रभावशाली ढंग से धर्म के मर्म को लोगों तक पहुंचा सकते हैं।

मैं अनुभव करता हूं कि पंडितजी की मंशा यदि बहुभाषाविद विद्वानों के सृजन की पूरी होती है तब निश्चय ही जैन धर्म का उत्कर्ष और उसकी व्यापकता बढ़ने में कोई संदेह नहीं है।

विशिष्ट व्यक्तित्व—

वे एक स्नेही पिता, कठोर अनुशासक तथा गरिमामय गुरू के रूप में छात्रों के हृदय में आजीवन प्रतिष्ठित रहे। निःसन्देह पंडितजी के आचार-विचार और व्यवहार से सामाजिक शक्ति में वृद्धि हुई और उनके हर कदम से समाज की शोभा बढ़ी है।

दिशा-बोध—

वैसे तो समूचा देश ही पंडितजी से उपकृत और अनुप्राणित हुआ है। राजस्थान के होते हुए भी उन्होंने सभी प्रान्तों के विद्यार्थियो कों न केवल दिशा-बोध ही दिया है बल्कि उन्हे आर्थिक सुविधाऐं भी जुटाई है। उनके सहयोग का अवलम्ब पाकर कितने ही छात्र आज प्रतिष्ठित जीवन व्यतीत कर रहे हैं।

बुन्देल खंड के सैकड़ो छात्रों को पंडितजी ने जीविका की दृष्टि से स्वावलम्बी बनाने के लिए जैन संस्कृत कालेज, जयपुर में आयुर्वेद विभाग की स्थापना की। विभाग की स्थापना करके ही वे सन्तुष्ट नहीं हुए उन्होंने छात्रों को छात्रवृत्तियां दिये जाने की भी व्यवस्था कराई। इस प्रकार छात्रों के पंडितजी सब कुछ थे। उनके उठ जाने से सम्पूर्ण समाज की महान् क्षति हुई है लेकिन बुन्देल खंड का तो सहारा ही टूट गया है

———

शोधार्थियों के हितैषी

डा. गंगाराम गर्ग

विगत कई वर्षो से महावीर अतिशय क्षेत्र द्वारा संचालित शोध संस्थान जैन साहित्य और संस्कृति के शोध का प्रमुख तीर्थ वना हुआ है । देश के उच्चकोटि के शोधकों ने भी यहां के ग्रन्थों का अवलोकन और आलोड़न किया है । इसकी स्थापना पूज्य पंडितजी की प्रेरणा से ही हुई थी ।

पूज्य पंडितजी भारतीय दर्शन एवं संस्कृति तथा जैन साहित्य के वड़े विद्वान् थे । संस्कृत के अतिरिक्त प्राकृत और अपभ्रंश भाषाओं में भी वे निष्णात थे । अतः शोधार्थियों को उनसे वड़ी मदद रहती थी । उनकी सरलता व सौजन्य को देखकर कोई भी जिज्ञासु अपनी समस्याओं के समाधान में निःसंकोच उनकी विद्वता का लाभ उठाता था । मैं शोधार्थी के रूप में जितनी वार और जव भी पूज्य पंडितजी के पास गया, उन्होंने सदैव रुचिपूर्वक मेरे कार्य को प्राथमिकता दी । शोधार्थी को सवसे वड़ा लाभ उनके प्रति समस्त जैन समाज की असीम श्रद्धा का था । चाहे श्वेताम्वर हो और चाहे दिगम्वर श्रावक, पूज्य पंडितजी का नाम लेने मात्र से उसने मेरी सम्मानपूर्वक यथेष्ट सहायता की ।

पूज्य पंडितजी की इस पुण्यमयी स्मृति के अवसर पर मैं, शोधार्थियों के एक प्रतिनिधि के रूप में उनकी उदाराशयता एवं ज्ञानगरिमा को स्मरण करता हुआ उन्हें भाव-भीनी श्रद्धाञ्जलि समर्पित करता हूं ।

पूज्य पंडितजी सा० के उपकारों का स्मरण करते ही मेरा मस्तक उनके चरणों में झुक जाता है । उन जैसा गुरु पाकर मैं ही नहीं मेरे जैसे सैकडों हजारों शिष्यकृत कृत्य हैं । मै और मेरे भाई सा० (डा० कस्तूर चन्द जी कासलीवाल) वचपन में ही उनके चरणों आये और उनके अंतिम समय तक उनकी छत्रछाया में रहे यह हमारा सौभाग्य है । उन जैसे हितैषी, शुभचिन्तक एवं आदर्श गुरु के चरणों में शत शत वन्दन ।

वैद्य प्रभुदयाल कासलीवाल

विविध गुणों के धनी

श्री घनश्याम गोस्वामी सहायक
निदेशक-संस्कृत शिक्षा, जयपुर ।

राजस्थान की रत्नगर्भा वसुन्धरा ने जहां विश्व प्रसिद्ध शूर वीरों और योद्धाओं को पैदा किया है, वहां उसकी कोख से महान साहित्यकारों कवियों, तन्त्र-मन्त्र शक्तियों, ज्योतिषियों, धर्मोपदेशकों और भक्तों ने जन्म लिया है ।

महाकवि माघ से लेकर स्व० श्री मधुसूदनजी ओझा, श्री गिरधर शर्मा चतुर्वेदी, भट्ट श्री मथुरानाथ शास्त्री तक कई प्रतिभाओं ने इस राजस्थान में देव वाणी के स्वरूप को संवारा और समृद्ध किया है । स्वर्गीय श्री चैनसुखदासजी देववाणी की इसी आराधना परम्परा की एक महत्त्वपूर्ण कड़ी थे । वैयक्तिक सुख-सुविधाओं का परित्याग करके ऋषिवत साहित्य और शास्त्रों की विशाल वारिधी में अवगाहन करने वाली विभूतियां विरली ही होती है । श्री चैनसुखदासजी राजस्थान की ही नहीं अपितु भारत की ऐसी ही विभूतियों में से थे । वे आजीवन संस्कृत साहित्य के अध्ययन, अध्यापन और सृजन में संलग्न रहे । शारीरिक बाधा के बीच भी उन्होंने जो संस्कृत की सेवा की है वह अविस्मरणीय है । अध्यापन एवं धार्मिक उपदेशों के माध्यम से उन्होंने अनेकों व्यक्तियों का निर्माण भी किया । उनकी सृजन शक्ति ने उन्हें अमरत्व प्रदान किया है ।

उन्होंने आजीवन भारतीय संस्कृति की सेवा में निरन्तर रहकर एक अद्भुत आदर्श को देश के समक्ष रखा और मार्ग दर्शन कराया । आपकी व्याख्यान शैली बहुत ही सरल एवं मनोहर थी ।

विविध विषयों के गहन अध्ययन के कारण उनकी अध्यापन शैली में एक समन्वयात्मक प्रवाह था । विद्यार्थी उन्हें आदर्श अध्यापक समझते थे और थे भी । पण्डितजी अपने पास अध्ययन करने वाले प्रत्येक छात्र की मनोदशा एवं बाह्य परिस्थिति से पूर्ण परिचित रहते थे तथा उनकी सहायता के लिए सदा सर्वदा तैयार रहते थे ।

———

TRIBUTE TO PANDIT CHAIN SUKHDASJI

Dr. R. M. KASLIWAL

I have known Pundit Chain Sukh Dasji Nyayatirth for a longtime. My father late Munshi Pyarelalji held Panditji in great esteem and he was particularly impressed by his profound knowledge of Jain Literatur's and Philosophy and other comparative religions.

Panditji was not only a great teacher of Sanskrit and Hindi but was an excellent exponant of Jain Dharam and we all remember how we used to hear his periodic addresses which he used to deliver in Diwanji Ka Mandir.

Panditji was a living example of a selfless and devoted worker and besides his profound knowledge it was this quality that attracted many of us to him. Whenever we found ourselves in difficulty we used to approach him for his advice which was always given freely and frankly He was considered a doyen of Sanskrit and Prakrit literature and held the position of Principal of Jain Sanskrit College, Jaipur with distinction for a great many years. Many a scholars used to come to him for advice from various parts of India and he was guiding a number of students in Research work for either Ph. D. degree or writing of original manuscripts. In fact he himself had written several books in Jain Leterature and his books "Arhat Pravachan" and "Pravachan Prakash" are particularly worth mentioning as these books bear out the salient features of Jain religion so distinctively and clearly.

Besides, being a great scholar and a great teacher Panditji was also a great reformist. He gave a propar lead to many a progressive reforms in the Jain community in Jaipur and by Virtue of his Catholic and progressive views he was not only respected by members of Jain Samaj but by members of other society and religious groups and samaj also.

Panditji's sudden and untimely death after a short-illness has not only left the Jain Samaj of Jaipur leaderless but his absence from amongst us is acutely felt at this Juncture since he was guiding various deleberation and solving various problems of the Jain Society in Jaipur from time to time with his mature advice. He was a great piller of strength of the goodness in Society in general, and I sincerely feel that the void that the has occurred in our society in Jaipur due to his sudden demise will be difficult to fill. However, we hope and pray that let his selfless and dedicated life continue to show us a beem light in this strip riddenselfish and well for a long time to come.

———
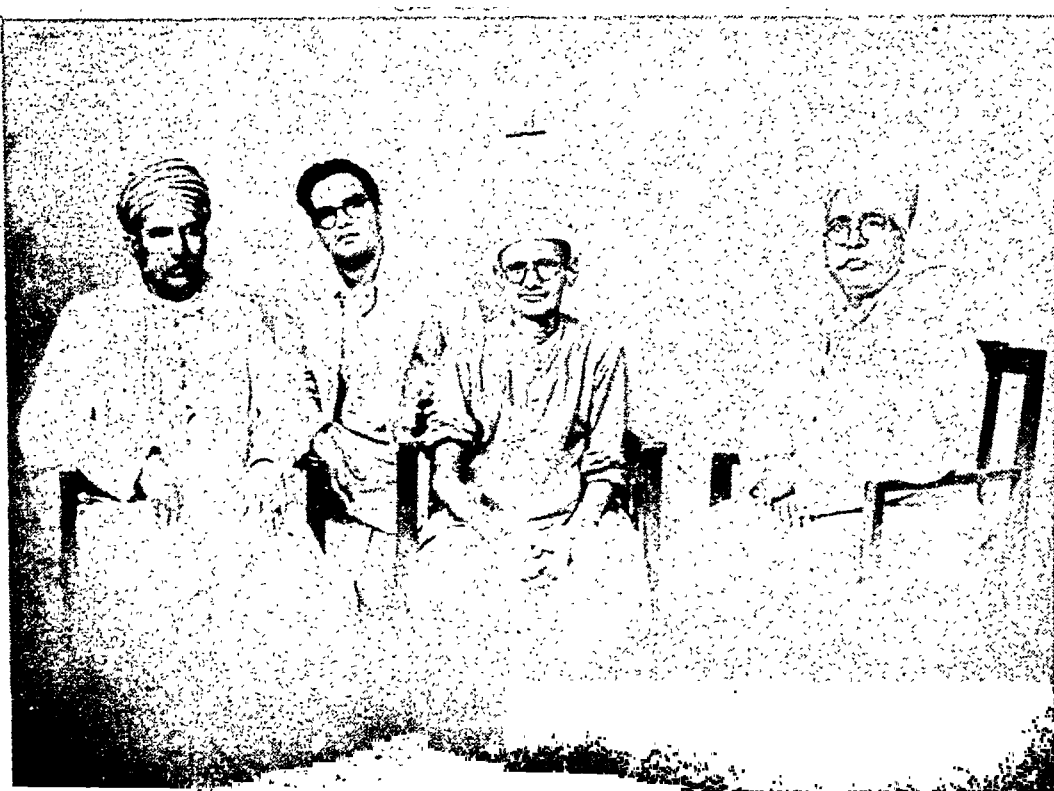
श्री महावीर क्षेत्र कमेटी के मन्त्री स्व. श्री रामचन्द्रजी खिन्दूका एवं स्व. श्री सेठ बधीचन्दजी गंगवाल के साथ पंडित चैनसुखदास जी ↑

पूज्य पंडितजी के अन्तिम दर्शन

खण्ड २

धर्म एवं दर्शन

१
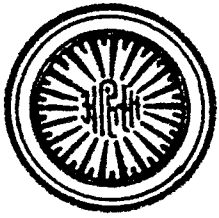
निश्चय और व्यवहार

☐ डा० कमलचन्द सोगाणी, उदयपुर

विश्व के धार्मिक इतिहास में ऐसे अनेकों व्यक्ति हुए हैं जिन्होंने आध्यात्मिक अनुभव को जीवन का चमोत्कर्ष स्वीकार किया है। ऐसे व्यक्ति किसी देश, जाति, समाज आदि के बंधन से बंध हुऐ नहीं है। विभिन्न वातावरण, विभिन्न देशकाल, विभिन्न धर्म सम्प्रदायों में उत्पन्न व्यक्तियों ने एक ही प्रकार के आध्यात्मिक अनुभवों की घोषणा की हैं। इससे प्रतीत होता है कि आध्यात्मिक अनुभव वैज्ञानिक अनुभव की भांति मानव जाति की सम्पत्ति है। इन आध्यात्मिक अनुभव करने वालों को विभिन्न नामों से अभिहित किया गया है। उदाहरणार्थ योगी, सन्त, तीर्थंकर, केवली, बोधिसत्व, सूफी शुद्धोपयोगी, अर्हत्, स्थितप्रज्ञ इत्यादि। सभी योगियों तीर्थंकरों आदि ने उस अनुभव को परामानसिक एवं इन्द्रियातीत घोषित किया है। उसे एक अपूर्व अन्तर्दृष्ट्यात्मक अनुभव कहा गया है। भाषा के द्वारा उसकी अभिव्यक्ति एक समस्या है। मौन के द्वारा ही वह उत्तम रुप से अभिव्यक्त हुआ है। वह अनुभव शान्त एवम् निःशब्द है। पर जब इस अन्तर्दृष्टायत्मक आध्यात्मिक अनुभव की अभिव्यक्ति का प्रयास किया जाता है तो हम तुरन्त मानसिक बुद्ध्यात्मक स्तर पर उतर आते हैं। बुद्धि के द्वारा उसको समझने का प्रयास प्रारम्भ होता है। बुद्धि विश्लेष्णात्मक होती है। वह दृष्टियों के माध्यम से अनुभव को पकड़ना एवं अभिव्यक्त करना चाहती है। वह इस अनुभव को दूसरों के लिये बुद्धिगम्य बना देना चाहती हैं। बौद्धिक स्तर अनुभव को सामाजिक बनाने का प्रयास है। इस प्रयास में अनुभव अपनी मौलिकता खो देता है फिर भी वह एक अर्थ में सामाजिक बन जाता है। बुद्धि प्रत्ययों के माध्यम से कार्य करती है। इस लिए वह आध्यात्मिक अनुभव के खण्ड–खण्ड कर देती है। पर मानव के पास इस अनुभव को दूसरों तक पहुंचाने का बुद्धि और भाषा के अतिरिक्त और कोई माध्यम भी तो नहीं है। अनुभव के सामाजीकरण के लिए बुद्धि और प्रत्यात्मक भाषा एक मात्र शरण है। जैन दर्शन में उस आध्यात्मिक अनुभव को व्यक्त करने के लिये जिस शैली का उपयोग किया गया है उसे हम "नय" शैली कहते है। और जिन नयों का उपयोग किया गया है उन्हें हम निश्चय नय और व्यवहार नय कहते है। पर यह ध्यान रहे कि अनुभव इन दोनों नयों से अतीत है। आचार्य कुन्द–कुन्द ने कहा है: " नय पक्ष से रहित जीव आत्मा का अनुभव करता हुआ दोनों नयों के कथनों को मात्र जानता है। और उन्हें किंचित् मात्र भी ग्रहण नहीं करता (समयसार १४३) इसका अभिप्राय यह है कि आध्यात्मिक अनुभव नयातीत है।

जैन दर्शन की यह नय शैली उसके अनेकान्तवाद का परिणाम है। वस्तु के स्वरुप को कहने के

लिए जैन दार्शनिकों के विभिन्न नयों का उपयोग किया है । उन सब नयों का विभाजन हम दो प्रकार से कर सकते है ।

(१) तथ्यात्मक (२) मूल्यात्मक

द्रव्यार्थिक और पर्यायार्थिक नय तथा इन्हीं के भेद रुपों में नैगम, संग्रह आदि सात नय तथ्यात्मक है । निश्चय और व्यवहार मूल्यात्मक नय है और इनका उपयोग जीव की आध्यात्मिक यात्रा को व्यक्त करने के लिए ही किया जाता है । नयों का यह उपर्युक्त विभाजन ऐसे ही है जैसे जैन दर्शन में सात तत्व और छह द्रव्यों का हैं । सात तत्वों का उद्देश्य मूल्यात्मक है जो जीव की निम्नतम अवस्था से उच्चतम अवस्था की ओर अग्रसर होने के मार्ग को अभिव्यक्त करता है । छह द्रव्यों का वर्णन तात्विक दृष्टिकोण की अभिव्यक्ति है । अर्थात् मनुष्य के सामने जब प्रश्न जीव के विकास का होता है तब दृष्टि मूल्यात्मक होती है और सप्त तत्वों का सहारा ग्रहण करती है । पर जब प्रश्न जगत के अन्तिम तत्वों को समझने का होता है । तो दृष्टि तथ्यात्मक होती है और द्रव्यों के रुप में प्रकट होती है । यहां यह बात ध्यान रखनी चाहिये कि तथ्य और मूल्य का विभाजन वस्तु स्थिति में नहीं होते हुए भी बुद्धि के दृष्टिकोण से अवश्य उपस्थित है ।

उपर्युक्त विवेचन का अभिप्राय यह है कि जैन दर्शन की निश्चय और व्यवहार शैली जीव के विकास का उदघाटन करने वाली मूल्यात्मक शैली है । इस शैली को परिपक्व अवस्था तक पहुंचाने का श्रेय आचार्य कुन्दकुन्द को है । उनके समय-सार, प्रवचनसार, नियमसार आदि ग्रन्थ इस शैली का निरुपण करने वाले अद्वितीय ग्रन्थ है । निश्चय नय जीव के शुद्ध स्वरुप का कथन करने वाली दृष्टि है और व्यवहार नय उसके अशुद्ध स्वरुप का कथन करती है । इसलिए समयसार में कहा गया है कि निश्चय नय भूतार्थ है और व्यवहार नय अभूतार्थ (समयसार–११) । मूल्यात्मक दृष्टि से जीव का शुद्ध स्वरुप ही ग्राह्य है और जीव का अशुद्ध स्वरुप अग्राह्य है । यदि निश्चय नय आत्मापेक्षी है तो व्यवहार नय समाजापेक्षी हैं । दूसरे शब्दों में यह कहा जा सकता है कि राग और द्वेष, शुभ और अशुभ, मान और अपमान, घृणा और प्रेम आदि समाज लक्षी है । दूसरे के अस्तित्व के बिना इन द्वन्दों की अभिव्यक्ति सम्भव नहीं है । इसलिए कहा गया है कि यह सब व्यवहार हैं । आत्मा राग द्वेप रहित है, मान अपमान रहित, है जो ऐसा कहा गया है कि आत्मापेक्षी दृष्टि हैं इसलिए निश्चय नय है । मैं यहां यह प्रश्न उपस्थित नहीं कर रहा हूं कि आत्मापेक्षी समाजापेक्षी नहीं हो सकती है । मेरा मानना यह है कि आत्मापेक्षी दृष्टि वाला ही शुद्ध सामाजिक दृष्टि वाला हो सकता है । इस बात का अधिक विवेचन करना अप्रासंगिक होगा । निश्चय और व्यवहार के संदर्भ में मैं यही कहना चाहता हूं कि आत्मापेक्षी होना निश्चय है और परापेक्षी होना व्यवहार है । परापेक्षी का अर्थ है राग–द्वेष, शुभ–अशुभ तथा शरीर एवं अन्य की दृष्टि वाला होना । उदाहरणार्थ निश्चय नय से जीव रुप, रस गन्ध रहित चेतना गुण वाला, किसी चिन्ह से ग्रहण न होने वाला तथा आकार रहित है (समयसार ४९)। किन्तु व्यवहार नय से जीव रूप, रस गंध वाला, राग द्वेप का कर्ता सुख–दुख का भोक्ता तथा स्वदेह परिमाण वाला है । जीव कर्मों से स्पर्शित है व्यवहार नय की दृष्टि है । किन्तु जीव कर्मों से अस्पर्शित है यह निश्चय नय की दृष्टि है ।

उपर्युक्त विवेचन से यह स्पष्ट होता है कि निश्चय नयी व्याख्या सार्वभौमिक होती है जब कि व्यवहार नयी व्याख्या सीमित और एक देशीय

होती है। जैन दार्शनिकों ने आध्यात्मिक तत्वों की व्याख्या के लिए इन दोनों नयों का उपयोग किया है। सम्यग्दर्शन, सम्यग्ज्ञान, और सम्यक्चारित्र की व्याख्या इन दोनों नयों की शैली पर की गई है। इसी कारण इन तीनों की व्याख्या सर्वदेशीय और एक देशीय बन गई हैं। जैसे सम्यग्दर्शन को लीजिए। निश्चय नय की दृष्टि से आत्मा ही सम्यग्दर्शन है किन्तु व्यवहार नय के दृष्टि से सम्यग्दर्शन की व्याख्या अलग-अलग समयों में अलग अलग कर दी गई है। कभी कहा गया हैं सात तत्वों का श्रद्धान सम्यग्दर्शन है, कभी कहा गया है देव-शास्त्र, गुरू का श्रद्धान सम्यग्दर्शन है। इसी प्रकार निश्चय नय से सम्यक्चारित्र का अभिप्राय है आत्मा में रमण। व्यवहार नय से सम्यक्चारित्र की व्याख्या शुभ-अशुभ भावों पर आश्रित होने के कारण परिवर्तनशील है। शुभ अशुभ भाव पर की अपेक्षा रखते हैं तथा सामाजिक मूल्यों पर उनकी व्याख्या आश्रित होती हैं। सामाजिक मूल्य सार्वकालिक नहीं हो सकते हैं इसलिये व्यवहार नय से सम्यक्चारित्र की व्याख्या भी सार्व कालिक नहीं हो सकती। कभी हमें चारित्र के वाह्य पक्ष को पकड़ना पड़ता है और कभी अन्तं पक्ष को। इसलिये व्यवहार की व्याख्या परिवर्तनशील ही होती हैं। निश्चय नय की दृष्टि से सम्यग्ज्ञान का अर्थ है आत्मज्ञान, किन्तु व्यवहार नय की दृष्टि से परवस्तु का ज्ञान सम्यग्ज्ञान हैं। इस तरह से निश्चय नय परिवर्तनशील व्याख्याओं को स्वीकार न कर अपरिवर्तनशील व्याख्याओं का हामी होती हैं।

इतना सब कुछ होते हुए भी व्यवहार नय निश्चय नय की दृष्टि को हृदयंगम कराने वाला होता है। जिन लोगों को निश्चय नय का कथन बुद्धिगम्य नहीं होता और इस कारण वे उस मार्ग का अनुसरण नहीं कर सकते उनके लिए व्यवहार नय उपयोगी होता है। आचार्य अमृतचन्द्र कहते हैं कि अज्ञानी जीवों को समझाने के लिए व्यवहार नयका उपयोग किया जाता है (पुरुषार्थ सिद्धयुपाय) जैसे किसी व्यक्ति को शुद्धोपयोग की वात समझ में न आए तो उसको शुभ-अशुभ भावों के माध्यम से समझाने का प्रयास किया जाता है। इस प्रकार व्यवहार नय निश्चय नय का निमित्त बन सकता है। लेकिन यदि कोई व्यक्ति व्यवहार नय में ही अटक जाय और उसी को अन्तिम मान ले तो वह व्यवहाराभासी कहलायेगा। ऐसे व्यक्ति धर्म के सार्वभौमिक तत्व के जाने बिना धर्म के बाह्य रुपों से ही सन्तुष्ट हो जाते हैं। वास्तव में देखा जाय तो व्यवहार नय उसी समय व्यवहार नय होता है जिस समय वह निश्चय नय की ओर दृष्टि को मोड़ने वाला बने अन्यथा वह व्यवहाराभास ही हैं। इसी तरह यदि कोई व्यक्ति अपनी वर्तमान स्थिति को विचारे बिना निश्चय नय की दृष्टि से अपने को शुद्ध मान बैठे और शुभ भावों को बन्ध का कारण जानकर हेय कह दे तो वह व्यक्ति निश्चयाभासी होगा। निश्चय दृष्टि को व्यवहार की अपेक्षा है तो व्यवहार दृष्टि को निश्चय की।

ये दोनों नय अध्यात्म के लिये अत्यन्त आवश्यक है क्योंकि मनुष्य आत्मानुभव पर तुरन्त ही छलांग नहीं लगा सकता। वह शनैःशनैः ही उस ओर अग्रसर होता है। ऐसे समय में निश्चय नय उस दिशासूचक यंत्र की भांति होता है जो सही दिशा में चलने की प्रेरणा देता रहता है और व्यवहार नय को अपने ऊपर हावी नहीं होने देता। व्यवहार को निश्चय का अनुगमन करने वाला बनाये रखता है। यदि यह कहा जाय कि निश्चय के बिना व्यवहार अंधा है और व्यवहार के बिना निश्चय कोरा काल्पनिक है तो कोई अत्युक्ति नहीं होगी। मानसिक स्तर पर वे दोनों परस्परापेक्षी हैं। जैसा कहा जा चुका है अनुभव स्तर पर न निश्चय है और न व्यवहार।

हमें यहां यह नहीं भूलना चाहिये कि निश्चय और व्यवहार का वास्तविक अनुभव सम्यग्दृष्टि को ही हो सकता है। सम्यग्दृष्टि आत्माएँ दो तल पर जीती हैं। एक तल पर वे अनन्त की ओर उन्मुख हैं तो दूसरे तल पर उनका सान्त से सम्बन्ध हैं। इन्हें भान हो चुका है कि जिस तल पर वे जी रही हैं वह अन्तिम नहीं है। अतः वे अनन्त में छलांग लगाने के लिये सदैव उद्यत हैं। ये ऐसी आत्माएँ हैं जिनमें अनन्त के प्रति जागरुकता उत्पन्न हो चुकी है। उनके जीवन में अनन्त और सान्त का संघर्ष मूर्तिमान हो उठा हैं। ऐसी आत्माओं के अनन्त और सान्त तल को भी निश्चय और व्यवहार कहा जा सकता हैं। वे जीती है व्यवहार तल पर, उन्मुख हो चुकी हैं निश्चय की ओर। सम्यग्दृष्टि के लिये व्यवहार एक विवशता है क्योंकि आखिर उसे उस तल से उठकर निश्चय तल में जीना ही है। जीवन के इन दो स्तरों का अनुभव केवल सम्यग्दृष्टि को ही हो सकता है। मिथ्यादृष्टि जीव इनका अनुभव नहीं कर सकते क्योंकि उनमें अनन्त के प्रति जागृति का पूर्ण अभाव हैं। इसलिये कुन्दकुन्द ने समयसार में कहा है "सर्व लोक को काम, भोग सम्बन्धी बन्ध की कथा तो सुनने में आ गई, परिचय में आ गई और अनुभव में आ गई, इसलिये सुलभ है, किन्तु आत्मा का भिन्नत्व न तो सुना है, न परिचय में आया है और न अनुभव में आया है, अतः एक मात्र वही सुलभ नहीं हैं""। यह बात आचार्य ने उन जीवों के लिये कही है जो केवल शरीर तल पर ही जी रहे हैं। वे चाहते हैं कि मनुष्य इस तल की सीमाओं को जानकर अनन्त की ओर अग्रसर हो। क्योंकि सिंह को सर्वथा नहीं जानने वाले पुरुष के लिये जैसे बिल्ली सिंह रूप में दिखाई देने लग जाती है, उसी प्रकार निश्चय नय के स्वरुप से अपरिचित पुरुष के लिये व्यवहार ही निश्चय नय के रूप में दिखाई पड़ने लग जाता है।

निश्चय और व्यवहार के इस सैद्धान्तिक विवेचन के पश्चात् अब हमें यह देखना है कि अध्यात्म के मूलभूत पहलुओं का इन दो दृष्टियों से मूल्यांकन कैसे किया जा सकता है। दूसरे शब्दों में यह कहा जा सकता है कि किस प्रकार जीव, पुण्य-पाप, आश्रव, संवर आदि तत्वों का तथा कर्ता–कर्म आदि विषयों को इन दो दृष्टियों से परखा जा सकता हैं? निश्चय दृष्टिकोण से जीव और शरीर कभी भी एक पदार्थ नहीं हो सकते किन्तु व्यवहार नय जीव और शरीर की एकता प्रतिष्ठापित करता है (समयसार २७) इसी प्रकार निश्चय से मैं एक हूँ, शुद्ध हूं, दर्शन–ज्ञान मय हूं, सदा अरूपी हूं, पर द्रव्य किंचित मात्र भी मेरा नहीं है (समयसार-३८) जीव के वर्ण नहीं है, गंध नहीं है, राग और द्वेष भी नहीं है ऐसा कथन करना निश्चय नय है और जीव के ये सभी है ऐसा व्यवहार नय से कहा जाता है (समयसार ५० से ५६) जैसे मार्ग में जाते हुए व्यक्ति को लुटता हुआ देखकर "" यह मार्ग लुटता है"" इस प्रकार लोक में व्यवहार होता हैं किन्तु निश्चय से विचार किया जाय तो मार्ग नहीं लुटता मार्ग में जाता हुआ मनुष्य ही लुटता हैं। इसी प्रकार जीव में शरीर के सम्बन्ध से रूप, रस, गंध का व्यवहार होता है। निश्चय से जीव तो शुद्ध स्वरुप है उसे संसारिक केवल व्यवहार से ही कहा जाता है।

कर्ता–कर्म के सम्बन्ध में भी इन दृष्टियों से विचार किया जा सकता है। यह कहना कि जीव राग–द्वेष पुद्गल कर्मों का कर्ता है और उन्हीं का भोक्ता है, व्यवहार है। निश्चय नय से यह आत्मा अपने शुद्ध भावों का कर्ता और भोक्ता है (समयसार ८३-८४) यदि निश्चय से यह आत्मा पुद्गल कर्म को करे और उसी को भोगे तो यह पर द्रव्य का करने वाला हो जायेगा जो कि युक्ति संगत नहीं है। व्यवहार से यह कहा जाता है कि यह

आत्मा घट, पट, रथ इत्यादि वस्तुओं को और क्रोधादि कर्मों को करने वाला है। यदि इसी को निश्चय से मान लिया जाय तो यह आत्मा पर द्रव्यमयी बन जायेगा। निश्चय दृष्टिकोण से शुभ अशुभ भावों का कर्ता और भोक्ता आत्मा नहीं हो सकता। वह तो केवल शुद्ध भावों का ही कर्ता हो सकता है, क्योंकि उसी से उसकी तन्मयता सम्भव है। अतः कहा जा सकता हैं कि आत्मा अपने को ही कर्ता है और अपने को ही भोक्ता हैं अन्य को नहीं (समयसार ८३) इसका अभिप्राय यह नहीं है कि राग-द्वेष आदि परिणामों का उत्तरदायित्व जीव पर न हो। जीव अनादि काल से कर्मों से बंधा हुआ हैं, इसलिये कर्मों का निमित्त पाकर राग-द्वेषादि परिणाम जीवों के होते हैं इस बात से इन्कार नहीं किया जा सकता। बात यह है कि जिस भूमिका में जीव होता है उस संबंधी भावों का कर्ता व भोक्ता होता है। कहा हैं अज्ञानी के भाव ज्ञानमय होते हैं (समयसार१३०,१३१)।

निश्चय और व्यवहार दृष्टि से पुण्य और पाप पर भी विचार किया जा सकता हैं। संक्षेप में कहा जा सकता है कि अहिंसा आदि व्रतों का धारण करना पुण्य है तथा क्रोध, मान माया लोभादि कषायों के वशीभूत होकर नाना प्रकार के हिंसादि कुकर्म करना पाप है। इन्हीं को शुभ-अशुभ कर्म भी क्रमशः कहा जाता है। चारित्र के क्षेत्र में अशुभ तो त्याज्य है ही। उसके लिये तो कोई स्थान है ही नहीं। पर शुभ ग्रहण करने योग्य हैं। अध्यात्म में प्रश्न यह है कि क्या निश्चय दृष्टिकोण से शुभ को ग्राह्य कहा जाय? जब यह प्रश्न उठता है तो आचार्य कुन्दकुन्द कहते हैं कि पुण्य भी एक सोने की बेड़ी है (समयसार १४६) इसका अभिप्राय यह नहीं समझना चाहिये कि शुभ कर्म जीवन में पूर्णतया हेय है। जब तक मनुष्य आत्मानुभव की भूमिका पर अवस्थित नहीं होता तब तक शुभ कर्म उपादेय हैं। उस भूमिका को प्राप्त करने के पहिले ही यदि शुभ कर्मों को हेय मान लिया जायगा तो व्यक्ति अशुभ से बचने के लिये किसका सहारा लेगा। इससे यह भी नहीं समझ लेना चाहिए कि वह शुभ करते करते शुद्ध को प्राप्त हो जायगा। शुद्ध भावों की प्राप्ति तो शुद्ध भावों से ही होती है शुभ से नहीं। दूसरे शब्दों में, निर्विकल्प अवस्था की प्राप्ति सविकल्प अवस्था से नहीं हो सकती। सम्भवतया इसी बात को ध्यान में रखकर आचार्य कुन्द-कुन्द ने कहा "प्रतिक्रमण, निन्दा आदि विष-कुंभ है" (समयसार ३०६) यदि इस बात को सुन कर कोई आत्मा बिना शुद्ध में स्थित हुए शुभ को छोड़ दे तो ध्यान रहे वह आत्मा अशुभ में चला जायगा। इसलिये सामान्य जीवों के लिये शुभ ही एक मात्र सहारा है। जहां-जहां शुभ को व्यवहार कह कर त्याज्य कहा गया है वहां वहां निश्चय की अपेक्षा ही ऐसा है।

जैन दर्शन में निश्चय और व्यवहार के इस विवेचन के पश्चात् हमें यह देखना है कि अद्वैत वेदान्त के परमार्थ और व्यवहार का इससे क्या भेद है। अद्वैत वेदान्त के अनुसार ब्रह्म ही परमार्थ रूप से सत्य है, भौतिक तत्त्व व्यवहारिक रूप से सत्य है। इस तरह यहां सत्ता के परमार्थ और व्यवहार रूप से भेद है। जैनों का व्यवहार नय वस्तुओ की सत्ता को नहीं छूता है। वह तो केवल आत्मा के पतन की ओर संकेत करता है और निश्चय नय उच्चतम अवस्था तक पहुंचने की ओर प्रेरित करता हैं। जैन दर्शन में सत्ता के विभाग पारमार्थिक और व्यावहारिक रूप से नहीं किये गये हैं। इस तरह से जैन दर्शन के निश्चय और व्यवहार वैसे नहीं है जैसे अद्वैत वेदान्त के परमार्थ और व्यवहार। दोनों में मौलिक भेद है।

●●●

तन नहीं जिस प्रकार धर्म चिरंतन है। वे सर्व व्यापी भी नहीं कि सब जगह धर्म का उपदेश दे सकते। फिर विभिन्न सर्वज्ञ पुरुषों के परस्पर धर्मोपदेश में वैभिन्य होता है। किन्तु इन आलोचनाओं में बहुत दम नहीं। भले ही सर्वज्ञ पुरुष सब दिन सब जगह न रहते हों लेकिन इनके उपदेश तो सब दिन एवं सब जगह दिशा दर्शन के लिये रहते हैं। फिर यदि सर्वज्ञ पुरुषों के उपदेशों में वैभिन्न है तो यह वैभिन्य तो अपौरुषेय, नित्य एवं चिरंतन माने जाने वाले वेदों में भी है।

यह कहना कि अर्हत् इसलिये सर्वज्ञ नहीं हो सकता क्योंकि वह वक्ता है और वक्तृत्व राग-द्वेष का परिणाम है और जहां राग-द्वेष है वहीं सर्वज्ञता असम्भव है। लेकिन यह आरोप तो वेदों के संबंध में भी लागू हो सकता है। वेद भले ही नित्य हैं और वे वक्ता नहीं हैं, लेकिन वेदों के भी तो भाष्य-कार है, जिनमें राग-द्वेष का समावेश स्वाभाविक है। इसी प्रकार अन्य भी कहीं आरोप मीमांसकों के द्वारा सर्वज्ञता के सम्बन्ध किये गये हैं।

सर्वज्ञता कालक्रम से जैन-दर्शन का मूल बिन्दु बन गया क्योंकि उनके यहां कर्त्ता धर्त्ता है तो तथा सर्वज्ञ, सर्वशक्तिमान, सर्वव्यापी परमेश्वर का अस्तित्व नहीं माना जाता है तो फिर उस प्रकार की उदात्त कल्पना से वे वंचित हो जाते हैं। धर्म केवल तत्वज्ञान एवं तर्क का ही विषय नहीं यह तो हमारी आस्था और विश्वास का भी विषय है। हमें एक ऐसे उपास्यदेव की आवश्यकता होती है जो हमें असुरक्षा से सुरक्षा में ले जाय, कष्ट में सांत्वना दें एवं वह इतना भव्य, महान हो कि जिसके सहारे हम जी सके। जैन दर्शन से अर्हन् की प्राय; ऐसी ही भव्य एवं उदात्त कल्पना की गई है जिसमें ईश्वर की भांति कर्तव्य आदि भले न हो लेकिन उसमें अनन्तज्ञान (सर्वज्ञता), अनन्तवीर्य (सर्व शक्तिमानता) एवं अनन्तसुख (आनन्दमयता) आदि दिव्य गुण विद्यमान हैं। इस प्रकार वीतराग अर्हत् की कल्पना में ईश्वर के अभाव की क्षतिपूर्ति हो जाती है। लेकिन विश्वास की चुनौती भले नहीं दी जाय किन्तु जब सिद्धान्त रूप में कोई तत्व प्रतिपादित होता है तो फिर शास्त्रकारों के लिए यह एक चुनौती उपस्थित कर ही देता है। यही कारण है कि सर्वज्ञता के पक्ष एवं विरोध में शास्त्रीय प्रमाणों का एक क्रमबद्ध सिलसिला है। मीमांसक दार्शनिक षट प्रमाणों के आधार पर सर्वज्ञता सिद्धि का प्रत्याख्यान करते हैं, जिनका जैन दार्शनिक उसी शक्ति से प्रतिवाद करते हैं। कुछ उदाहरण नीचे उपस्थित किये जाते हैं :—

(क) सर्वज्ञ सिद्धि के लिये प्रत्यक्ष प्रमाण की समीक्षा

इन्द्रिय-प्रत्यक्षता वर्तमान काल में इन्द्रिय-वस्तु के सन्निकर्ष से उत्पन्न होता है। अतः इन्द्रिय-प्रत्यक्ष द्वारा सर्वज्ञता का ज्ञान सम्भव नहीं है। किन्तु जैन दार्शनिक तर्क उपस्थित करते हुए पूछते हैं कि इन्द्रिय प्रत्यक्ष क्या किसी एक व्यक्ति और किसी एक स्थान काल के विषय में सर्वज्ञता का निषेध करता है या सभी व्यक्तियों के सभी स्थानों एवं सभी कालों के विषय में यदि मीमांसक पहला विकल्प मानकर शंका करते हैं तो इसमें जैनों को कोई आपत्ति नहीं लेकिन यदि दूसरा विकल्प मान्य हो तो सर्वज्ञता स्वतः सिद्ध हो जाती है। क्योंकि जो सभी जगहों, सभी कालों में सभी व्यक्तियों के विषयों में सर्वज्ञता के निबन्ध का प्रतिपादन करते हैं, वे तो स्वयं सर्वज्ञ है क्योंकि कोई असर्वज्ञ यह नहीं कह सकता है कि सभी असर्वज्ञ है। यदि कोई अपने अनुभव के आधार पर सर्वज्ञता का निषेध करता है तो यह गलत है क्योंकि जिन वस्तुओं का हम अनुभव नहीं भी करते हैं उनका अस्तित्व रहता

ही है। यदि सर्वों की अनुभूतियों के आधार पर सर्वज्ञता का प्रत्याख्यान किया जाता है तो फिर सर्वज्ञता परोक्ष रूप से सिद्ध हो जाती है क्योंकि जो यह जानता है कि किसी की अनुभूति में सर्वज्ञता नहीं है, वह स्वयं सर्वज्ञ है। वास्तव में इन्द्रिय प्रत्यक्ष एवं अर्हत् प्रत्यक्ष में भेद होता है। इन्द्रिय प्रत्यक्ष में इन्द्रिय वस्तु सन्निकर्ष अपेक्षित है, जब कि अर्हत् प्रत्यक्ष में आत्मा विना इन्द्रिय सन्निकर्ष के वस्तु तत्व को जानता है।

(ख) अनुमान-प्रमाण की समीक्षा

मीमांसकों के अनुसार अनुमान से सर्वज्ञ सिद्धि सम्भव नहीं है क्योंकि अनुमान के लिये साध्य एवं हेतु के बीच व्याप्ति सम्बन्ध आवश्यक है जो सर्वज्ञ के सम्बन्ध में सम्भव नहीं। यदि मान भी लिया जाय कि व्याप्ति सम्बन्ध सम्भव है तो यह या तो **अनुपलम्भ या कार्यकारण अविनाभाव** या स्वभाव सम्बन्ध के आधार पर माना जायगा। अनुपलम्भ मानने से काम नहीं चलेगा क्योंकि हेतु एवं साध्य के बीच भावात्मक सम्बन्ध चाहिये। फिर इसमें कार्यकारण सम्बन्ध भी सम्भव नही क्योंकि कार्य-कारण सम्बन्ध सर्वदा पूर्वानुभूति पर आश्रित रहता है किन्तु सर्वज्ञ का कोई भी पूर्वानुभव नहीं होगा। तीसरा विकल्प यानि स्वरूप सम्बन्ध की तो बात ही नहीं हो सकती क्योंकि जब सर्वज्ञ ही अनुभव से परे है तो फिर उसका स्वरूप भी अनुभव-ग्रस्त नहीं हो सकता।

फिर यह व्याप्ति सम्बन्ध या तो प्रत्यक्षाधारित माना जा सकता है या अनुमानाधारित। प्रत्यक्ष के आधार पर तो व्याप्ति सम्बन्ध का ज्ञान सम्भव ही नहीं क्योंकि हम सर्वों का प्रत्यक्ष कर नहीं सकते। फिर अनुमान के आधार पर यदि व्याप्ति सम्बन्ध की स्थापना की जाय तो यह भी गलत है, क्योंकि इसमें आत्मा-श्रयदोष होगा। सर्वज्ञ सिद्धि के लिये यदि हम भाव धर्म हेतु उपस्थित करते हैं तो फिर असिद्ध दोष लगता है क्योंकि जब तक किसी की सिद्धि नहीं होती तो फिर भाव धर्म हेतु कैसे संभव है? उसी प्रकार यदि हम अभाव धर्म हेतु देते हैं तो इससे विरुद्ध दोष होता है क्योंकि सर्वज्ञसिद्धि के बदले सर्वज्ञ असिद्धि को ही हेतु मान लिया जाता है। यदि उभय धर्म हेतु मान लिया जाय तो फिर अनेकांतिक दोष होगा क्योंकि उभय धर्म हेतु में भावात्मक एवं अभावात्मक दोनों प्रकार के हेतु होंगे।

मीमांसक एक और प्रश्न उठाते हैं कि सर्वज्ञ कोई व्यक्ति विशेष है या फिर सर्व सामान्य सर्वज्ञ। यदि उसे कोई व्यक्ति विशेष माना जाय तो चूंकि हम पक्ष या विपक्ष का कोई दृष्टान्त नहीं दे सकते, अतः हेतु असाधारण अनेकांतिक से प्रभावित होगा। किन्तु यदि उसे हम सर्व सामान्य सर्वज्ञ मानते हैं, तो फिर अर्हत प्रणीत आगम सिद्ध नहीं होगा।

जैन दार्शनिक समन्तभद्र की सर्वज्ञ-सिद्धि की युक्ति है कि जिस प्रकार सूक्ष्म दूरवर्ती आदि का प्रत्यक्ष ज्ञान किसी न किसी को होता ही है उसी प्रकार सर्वज्ञ भी किसी के प्रत्यक्ष का विषय है। किन्तु मीमांसक इसके प्रत्याख्यान क्रम के प्रश्न उठाते हैं कि क्या सर्वज्ञ किसी एक या अनेक के प्रत्यक्ष का विषय है? यदि प्रथम विकल्प को मानें तो विरुद्ध दोष होगा क्योंकि सूक्ष्म, अन्तरित एवं दूर की वस्तुएँ प्रत्यक्ष के विषय नहीं हो सकते हैं। यदि दूसरा विकल्प मानें तो उसमें कठिनाई कोई नहीं होगी। छह प्रमाणों के माध्यम से यदि व्यक्ति सभी चीजों का ज्ञान प्राप्त करता है तो फिर इसमें किस का विरोध हो सकता है? इन्हीं कठिनाइयों के कारण जैन दार्शनिक सर्वज्ञ सिद्धि में 'तपत्व', प्रमेयत्व,' एवं 'अस्तित्व' हेतु का प्रयोग करते हैं। इस पर भी मीमांसकों को आपत्ति है क्योंकि उसमें भी असिद्ध

जैन दर्शन में सर्वज्ञ सिद्धि

☐ डा० रामजीसिंह, भागलपुर

जैन दर्शन में सर्वज्ञता जीव का वास्तविक स्वभाव भी है और उसका परम आदर्श भी। स्वाभाविक स्थिति में जीव "अनन्त–चतुष्टय" को प्राप्त रहता है, इसलिये अनन्त वीर्य एवं अनन्त सुख के साथ–साथ अनन्त दर्शन एवं अनन्त ज्ञान युक्त भी होता है। कषायों के कारण कर्मों के अनुरूप जब पुद्गल जीव में जमा होते हैं, तभी वह बन्धन में पड़ता है। आत्मा सूर्य की तरह भास्वरता रहता है, यों जब धूल–कण या वाष्पकण उसे आभृत कर लेते हैं तो फिर उसकी भास्वरता ढ़क जाती है। इसीलिये जब "संवर एवं निर्जरा" के बाद मोक्ष की स्थिति आती है तो जीव पूर्ववत् अनन्त चतुष्टय को प्राप्त होता है। अत: मोक्ष की स्थिति कोई 'अप्राप्त' स्थिति नहीं मानी जानी चाहिये। यह तो वही स्थिति है जो वास्तव में जीव का स्वभाव है। वस्तुतः जिसमें जो तत्त्व अन्तर्निहित नहीं होता है, उससे वह निष्पन्न भी तो नहीं हो सकता।

यह ठीक है कि मीमांसक सर्वज्ञता के स्वरूप के विषय में ही कुछ गम्भीर शंकायें उपस्थित करते हैं। जिनका संक्षिप्त विवेचन भी आवश्यक है। मीमांसक यह प्रश्न उठाते हैं कि आखिर सर्वज्ञता का क्या अर्थ है– सर्व विषयों का ज्ञान या केवल संसार के महत्वपूर्ण एवं आवश्यक वस्तुओं का ज्ञान। जैन विचारक दूसरा विकल्प इसलिये स्वीकार नहीं कर सकते कि जब तक "सभी" वस्तुओं का ज्ञान नहीं होगा तो "सार" एवं "निःस्सार" का भेद नहीं किया जायगा। फिर जैन विचारक यह मानते हैं कि संसार की सभी वस्तुओं का एक दूसरे से अविभाज्य सम्बन्ध है। इसीलिये **आचारांग सुत्त** में कहा गया है–जे **एगं जाणइ ते सर्वं जानई**। यही कारण है कि अनन्त प्रहारों के बावजूद भी जैन दार्शनिक न तो केवल मीमांसकों की तरह "धर्मज्ञता" को और न बौद्धों की तरह हेय और उपादेय–ज्ञान को ही" सर्वज्ञता मानते हैं। यशोविजय के अनुसार सर्वज्ञता के दो मुख्य लक्षण हैं—**"सर्व-विषयता" एवं साक्षात्कारित्व।** मीमांसक भी सर्व विषयता को स्वीकार करते हैं किन्तु केवल 'धर्म–ज्ञान' के सम्बन्ध में, उसी प्रकार 'साक्षात कारित्व' को भी मानते हैं लेकिन 'असर्व विषयक ज्ञान' के संदर्भ में। वस्तुत: यह सर्व विषयता को तोड़–मरोड़ कर रखने का प्रयास है। 'सर्व विषयता' सर्व विषयता है, सर्व विषयता को किसी विषय या वस्तु का सार ज्ञान नहीं माना जा सकता।

मीमांसकों का यह आरोप कि सर्व विषयता में केवल सभी वस्तुओं का ही ज्ञान होता है लेकिन उसमें वस्तु के गुणों एवं पर्यायों का ज्ञान सम्मिलित नहीं है। इस संदर्भ में जैनों की ओर से इतना ही कहना पर्याप्त होगा कि गुण एवं पर्याय से स्वतंत्र द्रव्य की स्थिति एवं अवस्थिति नहीं है। इसलिये

द्रव्य को जान लेने का अर्थ ही है कि उसके सभी गुणों एवं पर्यायों को भी जान लें।

मीमांसकों का प्रहार इतने पर भी बन्द नहीं होता और वे पूछते हैं कि यदि सर्वज्ञता का अर्थ सभी स्थानों, सभी कालों में सभी द्रव्यों के सभी गुणों एवं पर्यायों का ज्ञान प्राप्त करना है तो फिर भी यह पूछा जा सकता है कि ऐसा ज्ञान क्रमिक है या युगपत्। यदि क्रमिक मान लें तो फिर अनन्त वस्तु एवं अनन्त धर्म का ज्ञान कभी पूर्ण नहीं होगा। जैन दार्शनिक इस कठिनाई को पहले से समझ कर सर्वज्ञता को युगपत् ज्ञान मानते हैं। लेकिन युगपत् मान लेने पर भी प्रश्न रह भी जाता है कि ऐसा ज्ञान एक ज्ञान के द्वारा होता है या अनेक के द्वारा। मन्द एक ही ज्ञान है तो फिर विरोधी तत्वों का परिज्ञान एक साथ ही सम्भव नहीं।

लेकिन यह तो गलत है क्योंकि हम एक ही अनुभूति से एक वस्तु के अन्तर्गत अच्छाई और बुराई दोनों का ज्ञान प्राप्त करते हैं। एक साथ हम एक ही वस्त्र के लाल, पीले, हरे, काले रंग को तो देखते ही हैं।

सर्वज्ञता पर यह आरोप लगाते हुए अक्सर मीमांसक दार्शनिक यह प्रश्न उपस्थित करते हैं कि सर्वज्ञ किसी अतीत या अनागत वस्तु को उसी रूप में देखता होगा या वर्तमान में। यदि रूप में देखता है तो यह एक भ्रमजाल है, किन्तु यदि उसे वर्तमान में दीखता है तो फिर उसका स्वरूप परिवर्तन हो जाता है। अतः दोनों अर्थों में सर्वज्ञता असम्भव है, किन्तु जैन तो इसका सीधा उत्तर यही देते हैं कि अतीत ,अनागत को वर्तमान रूप में नहीं बल्कि उस रूप में देखते हैं, इसमें कोई भ्रम का प्रश्न नहीं। फिर अतीत एवं अनागत का भी तो अपना अस्तित्व है ही।

एक छोटी सी आपत्ति यह भी उठायी जाती है कि यदि सर्वज्ञ सभी वस्तुओं का ज्ञान एक क्षण में ही प्राप्त नहीं करेगा और वह अचेतन जैसा रहेगा। लेकिन आरोप लगाने वाले भूल जाते हैं कि न तो सर्वज्ञ की अनुभूति और न संसार नष्ट होता है अतः प्रत्येक नया क्षण भी अनुभूति का विषय होता है। यह ठीक है कि किसी वस्तु का प्रागभाव एवं प्रध्वंसाभाव दोनों साथ-साथ सम्भव नहीं है, जैसे कि किसी व्यक्ति का जन्म एवं मृत्यु दोनों एक साथ सम्भव नहीं है लेकिन विभिन्न संयमों में एक ही व्यक्ति का जन्म एवं मृत्युको हम रोज देखते हैं।

मीमांसकों की ओर से एक और प्रभाव आरोप है कि यदि सर्वज्ञ सभी वस्तुओं की अनुभूति करता है तो फिर उसे गर्हित से गर्हित वस्तुओं का भी अनुभव करना होगा, साथ-साथ राग-द्वेष आदि से भी वह प्रभावित होगा। फिर वह पूर्ण पुरुष या वीतराग नहीं रह पायेगा। किन्तु इसका उत्तर यह होगा कि राग-द्वेष आदि के ज्ञान से राग-द्वेष नहीं होता, जिस प्रकार जहर देख लेने मात्र से किसी की मृत्यु नहीं हो जाती है। किसी वस्तु का ज्ञान होना एक बात हैं एवं उसकी सक्रिय अनुभूति अलग बात है।

मीमांसक लोग सर्वज्ञता-प्रत्याख्यान का एक प्रबल आधार धर्मज्ञता को मानते हैं। उनका कहना है कि अर्थतः सर्वज्ञ नहीं हो सकते क्योंकि वहां धर्म का वक्ता और उपदेशक हैं और धर्म तो एक नित्य, चिरंतन एवं सर्व व्यापी तत्व है। यदि महावीर, बुद्ध जैसे किसी व्यक्ति को धर्मज्ञ मान लें तो कई तरह की कठिनाइयां आ जायेंगी। पहली बात तो व्यक्ति चिरं

एवं अनैकांतिक दोप है। लेकिन जैन दार्शनिक इसको नहीं मानते। उनके अनुसार अनुमान के आधार पर सर्वज्ञाभाव सिद्ध नहीं किया जा सकता। सर्व प्रथम सर्वज्ञाभाव स्वसम्बन्धी प्रत्यक्षपर नहीं सिद्ध हो सकता है। क्या पता है कि किसी दूसरे को सर्वज्ञ के अस्तित्व का ज्ञान हो। यदि कोई व्यक्ति स्वयं सभी मनुष्यों की प्रकृति को जानता है कि वह सर्वज्ञ है या नहीं तो फिर ऐसा जानने वाला व्यक्ति भी सर्वज्ञ है। वास्तव में अनुपलब्ध वस्तु का प्रत्यक्ष नहीं होता है, जो होता है उपलब्ध का। अतः सर्वज्ञ की अनुपलब्धि सर्वज्ञ का न तो कारण हो सकता है, न कार्य और न व्यापक। अतः स्वसम्बन्धी प्रत्यक्ष विरुद्ध प्रमाण के आधार पर भी सर्वज्ञाभाव इसलिये सिद्ध नहीं किया जा सकता है क्योकि विरुद्ध प्रमाण के **साक्षात् एवं परम्परा** दोनों ही प्रकार इसमें लागू नही हो सकते। साक्षात् विरुद्ध से सर्वज्ञाभाव या तो किसी एक स्थान, समय में सिद्ध हो सकता है या सभी स्थानों एवं सभी कालों में। यदि प्रथम विकल्प माना जाय, तो सर्वज्ञाभाव सिद्ध नही होता किन्तु यदि दूसरा विकल्प माना जाय तो फिर ऐसा कथन ही क्रम से सर्वज्ञता सिद्ध करता है।

(ग) अर्थापत्ति के आधार पर सर्वज्ञसिद्धि

जो अर्थापत्ति के आधार पर सर्वज्ञ सिद्धि करने का प्रयास करते हैं उनके अनुसार सर्वज्ञ के अस्तित्व को स्वीकार करना इसलिये जरूरी है कि विना सर्वज्ञ के उपदेश सही नही माना जा सकता। किंतु मीमांसकों की आलोचना यह है कि उपदेश तो स्वप्न, विभ्रम या वेद के द्वारा भी सम्भव है। इस पर जैनों का कहना है कि इस प्रकार अर्थापत्ति से सर्वज्ञाभाव की सिद्धि नहीं हो सकती है क्योंकि साध्य एवं हेतु के बीच अविनाभाव सम्बन्ध नहीं है।

(घ) उपमान के आधार पर सर्वज्ञसिद्धि

चूंकि सर्वज्ञ के सदृश हमें किसी अन्य व्यक्ति का दर्शन नही होता है और सादृश्यमान के आधार पर ही उपमान प्रमाण चलता है, अतः उपमान के आधार पर सर्वज्ञ सिद्धि सम्भव नहीं। लेकिन मीमांसकों के उपर्युक्त तर्क को उलट कर कहते हैं। चूंकि सर्वज्ञाभाव की तरह किसी का अस्तित्व हमें नहीं दिखता, अतः सादृश्यज्ञान के आधार पर सर्वज्ञाभाव की सिद्धि नहीं हो सकती।

(च) आगम के आधार पर सिद्धि

मीमांसकों के अनुसार आगम के आधार पर सर्वज्ञ सिद्धि आत्मा-श्रय दोष उत्पन्न करेगा क्योंकि आगम प्रामाणिकता किसी सर्वज्ञ पर निर्भर है और सर्वज्ञ की प्रामामिकता आगम पर है। आगम नित्य एव अनित्य है। नित्य आगम अर्थात् वेद में किसी सर्वज्ञ प्रणीत है या असर्वज्ञ प्रणीत। प्रथम विकल्प में अन्योन्याश्रय दोष होगा एवं दूसरे विकल्प में आगम की प्रामाणिकता खंडित हो जायगी।

जैन दार्शनिकों का कहना है कि सर्वज्ञाभाव सिद्ध करने वाले आगम हैं या तो पौरुषेय है, पर अपौरुषेय। पौरुषेय आगम या तो सर्वज्ञ प्रणीत है या असर्वज्ञ प्रणीत। यदि प्रथम विकल्प माना जाय तो आत्माश्रय दोप होगा, यदि द्वितीय विकल्प माना जाय तो फिर आगम ही आप्तवचन एवं

प्रमाण नहीं रहेंगे। किन्तु यदि आगम अपौरुषेय मान लिए जाएं और उनका यह कथन सर्वज्ञाभाव सभी स्थानों एवं सभी कालों में सिद्ध है, स्वयं आत्म विरोधी हो जायगा।

(छ) अनुपलब्धि (अभाव) के आधार पर सर्वज्ञसिद्धि

अभाव प्रमाण में सर्वज्ञाभाव की सिद्धि सम्भव नहीं। अभाव के दो भेद हैं–असत्त–प्रतिषेध और पर्युदास। यदि प्रथम विल्कप स्वीकार किया जाय तो सर्वज्ञाभाव आत्यन्तिक रूप से सिद्ध हो जाने पर वेद की सर्वज्ञता खंडित होगी जो मीमांसक स्वीकार कर सकते। किन्तु यदि दूसरा विकल्प माना जाय तो सर्वज्ञाभाव की सिद्धि से सर्वज्ञसिद्धि हो जायगी क्योंकि पर्युदास अभाव में यदि एक विकल्प को अस्वीकार किया जाय तो दूसरे का स्वीकार करना ही होगा।

इन शास्त्रीय प्रमाणो के अतिरिक्त भी सर्वज्ञ सिद्धि के लिए कई स्वतन्त्र प्रमाण दिये गये हैं जिनका नीचे विवेचन होगा :—

(क) आत्मा का सचेतनता सम्बन्धी प्रमाण

जैन दर्शन जीव की चेतना को पर्याप्त मानता है। चेतना ही जीव का लक्षण है। चेतना लक्षणो जीवः। जीव का स्वभाव ही है, जानना। अतः यदि उसको किसी प्रकार का व्यवधान नहीं होगा तो वह सर्वज्ञ होगा ही। वीरसेन और विद्यानन्द ने ही समन्तभद्र द्वारा प्रस्तुत अग्नि सम्वन्धी उपमा का प्रयोग कर इसको स्पष्ट किया है। जिस प्रकार अग्नि का स्वभाव ही है जलाना और वह वस्तुओं को जलाती है यदि कोई व्यवधान नहीं रहता है, उसी प्रकार जीव का स्वभाव है जानना और वह भी व्यवधान के विना सभी वस्तुओं को जानता है। निषेधात्मक रूप से भी एक उपमा दी गई है, जिस प्रकार कोई हीरा जब तक धूल में लिपटा रहता है तब तक नहीं चमकता है। ठीक उसी प्रकार जब तक जीव ज्ञानावरणीय आदि कर्मों के कारण आच्छादित रहता है तो वह सभी चीजों को नहीं जानता है। अकलंक ने इस युक्तिवाद का आधार दर्शन समझाते हुए लिखा है कि जीव में सर्वाथ–ग्रहण सामर्थ्य है अतः जैसे ही व्यवधान दूर होता है जीव सर्वज्ञ की तरह सबों को जानने लग जाते हैं। इसलिए कर्म–पुदगलों का सम्पूर्ण विनाश करने के लिए समन्तभद्र ने तपश्चर्या विधान बनाया है।

(ख) अनुमेयत्व सम्बन्धी युक्तिः-

मीमांसकों ने केवल वेद को धर्मज्ञ माना और किसी को नहीं। इस प्रकार अनुमेयत्व को धर्मज्ञता के क्षेत्र से निष्कासित कर दिया। किन्तु समन्तभद्र शबर स्वामी के इस तक को नहीं मानते। उनका कहना है कि जिस प्रकार अराग जैसा अदृश्य अतीत एवं दूरवर्त्तीय वस्तुओं का ज्ञान भी किसी के प्रत्यक्ष के विषय हैं जो इन्द्रिय प्रत्यक्ष के आधार पर सम्भव नहीं है। इस प्रकार यह सिद्ध होता है कि अतीन्द्रिय ज्ञान भी सम्भव हैं। यद्यपि कुमारिल ने यह दिखाने का प्रयास किया है कि कोई भी प्रमाण सर्वज्ञसिद्ध कर सकने में समर्थ नहीं है। इसीलिये अकलक के अनुमेयत्व के वदले प्रमेयत्व हेतु का व्यवहार किया है। इस तरह हम कह सकते है कि ऐसी कोई वस्तु नहीं जो किसी ज्ञाता के ज्ञान का विषय नहीं है। अतः ऐसा भी कोई व्यक्ति हो सकता है जिसके ज्ञान का विषय समस्त वस्तु हो और यही सर्वज्ञता है।

(ग) ज्ञान के उत्तरोत्तर विकास-क्रम सम्बंधी युक्तिः

ज्ञान एक विकास क्रम है और सर्वज्ञता उसकी चरम पराकाष्ठा है हम देखते हैं कि किसी को कम किसी को अधिक ज्ञान है। इससे हम यह अनुमान लगा सकते है कि ज्ञान का विकास होते होते क्रम से वह सर्वज्ञता तक पहुंचेगा। इसीलिये आत्मा के अनन्त चतुष्टय मानकर उसे अनन्तज्ञान संयुक्त माना गया है जीव में स्वभाव की सर्व ज्ञता निहित है, यों व्यवधान के कारण वह अल्पज्ञ रहता है। किन्तु मीमासकों ने इसका प्रत्याख्यान करते हुए यह कहा हैं कि यदि सर्वज्ञता ज्ञान की चरम सीमा मान ली जाय तो वह तो इन्द्रिय ज्ञान की ही अपनी सीमायें हैं जैसे यदि हम ८-१० फीट ऊंचा कूद सकते हैं तो इसका अर्थ यह नहीं कि हम ८-१० मील ऊंची भी छलांग लगा सकते है। ठीक इसी प्रकार ज्ञान के विकास की भी अपनी सीमायें है। इसके उत्तर में जैन दार्शनिक अनन्तकीर्ति गृद्ध की दूर दृष्टि, सुअर की श्रवण शक्ति एवं चींटी की अपूर्व धारणा शक्ति का दृष्टान्त देकर यह समझाना चाहते हैं कि मनुष्य के सम्बन्ध में भी यह सम्भव है। अकलंक भी मीमांसक का यह तर्क अनुभवाधारित नहीं मानते कि ज्ञान की सीमायें हैं। भले ही हम आठ मील ऊंचा फांद नहीं सकें लेकिन गरूड़ जैसा पक्षिराज तो सैकड़ों मील ऊंचा उड़ता है। विद्यानन्द भी उड़ने वाले सर्प एवं हजारों हजार मील नीचे गिरने वाले पत्थर की उपमायें देकर यह सिद्ध करना चाहते हैं। मानव ज्ञान एवं शक्ति की सीमायें नहीं है। जहां तक प्रत्यक्ष ज्ञान की सीमायें हैं, वे भी विचारणीय है। जब चमगादर एवं बिल्ली रात्रि काल में बिना प्रकाश के दूर-दूर तक देख सकते हैं तो, फिर मानव के सम्बन्ध में ही यह मर्यादा क्यों हो ? योग की भूमिका यही समझाने लायक है जिसके अनुसार मनोजय, इन्द्रिय जय की बातें तो हैं ही साथ-साथ सर्वज्ञता की ओर भी स्पष्ट संकेत हैं।

(घ) ज्योतिषज्ञान की नक्षत्र सम्बन्धी भविष्यवाणियां:-

ज्योतिष विज्ञान की नक्षत्र सम्बन्धी भविष्य वाणियां सर्वज्ञता की सम्भावनाओं का संकेत करती है। इक्षणिका और प्रश्नविद्या नामक प्राचीन विद्यायें अतीन्द्रिय वस्तुओं के ज्ञान देती हैं। इन सबसे इतना तो सिद्ध होता ही है कि इन्द्रिय वस्तु का सन्निकर्ष ही सभी प्रकार के ज्ञानों के लिये आवश्यक नहीं है। यहां यह कहा जा सकता है कि ज्योतिषशास्त्र एक प्रकार का गणित विज्ञान है जो भौतिक तत्वों के हमारे वास्तविक अनुभवों पर आधारित है। किन्तु अतीन्द्रिय ज्ञान की सम्भावनायें तो प्रकट ही है।

(च) बाधक प्रमाण का अभाव:-

हम देख चुके है कि शास्त्र के षट्विध प्रमाणों में कोई भी सर्वज्ञ सिद्धि में बाधक नहीं है। प्रत्यक्ष सर्वज्ञाभाव सिद्ध नहीं कर सकता क्योंकि यह तो केवल उसी को प्रमाणित करता है जिसका भावात्मिक अस्तित्व हो। अनुमान भी सर्वज्ञाभाव सिद्ध नहीं कर सकता क्योंकि इसके लिये जिस प्रकार हेतु एवं साध्य के बीच व्याप्ति सन्बन्ध चाहिये, वह उपलब्ध नहीं। आगम, अर्थापत्ति, उपमान एवं अनुपलब्धि (अभाव) की भी यहीं स्थिति हैं। असल में यह प्रमाण कोई स्वतंत्र प्रमाण नहीं। अन्य प्रमाणों का योग मात्र है। इससे केवल यही सिद्ध होता है कि सर्वज्ञ सिद्धि में कोई भी बाधा नहीं है।

(छ) अंश से पूर्ण की ओर जाने की वृत्तिः

मानिवमन हमेशा ही अपनी मर्यादाओं का उल्लंघन करता है। किसी वस्तु के अंश का ज्ञान वास्तवमें अंश तक ही सीमित नहीं रह कर पूर्ण तक जाता है। इसीलिये मति, श्रुत, अवधि, मन पर्यय के बाद ही केवल ज्ञान आता है। जिस प्रकार मनोविज्ञान में गेस्टाट-वृति
होती है, उसी प्रकार ज्ञान के क्षेत्र में भी अपूर्णतः से पूर्णता की ओर आने की हमारी सहज एवं स्वाभाविक वृत्ति होती है।

(ज) परामनोविद्या सम्बन्धी युक्तिः

आज परा-मनोविद्या का विकास हो रहा है जिसमें इन्द्रिय-सन्निकर्ष - निरपेक्ष ज्ञान (इ० एस० पी० और पी० के०) आदि की चर्चा हो रही है। ये बातें मनगढ़न्त एवं केवल कपोल कल्पना नहीं बल्कि वस्तु स्थिति है। मनोविज्ञान अपने क्षेत्र का विस्तार कर रहा है जिस प्रकार जैन दर्शन अवधि एवं मनः पर्यय की बात करता है, आज परामनो विद्या भी उसको मानता है और उसके लिये प्रयोग एवं तर्क भी उपस्थित करता है। इस दृष्टि से हमें समझना होगा।

वैशाली जन का प्रतिपालक, गण का आदि विधाता।
जिसे ढूंढ़ता देश आज उस स्वतन्त्र की माता।।
रुको एक क्षण, पथिक यहाँ मिट्टी को शीध नवाओ।
राज सिद्धियों की सम्पत्ति पर फूल चढ़ाते जाओ।।

—राष्ट्रकवि श्री रामधारीसिंह 'दिनकर' वैशाली का प्रतिपालक

३

जैन दर्शन में शब्दप्रमाण

☐ कु० हेमलता बोलिया

भूमिका

जैन दर्शन में प्रमाण चर्चा सर्व प्रथम उमास्वाति के 'तत्वार्थसूत्र' में देखने को मिलती है। जैन आगमिक परम्परा में ज्ञान के पांच भेद—(मति, श्रुत, अवधि, मन.पर्यय और केवल ज्ञान) उपलब्ध हैं।[1] वहा इन पांच ज्ञानों को पुनः दो भागों में यथा प्रत्यक्ष और परोक्ष में विभाजित किया गया है। प्रत्यक्ष ज्ञान दो प्रकार का कहा गया है—(१) केवल ज्ञान और (२) अकेवलज्ञान। अकेवलज्ञान के पुनः दो भेद किये गये हैं—(१) अवधि (२) और मनः-पर्यय। तथा परोक्षज्ञान भी दो प्रकार से वर्णित है–(१) आभिनिबोधिक (मति) और श्रुतज्ञान।[2]

इन्हीं पांच ज्ञानों को उमास्वाति ने प्रमाण कहा है। अर्थात् इनकी दृष्टि में ज्ञान ही प्रमाण है।[3] इन्होंने मति ज्ञान के ही पर्याय, स्मृति, संज्ञा, चिन्ता और अभिनिबोध बतलाये हैं।[4] इस प्रकार

१– (क) पंचविहे णाणे पण्णत्ते तं जहा—
अभिणिवोहियणाणे सुयणाणे ओहिणाणे
मणपज्जवणाणे केवलणाणे।

स्था० सू० स्थान ५, उद्दे० ३, सू० ४६३

(ख) अनु० सू० १
(ग) नन्दीसूत्र, १
(घ) भगवती सूत्र, शतक ८, उद्दे० २, सू० ३१८

२. दुविहे पण्णत, त जहा—पच्चक्खे चेव परोक्खे चेव १, पच्चक्खे णाणे दुविहे पण्णत्ते, तं जहा–केवलणाणे चेव नोकेवलणाणे चेव २, ... णोकेवलणाणे दुविहे पणणते, त जहाओहिणाणे चेव मणपज्जवणाणे चेव, परोक्खणाणे दुविहे पण्णते, तं जहा अभिणिवोहियणाणे चेव सुयणाणे चेव।

(स्था० सू०, स्थान २, उद्दे० १ सू० १७)

३. (क) मतिश्रुतावधिमनःपर्ययकेवलानिज्ञानम्। त० सू० (१।९)
(ख) आद्ये परोक्षम्। वही, (१।११)
(ग) प्रत्यक्षमन्यत्। वही, (१।१२)

४. मति स्मृति संज्ञा चिन्ता ऽभिनिबोधइत्यनर्थान्तरम्। वही, (१।१३)

उमास्वाति ने अपने समय में प्रचलित स्मृति, प्रत्यभिज्ञान, तर्क और अनुमान प्रमाणों का अन्तर्भाव मतिज्ञान में करके जैन क्षेत्र में प्रमाण पद्धति को आगे बढ़ाया, किन्तु प्रमाणशास्त्र की व्यवस्थित रूपरेखा भट्ट अकलंकदेव के समय से ही प्रारम्भ होती है। यद्यपि जिन भद्रगणि[५] ने मन और इन्द्रिय की गया। फिर भी प्रमाणशास्त्र की व्यवस्थित रूपरेखा स्संथापति करने का श्रेय भट्ट अंकलदेव को ही प्राप्त है। इन्होंने भी तत्वार्थसूत्र के 'तत्प्रमाणे' सूत्र को आदर्श मानकर अपने 'लघीस्त्रय'[४] नामक ग्रन्थ में प्रमाण विभाग इस प्रकार किया है—

सहायता से होने वाले मतिज्ञान को परोक्ष की परिधि से निकालकर तथा सांव्यवहारिक प्रत्यक्ष नाम देकर प्रत्यक्ष की परिधि में सम्मिलित किया जिससे जैनेतर दार्शनिकों से इन्द्रिय जन्य ज्ञान को परोक्ष न मानने का जो विवाद था वह समाप्त हो
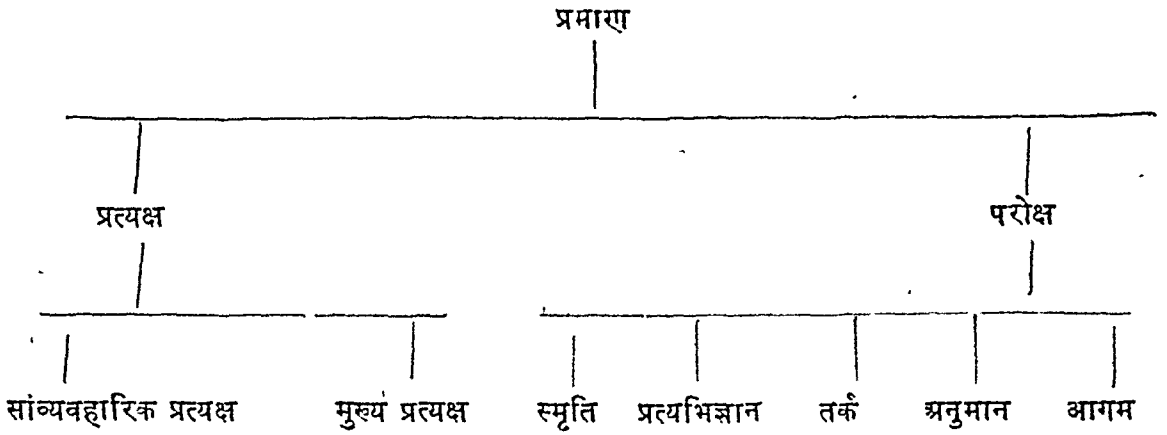
यद्यपि अकलंक के ग्रन्थों के प्रमुख टीकाकार अनन्त वीर्य और विद्यानन्दी को स्मृति आदि को अतीन्द्रिय-प्रत्यक्ष मानना अभीष्ट नहीं हुआ, फिर भी समस्त उत्तरकालीन जैन दार्शनिकों ने अकलंक द्वारा प्रतिष्ठादित प्रमाण-पद्धति को एक स्वर से स्वीकार किया है केवल सिद्धर्षि ने न्यायावतार पर संक्षिप्त टीका करते हुए प्रत्यक्ष और परोक्ष में से परोक्ष के अनुमान और आगम ये दो भेद माने हैं जो अवश्य ही अकलंक परम्परा से भिन्न है।

आगम व श्रुत प्रमाण

अन्य दर्शनों में मान्य शब्दप्रमाण ही जैनदर्शन में आगम या श्रुतप्रमाण के नाम से जाना जाता है किन्तु जैनाचार्यों में सिद्धर्षि ही ऐसे हैं जिन्होंने सर्व प्रथम जैन दर्शन में आगमप्रमाण के स्थान पर शब्द-प्रमाण शब्द का प्रयोग किया है। श्रुतज्ञान (प्रमाण) शब्द जैनदर्शन की अपनी मौलिक देन है। यह जिस रूप में जैनदर्शन में पाया जाता है उस रूप में अन्य

---

५. एगंतेण परोक्खं लिंगियमोहाइयं चपच्चक्खं।
इंदियमणो भवं जं तं संववहारपच्चक्खं (विशे. आ. भा., गा. ९५, भा-१) पृ. २४

दर्शनों में नहीं पाया जाता है। फिर भी श्रुतज्ञान एवं शब्दप्रमाण शब्दों में कोई विशेष अन्तर नहीं है क्योंकि दोनों में ही शब्द की प्रधानता है। यह आगे के विवेचन से स्पष्ट हो जायेगा।

जैनाचार्यों के अनुसार आप्तवचन से आविर्भूत होने वाला अर्थ संवेदन आगमप्रमाण है। साथ ही इनका यह भी कहना है कि यदि अन्य दार्शनिक यह आशंका करें कि जब अर्थ का संवेदन आगम है तो वह अप्रवचनात्मक ही कैसे हो सकता है? तो प्रत्युत्तर में इनका कहना है कि उपचार से वचन भी आगम है।[६]

माणिक्यनन्दी आप्त के वचन एवं संकेत आदि के निमित्त से होने वाले ज्ञान को आगम कहते हैं।[७]

उक्त दोनों परिभाषाओं में कोई विशेष अन्तर नहीं है केवल माणिक्यनन्दी ने लक्षण में 'आदि' पद से संकेत आदि ग्रहण विशेषरूप से किया है।

सिद्धसेन दिवाकर के अनुसार परमार्थ वक्ता दृष्ट और इष्ट के अविरोधी वाक्य से तथा तत्त्वग्राहिता से उत्पन्न वाक्य शब्दप्रमाण है।[८]

उपर्युक्त परिभाषाओं से स्पष्ट होता है कि आप्त के वचन से उत्पन्न हुआ पदार्थ का ज्ञान आगम प्रमाण है और उपचार से आप्त के वचन को भी आगम प्रमाण कहते हैं। इस बात में तो सभी जैनाचार्य एकमत हैं, किन्तु आप्त के स्वरूप के विषय में उनके परस्पर भिन्न-भिन्न मत हैं।

आप्त का स्वरूप

कुन्दकुन्दाचार्य ने अपने 'नियमसार' नामक ग्रंथ में आप्त के स्वरूप को बतलाते हुए लिखा है कि—जिसके समस्त दोष दूर हुए हैं ऐसा जो सकलगुणमय पुरुष है वह आप्त है।[९] इसके विपरीत जिसके समस्त दोष दूर नहीं हुए हैं ऐसा जो सकलगुणहीन पुरुष है वह अनाप्त है।

'नियमसार' की टीका करते हुए पद्मप्रभमलधारि ने लिखा है कि जो शंकारहित है वह आप्त है।[१०] इसके विपरीत जो शंका से युक्त है वह अनाप्त है।

---

६ का० ३,१०

७. (क) आप्तवचनादाविर्भूतमर्थसंवेदनमागमः। उपचारादाप्तवचनं च।
प्र. न. त. लो. अ. (४।१-२) पृ. ३५; जैन त. भा, पृ. ६

(ख) आप्तवचनाज्जातमर्थज्ञानमागमः। उपचारादाप्तवचन च।
षड्द. सम. (जै.) का. ५५।३२० पृ. ३२७

(ग) आप्तवचनादिजनितपदार्थज्ञानम् आगमः। तद् वचनमपि ज्ञानहेतुत्वादागमः। ।१२३) पृ. ११७
प्र. प्र म. (१परी. मु. (३।९९)

८. आप्तवचनादिनिबन्धनमर्थज्ञानमागमः।

९. दृष्टेष्टाव्याहताद्वाक्यात्परमार्थाभिधायिनः।
तत्वग्राहितयोत्पन्नं मानं शाब्दं प्रकीर्तितम्।
न्या. अव., का. ८

१०. ववगयअसेसदोसो सयलगुणप्पा हवे अत्तो।
नि. सा. गा. ५, पृ ११

समन्तभद्र का कहना है कि जो दोषों को नष्ट कर चुका है, सर्वज्ञ और आगमेशी अर्थात्—हेयोपादेयरूप अनेकांत तत्त्व के विवेकपूर्वक आत्महित में प्रवृत्ति करने वाले अवाधित सिद्धातशास्त्र का स्वामी (अर्थात्–आगम का स्वामी है) वह नियम से आप्त होता है, दूसरे प्रकार के आप्तता नहीं हो सकती है।[११] साथ ही इनका यह भी कहना है कि जिसमें क्षुधा, प्यास, बुढ़ापा, रोग, जन्म, मरण, भय, मद, राग, द्वेष, मोह और 'च' शब्द द्वारा सूचित चिंता, अरति निद्रा विस्मय, विषाद, खेद और स्वेद ये अठारह दोष नहीं वह आप्त है और उसे निर्दोष कहते हैं।[१२]

समन्तभद्र का यह भी कहना है कि जिसमें निर्दोषिता, सर्वज्ञता और आगमेशिता इनमें से यदि एक गुण भी नहीं है तो वह आप्त भी नहीं है। इनके अनुसार आप्त में इन तीनो गुणों का होना आवश्यक है। इस प्रकार सर्वज्ञ, अर्हंत और तीर्थंकर आदि हीं आप्त हों सकते हैं। क्योंकि ये तीनो गुण तो उन्हीं में पाये जाते हैं। वैसे भी स्वयं समन्तभद्र ने अपनी 'आप्त मीमांसा' में अर्हन्त के विषय में कहा है कि अर्हन्त ही सर्वज्ञ तथा आगम का स्वामी है जिसकी सर्वज्ञता के कारण उसके वचनों में युक्ति और शास्त्र से किसी प्रकार का विरोध नहीं आता है वही राग-द्वेषादि दोषों से सर्वथा रहित अर्थात् निर्दोष है और उसके द्वारा माने गये तत्व प्रमाणों से बाधित नहीं होते हैं।[१३]

समन्तभद्र के समान अकलंकदेव ने भी अर्हन्त को ही सर्वज्ञ कहा है। इनके अनुसार अर्हन्त ही सर्वज्ञ है, इनके अतिरिक्त दूसरे न्याय और आगम के विरुद्ध कथन करते हैं।[१४]

हेमचन्द्राचार्य ने भी अर्हन्त को ही अपने 'आप्त-निश्चयालंकार में सर्वज्ञ कहा है। इनके अनुसार जो सर्वज्ञ अर्थात् सब कुछ जानता है; रागादि दोषों को जीत चुका हो, जो तीन लोकों में पूजित हो, वस्तुएं जैसी हैं उन्हें वैसी ही कहता हो, वही परमेश्वर अर्हत् देव है।[१५]

इस प्रकार उपर्युक्त विवेचन से यह स्पष्ट होता है कि जो सर्वज्ञ होता है वही सभी दोषों से रहित और आगम का स्वामी होता है। क्योंकि निर्दोषिता के बिना सर्वज्ञता सम्भव नहीं और सर्वज्ञता के बिना आगमेशिता नहीं हो सकती है। इसलिए तीर्थंकर

---

११. आप्तेनोत्छिन्न-दोषेण सर्वज्ञेनाऽऽगमेशिना।
भवितव्यं नियोगेन नाऽन्यथा ह्याप्तता भवेद्।
रत्नक. उपा, का. ५, पृ. ३७

१२. क्षुत्पिपासा-जरातंक-जन्मान्तकःभय-स्मयाः।
न राग-द्वेष-मोहाश्च यस्याप्तः स प्रकीर्त्यते॥
रत्नक. पा, का. ६, पृ. ३९

१३. स त्वमेवासि निर्दोषो युक्तिशास्त्रविरोधिवाक्।
अविरोधो यदिष्टं ते प्रसिद्धेन न बाध्यते॥
आ. मी; का. ६, पृ. १९

१४. सोऽत्र भवान्नर्हन्नेव, अन्येषां न्यायागम विरुद्धः।

आदि ही आप्त सिद्ध होते हैं क्योंकि ये तीनों गुण इनमें विद्यमान हैं। तीर्थंकर, अर्हन्त आदि को आप्त मानने के विषय में सभी जैनाचार्य परस्पर सहमत हैं।

किन्तु अकलंकदेव को आप्त का इतना ही लक्षण अभीष्ट नहीं है। इन्होंने अपनी 'अष्टशती' में आप्त का व्यापक अर्थ में एक दूसरा लक्षण भी किया है। जिसके अनुसार जो जहां (अर्थात् जिस विषय में) अविसंवादक है वह वहां या उस विषय में आप्त है, अन्यत्र अनाप्त है। आप्तता के लिए तद्विषयकज्ञान और अविसंवादकता आवश्यक है।[१६]

वादिदेवसूरि[१७] और हरिभद्र[१८] के अनुसार जो व्यक्ति जिस वस्तु का कथन करता है उसे यथार्थ रूप से जानता हो तथा जिस प्रकार उसे जाना है ठीक उसी रूप में उसका कथन करता है तो वह आप्त कहा जाता है। जैसे माता पिता और तीर्थंकर आदि। क्योंकि इनका ही वचन अविसंवादी होता है। जैसे 'यहां घन घड़ा है' 'मेरूपर्वत है' इत्यादि वाक्यों के अर्थ को पिता और तीर्थंकर अच्छी प्रकार से जानते हैं। अतः वे उक्त वाक्यों के आप्त हैं।

रत्नप्रभाचार्य के अनुसार जिससे कहा हुआ अर्थ ग्रहण किया जाता है वह आप्त है या जिसमें राग-द्वेषादि दोषों का क्षय हो चुका है वह आप्त है और इनका यह भी कहना है कि अर्शादिगण से बने आप्त शब्द का भी यही अर्थ है। रत्नप्रभाचार्य का कहना है कि जो पुरुष रागादि दोषों से युक्त है वह आप्त से भिन्न अर्थात् अनाप्त है क्योंकि वह पदार्थों को जानता हुआ भी इन पदार्थों का अन्यथा रूप से कथन करता है, जैसे कि पदार्थ-ज्ञान से रहित व्यक्ति करता है। साथ ही इनका यह भी कहना है कि यदि कोई अक्षर लेखन के द्वारा, संख्या के निर्देश से, अपने करपल्लव आदि की चेष्टा विशेष से अथवा शब्द स्मरण करने से परोक्षार्थ विषयक ज्ञान को दूसरे को करा सकता है तो वह भी आप्त कहा जाता है।[१९]

लघुअनन्तवीर्य ने भी अकलंक के समान ही आप्त का व्यापक अर्थ किया है, किन्तु इन्होंने अविसंवादी के स्थान पर अवंचक शब्द का प्रयोग किया

---

१५. सर्वज्ञो जितरागादिदोषस्त्रैलोक्यपूजितः।
यथास्थितार्थवादी च देवोऽर्हन्परमेश्वरः॥

१६. यो यत्राविसंवादकः स तत्राप्तः, ततः परोऽनाप्तः। तत्त्वप्रतिपादनमविसंवादः, तदर्थज्ञानात्।
अष्टश., अष्टसह. पृ. २३६

१७. अभिधेयं वस्तु यथावस्थितं यो जानीते यथाज्ञानं चाभिधत्ते सआप्तः।
तस्यहि वचनमविसंवादि भवति।
पु. न. त. लो. अ, (४।४-५) पृ: ३७

१८. अभिधेयं... . . , सआप्तो जनक-तीर्थंकरादिः।
षड्द. समु (जै.) का. ५५।३२०, पृ. ३२

१९. आप्यते प्रोक्तोऽर्थोऽस्मादित्याप्तः। यद्वा, आप्तीरागादिदोषक्षयः सा विद्यते यस्येत्यर्शआदित्वादिति अ...तः जानन्नपि हि रागादिमान् पुमानन्यथाऽपि पदार्थान् कथयेत् तद्व्यवच्छित्तये यथाज्ञानमिति।

तेनाक्षरविलेखनद्वारेण, अंकोपदर्शनमुखेन, करपल्लव्यादिचेष्टा-विशेषवशेन वा शब्दस्मरणाद्यः परोक्षार्थ विषयं विज्ञानं परस्योत्पादयति, सोऽप्याप्त इत्युक्त भवति।

है। इनके अनुसार जो जहां अवंचक है, वहां आप्त है[20] यहां अवंचक से अभिप्राय यह है कि जो छल कपट से रहित है अर्थात् निष्कपटी है और निष्कपटी वही हो सकता है जिसमें रागादि दोष नहीं है। अतः जो रागादि दोषों से रहित है वह अवंचक है और यह अवंचक पद यहां उपलक्षण है।

भावसेनत्रैविद्य ने भी आप्त का लक्षण लघु-अनन्तवीर्य के समान ही किया है। किन्तु इन्होंने 'यो यत्राभिज्ञत्वे' यह विशेषण अधिक जोड़ दिया है। इनके अनुसार जो जिस विषय को जानता है और सत्य अवंचक है वह वहां आप्त है।[3]

यशोविजय के अनुसार वस्तु जैसी है उसको उसी रूप में जो जानता है और हितोपदेश प्रवण है वह आप्त है।[२४]

उपर्युक्त विवेचन से स्पष्ट होता है कि आप्त दो प्रकार के हैं (१) लौकिक (२) और लोकोत्तर।[1] लौकिक आप्त जनक आदि और लोकोत्तर आप्त तीर्थंकर आदि हैं।[2]

आगम प्रमाण के भेद

आप्त के दो प्रकार के होने से आगम प्रमाण भी दो प्रकार का है—(१) लौकिक (२) और लोकोत्तर। सिद्धर्षि ने लोकोत्तर के स्थान पर शास्त्रज शब्द प्रमाण माना है किन्तु लोकोत्तर और शास्त्रज में कोई विशेष अन्तर नहीं है।

(१) लौकिक

अपने विषय में अविसंवादी और अवचंक आप्त के वचनों से जो अर्थ बोध होता है वह लौकिक आगम प्रमाण है।

(२) लोकोत्तर

यह लोकोत्तर आगम प्रमाण अंगप्रविष्ट और अंगबाह्य रूप से दो प्रकार का है। साक्षात् तीर्थंकर जिस अर्थ को अपनी पवित्रवाणी से प्रकट करते हैं और गणधर जिसका सूत्रबद्ध रूप में ग्रथन करते हैं उसे अंगप्रविष्ट कहते है। यह आचारांग, सूत्रकृतांग, स्थानांग, समवयांग, व्याख्याप्रज्ञप्ति, ज्ञातृधर्मकथा, उपासकाध्ययन, अंतकृतदश, अनुत्तरोपपादिकदश, प्रश्नव्याकरण, विपाक सूत्र और दृष्टिवाद आदि के भेद से बारह प्रकार का है। तथा जो गणधर परम्परा के आचार्यों के द्वारा शिष्य के हितार्थ जो रचा जाता है, वह अंगबाह्य है। यह दशवैकालिक उत्तराध्ययन, कल्पव्यवहार, कल्पाकल्प, महाकल्प आदि के भेद से अनेक प्रकार का है। यह अंगबाह्य, है। यह दशवैकालिक, उत्तराध्ययन, कल्पव्यवहार

---

२०. यो यत्रावञ्चकः स तत्राऽऽप्तः।
प्रमे. रत्न. (३।९५) पृ. २०४

२१. यो यत्राभिज्ञत्वे सत्यवञ्चकः सतत्राप्तः। पृ. प्रमे. (१।१२३) पृ. ११७

२२. यथास्थितार्थपरिज्ञानपूर्वकहितोपदेशप्रवण आप्तः।
जै. तर्क भा., पृ. ९

२३. स च द्वेधा लौकिको, लोकोत्तरश्च।
प्र. न. त. ऊ. (४।६) पृ: ३७

२४. लौकिको जनकादिर्लोकोत्तरस्तु तीर्थंकरादिः
वही, (४,७)

कल्पाकल्प, महाकल्प आदि के भेद से अनेक प्रकार का है। यह अंगबाह्य, अंगप्रविष्ट के समान ही प्रमाण रूप है, क्योंकि गणधर परम्परा के आचार्यो ने अंगप्रविष्ट ग्रन्थों को आधार बनाकर ही काल-दोष से कम आयु, बल और बुद्धि वाले शिष्यों के हितार्थ दशवैकालिक आदि ग्रन्थों की रचना की। इसलिए इन ग्रन्थों की उतनी ही प्रमाणिकता है जितनी गणधरों और श्रुतकेवलियों के द्वारा रचित सूत्रों की हैं, क्योकि ये अर्थ की दृष्टि से सूत्र ही हैं, जैसे क्षीर सागर से घड़े में भरा हुआ जल क्षीर सागर के जल से भिन्न नहीं होता है वैसे ही अंग-बाह्य अंगप्रविष्ट से भिन्न नहीं है। इन अंगप्रविष्ट और अंगबाह्य आगमग्रन्थों की उपलब्धि के विषय में जैन परम्पराओं में परस्पर मतभेद हैं। श्वेताम्बर मूर्तिपूजक परम्परा के अनुसार द्वादशांग में से दृष्टि-वाद को छोड कर अन्य ४५ आगम आज भी प्राप्य हैं। तथा श्वेताम्बर स्थानक वासी परम्परा के अनु-सार आज वर्तमान समय में ३२ आगम ही उपलब्ध हैं। यद्यपि दोनों में आगमों की संख्या के विषय में परस्पर मतभेद है किन्तु दोनों ही उनकी उप-लब्धि के विषय में तो एक मत हैं। परन्तु इसके विप: रीत दिगम्बर परम्परा का तो कहना है कि ये द्वाद-दशांग आदि प्राचीन आगम आज वर्तमान समय में अप्राप्य है। इन आगमों के आधार से लिखे गए षट्खण्डागम, कषायपाहुड और महाबन्ध तथा इन पर लिखी गई धवला आदि टीकाओं को आगम की ही भांति वे प्रमाण भूत मानते हैं।

सिद्धर्षि ने जो लोकोत्तर के स्थान पर शास्त्रज को प्रमाण माना है उस शास्त्रज प्रमाण का स्वरूप इस प्रकार है—जो आप्तोपज्ञ अर्थात् आप्त के द्वारा प्रथमतः ज्ञात होकर उपदिष्ट हुआ है, उल्लंघनीय नहीं है, दृष्ट अर्थात प्रत्यक्ष और इष्ट अर्थात अनु-मानादि का अविरोधी है, वस्तु के यथार्थ स्वरूप का प्रतिपादक है, सबके लिये हित कारक है और कुमार्ग का निराकरण करने वाला है, उसे शास्त्र कहते हैं। और इस प्रकार के शास्त्र से उत्पन्न जो ज्ञान है उसे शास्त्र प्रमाण कहते हैं। [२५] इस शास्त्रज प्रमाण के स्वरूप से ही यह स्पष्ट हो जाता है कि लोको-त्तर और शास्त्रज में कोई विशेष अन्तर नहीं है, केवल शब्द के प्रयोग का अन्तर है। जैन दर्शन के अनुसार ये आगम या शास्त्र पौरुषेय हैं और इनका स्वतःप्रमाण्य है।

यह आगम प्रमाण जैन आगमिक परम्परा का श्रुतज्ञान ही है। अन्तर केवल इतना ही है कि श्रुतज्ञान इन अंगप्रविष्ट और अंगबाह्य आगम ग्रन्थों तक ही सीमित रह जाता है, किन्तु आगम प्रमाण तो इन आगम ग्रन्थों तक ही सीमित नहीं रहता अपितु वह तो व्यवहार में भी अपने विषय में अविसम्वादी या अवंचक आप्त के वचनों से जो अर्थ बोध होता है उसको भी आगम की मर्यादा में लेता है। श्रुतज्ञान ही आगम प्रमाण है, इसलिए श्रुतज्ञान का स्वरूप भी जानना आवश्यक है। अतः अब जैन आगमिक परम्परा में श्रुतज्ञान का क्या स्वरूप रहा है? इसका निर्वचन किया जायेगा। जिससे श्रुतज्ञान ही आगमप्रमाण है यह जो कहा गया है स्वतः स्पष्ट हो जायेगा।

---

२६. आप्तोपज्ञमनुल्लङ्घ्यमदृष्टेष्टविरोधकम्।
तत्वोपदेशकृत्सार्वं शास्त्रं कापथघट्टनम्।
न्या. अव., का. ६, पृ. ५८

श्रुतज्ञान

श्रुतज्ञान पर विचार करने से पूर्व श्रुत शब्द को जान लेना आवश्यक है। क्योंकि श्रुत को समझे बिना श्रुतज्ञान को नहीं जान सकते हैं। सामान्यत: श्रुत का अर्थ श्रवणं-श्रुतम् से सुनना है। यह संस्कृत की श्रु धातु से निष्पन्न है। पूज्यपाद ने भी श्रुत का अर्थ—श्रुतज्ञानावरण कर्म के क्षयोपशम होने पर निरूप्यमाण पदार्थ जिसके द्वारा सुना जाता है, जो सुनना या सुनाना मात्र है वह श्रुत है।[२६]

किन्तु श्रुत शब्द का व्युत्पत्त्यर्थ 'सुना हुआ' होने पर भी जैन दर्शन में यह श्रुत शब्द ज्ञान विशेष में रूढ है। पूज्यपाद ने तो अपनी सर्वार्थसिद्धि में कहा है कि यह श्रुत शब्द सुनने रूप अर्थ का मुख्यता से प्रतिपादक होने पर भी रूढ़ि के कारण ज्ञान विशेष में ही रूढ़ है।[२७] तथा मतिश्रुतावधिमन: पर्ययकेवलानि ज्ञानम्[२८] इस सूत्र से भी ज्ञान शब्द की अनुवृत्ति चली आने के कारण भावरूप श्रवण द्वारा निर्वचन किया गया श्रुत का अर्थ श्रुतज्ञान है। केवल मात्र कानों से सुना गया शब्द ही श्रुत नहीं है।[२९] परन्तु श्रुत का अर्थ ज्ञान विशेष करने पर जैन दर्शन में जो शब्दमय द्वादशांग श्रुत प्रसिद्ध है उसमें विरोध उपस्थित होता है क्योंकि श्रुत शब्द से ज्ञान को ग्रहण करने पर ज्ञान छूट जाता है क्योंकि दोनों का एक साथ ग्रहण होना असम्भव है। इस पर जैन दार्शनिकों का कहना है कि उपचार से शब्दात्मक श्रुत भी श्रुतशब्द करके ग्रहण करने योग्य है। इस लिये सूत्रकार ने शब्द के भेद-प्रभेदों को बताया है यदि इनको श्रुत शब्द से ज्ञान ही इष्ट होता तो ये शब्द के होने वाले भेद-प्रभेदों को नहीं बताते।[३०] अत; जैन दार्शनिकों को मुख्यत; तो श्रुत से ज्ञान अर्थ ही इष्ट है। किन्तु उपचार से श्रुत का शब्दात्मक होना भी उनको ग्राह्य है।

श्रुत के बाद अब हम श्रुतज्ञान पर आते हैं। उमास्वाति के पूर्व शब्द को सुनकर जो ज्ञान होता था उसे श्रुतज्ञान कहा जाता था और उसमें मुख्य कारण होने से शब्द को भी उपचार से श्रुतज्ञान कहा जाता था।[३१] किन्तु उमास्वाति को श्रुतज्ञान का इतना ही लक्षण इष्ट नहीं हुआ। इसलिये इन्होंने अपने तत्त्वार्थसूत्र में श्रुतज्ञान का एक दूसरा

---

२६. (क) तदावरणकर्मक्षयोपशमे सति निरूप्यमाणं श्रूयते अनेन शृणोति श्रवणमात्रं वा श्रुतम्।
सर्वा. सि. (१।९) पृ. ६६

(ख) श्रुतशब्द: कर्म साधनश्च ।२। किंच पूर्वोक्तविषयमाधनश्चेति वर्तते।
श्रुतवरणक्षयोपशमाद्यन्तरंग वहिरंग हेतुसन्निधाने मति श्रयतेस्मेति श्रुतम्।
कर्तरि श्रुतपरिणत आत्मैव शृणोसीति श्रुतम्। भेदविवक्षायां श्रूयते नेनेति श्रुतम्, श्रवणमात्रं वा।
(त. वा. (१।९।२) पृ.)

२७. (क) श्रुतशब्दोऽयं श्रवणमुपादाय व्युत्पादितोऽपिरूढिवशात् कस्मिश्चिज्ज्ञान विशेपे वर्तते।
सर्वा. सि. (१।२०) पृ. ८३

(ख) श्रुतावरणविश्लेपविशेषाच्छ्रवणं श्रुतम् (त. श्लो. वा. अ. (३।९।४) पृ. ३

२८. त. सू. [illegible]।[illegible]०

२९. ········ ज्ञानमित्पुनुवर्तनात्।
श्रवणं हि श्रुतज्ञानं न पुन: शब्द मात्रकम्।
त. श्लो. वा. अ. (३२।०।२०) पृ. ५९८

३०. तत्त्वोपचारितो ग्राह्यं श्रुतशब्द प्रयोगत:।

लक्षण किया है जिसके अनुसार श्रुतज्ञान मतिपूर्वक होता है।[32] उमास्वाति के पश्चात्‌वर्त्ती जैन दार्शनिकों में नेमिचन्द्र सैद्धान्तिक को छोड़कर प्रायः सभी यह मानते हैं कि श्रुतज्ञान मतिपूर्वक होता है। किन्तु इनका कहना है कि इतना कह देने से ही श्रुतज्ञान का स्वरूप पूर्णतः स्पष्ट नहीं होता है। इसलिए इन्होंने कुछ विशेषण और जोड़ कर श्रुतज्ञान का लक्षण किया है। जिनमें जिनभद्रगणि ने शब्दानुसारी और अपने में प्रतिभासमान अर्थ का प्रतिपादन करने में समर्थ ये दो विशेषण और जोड़ कर श्रुतज्ञान का लक्षण अपने विशेषावश्यक भाष्य में इस प्रकार किया है कि इन्द्रिय और मन की सहायता से शब्दानुसारी जो ज्ञान होता है तथा जो अपने में प्रतिभासमान अर्थ प्रतिपादन करने में समर्थ होता है उसे श्रुतज्ञान कहते हैं [33]

जिनभद्रगणि के इस लक्षण से यद्यपि अकलंक सहमत है किन्तु इन्होंने शब्द पर जिनभद्रगणि से अधिक बल दिया है। अकलंक का तो कहना है कि शब्द योजना से पूर्व जो मति, स्मृति, चिन्ता, तर्क और अनुमान ज्ञान होते हैं, वे मतिज्ञान हैं और शब्द योजना होने पर वे ही श्रुतज्ञान हैं।[33] अकलंक ने श्रुतज्ञान का यह लक्षण करके अन्य दर्शनों में माने गये उपमान, अर्थापत्ति अभाव, सम्भव, ऐतिह्य और प्रतिभा प्रमाणों का अन्तर्भाव श्रुतज्ञान में किया है और इनका यह भी कहना है कि शब्द प्रमाण तो श्रुतज्ञान ही है। इनके इस मत का विद्यानन्दी ने भी समर्थन किया है। परन्तु बाद के जैन दार्शनिकों को इनका शब्द पर इतना अधिक बल देना ठीक प्रतीत नहीं हुआ। यद्यपि वे भी इस बात को तो मानते हैं कि श्रुतज्ञान में शब्द की प्रमुखता होती हैं। इसलिए अमृतचन्द्र सूरि ने श्रुतज्ञान का लक्षण करते हुए इतना ही कहा कि मतिज्ञान के बाद स्पष्ट अर्थ की तर्कणा को लिये हुए जो ज्ञान होता है, वह श्रुतज्ञान है।[35]

माधवाचार्य ने एक विशेषण और जोड़ कर श्रुतज्ञान का लक्षण इस प्रकार किया है कि ज्ञान के आवरण के क्षय या उपशम हो जाने पर मतिज्ञान से उत्पन्न स्पष्ट ज्ञान श्रुतज्ञान है।[36] इनका अमृतचन्द्रसूरि से भेद यह है कि जहां अमृतचन्द्र सूरि ने मतिज्ञान के बाद स्पष्ट अर्थ की तर्कणा को लिये हुए ज्ञान को श्रुतज्ञान कहा है। वहाँ माधवाचार्य ने एक विशेषण और जोड़ कर मतिज्ञान से उत्पन्न

शब्दभेदप्रभदोक्तः स्वयं तत्कारणत्वतः:

स. श्लो. वा. अ. (३-१०-३) पृ. ५६०

३१. श्रूवणं श्रुतम्, आभिलापन्लावितार्थं स्वरुप उपलब्धिविशेषः श्रुतं तद् ज्ञानं च श्रुतज्ञानम् अथवा श्रुयते इति श्रुतं शब्दः, स च असो कारणे कार्योपचाराद् ज्ञानं च श्रुतज्ञानम्, शब्दो हि श्रोतुर्न्न साभिलापज्ञानस्य कारणं भवतीति सो पि श्रुतज्ञानमुच्ते. (अनु० सू,. ६

३२. श्रुतम् मतिपूर्वकम् . . . . . . ।' त.सू. (५।५०')

३३. इंदियमणोणिमित्तम् जं विण्णाणम् मुताणुमारेणम्. णिअयत्यु त्ति समत्यन तम् भावमुतम् मति सेसम्.
विशे.आ.भा. (भा. ५) गा. ६६,

३४. ज्ञानमाद्यम् मतिः सज्ञामृयचिन्ता चभिनिवोधिकत्. प्राङ्. नामयोजनाच्छेपम् श्रुतम् शब्दानुयोजनात्-
लघीय-, का- ७५

३५. मतिपूर्वं श्रुतम् प्रोक्तमविस्पेष्टार्थं तर्कणम्. त.सा., का १४, पृ. ६

स्पष्ट ज्ञान को श्रुतज्ञान कहा है। इस प्रकार शब्दों के हेर फेर के कारण दोनों में भेद होने पर सूक्ष्म दृष्टि से विचार करने पर इन दोनों में कोई मूलतः भेद दृष्टिगोचर नही होना है।

किन्तु नेमिचन्द्र सैद्धान्तिक ने तो श्रुतज्ञान का लक्षण इस सबसे एकदम भिन्न किया है। ये तो इस बात को ही नहीं मानते हैं कि श्रुतज्ञान मतिज्ञान पूर्वक होता है। इनके उसको न मानने का कारण शायद यह रहा होगा कि श्रुतज्ञान के अक्षरात्मक और अनक्षरात्मक रूप से जो दो भेद हैं, उनमें अनक्षरात्मक श्रुत दिगम्बर परम्परा के अनुसार शब्दात्मक नहीं है और ऊपर श्रुतज्ञान की यह परिभाषा दी गयी है कि शब्द योजना से पूर्व जो मति, स्मृति चिन्ता, तर्क और अनुमान ज्ञान हैं वे मतिज्ञान हैं और शब्द योजना होने पर वे श्रुतज्ञान हैं। इस परिभाषा को मानने पर मतिज्ञान और अनक्षरात्मकश्रुत में कोई भेद नहीं रह जाता है। इसीलिये इन्होंने श्रुतज्ञान का लक्षण इन सबसे भिन्न किया है। इनके अनुसार मतिज्ञान के विषयभूत पदार्थ से भिन्न पदार्थ के ज्ञान को श्रुतज्ञान कहते हैं।[३७]

किन्तु श्रुतज्ञान मति पूर्वक होता है इस कथन में कोई असंगति नहीं है, क्योंकि यह इस दृष्टि से कहा गया है कि श्रुतज्ञान होने के लिये शब्द-श्रवण आवश्यक है और शब्द-श्रवण मति के अन्तर्गत है, क्योंकि यह श्रोत्रेन्द्रिय का विषय है। जब शब्द होता है तब उसके अर्थ का स्मरण होता है। शब्द श्रवण रूप जो व्यापार है वह मतिज्ञान है, और उसके बाद उत्पन्न होने वाला ज्ञान श्रुतज्ञान है। मतिज्ञान के अभाव में श्रुतज्ञान नहीं हो सकता है. किन्तु इसका अर्थ यह नहीं हैं कि श्रुतज्ञान में मतिज्ञान मुख्य कारण है क्योंकि मतिज्ञान के होने पर भी जब तक श्रुतज्ञानावरण कर्म का क्षयोपशम न हो तब तक श्रुतज्ञान नहीं हो सकता हैं। मतिज्ञान तो इसका वाह्य कारण है।

अतः संक्षेप में श्रुतज्ञानावरणकर्म के क्षयोपशम होने पर मन और इन्द्रिय की सहायता से, अपने में प्रतिभासमान अर्थ को प्रतिपादित करने में समर्थ स्पष्ट ज्ञान को श्रुतज्ञान कहते हैं।

श्रुतज्ञान के भेद

श्रुतज्ञान के कितने भेद हैं ? इस विषय में जैनाचार्यो में परस्पर मतभेद हैं। सभी ने अपने-अपने मत के अनुसार श्रुतज्ञान के भेदों को गिनाया है। श्रुतज्ञान के अंगप्रविष्ट और अंग वाह्य रूप से जो भेद हैं, ये भेद सभी जैनाचार्यो को मान्य है। इसलिए अव इन दो भेदों के अतिरिक्त जो भेद प्रभेद जैनाचार्यो ने अपने-अपने मतानुसार बताये हैं उन पर विचार किया जायेगा।

आवश्यकनियुक्ति में कहा गया है कि जितने अक्षर हैं और उनके जितने संयोग हैं उतने ही श्रुतज्ञान के भेद है, और इन सारे भेदों को गिननासंभव नहीं है। इसलिए मुख्य रूप से श्रुतज्ञान के चौदह भेद है—(१) अक्षर (२) संज्ञा, (३) सम्यक, (४) सादिक, (५) सपर्यवसित, (६) गमिक, (७)

---

३६. ज्ञानावरणक्षयोपशमे सति मतिजनितम् स्पष्टमृज्ञानम् स्रुतम्.

सर्वद. सं. (आर्ह.द.) प्र. १३८

३७. अत्थादो अत्थंतरमुवलभंत भणंति सुदणाणम्.

गो. सा. (जी.का.) गा. ५९, प्र. ५४७

अंगप्रविष्ट, (८) अनक्षर, (९) असंज्ञा, (१०) असम्यक, (११) अनादिक, (१२) अपर्यवसित (१३) अगमिक (१४) अंगबाह्य।[३८] नन्दीसूत्र में इन चौदह भेदों का विस्तृत स्वरूप बतलाया गया है।[३९]

अकलंकदेव[४०] ने अपने 'प्रमाणसंग्रह' नामक ग्रन्थ में श्रुतज्ञान के तीन भेद किये हैं-(१) प्रत्यक्ष-निमित्तक, (२) अनुमानिमित्तक (३) और आगम निमित्तक। किन्तु जैन तर्कवात्तिककार[४१] अकलंक द्वारा बताये श्रुत के इन तीनों भेदों में से अनुमान निमित्तक आगमनिमित्तक ये दो ही भेद मानते हैं।

अमृतचन्द्रसूरि[४२] और नरेन्द्रसेनाचार्य[४३] ने विस्तार की अपेक्षा पर्याय आदि के भेद से श्रुतज्ञान के बीस भेद किये हैं। और नेमिचन्द्र सिद्धान्तिक चक्रवर्ती ने भी अपने 'गोम्मटसार' के जीवकाण्ड में श्रुतज्ञान के बीस भेदों का उल्लेख किया है, जिनके नाम इस प्रकार हैं-(१) पर्याय, (२) पर्याय समास (३) अक्षर, (४) अक्षरसमास, (५) पद, (६) पद-समास, (७) संघात (८) संघातसमास, (९) प्रति-पत्तिक, (१०) प्रतिपत्तिक-समास, (११) अनुयोग, (१२) अनुयोगसमास, (१३) प्राभृतप्राभृत, (१४) प्राभृतप्राभृतसमास, (१५) प्राभृत, (१६) प्राभृत समास, (१७) वस्तु, (१८) वस्तुसमास, (१९) पूर्व (२०) और पूर्व समास।[४४] इनका स्वरूप जैनाचार्यों ने अपने-अपने ढंग से बतलाया है किन्तु इनके स्वरूप के विषय में उनमें परस्पर कोई मौलिक अन्तर नहीं। ये श्रुतज्ञान के बीस भेद दिगम्बर और श्वेताम्बर दोनों ही परम्पराओं को मान्य हैं, क्योंकि इन बीस भेदों का उल्लेख दोनों परम्पराओं के कर्म-साहित्य में मिलता है।

श्रुतज्ञान पांचों इन्द्रिय और मन से ज्ञात विषय का ही आलम्बन लेकर व्यापार करता है। इसलिये श्रुतज्ञान के अनक्षरात्मक और अक्षरात्मक रूप से भी दो भेद गोम्मटसार में किये गये हैं।

गोम्मटसार के अनुसार अक्षरात्मक और अनक्षरात्मक श्रुतज्ञान का स्वरूप इस प्रकार हैं—

(१) श्रोत्रेन्द्रिय के अतिरिक्त शेष चार इन्द्रियों में से किसी भी इन्द्रिय और मन की सहायता से होने वाले मतिज्ञान पूर्वक श्रुतज्ञान को अनक्षरात्मक श्रुतज्ञान कहते हैं और इस श्रुतज्ञान का दूसरा नाम लिंगज श्रुतज्ञान भी है।

(२) श्रोत्रेन्द्रियजन्य मतिज्ञानपूर्वक जो श्रुतज्ञान होता है उसे अक्षरात्मक श्रुतज्ञान कहते हैं तथा इसको शब्दज श्रुतज्ञान भी कहते हैं। अक्षरात्मक और अनक्षरात्मक श्रुतज्ञान की यही परिभाषा सर्वाधिक प्रचलित है।

---

३८. आव. निर्यु गा. ६७-४९

३९. नन्दीसू., ४८

४०. श्रुतमविप्लवम् प्रत्यक्षानुमानागमनिमित्तम्. (प्र.सं९, पृ ६

४१. जै. त. वा., प ७४

४२. तत्पर्यायादिभेदेन व्यासाद्विशंतिधा भवेत्. (त.सा., का ६४. प. ९)

४३. परम् विंशतिभेद यत्पर्यायाद्यामिधानतः श्रुतम् तदापि वक्ष्येह यथाशक्ति . . . . .

४४. द्रष्टव्य— (क) गो.सा., (जी,का.) गा. ८८७-६७
(ख) सि.सा.स., का ८५८-६४, प, ८६-८९

अक्षरात्मक और अनक्षरात्मक रूप से जो श्रुतज्ञान के दो भेद किये गये है इनका सबसे प्राचीन उल्लेख अकलंक के 'तत्वार्थवार्त्तिक' में मिलता है। अकलंकदेव का कहना है स्मृति, तर्क अनुमान आदि प्रमाणों के द्वारा जब ज्ञाता स्वयं जानता है उस समय वे अनक्षरश्रुत है और जब वह इनके द्वारा दूसरों को ज्ञान कराता है तो वे अक्षर-श्रुत है।

ऊपर जो अक्षर और अनक्षरश्रुत की परिभाषा दी गयी है उसकी अकलंकदेव के उक्त कथन के साथ संगति नहीं बैठती है। क्योंकि इनके अनुसार तो एक ही श्रुतज्ञान अनक्षरात्मक भी होता है और अक्षरात्मक भी होता है। जब तक वह ज्ञान रूप रहता है तब तक अनक्षरात्मक है और जब वह वचनरूप होकर दूसरे को ज्ञान कराने में कारण होता है तब वही अक्षरात्मक कहा जाता है।

यदि हम दोनों परिभाषाओं की तुलना करें तो दोनों में कोई विशेष अन्तर नहीं है। प्रचलित परिभाषा के अनुसार तो अक्षर के निमित्त से होने वाला श्रुतज्ञान अक्षरात्मक है और अकलंकदेव के अनुसार अक्षरोच्चारण में निमित्तज्ञान अक्षरात्मक है। परन्तु विचार करने पर दोनों ही श्रुतज्ञानों को अक्षरात्मक मानना उचित प्रतीत होता है। क्योंकि वास्तव में ज्ञान अक्षरात्मक नहीं होता है वह तो भावरूप ही होता है और अक्षर द्रव्यरूप होता है। किन्तु ज्ञान अक्षर के निमित्त से उत्पन्न होता है इसलिये इसको (ज्ञान को) अक्षरात्मक कहते हैं। वैसे अक्षर के निमित्त के विना जो श्रुतज्ञान होता है वह अनक्षरश्रुत है।

श्रुतज्ञान के अनक्षरात्मक और अक्षरात्मक रूप से जो दो भेद किये गये हैं वे श्वेताम्बर परम्परा को भी मान्य है किन्तु इनके स्वरूप के विषय में दिगम्बर और श्वेताम्बर परम्पराओं में आंशिक मतभेद है। श्वेताम्बर परम्परा के अनुसार अक्षर और अनक्षरश्रुत ये दोनों ही शब्दज हैं। अन्तर केवल इतना ही है कि अक्षरात्मक श्रुतज्ञान अक्षरात्मक शब्द से उत्पन्न होता है और अनक्षरात्मक श्रुतज्ञान को अक्षरात्मक और लिंगंज को अनक्षरात्मक श्रुत माना गया है। यद्यपि यह बात तो दिगम्बर परम्परा भी मानती है कि श्रुतज्ञान में शब्द की प्रधानता होती है। और गोम्मटसार के जीवकाण्ड में तो स्पष्टतया लिखा है कि—श्रुतज्ञान के शब्दज और लिंगंज ये दो भेद हैं किन्तु इसमें शब्दज की ही प्रमुखता हैं।[४४] परन्तु दोनों ही श्रुत शब्दज होते हैं यह बात दिगम्बर परम्परा को मान्य नहीं है।

उपर्युक्त विवेचन से स्पष्ट है कि जैनाचार्यों ने अपने-अपने ढंग से श्रुतज्ञान के भेद किये है। उन में श्रुतज्ञान के अक्षर और अनक्षर रूप से जो दो भेद किये गये हैं, अधिक प्राचीन और सर्वाधिक प्रचलित प्रतीत होते हैं। क्योंकि श्रुतज्ञान के इन दो भेदों का उल्लेख किसी न किसी रूप में सभी जैनाचार्यों ने किया हैं। आवश्यक निर्युक्ति[४५] और नन्दी सूत्र[४८] में भी जो अकखसन्नी सम्मं— आदि चौदह श्रुत के भेद सर्वप्रथम देखने को मिलते हैं, वे किसी प्राचीन दिगम्बर ग्रन्थ में देखने को नहीं मिलते हैं, फिर भी उनमें अक्षर और अनक्षरश्रुत ये भेद सर्व प्रथम देखने को मिलते हैं। यहां तक कि प्रथम प्रयत्न के फलस्वरूप माना जाने वाला अंगप्रविष्ट

४४. णियमेणिह सद्दजम् पमुहम् (गो. सा- (जी.का.), गा. ७५५)

४५. गा ८६

और अंगबाह्य श्रुत भी दूसरे प्रयत्न के फलस्वरूप मुख्य अक्षर और अनक्षर श्रुत में समा जाता है। यद्यपि अक्षरश्रुत आदि चौदह प्रकार के श्रुत का निर्देश आवश्यकनिर्युक्ति और, नन्दीसूत्र, के पर्ववर्ती ग्रन्थों में नहीं देखा जाता है, फिर भी इन चौदह भेदों के आधारभूत अक्षरात्मक और अनक्षारात्मक श्रुत की कल्पना तो प्राचीन ही प्रतीत होती है। श्वेताम्बर और दिगम्बर दोनों परम्पराओं के कर्म-साहित्य में समान रूप से वर्णित श्रुत के वीस प्रकारों में भी अक्षर श्रुत का निर्देश है।

अतः श्रुतज्ञान के कितने भेद हैं इस विषय में जैनाचार्यों में परस्पर मतभेद होते हुए भी कोई मौलिक भेद नहीं हैं।

श्रुतज्ञान का प्रमाण्य

जैनाचार्यों ने श्रुतज्ञान को प्रमाण न मानने वाले चार्वाक, बौद्ध आदि दार्शनिकों का खण्डन किया है। इनका कहना है कि इन्द्रियों से उत्पन्न हुआ प्रत्यक्षज्ञान जैसे अपने और अपने विषय के जानने में सम्वादी होने के कारण भी प्रमाणरूप माना जाता है उसी प्रकार स्व और अर्थ के जानने में सम्वादी होने के कारण श्रुतज्ञान भी प्रमाणरूप है। तथा जैन दार्शनिकों का यह भी कहना हैं कि चार्वाकों और बौद्धों के अपने शास्त्र हैं और उनको पढ़-कर उनको जो ज्ञान होता है वह श्रुतज्ञान से भिन्न ज्ञान नहीं है। इनका यह भी कहना है कि इस शब्द जन्य श्रुतज्ञान के अभाव में गूंगे और वाग्मी में कोई विशेषता नहीं रहेगी, क्योंकि मूर्ख को पण्डित बताने में या बालक को उत्तरोत्तर ज्ञानशाली बताने में शब्द ही प्रधान कारण है। जैनाचार्यों का कहना है कि कहीं कहीं विसम्वाद हो जाने के कारण यदि सभी श्रुतज्ञानों को अप्रमाण ठहराया जायेगा तो सीप में चादी का ज्ञान होना, एक चन्द्रमा को जान लेना आदि प्रत्यक्षों के अप्रमाण हो जाने से सभी प्रत्यक्ष अप्रमाण हो जायेंगे। यह ठीक है कि प्रत्यक्षा-भास के समान श्रुताभास भी मान लिया जाय, किन्तु उनका श्रुतज्ञान को एकदम अप्रमाण ठहराना कदापि उचित नहीं हैं।

अतः उपर्युक्त विवेचना से स्पष्ट होता हैं कि अन्य प्रमाणों के समान श्रुतज्ञान भी एक स्वतन्त्र प्रमाण हैं। और यदि इसको प्रमाण न माना जायेगा तो लोक व्यवहार चलना भी मुश्किल हो जायगा। क्योंकि व्यवहार में भी एक दूसरे के वचनों पर विश्वास करके ही कार्य किया जाता हैं।

श्रुत ज्ञान का महत्व

श्रुतज्ञान ही एक ऐसा ज्ञान है जो ज्ञानरूप भी है और शब्दरूप भी हैं। इसे ज्ञान स्वयं भी जानता है और दूसरों को भी ज्ञान कराता है। वैसे शब्द प्रमाण तो श्रुतज्ञान ही हैं, किन्तु अन्य। दर्शनो में माने गये उपमान, अर्थापत्ति, अभाव, ऐतिह्य, सम्भव और प्रतिभा प्रमाणों का भी शब्द योजना होने पर श्रतज्ञान ही अन्तर्भाव हो जाया जाता है।[४६] श्रुतज्ञान के द्वारा ही पूर्वज तीर्थकरों गणधरों और इनके उत्तरोत्तर आचार्यों शिष्य प्रशिष्यों का ज्ञान प्रवगहित होता हैं। इसको कोई श्रुत, कोई श्रुति और कोइ आगम कहते हैं।

४६. (क) आगमत्वम् पुनः सिद्धमुपमानम् श्रुत यथा. सिहांसने स्थितो राजेत्यादिशब्दोत्थवेदनम्.

त.श्लो.वा.अ. (३.२०.१२४) पृ. ६५५

(ख) उत्तरप्रतियत्याख्या प्रतिभा च श्रुतं मता. नाभ्यसजा सुसवित्तिः कूटद्रुमादिगोचरा.

वही,पृ, ६९१

संकेत सूची

१.	अनु० सू०	अनुयोगद्वारसूत्रम् (ज्ञान मन्दिर, पाटण)
२.	अष्टश०	अष्टशती
३.	अष्टसह०	अष्टसहस्त्री (सरस्वती पुस्तक भण्डार, अहमदावाद)
४.	आ० मी०	आप्तमीमांसा (श्रीशान्तिवीर दिगम्बर जैन संस्थान, शान्तिवीरनगर
५.	आव० निर्यु०	आवश्यकनिर्युक्ति
६.	गो० स्वा० (जी० का०)	गोम्मटसार (जीवकाण्ड), (श्रीमद् राजचन्द्र जैन शास्त्रमाला, आगास)
७.	जै० तर्कभा०	जैनतर्क भाषा (सिंघी जैनग्रन्थमाला, अहमदावाद)
८.	त० सू०	तत्त्वार्थसूत्र जैनागम समन्वय (लालाशादीराम, गोकुलचन्द जौहरी देहली)
९.	त० वा०	तत्त्वार्थवार्त्तिक (भारतीय ज्ञानपीठ, काशी)
१०.	त० श्लो० वा० अ०	तत्वार्थश्लोकवार्तिकालंकार (कल्याणभवन, सोलापुर)
११.	त० सा०	तत्वार्थसार (श्री गणेशप्रसाद वर्णी ग्रन्थमाला, वाराणासी)
१२.	नन्दीसू०	नन्दीसूत्र (अ० भा० श्वेताम्बर स्थानकवासी जैन शास्त्रोद्धार समिति राजकोट)
१३.	न्या० अव०	न्यायावतार (जैन साहित्य विकास मण्डल, वम्बई)
१४.	नि० सा०	नियमसार (श्री सेठी दिगम्बर जैन ग्रन्थमाला, वम्बई)
१५.	प्र० नं० त० लो० लं०	प्रमाणनयतत्वालोकालकार (यशोविजय जैन ग्रन्थमाला बनारस)
१६.	प्र० प्रमे०	प्रमाप्रमेय (जैन संस्कृति संरक्षक संघ, शोलापुर)
१७.	प्रमे० रत्न०	प्रमेयरत्नमाला (चौखम्बा, वाराणसी)
१८.	प्र० सं०	प्रमाणसंग्रह (सरस्वती पुस्तक भण्डार, अहमदावाद)
१९.	भगवतीसू०	भगवतीसूत्र (अ० भा० श्वेताम्बर स्थानकवासी जैन शास्त्रोद्धार समिति, राजकोट)

२०.	रत्नक० उपा०	रत्नकण्ड-उपासकाध्ययन (वीरसेवा मन्दिर, दिल्ली)
२१.	विशे० आ० भा०	विशेषावश्यक भाष्य (भारतीय संस्कृति विद्या मन्दिर, अहमदाबाद)
२२.	षड्द० समु०	षड्दर्शनसमुच्चय (भारतीय ज्ञान पीठ, काशी)
२३.	सर्वद० सं०	सर्व दर्शन संग्रह (चौखम्बा, वाराणसी)
२४.	सर्वा० सि०	सर्वार्थसिद्धि (भारतीय ज्ञानपीठ काशी)
२५.	स्था० सू०	स्थानांग सूत्र (अ० भा० श्वे० स्था० जैन शास्त्रोद्धारसमितिः, राजकोट)
२६.	सि० सा० सं०	सिद्धान्तसारसंग्रह (जीवराज जैन ग्रन्थमाला, शोलापुर)

सद्भिरेव सहासीत सद्भिः कुर्वीत संगतिम् ।
सद्भिर्विवादं मैत्रीं च, नासद्भिर्किञ्चिदाचरेत् ।।

सज्जनों के साथ ही बैठो, सज्जनों के साथ ही रहो, सज्जनों के साथ ही दोस्ती करो, सज्जनों के साथ ही झगड़ा करो, तात्पर्य जो कुछ भी आचरण करो केवल सज्जनों के साथ ही करो, असत्पुरुषों के साथ जरा सा भी किसी भी प्रकार का सम्पर्क मत रखो ।

वृत्तं यत्नेन संरक्षेत्, वित्तमायाति याति च ।
अक्षीणो वित्ततः क्षीणो, वृत्ततस्तु हतो हतः ।।

अपने चरित्र की प्रयत्न पूर्वक रक्षा करनी चाहिये क्योंकि धन चले जाने पर भी मनुष्य क्षीण नहीं होता, उसका कुछ नहीं विगड़ता किन्तु जिसका चरित्र नष्ट हो जाता है वह मनुष्य तो मरे हुए के समान ही है ।

नय

☐ सिद्धान्ताचार्य पं० कैलाशचन्द्र शास्त्री, वाराणसी

ज्ञाता के अभिप्राय को नय कहते हैं और प्रमाण से गृहीत वस्तु के एक देश में वस्तु का निश्चय ही अभिप्राय है। आशय यह है कि प्रमाण का विषय द्रव्य पर्यायात्मक वस्तु है। उसके एक देश द्रव्य अथवा पर्याय को वस्तु रूप से ग्रहण करने वाला ज्ञान नय है प्रमाण का विषय एकांत नहीं है क्योंकि एकान्त तो अवस्तु है और नय का विषय अनेकांत नहीं है क्योंकि एकान्त रूप अवस्तु में अनेकान्त रूप वस्तु का आरोप नहीं हो सकता। इसके सिवाय प्रमाण का विषय न तो केवल विधि है क्योंकि ऐसा होने पर प्रमाण जिस पदार्थ को जानेगा, दूसरे पदार्थों से उसकी भिन्नता का ग्रहण न करने पर घट की तरह पट में भी उसकी प्रवृत्ति हो जायेगी क्योंकि उसे तो केवल विधि का ही ज्ञान है यह नहीं है, इस निषेध का ज्ञान नहीं है। तथा प्रमाण केवल निषेध को भी ग्रहण नहीं करता, क्योंकि विधि को जाने बिना घट पट से भिन्न है, इस प्रकार के निषेध को जानना शक्य नहीं है। प्रमाण में विधि और निषेध दोनों परस्पर में भिन्न भी प्रतिभासित नहीं होते, क्योंकि ऐसा होने पर पूर्वोक्त दोनों दोषों का प्रसंग आता है। अतः विधि-निषेधात्मक वस्तु प्रमाण का विषय है और इसलिए प्रमाण का विषय एकान्त नहीं है। अतः प्रमाण से जानी हुई वस्तु के एक देश में वस्तुत्व की विवक्षा का नाम नय है। यतः प्रमाण से गृहीत वस्तु मे जो एकान्त रूप व्यवहार होता है वह नयनिमितक है इसलिये समस्त लोक व्यवहार नय के अधीन है।

अकलंक देव ने कहा है[1] –प्रमाण से गृहीत अस्तित्व–नास्तित्व, नित्यत्व–अनित्यत्व आदि अनन्त धर्मात्मक जीवादि पदार्थों के धर्मो का निर्दोषरूप से कथन करने वाला नय है। शायद कहा जाये कि ज्ञाता के अभिप्राय का नाम नय है, किन्तु अभिप्राय तो अबोध रूप होता है वह जीवादिपदार्थों के धर्मों का दोष रहित कथन करने वाला कैसे हो सकता है? इस का समाधान यह है कि द्रव्य और पर्याय के अभिप्राय से उत्पन्न द्रव्य पर्याय के निरूपणात्मक वचनों को अथवा अभिप्राय वाले पुरुष को नय मानने से उक्त दोष नहीं आता है। आचार्य पूज्यपाद-ने कहा है[1] अनन्त धर्मात्मक वस्तु के किसी एक धर्म का ज्ञान कराते समय श्रेष्ठ हेतु की अपेक्षा करने वाला निर्दोष प्रयोग नय है। वहां भी जैसे अभिप्राय वाले प्रयोक्ता को नय कहा है वैसे ही प्रयोक्ता के अभिप्राय को प्रकट करने वाले नय जन्य प्रयोग को भी कार्य में कारण का उपचार करके नय कहा है। साराशं यह है कि अनेक धर्मो से युक्त की विवक्षा है शेष धर्मो की विवक्षा नहीं है। नय के तीन रूप है अर्थरूप, शब्दरूप और ज्ञानरूप। वस्तु का एक धर्म अर्थ नय है, उस धर्म का वाचक शब्द शब्द-रूप नय है

और उस धर्म का ग्राहक ज्ञान ज्ञानरूप नय है। वस्तु का एक धर्म नय के द्वारा ग्राह्य है इसलिये उसे नय कहा जाता है और उस धर्म का वाचक शब्द रूप नय है और उस धर्म का ग्राहक ज्ञान ज्ञानरूप नय है। वस्तु का एक धर्म नय के द्वारा ग्राह्य हैं इसलिये उसे नय कहा जाता है और उस धर्म का वाचक शब्द तथा ग्राहक ज्ञान एक धर्म को ही कहता अथवा जानता है इसलिये वह तो नय है ही क्यों कि वस्तु के एक देश के ग्राहक को नय कहते है और सकल वस्तु के ग्राहक को प्रमाण कहते है।

नय ही अनेकांत का मूल्य

सब दर्शनों में एक जैन दर्शन ही अनेकांतवादी है। अनेकांत का लक्षण है सदैकान्त, असदैकान्त, नित्यैकान्त, अनित्यैकान्त आदि सर्वथा एकान्तों का निरसन करके जो वस्तु को कथंचित सत् कथंचित असत्, कथंचित नित्य, कथंचित् अनित्य आदि रूप स्वीकार करता है वह दर्शन अनेकान्तवादी है।

यदि वस्तु को सर्वथा सत्यस्वरूप ही माना जायेगा दूसरे शब्दों में यदि भावैकान्त माना जायगा तो अभाव का सर्वथा लोप हो जाने से अनेक दोष उत्पन्न होंगे। अभाव के चार प्रकार हैं, प्रागभाव, प्रध्वंसाभाव, अन्योन्याभाव और अत्यन्ताभाव। घट के उत्पन्न होने से पहले जो उसका अभाव है उसे प्राग्भाव कहते हैं। प्रागभाव का अभाव होने पर घर उत्पन्न होता है। यदि प्राग्भाव को न माना जायेगा तो घट आदि कार्य अनादि हो जायेगें। उत्पत्ति के पश्चात् जो अभाव होता है उसे प्रध्वसांभाव कहते हैं जैसे घट के टूटने पर घट का प्रध्वसांभाव होता है। यदि प्रध्वांसाभाव को न माना जायेगा तो घट आदि सभी कार्य नित्य हो जायेगा, उनका कभी विनाश नहीं होगा। पुद्गल द्रव्य की दो पर्यायों में जो परस्पर में अभाव होता है जैसे घट पट नहीं है और पट घट नहीं है इसे अन्योन्याभाव कहते है। अन्योन्योभाव का अभाव होने पर घट पट हो जायेगा और पट घट हो जायेगा। एक द्रव्य में दूसरे द्रव्य के अभाव को अत्यन्ताभाव कहते है जैसे जड का चेतन में अभाव है और चेतन का जड में अभाव है। अत्यन्ताभाव का अभाव होने पर जड़ चेतन सब एक हो जायेंगे। पदार्थ की कोई अपनी मर्यादा ही नहीं रहेगी। इसी तरह यदि केवल अभावैकान्त माना जाये कि संसार में केवल अभाव ही है कुछ भी भाव रूप नही है तो उस अभावैकांत का समर्थन करने का साधन ही नही रहेगा, न ज्ञान ही होगा और न शब्द ही, तब कैसे भावैकान्त में दूषण देखकर अभावैकान्त कीसिद्धि कर सकेंगे।

अत: प्रत्येक वस्तु स्वरूपादि चतुष्टय की अपेक्षा सत् ही है और पररूपादि चतुष्टय की अपेक्षा असत् ही है कौन ऐसा विचार शील दार्शनिक है जो इस सत्य को स्वीकार नहीं करेगा। वस्तु का वस्तुत्व दो बातों पर नर्भर है। स्वरूप का ग्रहण और पररूप परित्याग। यदि स्वरूप की तरह पर-रूप से भी वस्तु को सत् माना जायगा तो चेतन अचेतन हो जायगा और यदि पररूप की तरह स्व-रूप से भी वस्तु को असत् माना जायगा तो सर्वथा शून्यता की आपत्ति उपस्थित होगी। स्वद्रव्य की तरह पर द्रव्य से भी वस्तु को सत् मानने पर द्रव्यों का कोई नियम नहीं रहेगा तथा पर द्रव्य की तरह स्वद्रव्य से भी वस्तु को असत् मानने पर भी द्रव्य निराश्रय हो जायेंगे। तथा स्वक्षेत्र की तरह

---

१. षट्खण्डागम (धवला टीका) पु. ६, पृ. १६६-१६७

पर क्षेत्र में भी वस्तु को सत् मानने पर किसी वस्तु का कोई सुनिश्चित क्षेत्र नहीं रहेगा। पर क्षेत्र की तरह स्वक्षेत्र से भी वस्तु को असत् मानने पर सभी द्रव्य निराश्रय हो जायेंगे तथा स्वक्षेत्र की तरह पर क्षेत्र से भी वस्तु को सत् मानने पर भी किसी वस्तु का कोई सुनिश्चित क्षेत्र नहीं रहेगा। पर क्षेत्र की तरह स्वक्षेत्र से भी वस्तु को असत् मानने पर वस्तु के क्षेत्र का ही अभाव हो जावेगा। स्वकाल की तरह पर काल से भी वस्तु को सत् मानने पर कोई सुनिश्चित काल नहीं रहेगा। पर काल की तरह स्वकाल से भी वस्तु को असत् मानने पर समस्त काल ही असम्भव हो जायेगा। तब आप कैसे किसी इष्ट और अनिष्ट तत्व की व्यवस्था कर सकेंगे। अतः प्रत्येक वस्तु कथञ्चित सत्स्वरूप और कथंचित असत्स्वरूप है। कहा भी है—

भावैकान्ते पदार्थानाम भावा नाम पन्हवात्।
सर्वात्मक मनाद्यन्तम स्वरूपमतावकम् ॥६॥
अभावैकान्त प्रक्षेऽपि भावा पन्हववादिनाम्।
वोधवाक्यं प्रमाणं न केन साधम दूषणम् ॥१३॥
सदेव सर्व को नेच्छेत् स्वरूपादि चतुष्टयात्।
असदेव विपर्यासान्न चेत्र व्यवतिष्ठते ॥ १५॥

जैसे प्रत्येक वस्तु कथंचित् सत्स्वरूप और कथंचित् असत्स्वरूप है वैसे ही कथंचित् नित्य और कथंचित् अनित्य है। जैन दर्शन में सत् को युक्त हो उसे सत् कहा है। जैसे मिट्टी का पिण्डाकार नष्ट होकर घटाकर उत्पन्न होता है किन्तु दोनों ही अवस्थाओं में मिट्टी न उत्पन्न होती है और न नष्ट होती है। जो मैं पहले सुखी था वही मैं अब दु;खी हूं। इस प्रतीति में सुखी रूप का विनाश, दुःखी रूप का उत्पाद और एक पुरुष रूप त्मक है। उत्पाद व्यय और ध्रौव्य ये तीनों भी परस्पर में सापेक्ष हैं। क्योंकि व्यय और ध्रौव्य के विना केवल उत्पाद नहीं होता, उत्पाद और व्यय के विना केवल ध्रौव्य नहीं होता और उत्पाद के बिना केवल सत्ता सम्भव नहीं है अतः सत उत्पाद व्यय ध्रोव्यात्मक है। इसके लिये आचार्य समन्तभद्र ने दो उदाहरण दिये है–एक राजा के के पास सोने का घड़ा है। उसकी पुत्री को वह प्रिय है किन्तु राजपुत्र घट तुडबाकर उसका मुकट बनवाता है। जब घट टूटता है तो पुत्री रोती है, मुकुट के बनने से राजपुत्र प्रसन्न होता है किन्तु राजा मध्यस्थ रहता है। यहां घट की इच्छुक पुत्री को इसलिये शोक हुआ कि घट नष्ट हो गया। मुकुट के इच्छुक राजपुत्र को इसलिये आनन्द हुआ कि मुकुट उत्पन्न हुआ और सुवर्ण का इच्छुक राजा इसलिये मध्यस्थ रहा है कि सुवर्ण का सुवर्ण बना रहा। इन तीनों का यह शोक, आनन्द और मध्यस्थ भाव अकारण नहीं है अतः सिद्ध है कि वस्तु उत्पादादि तीन रूप है।

इसी तरह एक व्रती यह नियम लेता है कि आज मैं दूध ही पीऊंगा वह दही नहीं खाता। दूसरा व्रती यह नियम लेता है कि आज मैं दही खाऊंगा वह दूध नहीं पीता। तीसरा व्रती यह नियम लेता है कि आज मैं गोरस नहीं खाऊंगा वह न दही खाता है और न दूध पीता है क्यों कि दोनों ही गोरस रूप है। इससे सिद्ध है कि वस्तु त्रयात्मक है।

घटमौलिसुवर्णार्थी नाशोत्पादस्थितिनयम्।
शोकप्रमोदमाध्यस्थ्य जनो याति सहेतुकम् ॥५६॥
पयोव्रतो न दध्यगत्ति न पयोत्ति दधिव्रतः।
अगोरसव्रतो नोभे तस्मात्तत्वं त्रयात्मकम् ॥६०॥
आप्तमीमांसा।

इस तरह यतः वस्तु ध्रौव्यात्मक है अतः नित्य है और यतः वस्तु उत्पाद-व्ययरूप है इसलिये अनित्य है अतः वस्तु कथंचित् नित्य और कथंचित् अनित्य है।

इस तरह जैन दर्शन वस्तु को अनेकान्तात्मक मानने से अनेकान्तवादी कहा जाता है। अनेकांत-वस्तु के कथन करने का नाम स्याद्वाद हैं। स्याद्वाद के बिना अनेकान्तात्मक वस्तु का कथन करना शक्य नहीं हैं क्योंकि जैसे ज्ञान (प्रमाण) अनेकान्तात्मक वस्तु को एक साथ जान सकता है उस प्रकार शब्द उसे कह नहीं सकता। अत वक्ता एक धर्म के द्वारा अनन्तधर्मात्मक वस्तु का कथन करता है इसी से शेष धर्मों का सूचक या द्योतक "स्यात्" शब्द के प्रत्येक वाक्य के साथ प्रकट या अप्रकट रूप से संयुक्त रहता है जो इस बात को बतलाता है कि वस्तु में अनेक धर्म है। कथंचित आदि शब्द भी "स्यात्" शब्द के ही पर्याय शब्द हैं। अतः स्यात् सत् या कथंचित सत् का एक ही अर्थ है। इस तरह स्याद्वाद अनेकान्त को अपना कर सात भंगों की तथा नय की अपेक्षा से वस्तु को स्वरूप की अपेक्षा सत् पररूप की अपेक्षा असत् इत्यादि कथन करता है। इसलिये आचार्य समन्तभद्र ने स्याद्वाद के द्वारा गृहीत अनेकान्तात्मक अर्थ के नित्यत्व आदि विशेष धर्मों के पृथक पृथक प्रतिपादन को नय कहा है। यथा—

स्याद्वाद प्रविभक्तार्थ विशेप व्यंजनको नयः ।।१०६।।

आप्तमीमांसा।

अतः अनेकान्त की प्रतिपत्ति का नाम प्रमाण है और एकान्त की प्रतिपत्ति का नाम नय है।

किन्तु जैन दर्शन कहता है कि जी कुछ सत् है वह सब अनेकान्तात्मक है और एकान्त रूप वस्तु-तत्व कोई है ही नहीं। ऐसी स्थिति में एकान्त का ग्राही नय मिथ्या ही ठहरता है। इस आशंका का परिहार यह है कि अनेकान्त और एकान्त दोनों ही सम्यक और मिथ्या के भेद से दो प्रकार के हैं। प्रमाण के द्वारा निरूपित वस्तु के एक देश को संयुक्ति ग्रहण करने वाला सम्यग् एकान्त है और एक धर्म का सर्वथा अवधारण करके अन्य धर्मों का निरा-करण करने वाला मिथ्या एकान्त है। एक वस्तु में युक्ति और आगम से अविरुद्ध अनेक विरोधी धर्मों को ग्रहण करने वाला सम्यक् अनेकांत है और वस्तु को तत् अतत् आदि स्वभाव से शून्य कह कर उसमें अनेक धर्मों की मिथ्या कल्पना करने वाला अर्थ शून्य वचन विलास मिथ्या अनेकान्त है। सम्यक एकान्त को नय कहते हैं और सम्यक अनेकान्त को प्रमाण कहते है। प्रमाण की अपेक्षा अनेकान्त रूप वस्तु हैं और नय की अपेक्षा एकान्त रूप है।

यदि अनेकान्त ही माना जाय और एकान्त को न माना जाये तो जैसे पूर्वादि के अभाव में वृक्ष का भी अभाव होता है वैसे ही एकान्त के अभाव में अने-कान्त का भी अभाव हो जायेगा, क्योंकि एकान्तों के समूह को ही अनेकान्त कहते हैं। किन्तु वे एकान्त अन्य एकान्त सापेक्ष होना चाहिये। निरपेक्ष नहीं होना चाहिये। जो धर्मान्तर की अपेक्षा रखते हुए वस्तु के एक अंश (धर्म) को ग्रहण करता है उसे नय कहते हैं और जो केवल उस एक धर्म को ही पूर्ण मानकर उसके प्रतिपक्षी धर्म का निराकरण करता वह तो दुर्लभ है। अतः निरपेक्ष नय मिथ्या है और सापेक्ष नय सुनय है उनका समूह ही वस्तु है। निर-पेक्षता का मतलव है प्रतिपक्षी धर्म का निराकरण, सापेक्षता का मतलब है प्रतिपक्षी धर्म की अपेक्षा न होने से उपेक्षा।

अतः अनेकान्त रूप अर्थ के ज्ञान को प्रमाण कहते हैं। उसके एक अंश के ग्रहण को नय कहते

हैं और जो धर्मान्तर का निराकरण करता है वह दुर्नय है। इस तरह अनेकान्त का मूल नय है।

इस तरह वस्तु के एक धर्म की विवक्षा से लोक व्यवहार को साधने वाला नय ही है। नय के तीन रूप हैं— अर्थ रूप, शब्दरूप और ज्ञानरूप। वस्तु का एक धर्म अर्थरूप नय है उस धर्म का वाचक शब्द शब्द-रूप नय है और उस धर्म का ग्राहक ज्ञान ज्ञानरूप नय है। वस्तु का एक धर्म नय के द्वारा ग्राहक है इसलिये उसे भी नय कहा जाता है। उस धर्म का वाचक शब्द और ग्राहक ज्ञान तो नय हैं ही। जैसे अनेक धर्मों को अनेकान्त कहते हैं वैसे ही वस्तु के एक धर्म को एकान्त कहते हैं। अनेकान्त रूप वस्तु प्रमाण का विषय है और एकान्त रूप वस्तु नय का विषय है। अतः प्रमाण की अपेक्षा अनेकान्त है तो नय की अपेक्षा एकान्त है। यदि एकान्त को नहीं माना जाये तो अनेकान्त भी नहीं बन सकता क्यों कि एकान्तों के समूह का नाम ही अनेकान्त है किन्तु एकान्त सच्चा भी होता है और मिथ्या भी। एक धर्म का सर्वथा अवधारण करके अन्य धर्मों का निराकरण करने वाला मिथ्या एकान्त है और प्रमाण के द्वारा निरूपित वस्तु के एक धर्म को सयुक्ति ग्रहण करने वाला सम्यग्एकान्त है। सम्यग् एकान्त को नय कहते हैं और मिथ्या एकान्त को दुर्नय कहते हैं। नय एक अंश का प्रतिपादक होने पर भी वस्तु के इतर अंशो का निषेध नहीं करता, वह इतर अंश सापेक्ष होता है। अतः इस तरह सभी अंश ग्राही नय अपने अपने अंश द्वारा मिल कर सम्पूर्ण वस्तु का ही कथन करते हैं किन्तु दुर्नय अपने विषय-भूत एक अंश को ही सम्पूर्ण वस्तु मान कर उसी का प्रतिपादन करने के साथ दूसरे अंशों का निर-सन करता है। अतः जो अभिप्राय एकान्त स्पर्शी होने पर भी उस वस्तु के दूसरे अविवक्षित अंशों के विषय में केवल उदासीन रहता है, उस अंश के का आग्रह नहीं रखता और केवल अपने वक्तव्य अंश में ही प्रवृत्ति होता है वही नय है। इस तरह अने-कान्त का मूल नय है। नय को जाने विना अनेकान्त को नहीं जाना जा सकता।

नय का विकास

जैन दर्शन में वस्तु को द्रव्य पर्यायात्मक या सामान्य विशेषात्मक माना है। किन्तु द्रव्य और पर्याय का अस्तित्व जुदा जुदा नहीं है। दोनों का एक ही अस्तित्व है द्रव्य के विना पर्याय नहीं, पर्याय के विना द्रव्य नहीं। जैसे दूध, दही, मक्खन और घी रूप पर्याय से रहित गोरस नहीं होता है और गोरस से रहित दूध, दही, मक्खन घी नहीं होते। दोनों ही परस्पर में अभिन्न है केवल दृष्टिभेद या विवक्षा भेद से ही दोनों में भेद है। इसी से द्रव्य पर्यायात्मक वस्तु के अंशग्राही नयों का नाम द्रव्यार्थिक और पर्यायार्थिक है। ये दो ही मूल नय है शेष सब नय इन्हीं दोनों नयों के भेद प्रभेद हैं। आचार्य कुन्द-कुन्द ने अपने प्रवचनसार में इन्हीं दोनों नयों के द्वारा द्रव्य को एक अनेक बतलाया है। इन्हीं के रूपान्तर निश्चयनय और व्यवहार नय से उन्होंने सब पदार्थो का निरूपण समयसार में किया है। उमास्वामी ने तत्वार्थ सूत्र में (१।३३) में केवल सात नयों का निदश है। नयों के स्वरूपादि का विशेष विवेचन समन्तभद्र और सिद्धसेन के ग्रन्थों में मिलता है।

सिद्धसेन ने अपने सन्मति[२] तर्क के प्रथम काण्ड में नय का ही विवेचन किया है। तीसरी गाथा से मुख्य प्रतिपाद्य विषय का अवतरण करते हुए उन्होंने

---

२. सन्मति तर्क का हिन्दी अनुवाद के साथ प्रथमवार प्रकाशन ज्ञानोदय ट्रस्ट अहमदाबाद से वि०सं० २०१९ में हुआ है।

कहा है--तीर्थंकरों के वचनों की सामान्य और विशेष रूप राशियों के मूल प्रतिपादक द्रव्यार्थिक और पर्यायार्थिक नय है। बाकी के सब इन दोनों के ही भेद हैं। आगे इन दोनों नयों का विशेष विवेचन करते हुए कहा है।

१. द्रव्यार्थिक का वक्तव्य पर्यायार्थिक की दृष्टि में नियम से अवस्तु है इसी तरह पर्यायार्थिक की वक्तव्य वस्तु द्रव्यार्थिक की दृष्टि में अवस्तु है (गा० १०)

२. पर्यायार्थिक की दृष्टि में सभी पदार्थ नियम से उत्पन्न और नष्ट होते हैं द्रव्यार्थिक की दृष्टि में सभी वस्तुएं सदा उत्पत्ति और विनाश से रहित है। (गा० ११)

३. दोनों मूल नय अलग अलग मिथ्यादृष्टि हैं। (गा० १३)

४. जिस तरह ये दोनों नय उसी तरह दूसरे सब नय भी अलग अलग द्रव्य हैं (गा० १५)

५. दोनों मूलनय अलग अलग मिथ्यादृष्टि क्यों है ? इसको स्पष्ट करते हुए लिखा है।

६. द्रव्यार्थिक के पक्ष में संसार नहीं घटता क्योंकि वह नित्यत्ववादी है और पर्यायार्थिक के पक्ष में भी संसार नहीं घटता क्यों कि वह नाशवादी है। नित्यवाद में भी सुख दुःख सम्भव नहीं और सर्वथा विनाशवाद में भी सम्भव नहीं हैं। (गा० १७-२०)

जैसे मूल्यवान रत्न भी यदि बिखरे हुए हों तो रत्नावली नाम नहीं पाते उसी तरह सभी नय परस्पर में निरपेक्ष होने पर सम्यग्दर्शन व्यवहार नहीं पा सकते। और जैसे वे ही रत्न अपने अपने गुण के अनुसार डोरे में पिरोये जाने पर रत्नावली कहलाते हैं वैसे ही सभी नय यथोचित रूप से संकलित होकर व्यवस्थित होने पर सम्यग्दर्शन व्यवहार पाते हैं।

इस तरह आचार्य सिद्धसेन ने नयों के सम्बन्ध में अनेक आवश्यक बातों का कथन करने के साथ अपने कुछ विशेष मन्तव्य भी रखे। उन्होंने सात नयों में से नैगम को पृथक नय स्वीकार नहीं किया तथा व्यवहार नय पर्यन्त ही द्रव्यार्थिक की मर्यादा स्थापित की और ऋजुसूत्र नय को पर्यायार्थिक नय का भेद माना।

आचार्य समन्तभद्र ने अपने आप्त[3] मीमांसा के अन्त में नय का स्वरूप बतलाया तथा सापेक्ष नयों को सम्यक् और निरपेक्ष नयों को मिथ्या कहा (श्लोक १०६,१०८)।

अपने बृहत्स्वयंभूस्तोत्र में भगवान विमल जिन की स्तुति में भी परस्पर सापेक्ष नयों को स्वपरोपकारी कहा तथा अरजिन की स्तुति में अनेकान्त में अनेकान्त की अवतारणा करके अनेकान्त की सर्वव्यापकता को सिद्ध किया। प्रमाण की अपेक्षा अनेकान्त और नय की अपेक्षा एकान्त है। यह कथन सर्वप्रथम उन्हीं के ग्रन्थ में मिलता है। इन दोनों आचार्यों के पश्चात् आचार्य मल्लवादी ने द्वादशांग[4]

---

३. आप्त मीमांसा और वृ० स्वं० स्तोत्र का हिन्दी अनुवाद वीर सेवा मन्दिर ट्रस्ट देहली से प्रकाशित हुआ है।

४. इस ग्रन्थ पर सिंह सूरि की टीका ही उपलब्ध है। उसके कुछ भाग का प्रकाशन बड़ौदा गायकवाड सिरीज से हुआ था। उसके पश्चात् वि०सं० २००४ में लब्धी स्सूरिश्वर जैन ग्रन्थमाला छाणी से हुआ।

नयचक्र नाम का ग्रन्थ रचा। सम्भवतया नय पर यह प्रथम स्वतन्त्र ग्रन्थ था। इसके नाम में नय के साथ चक्र शब्द संयुक्त करके नयचक्र नाम दिया गया। चक्र-गाडी के पहिये को कहते हैं। पहिये में जो डण्डे लगे होते हैं उन्हें अर कहते हैं। इस नय चक्र में भी विधि निषेध रूप १२ अर होने से द्वादशार नयचक्र नाम दिया गया।

नय को चक्र की उपमा क्यों दी गई यह बात विचारणीय है। हमारी दृष्टि में चक्र का कोई भाग सदा ऊंचा या नीचा नहीं रहता। चक्र के चलने पर ऊंचा भाग नीचा और नीचा भाग ऊंचा हो जाता है। नय की भी ऐसी हा स्थिति है विवक्षा-वश वस्तु के एक अंश को ग्रहण करने वाला नय मुख्य होता है और विवक्षा नहीं होने पर वहीं गौण हो जाता है। नय की इसी सरणि का सूचन उसके साथ संयुक्त चक्र शब्द से होता है। उपलब्ध साहित्य को देखते हुए 'नयचक्र' नाम की परम्परा का सर्वत्र यही नय चक्र प्रतीत होता है।

तत्वार्थ सूत्र के व्याख्याकार आचार्य पूज्यपाद, भट्टाकलंक और विद्यानन्द ने अपने अपने व्याख्या-ग्रन्थों में नय के सात भेदों का विवेचन किया है। इन तीनों में से आचार्य विद्यानन्द ने अपने 'तत्वार्थ श्लोकवातिक' में नय की स्थिति को विशेष रूप से स्पष्ट किया है। भट्टाकलंक देव ने अपने लघीयस्त्रय और सिद्धिविनिश्चय में नयों का सुन्दर विवेचन किया है। यह विवेचन दार्शनिक सरणिकों लिये हुए है। 'सिद्धिविनिश्चय' का दसवां प्रस्ताव अर्थ नय सिद्धि है और ग्यारहवां प्रस्ताव शब्द नय सिद्धि है। अक्लंक देव ने सात नयों में से नैगम से लेकर ऋजुसूत्र पर्यन्त नयों का अर्थ प्रधान होने से अर्थनय और शेष तीन नयों के शब्द प्रधान होने से शब्द नय कहा है। (लघीय स्त्रय का २२)। ऊपर लिख आये हैं कि ज्ञाता के अभिप्राय को नय कहते हैं तथा उस अभिप्राय को ही पूर्ण वस्तु मानना दुर्नय या नयाभास है। अकलंक देव ने नयाभास का विवेचन करते हुए वैशेषिक दर्शन को द्रव्यार्थिकाभास, सांख्यमत को नैगमाभास, ब्रह्मवाद को संग्रहाभास तथा बौद्ध-मत को ऋजुसूत्राभास बतलाया है।

अकलंक के अनुवादक आचार्य विद्यानन्द ने तत्वार्थ श्लोकवार्तिक में प्रथम अध्याय के छठे तथा तेतीस के सूत्रों की व्याख्या में नय का इतना सुन्दर विवेचन किया है कि उस विवेचन का संकलन नय[५] विवरण नाम से किसी ने पृथक कर दिया है और वह एक स्वतन्त्र प्रकरण जैसा प्रतीत होता है। इसमे आचार्य विद्यानन्द ने प्रमाण और नय के भेद को दृष्टान्त द्वारा स्पष्ट करते हुए लिखा है कि प्रमाण स्व और अर्थ का निश्चायक है तो नय उसके एक देश का निश्चायक है वह अंश न तो वस्तु हैं और न अवस्तु है किन्तु वस्तु का अंश है जैसे समुद्र का अंश न समुद्र है और न असमुद्र है किंतु समुद्रांश है। यदि अंश को ही समुद्र कहा जायगा तो शेष अंश असमुद्र कहलायेंगे या फिर एक एक अंश को समुद्र मानने पर बहुत से समुद्र हो जायेंगे इसी तरह नय का विषय स्वार्थैकदेश वस्तु न ही है क्योंकि उस एक देश को ही वस्तु मानने पर स्वार्थ के अन्य देश अवस्तु कहलायेंगे या फिर एक एक देश को ही वस्तु मानने से वस्तु बहुत्व का प्रसंग प्राप्त होगा। वह एक देश अवस्तु भी नहीं है उसे अवस्तु मानने से शेष अंश भी अवस्तु कहलायेंगे और तब वस्तु की व्यवस्था ही नहीं बन सकेगी। इसलिये नय का विषय वस्तु का एक देश है।

इस पर से यह आशंका की गई कि जैसे अंशी

---

५. संस्कृत प्रथम गुच्छक (निर्णयसागर प्रेस, बम्बई से प्रकाशित) में।

वस्तु को जानने वाले ज्ञानको प्रमाण कहते हैं वैसे ही उसके एक अंश को जानने वाला नय प्रमाण क्यों नहीं है[६] इसका उत्तर देते हुए कहा है कि जिस अंशी के सब अंश गौण है उसका ज्ञान नय है और वह द्रव्यार्थिक है किन्तु जिस अंशी के सभी अंश प्रधानता को लिये हुए हों उसका प्रमाण ही है अतः प्रमाण से नय भिन्न है ।

इस पर पुनः आशंका की गई कि यदि नय प्रमाण नहीं है तो वह अप्रमाण हुआ और अप्रमाणात्मक नय से वस्तु का यथार्थ ज्ञान कैसे हो सकता है ? तो इसका उत्तर दिया गया कि नय न तो प्रमाण है और न अप्रमाण है किन्तु प्रमाण का एक देश है ।

अब प्रश्न हुआ कि जैन दर्शन में पांच ज्ञान प्रमाण माने गये हैं उनमें से किस प्रमाण का एक देश नय है ? इसका उत्तर दिया गया कि मतिज्ञान अवधिज्ञान और मनःपर्ययज्ञान से ग्रहीत वस्तु के अंश में नयों की प्रवृत्ति सम्भव नहीं है क्योंकि नय समस्त देश और कालवर्ती अर्थ को विषय करते हैं और मति आदि ज्ञानों का विपय समस्त देश और कालवर्ती पदार्थ नहीं है । नय त्रिकलावर्ती समस्त पदार्थों के एक देश में प्रवृत्त होते हैं इसलिये वे केवलज्ञान के भेद हैं ऐसा भी नहीं समझना चाहिये क्योंकि केवलज्ञान स्पष्ट है और नय अस्पष्ट अवभासी है । शेष बचे श्रुत ज्ञान के ही भेद नय हैं ।[७]

इस तरह आचार्य विद्यानन्द ने नय की स्थिति को सम्यक् रीति से स्पष्ट किया है ।

आचार्य समन्तभद्र के 'आप्तमीमांसा' नामक प्रकरण पर अकलंक देव ने अष्टशती नामक भाष्य रचा है और भाष्य पर आचार्य विद्यानन्द ने अष्टसहस्त्री नामक दार्शनिक ग्रन्थ की रचना की है । कारिका १०४ नर निर्मित भाष्य की एक पंक्ति इस प्रकार है– 'द्रव्यार्थिक पर्यायार्थिक प्रविभागवशा न्नैगमादय शब्दार्थनया वहुविकल्पा मूलनय द्वय शुद्धय शुद्धिम्याम्' इसकी व्याख्या में विद्यानन्द ने मूलनय द्रव्यार्थिक की शुद्धि और अशुद्धि से नयों के भेदों का विवेचन करते हुए नैगम नय के अनेक भेदों का निर्देश किया है और नय के भेदों को नयचक्र से जानने की प्रेरणा की है । 'तत्वार्थ[८] श्लोकवार्तिक' में भी उन्होंने नैगमादिनयों के भेदों का विवेचन करके नय चक्र में उनका विस्तार देखने का निर्देश किया है ।

आचार्य विद्यानन्द के पश्चात् आचार्य देवसेन के नयचक्र तथा उसके ऊपर विरचित 'आलाप पद्धति' में तथा तदनुसारी द्रव्य स्वभाव प्रकाशक नय चक्र में ही नयों का भेद प्रभेदों का विस्तृत विवेचन मिलता है । जिनका परिचय आगे कराया जायेगा । इस तरह हम देखते हैं कि उत्तरोत्तर नय तथा तद्विषयक साहित्य का क्रमशः विकास हुआ है और इसका कारण सम्भवतया नयों की उपयोगिता के साथ नय विषयक जिज्ञासा की वृद्धि है ।

---

६. 'तत्वार्थश्लोकवार्तिक' मूल गांधी नाथारंग जैन ग्रन्थ माला बम्बई से सन् १९१८ में प्रकाशित हुआ । हिन्दी अनुवाद के साथ कुन्थु सागर जैन ग्रन्थमाला शोलापुर से प्रकाशित हुआ है ।

७. इति मूलनय द्वय शुद्धयशुद्धिभ्यां वहुविकल्पा नयाः नयचक्रतः प्रतिपत्तव्याः । अष्ट स०पृ० २८८

८. संक्षेपेण नयास्तावद व्याख्यातास्तत्र सूचिताः । ताद्विशेषा प्रपञ्चेन संचित्या नयचक्रतः । ॥१०२॥ त० श्लो०वा० १।३३।

नय का महत्व

आचार्य देवसेन ने अपने नयचक्र के प्रारम्भ में नय का महत्व बतलाते हुए कहा है कि जैसे सम्यग्ज्ञान सम्यक्‌चारित्र का मूल सम्यग्दर्शन है या सप्त धातु का मूल भोजन के पाचन से बनने वाला रस है वैसे ही अनेकान्त का मूल नय है। तथा लिखा है कि जिनके नय रूपी दृष्टि नहीं है वे वस्तु के स्वरूप को कैसे देख सकते है और जो वस्तु के स्वभाव से ही अनजान है वे सम्यग्दृष्टि कैसे हो सकते हैं जैसे धर्महीन[९] मनुष्य सुख की वाञ्छा करता है, जैसे प्यासा मनुष्य विना पानी के प्यास बुझाना चाहता है वैसे ही नय के ज्ञान से रहित मनुष्य वस्तु स्वरुप का निश्चय करना चाहता है इन वचनों से स्पष्ट है कि वस्तु स्वरूप को जानना कितना आवश्यक है। और वस्तु स्वरुप के ज्ञान के लिये नयों का ज्ञान कितना आवश्यक है।

असल में ज्ञानों में दो ज्ञान सब से बड़े है–प्रत्यक्ष ज्ञानों में केवलज्ञान और परोक्षज्ञानों में श्रुतज्ञान। दोनों ही परस्पर एक दूसरे के कारण है। केवलज्ञान के द्वारा श्रुत या आगम का प्रकाशन होता है और आगम के अभ्यास से केवलज्ञान प्रकट होता हैं। इस तरह केवल ज्ञानी और आगम की सन्तान अनादि है। जैसे केवलज्ञान सर्वतत्व का प्रकाशक है वैसे ही श्रुत भी सर्वतत्व प्रकाशक है। जैसे आगम दूसरों के लिये समस्त जीवादि तत्वों का कथन करता है वैसे ही केवली भी करता है अन्तर केवल इतना है कि केवलज्ञान प्रत्यक्ष है और श्रुतज्ञान परोक्ष है। इस प्रकार श्रुतज्ञान ही ऐसा है जो ज्ञान रूप भी है और वचन रूप भी है किन्तु जैसे केवल ज्ञान समस्त तत्वों का एक साथ जानता हैं उस तरह कोई वाक्य ऐसा नहीं है जो एक साथ सब का कथन कर सके।

इसके साथ ही वचन का आधार वक्ता का अभिप्राय है वक्ता वस्तु को जानकर भी अपने अभिप्राय के अनुसार कथन करता है। इससे किसी भी एक वस्तु के बारे में जितने वचन प्रकार संभव है उतने ही उस वस्तु के विषय में भिन्न-भिन्न अभिप्राय है ऐसा समझना चाहिये।

इन अभिप्रायों को ही नय कहते है। अतः एक वस्तु के एक-एक धर्म को विषय करने वाले ये जितने भी वक्ता के अभिप्राय रूप नय है वा उनके विषयभूत त्रिकालवर्ती एकान्त है उन सब एकांतों का जो तादात्म्यं रूप सम्बन्ध है वही तो द्रव्य है। ऐसा ही स्वामी समन्तभद्राचार्य ने कहा है—

> नयोपनयैकांतानां त्रिकालानां समुच्चयः।
> अविभ्राड्भावसम्बंधो द्रव्यमेकमनेकधा ॥
> आप्तामीमांसा, श्लो० १०७।

इसीलिये जैन दर्शन में नय का इतना महत्व है। नयों के ज्ञान के विना वस्तु स्वरूप का यथार्थ ज्ञान नहीं हो सकता और वस्तु स्वरूप का ज्ञान हुए विना सम्यग्दृष्टि नहीं हो सकता।

नय के भेद

आचार्य सिद्धसेन ने अपने सन्मति तर्क प्रारम्भ करते हुए कहा है कि तीर्थंकर के वचनों की

---

९. जह सद्धणांमाई सम्मत्तं जह तवाइ निलये। धाओ वा एयरसं तह णयमूलो अणेयतो ॥१०॥

सामान्य और विशेष रूप राशियों के मूल व्याख्यान करने वाले द्रव्यार्थिक और पर्यायार्थिक नय है। शेप सभी नय इन दोनों के ही भेद है। यथा–

तित्थयर वयण संगह विसेस पत्थार मूलवायरणी।
दव्वट्ठयो य पज्जवण ओ य सेसा वियप्पा सिं॥
सन्मति १।३

यही बात आचार्य देवसेन ने नय चक्र में कही है–
दो चेव मूलिमणया भणिया दव्वत्थ पज्जयत्थगया।
अण्णं असंख सखा ते तब्भेया मुणेयव्वा॥११॥

आशय यह है कि वस्तु सामान्य विशेषत्मक या द्रव्य पर्यायात्मक है। सामान्य या द्रव्यांश को ग्रहण करने दृष्टि को द्रव्यार्थिक नय और विशेष या पर्यायाशं को ग्रहण करने वाली दृष्टि को पर्यायार्थिक नय कहते। इसीसे ये दो ही मूल नय है। इन दोनों दृष्टियों का विवेचन आचार्य अमृतचन्द्र जी ने प्रवचनसार की टीका में किया है। आचार्य कुन्दकुन्द ने न तो नय की परिभाषा दी है और न उसके भेदों का निर्देश किया हैं किन्तु द्रव्य की चर्चा करते हुए लिखा है:

दव्वट्ठिएण सव्वं दव्वं तं पज्जयट्ठिएण गुणो।
हवदि य अण्णभणणं तक्काले तम्मयत्तादो॥११४॥

इसी की टीका में आचार्य अमृतचन्द्र ने कहा है—सभी वस्तु सामान्य विशेषात्मक है। अतः वस्तु के स्वरूप को देखने वालों के क्रमशः सामान्य और विशेप को जानने वाली दो आखें हैं— द्रव्यार्थिक और पर्यायार्थिक। जव पर्यायार्थिक चक्षु को सर्वथा वन्द करके एक मात्र खुली हुई द्रव्यार्थिक चक्षु के द्वारा जीव द्रव्य को देखा जाता है तो नारक, तिर्यंच, मनुष्य, देव और सिद्ध पर्यायरूप विशेपों में रहने वाले एक जीव सामान्य को देखने वाले और विशेपों को न देखने वालों को सब जीव द्रव्य है, ऐसा भासित होता है और जव द्रव्यार्थिक चक्षु को सर्वथा वन्द करके केवल मात्र खुली हुई पर्यायार्थिक चक्षु के द्वारा देखा जाता है तो जीव द्रव्य में रहने वाले नारक तिर्यंच मनुष्य देव और सिद्ध पर्यायरूप विशेपों को देखने वाले और सामान्य को न देखने वाले जीवों को वह जीव द्रव्य अन्य-अन्य भासित होता है क्यों कि द्रव्य उन उन पर्यायों के समय उस उस पर्यायमय होने से उन पर्यायों से अभिन्न है। और जव उन द्रव्यार्थिक और पर्यायार्थिक दोनों आंखों को एक साथ खोल-कर देखा जाता है तो नारक तिर्यंच मनुष्य देव और सिद्ध पर्यायों में रहने वाला जीव सामान्य और जीव सामान्य में रहने वाले नारक तिर्यंच मनुष्य देव और सिद्ध पर्याय रूप विशेप एक साथ दिखाई देते हैं। एक आंख से देखना एक देश देखना है और दोनों आंखों से देखना सम्पूर्ण देखना है।

इस तरह द्रव्यार्थिक नय वस्तु को केवल सामान्य रूप ही देखता है और पर्यायार्थिक नय उसी वस्तु को केवल विशेष रूप से देखता है। इसलिये पर्यायार्थिक की दृष्टि में सभी पदार्थ नियम से उत्पन्न होते है और नष्ट होते हैं। किन्तु द्रव्यार्थिक की दृष्टि में सभी वस्तुए सर्वदा न उत्पन्न होती है और न नष्ट होती है। इससे निष्कर्ष निकलता है कि कोई भी वस्तु ध्रौव्य से रहित केवलमात्र उत्पाद विनाशवाली नहीं है। वल्कि प्रत्येक वस्तु उत्पाद व्यय ध्रौव्यात्मक है। वह मूल रूप में ध्रुव रहने पर भी प्रतिसमय परिवर्तनशील है। वस्तु का स्वभाव ही ऐसा है। एक ही वस्तु में उत्पाद व्यय और ध्रौव्य विरुद्ध नहीं है, वास्तविक

---

११. धम्म विहींणो सोक्खं तहण छेद जलेण जह रहिदो। तह इह वंदई मूरो णयरहिओहव्वणि च्छिति॥६॥

नयचक्र

हैं। ये तीनों-उत्पाद व्यय ध्रौव्य वस्तु में एक साथ मिलकर ही रहते हैं। अतः दोनों नयों का अलग-अलग विषय वस्तु का लक्षण नहीं है। इसलिये दोनों ही मूल नय अलग-अलग मिथ्या है। यदि कोई दोनों में से एक ही नय को अपना कर वस्तु के सम्पूर्ण रूप को कहने का दावा करता है तो वह मिथ्यादृष्टि है। क्योंकि किसी एक नय को ही स्वीकार करने पर संसार मोक्ष नहीं वन सकते है।

केवल द्रव्यार्थिक या केवल पर्यायार्थिक के पक्ष में संसार नहीं बनता क्योंकि उनमें से एक केवल नित्यतावादी है और दूसरा, केवल अनित्यतावादी है। दोनों ही पक्षों में सुख दुःख का सम्वन्ध नहीं बनता क्योंकि आत्मा की कायिक, वाचनिक और मानसिक प्रवृत्ति के कारण कर्म का वन्ध होता है और कपाय के कारण बद्ध कर्म में स्थिति पडती है किन्तु आत्मा को सर्वथा अपरिवर्तनशील या सर्वथा क्षणिक मानने पर न वन्ध ही वनता है और स्थिति ही। और जव वन्ध ही सम्भव नहीं है तो संसार के भय की वात तथा मोक्ष सुख की बात काल्पनिक ठहरती है क्योंकि कर्मवन्ध से ही संसार होता है और उसको काटने से मोक्ष सुख मिलता है ऐसा सभी मानते है। अत; केवल अपने-अपने पक्ष का आग्रह करने वाले सभी नय मिथ्या है परन्तु परस्पर सापेक्ष होने से सव समीचीन है।

इस तरह द्रव्यार्थिक और पर्यायार्थिक के भेद से नय के दो ही मूल भेद हैं। उनमें से द्रव्यार्थिक नय के तीन भेद है-नैगम, संग्रह और व्यवहार। इनमें से जो सत्ता आदि की अपेक्षा से सवको पर्यायरूप कलंक का अभाव होने से अद्वैत रूप से जानता है वह शुद्ध द्रव्यार्थिक संग्रह नय है। और जो संग्रह नय के द्वारा ग्रहीत पदार्थों के भेद प्रभेदों को ग्रहण करता है वह व्यवहार नय है। यतः यह नय पर्याय रूप कलंक से मुक्त होता है। अत. अशुद्ध द्रव्यार्थिक नय हैं। इसके सम्बन्ध में सन्मति सूत्र की नीचे लिखी गाथा द्रष्टव्य है-

दव्वद्रिय णय पयडी सुद्धा संगहपरूवणाविसओ।
पडिरूवं मणवयत्थाणित्थयो तस्स ववहारोत।१।४।

अर्थात् संग्रहनय की प्ररूपणाका विषय द्रव्यार्थिक नय की शुद्ध प्रकृति है और पदार्थ के प्रत्येक भेद के प्रति शब्दार्थ का निश्चय करना उसका व्यवहार है।

इसका आशय यह है कि सत्ता या द्रव्य के अभेद से वस्तु के ग्रहण करने वाला संग्रह नय है और सत्ता या द्रव्य के भेद से वस्तु को ग्रहण करने वाला व्यवहार नय है। इसी से संग्रह नय सामान्यग्राही द्रव्यार्थिक नय की शुद्ध प्रकृति है और व्यवहार नय अशुद्धप्रकृति है। व्यवहार नय को द्रव्यार्थिक नय की अशुद्ध प्रकृति कहने का कारण वह है कि यद्यपि व्यवहार नय सामान्य धर्म की मुख्यता से ही वस्तु को ग्रहण करता है। इसलिये वह द्रव्यार्थिक है फिर भी वह सामान्य या अभेद में भेद मानकर प्रवृत्त होता है इसलिये वह द्रव्यार्थिक होते हुए भी उसकी अशुद्ध प्रकृति है।

जो सत्य है वह भेद और अभेद दोनों को छोड कर नहीं रहता हैं। इस प्रकार जो केवल एक को ही अभेद या भेद को ही प्राप्त नहीं होता किन्तु मुख्यता और गौणता से भेदाभेद दोनों को ही ग्रहण करता हैं। उसे नैगम नय कहते हैं। अर्थात् संग्रह और व्यवहार नय के परस्पर भिन्न दोनों विषयों का अवलम्बन करने वाला नैगमनय है। शब्द, शील, कर्म, कार्य, कारण आधार, आधेय, सहचार, मान, मेय, उन्मेय, भूत, भविष्यत, वर्तमान आदि का आश्रय लेकर होने वाला उपचार नैगम नय का विषय है। आचार्य विद्यानन्द ने तत्वार्थ श्लोकवार्तिक व अष्ट सहस्त्री (पृ० २८७) में नैगम नय के अनेक भेदों का कथन किया है। यह नय भी अशुद्धि को लिये हुए है क्योंकि सोपाधिवस्तु को

विषय करता हैं। आशय यह है कि द्रव्यार्थिक नय की अपेक्षा से शुद्धि–अभेद है और अशुद्धि भेद है। पर्यायार्थिक नय की अपेक्षा से शुद्धि भेद. है, अशुद्धि अभेद है क्योंकि द्रव्यार्थिक का शुद्ध विषय द्रव्य ही है और पर्यायार्थिक का शुद्ध विषय पर्याय ही है। द्रव्य अभेदरूप है और पर्याय भेद रूप हैं। द्रव्यार्थिक की दृष्टि में जितना अंश भेद को विषय करता है उतना अंश अशुद्धि मूलक या अशुद्धि का जनक हैं और पर्यायार्थिक की दृष्टि में जितना अंश अपभेद को विषय करता है उतना अंश अशुद्धि मूलक या अशुद्धि का जनक होता है।

पर्यायार्थिक नय के चार भेद हैं—ऋजुसूत्र, शब्द, समभिरूढ, और एवंभूत है। इनमें से ऋजुसूत्र नय अशुद्धि मूलक है क्योंकि वह काल भेद और लिंग भेद होने पर अभेद रूप का ही ग्राहक है शब्द नय शुद्धि मूलक है क्योंकि कालादि के भेद से वस्तु को भेद रूप ग्रहण करता है। समभिरूढ नय शब्द नय से भी शुद्धतर है क्योंकि पर्यायवाचक शब्दों में परस्पर भेद होने से वस्तु को भी भेद रूप ग्रहण करता है। एवंभूत नय शुद्धतम है क्योंकि क्रिया के भेद से भेद मानता है।

त्रिकाल विषयक अपूर्व पर्यायों को छोड कर जो केवल वर्तमान काल विषयक पर्याय को ग्रहण करता है वह ऋजु सूत्र नय है। अर्थ पर्याय और व्यंजन पर्याय की स्थिति के अनेक प्रकार होने से उसके अनेक भेद होते है। यहां शुद्ध ऋजुसूत्र नय का विषय वतलाते है चूंकि इस नय का विषय एक क्षणवर्ती वर्तमान पर्याय है अत; यह नय पकते हुए भात को पच्यमान पक्व कहता है क्योंकि उसका कुछ अंश वर्तमान मे पकता है और कुछ अंश पक चुकता हैं। इसी तरह किये जाने वाले कार्य को क्रियमाण–कृत भोजन करते हुए को भुज्य मान भुक्त कहलाता है। इस नय की दृष्टि में कुम्भ कार संज्ञा भी नहीं वनती क्योंकि कुम्भ (घड़ा) से पहले होने वाली शिविकादि पर्यायों में तो कुम्भ पना नहीं है इसलिये उनके होने पर तो उनके कर्त्ता को कुम्भकार नहीं कहा जा सकता है और कुम्भ पर्याय के समय वह कुम्भ अपने अवयवों से ही उत्पन्न हो जाता है उसमें कुम्भकार क्या करता है? कार्य की उत्पत्ति तो उत्पादन कारण से हीं होती है ऐसा होने से शेष सहकारी कारणों के व्यपार को निष्फलता का प्रसंग आता है। ठहरे हुए किसी पुरुष से कहां से आरहे हो ऐसा प्रश्न करने पर कहीं से भी नहीं आ रहा हूं ऐसा ऋजुसूत्र नय मानता है क्योंकि प्रश्न के समय आगमन रूप क्रिया नहीं पाई जाती। इस नय की दृष्टि में विनाश निर्हेतुक है उसका कोई कारण नहीं हैं जैसा वौद्ध मानते हैं इसी तरह उत्पत्ति भी निर्हेतुक है तथा इस नय की दृष्टि में सर्वथा अभिन्न दो पदार्थो में और सर्वथा भिन्न दो पदार्थो में संयोग सम्बन्ध अथवा समवाय सम्वन्व भी नहीं वनता है क्योंकि जो सर्वथा एक पने को प्राप्त है ऐसे दो पदार्थ में सयोग या समनवय सम्वन्ध मानने तो विरोध आता है और सर्वथा भिन्न दो पदार्थो में संयोग अथवा समन्वय सम्वन्ध मानने पर अव्यवस्था पैदा होती है। इसलिये इस नय की दृष्टि मे शुद्ध परमाणु ही वास्तविक है, स्तम्भादि रूप स्कन्धों का बोध है।

इससे लोक व्यवहार के उच्छेद का भय नहीं करना चाहिये क्योंकि लोक व्यवहार तो सर्व नयों से होता है। यह तो ऋजुसूत्र नय की दृष्टि को वतलाया है।

कालकारक लिंग आदि के भेद से जो वस्तु को भेद रूप ग्रहण करता है उसे शब्द नय कहते हैं और जो शब्द भेद से अर्थ भेद मानता है। समभिरूढ़ नय है। जैसे एक ही देवराज इन्दन क्रिया अर्थात् आज्ञा एश्वर्य आदि से युक्त होने से इन्द्र,

शक्तिशाली होने से शुक्र और पुर अर्थात् नगरों का कारण-विभाग करने से पुरन्दर कहलाता है। शब्दनय की दृष्टि में तो ये तीनों शब्द एक ही लिंग वाले होने से एकार्थक है किन्तु समभिरूढ नय की दृष्टि में भिन्न भिन्न अर्थ से सम्बन्ध रखने के कारण एकार्थ नहीं है। चूंकि अर्थ भेद के बिना पदों में भेद नहीं बन सकता इसलिये शब्द भेद से अर्थ भेद होना ही चाहिये यह समभिरूढ नय की दृष्टि है तथा जिस शब्द का जिस क्रिया रूप अर्थ हैं उस क्रिया रूप प्रवृत्ति जिस समय होती हो उस समय ही उसे उस शब्द के द्वारा अभिहित करना एवंभूत नय है। जैसे 'इन्द्र' शब्द का अर्थ आनन्द करने वाला है जिस समय आनन्द करना हो उसी समय इन्द्र है, अभिषेक या पूजन करना हो तो उसे अभिषेचक या पूजक कहना होगा। यह है एवं-भूत नय दृष्टि है। इस तरह यह नयों का विवेचन है।

●●●

संकटों को जीतने वाले, बुरे संस्कारों पर काबू पाने वाले, साहसी, आत्म संयमी और हठ प्रतिज्ञ लोग ही सच्चा ज्ञान, धर्म और सही आचरण प्राप्त करते हैं।

५

भारतीय दर्शन में आत्मा

कुमारी प्रीति जैन एम.ए. रिसर्च स्कालर

इस विशाल विश्व की प्रत्येक वस्तु की ओर मानव अनवरत दृष्टि लगाकर देखता आ रहा है, और प्रयास करता रहा है कि विश्व की समस्त वस्तुओं का मुझे ज्ञान हो। समस्त वस्तुओं के माध्यम से वह विश्व को जानना चाहता है। विश्व को जानने की चिरवांच्छा के साथ ही उसे शंका हुई कि क्या मुझमें विश्व को जानने की क्षमता है? क्या मैं विश्व की भौतिक वस्तुओं को जान सकता हूं? और इन शंकाओं के साथ ही एक नई जिज्ञासा उत्पन्न होती है कि य हमैं जो समस्त विश्व को जानने के लिये प्रयत्नशील हूं, वह क्या है। उसमें ऐसी कौनसी विशिष्टता है जिसके कारण वह विश्व को जान सकता है और उसके लिये अथक प्रयास कर रहा है? यह जानने की जो उत्सुकता हैं उसके पीछे कौनसी प्रवृत्ति है, उसमें क्यों कुछ जानने की अभिलाषा है? जानने की यह जिज्ञासा वाह्य से अन्तर्मुखी होती गई और अन्तर से एक के बाद एक प्रश्न, 'मै' कौन हूं 'मेरा स्वरूप क्या है' 'मेरा लक्ष्य क्या है, मै के बारे में उठने लगे। प्रश्न जटिल किन्तु स्वभाविक हैं। इन जिज्ञासाओं तथा उत्सुकताओं के माध्यम से उस (मानव) ने अनुभव किया कि मुझ में तथा विश्व में दृष्टिगत हो रही प्रायः सभी वस्तुओं में कुछ पृथकत्व है। परन्तु यह पृथकत्व क्यों है, किस कारण से है? इन सभी शंकाओं के समाधान के लिये वह प्रयत्न करने लगा, इसके लिये अध्ययन चिन्तन एवं मनन का सहारा लिया।

अध्ययन-चिन्तन के माध्यम से उसने जाना मैं क्या हूं? मेरा स्वरूप क्या है? ऐसे आग्रही प्रश्न अनादि काल से चले आ रहे हैं। इन प्रश्नों के समाधान हेतु मनीषियों द्वारा काफ़ी चिन्तन होता रहा हैं और उसे व्यवस्थित रूप भी दिया जाता रहा है। अपने चिन्तन के माध्यम से प्रायः सभी मनीषी इस निष्कर्ष पर पहुंचे कि सभी अनुभवों, जिज्ञासाओं आदि के पीछे जो 'मैं' परिलक्षित होता है, वह इन समस्त भौतिक वस्तुओं से पृथक चेतना सत्ता है, जिसे उन्होंनें आत्मा नाम से अभिहित किया है।

आत्मा की सत्ता स्वीकारने के तुरन्त पश्चात् समस्या सम्मुख आती है कि उसका स्वरूप क्या है? उसमें कौन कौन सी विशिष्टतायें हैं जो उसे इस जगत की अन्य वस्तुओं से पृथक करने में सहायक होती हैं? वह एक है अथवा अनेक हैं? वह सादि सान्त है अथवा अनादि अनन्त है? उसका परिणाम क्या है? क्या वह कर्तृत्व भोक्तृत्व शक्ति युक्त है? इत्यादि। इनके समाधान में सभी भारतीय मनीषियों (दार्शनिकों) ने अपने अपने चिन्तन के अनुसार उसका स्वरूप बताया है?

आत्मा का स्वरूप—लगभग सभी भारतीय दार्शनिक सम्प्रदायों ने आत्माको नित्य, चैतन्य-युक्त एवं स्वतन्त्र स्वीकार किया है, चार्वाक दर्शन व बौद्ध दर्शन इसके अपवाद हैं।

चार्वाक दार्शनिकों ने आत्मा की सत्ता को तो स्वीकार है किन्तु उनके अनुसार पंच महाभूतों से निर्मित इस भौतिक देह से पृथक आत्मा की कोई

नित्य स्वतन्त्र सत्ता नहीं है जब तक देह है तब तक चैतन्य है उसके पश्चात कोई पृथक चैतन्य सत्ता का अस्तित्व नहीं है।

बौद्ध दार्शनिकों ने भी नित्य शाश्वत आत्म सत्ता का निषेध किया है, परन्तु आत्मा के अस्तित्व का निषेध नहीं किया। बुद्ध की मान्यता थी कि कि सब कुछ अनित्य, गतिशील, क्षणिक तथा परिवर्तनशील है 'सर्वक्षणिक'। कहीं भी कोई भी स्थायित्व या नित्यत्व नहीं है अत; उन्होंने अपनी इस मान्यता के अनुसार स्थायी एवं नित्य आत्मसत्ता का निषेध किया है।

बौद्ध दार्शनिकों के अनुसार मनुष्य केवल एक समष्टि का नाम है, वाह्य रूप युक्त शरीर, मानसिक अस्थायी, संज्ञा, संस्कार, चेतना के समूह या सघात को ही मनुष्य कहते है। इस संघात के अतिरिक्त आत्मा नाम की कोई अन्य सत्ता नहीं है।

इन दोनों दर्शनों के अलावा न्याय दार्शनिक, सांख्य दार्शनिक, मीमांसक, अद्वैतवेदान्त दार्शनिक तथा जैन दार्शनिकों ने नित्य चैतन्य युक्त तथा स्वतन्त्र आत्मसत्ता स्वीकार की है। इन दार्शनिक सम्प्रदायो ने चार्वाक द्वारा स्वतन्त्र नित्य आत्म सत्ता के निषेध की आलोचना की है। जैन, न्याय व वेदान्त-दर्शन के मानने वालों का कथन है 'मैं हूं' ऐसा स्व-संवेदन प्रत्येक व्यक्ति को होता है। **जैनों के अनुसार** स्वानुभव प्रत्यक्ष के सिद्ध 'आत्मा' को चार्वाक दार्शनिक किस आधार पर अस्वीकार करता हैं, जब कि चार्वाक वादियो ने केवल मात्र प्रत्यक्ष को ही प्रमाण स्वीकार किया है। **नैयायिकों के अनसार** प्रत्येक मनुष्य को 'अहम् सुखी' 'अहम् दु:खी 'अहम् जानामि' इत्यादि भान होता है।

सांख्य, न्याय, मीमांसा, अद्वैतवेदान्त व जैन दार्शनिकों ने आत्माका चैतन्य युक्त तो माना किंतु चैतन्य आत्मा का स्वरूप ही है। ऐसा सबने नहीं माना।

न्याय दर्शन व मीमांसा दर्शन में 'चेतना को' आत्मा का एक आगन्तुक गुण माना है। उनकी मान्यतानुसार 'चेतना का' आत्मा के साथ विशेष परिस्थितियों में ही सम्पर्क होता है, और तभी आत्म चैतन्युक्त होती है, सदैव नहीं है। न्याय दर्शन मानता है कि आत्मा में चेतना का संचार तभी होता है जब आत्मा का मन के साथ, मन का इन्द्रियों के साथ, इन्द्रियों का वाह्य वस्तुओं के साथ सम्पर्क होता है, अन्यथा आत्मा चैतन्य शून्य ही होता है। इस मान्यतानुसार जब आत्मा मुक्त होती है तब उसमे ज्ञान चेतना का अभाव रहता है, सुषुप्तावस्था में भी चेतना का अभाव रहता है।

मीमासा दर्शन भी चेतना को आत्मा का - एक औपाधिक गुण मानता है, जो किसी अवस्था विशेष में उत्पन्न होता है। मीमांसा दर्शन की मान्यता है कि आत्मा स्वत: प्रकाशक नहीं है, क्योंकि यदि ऐसा होता तो हमें प्रगाढ निद्रा में भी ज्ञान होता है, जबकि मीमांसानुसार ऐसा नहीं होता।

किन्तु इनसे विपरीत जैन, सांख्य, एवं अद्वैतवेदान्ती चेतना को आत्मा का स्वभाव मानते हैं. वस्तु स्वभाव शून्य कदापि नही हो सकती, जब चेतना आत्मा का स्वभाव है तब आत्मा चैतन्य रहित हो जाये यह असम्भव है।

जैन दार्शनिकों के अनुसार न्याय दर्शन में चेतना को आत्मा का आगन्तुक गुण माना है और मुक्तावस्था मे भी जड़रूप हो जाती है। ऐसी अवस्था मे वाह्य भौतिक जड-पदार्थो व मुक्तात्मा की स्थिति में क्या अन्तर शेष रह जाता है, मुक्तावस्था फिर अर्थ मे स्पृहणीय रह जाती, शुष्क शिलावत् मोक्षावस्था से तो यह सुख दु:ख रूप संसार ही भला हैं। जैनों के अनुसार तो जीव अथवा आत्मा ज्ञान चैतन्य स्वरूप तथा सदा प्रकाशयुक्त है।

अद्वैतवेदान्ती भी आत्मा को ज्योतिर्मय मानता है। जिस प्रकार प्रकाशित करने के लिये कोई वस्तु उपस्थित न रहने पर भी सूर्य स्वतन्त्र रूप से चमकेगा ही उसी प्रकार आत्मा के अन्दर चैतन्य सदा विद्यमान रहता है, ऐसी अवस्था में भी जबकि कोई ज्ञातव्य विषय उपस्थित न भी हो।

सांख्य का पुरुष (आत्मा) शुद्ध चैतन्य स्वरूप है जो सर्वदा ज्ञाता के रूप में रहता है। वह चैतन्य का आधार भूत द्रव्य नहीं अपितु स्वतः चैतन्य स्वरूप है।

आत्मा व ज्ञान

मानव की कुछ जानने की इच्छा, उत्कंठा को देखते हुये जिज्ञासा होती है कि मानव का किसी भी वस्तु को जानना, उसका ज्ञान होना यह कैसे सम्भव है ? यह किस की प्रवृत्ति है, यह कौन सी शक्ति है जिसके कारण उसकी प्रवृत्ति ऐसी है, अथवा जानना देखना आत्मा का स्वभाव है। अथवा किसी विशिष्ट संयोग से आत्मा ज्ञान (जानने) की ओर प्रवृत्त होती है।

भारतीय दार्शनिकों के अनुसार 'ज्ञान' आत्मा की एक विशिष्ट शक्ति अथवा गुण है, जिसके कारण आत्मा की जानने की प्रवृत्ति है। ज्ञान को आत्मा का गुण प्रायः सभी भारतीय दार्शनिकों ने माना है, किन्तु कुछ दार्शनिक गुण मानते हुए औपाधिक अथवा संयोगिक सम्बन्ध मानते हैं और कुछ दार्शनिक ज्ञान को आत्मा का स्वभाव मानते हुए तादात्म्य सम्बन्ध मानते हैं। (ज्ञान को चेतना भी कहा जाता है)।

न्याय दर्शन में 'चैतन्य' आत्मा का औपाधिक गुण है। नैय्यायिकों के अनुसार चेतना का आत्मा के साथ किन्ही विशेष परिस्थितियों में सम्पर्क होता है। अतः ज्ञान अथवा चैतन्य का भी आत्मा के साथ किन्हीं विशिष्ट परिस्थितियों में ही सम्पर्क होता है इनके अनुसार आत्मा व ज्ञान दोनों का संयोगात्मक सम्बन्ध है। अतः आत्मा ज्ञानमयी नहीं है।

सांख्य दर्शन आत्मा व ज्ञान के बारे में अधिक स्पष्ट नहीं है। सांख्य दार्शनिक मानते हैं कि पुरुष शुद्ध चैतन्य स्वरूप है, वह चैतन्य का आधारभूत द्रव्य नहीं अपितु स्वयं चैतन्य स्वरूप है, चैतन्य इसका स्वभाव है। परन्तु इस मान्यता के साथ में वे यह भी कहते हैं कि आत्मा को स्वतः विषयों का साक्षात्कार नहीं होता, यदि ऐसा होता तो आत्मा को सब वस्तुओं का ज्ञान सदा होना चाहिये, जब कि ऐसा होता नहीं है। कारण यह है कि आत्मा को बुद्धि मन तथा इन्द्रियों के सहारे ही पदार्थों का ज्ञान होता है। सांख्य मतानुसार न अकेले पुरुष में ज्ञान की उपलब्धि हो सकती है और न बुद्धि में, बल्कि दोनों के सम्मेलन से ही ज्ञान, अनुभव व्यापार समझाया जा सकता है। बुद्धि प्रकृति से उत्पन्न होती है। अतः पुरुष (आत्मा) से ज्ञान भिन्न ही है। यहां सांख्यमत स्पष्ट नहीं है, वह आत्मा को शाश्वत चैतन्य मानते हुए भी ज्ञान युक्त नहीं मानता। अपितु जड़ प्रकृति के परिणाम बुद्धि के सम्मेलन से ज्ञान की उत्पत्ति मानते हैं। मीमांसा दर्शन की मान्यता भी न्याय दर्शन जैसी ही है, ये भी चेतना को आत्मा का औपाधिक गुण मानते हैं।

अद्वैतवेदान्तियों का मानना है कि चैतन्य, ज्ञान आत्मा का स्वभाव है। आत्मा का यथार्थ स्वरूप नित्य ज्ञान है। आत्मा सर्वांगरूप में प्रज्ञा के अतिरिक्त अन्य कुछ नहीं है। प्रज्ञा ही उसका अनन्य स्वरूप है, जैसे नमक का स्वरूप उसके नमकीन स्वाद में है। आत्मा ज्ञानरूप है तथा ज्ञाता भी है। ज्ञाता वस्तुतः ज्ञान से पृथक नहीं होता।

विशिष्टाद्वैत दर्शन के अनुसार आत्मा ज्ञान का सारतत्व है और ज्ञान उसका गुण है। आत्मा नित्य है इसलिये ज्ञान भी, जो इसका गुण हैं, नित्य है।

जैन दर्शन में ज्ञान आत्मा का गुण है किन्तु औपाधिक नहीं है। जैन दर्शन के अनुसार गुण और गुणी पृथक्-पृथक् नहीं है, गुणी से भिन्न कोई गुण नहीं है। क्योंकि गुणी से पृथक् गुण उपलब्ध नहीं होते। गुण गुणी के स्वभावी होते हैं, उसमें तादात्म्य सम्बन्ध होता है।

जैन-दर्शन के अनुसार जैसे अग्नि स्वभाव से उष्ण होती है वैसे ही आत्मा स्वभाव से ज्ञानी है। देवदत्त और डण्डा ये दो पृथक् वस्तुएं हैं, जब देवदत्त डण्डे को हाथ में लेता है तब वह डण्डे के सम्बन्ध से दण्डी कहलाने लगता है, किन्तु जैसा सम्बन्ध डण्डे व देवदत्त में है वैसा सम्बन्ध आत्मा व ज्ञान में नहीं है। आत्मा व ज्ञान गुणी व गुण है, गुण व गुणी के प्रदेश पृथक् पृथक् नहीं होते इसी से गुण सदैव गुणी वस्तु में ही पाया जाता है। गुणी की विशिष्टता ही गुणों के कारण है। एक प्रकार से गुण व गुणी में तादात्म्य सम्बन्ध है।

आत्मा की अनेकता

आत्मा के सम्बन्ध में विचार करते समय प्रश्न उठता है कि आत्मा एक है अथवा अनेक? प्राय: सभी भारतीय दार्शनिकों ने आत्मा की अनेकता में विश्वास किया है, मात्र अद्वैतवेदान्त इसका अपवाद है।

सांख्य दार्शनिकों के अनुसार आत्मा प्रत्येक शरीर में भिन्न-भिन्न है। यदि सभी शरीरों में एक ही आत्मा मानी जाये तो एक के उत्पन्न होते ही सब मृत हो जायेंगे। प्रत्येक मानव की प्रवृत्तियों, सुख दु:ख रूप अनुभव इत्यादि भिन्न-भिन्न हैं।

नैयायिक भी आत्मा की अनेकता को स्वीकारते है। प्रत्येक व्यक्ति की जीवात्मा पृथक् पृथक् है। यदि पृथक् न होती तो सबके अनुभव एक समान हो जाया करते। न्याय भाष्य (३:२,३२) में एक ही आत्मा द्वारा भिन्न-भिन्न शरीरों के संचालन की सम्भावना को असाधारण घटना माना गया है।

मीमांसक भी आत्मा के अनेकत्व की प्राकल्पना को मानते हैं, इसलिये कि अनुभवों की विविधता की व्याख्या की जा सके। जिस प्रकार मेरी क्रियायें मेरी आत्मा के कारण है, इसी प्रकार दूसरों की क्रियायें अन्य आत्माओं के कारण हैं। आत्मा के गुणों की अपेक्षा जो भेद दिखाई देते है वे भिन्न भिन्न आत्माओं के कारण ही है।

जैन-दर्शन में भी आत्मा की अनेकता मान्य है। जैन दर्शन कर्म की अलंघ्य व्यवस्था में विश्वास करता है। जो प्राणी जैसा करता है वैसा ही फल भोगता है। आनुभविक स्तर पर हम सुख दु:ख, अमीर-दरिद्र, जन्म-मृत्यु, रोग-शोक गत आदि विभिन्नताओं का अनुभव करते है, यह सब विभिन्नता कर्मजन्य है। प्रत्येक आत्मा पृथक् पृथक् कर्म करती है, तदनुसार कर्मफल भोगती है। यदि एक ही आत्मा होती तो एक को मोक्ष प्राप्त होते ही सब प्राणियों को मोक्ष प्राप्त हो गया होता। एक ही आत्मा है तो वह संसारी होगी या मुक्त, यदि वह संसारी आत्मा है तो सब प्राणियों को संसारी होना चाहिये और यदि वह मुक्तात्मा है तो सब प्राणियों को भी मुक्त होना चाहिये। अद्वैतवेदान्त में एक ही आत्मा ब्रह्मरूप भी है और संसारियों में भी व्याप्त है, यह किस प्रकार सम्भव है, जबकि शंकर ने आत्मा को अविभागी व एक माना है? अद्वैत मानने वाले शकर एक ही आत्मा में एक ही समय ब्रह्मरूप व निरा अज्ञानी व्यावहारिक स्तर

का प्राणी मानकर ही द्वैत को स्थान दे रहे हैं।

आत्मा का परिमाण

आत्मा के स्वरूपादि के बारे में विचार करने के पश्चात् प्रश्न उठता है कि उसका परिमाण कैसा है ? क्या आत्मा का कोई निश्चित परिमाण है ? अथवा वह निराकार है ? इस सम्बन्ध में सभी दार्शनिकों की मान्यता पृथक पृथक है। आत्मा की स्वतन्त्र सत्ता स्वीकारने वाले सांख्य दार्शनिक, न्याय दार्शनिक, अद्वैतवेदान्ती, मीमांसक तथा जैन दार्शनिक सभी का इस सन्दर्भ में मत-वैभिन्य है। परिमाण के सम्बन्ध में सांख्य दर्शन का कोई स्पष्ट उल्लेख प्राप्त नहीं होता। मीमांसा दर्शन व अद्वैतवेदान्त में आत्मा को विशिष्ट परिमाण में मानकर सर्वव्यापक परिमाण माना है।

न्याय-दर्शन में परिमाण की चर्चा करते समय कहा गया है कि आत्मा अणु परिमाण नहीं माना जा सकता, क्योंकि अणु के गुण प्रत्यक्ष गोचर नहीं हो सकते जबकि आत्मा के गुण बुद्धि इच्छा राग-द्वेष, प्रयत्न, कृति इत्यादि मानस प्रत्यक्ष गम्य हैं। यदि आत्मा को घटपटदि की भांति मध्यम परिमाण वाला पदार्थ माना जाये तो यह प्रश्न उठता है कि उसका आकार कितना बड़ा है, शरीर तुल्य है, शरीर से छोटा है, अथवा शरीर से बडा है ? यदि शरीर तुल्य माने जाये तो आत्मा का आकार गर्भावस्था से ही बढने लगता है, तो आत्मा का आकार किस समय के शरीर तुल्य माना जायें। यदि आत्मा का आकार शरीर से छोटा माना जाये तो एक साथ सम्पूर्ण शरीर में चैतन्य की व्याप्ति कैसे सम्भव है ? यदि आत्मा को शरीर से बड़ा माना जाये तो फिर वह शरीर में प्रवेश कैसे कर सकता है ? इस प्रकार अनेक शंका समाधानों के पश्चात् न्याय दर्शन में भी आत्मा को सर्व-व्यापक ही माना गया है।

जैन दर्शन में आत्मा को स्वदेश परिमाण माना गया है। जो आकार देह का है वही आकार आत्मा का है। स्पष्ट रूप से कर्मानुसार प्राप्त छोटे बड़े शरीर के अनुसार संकोच और विस्तार करके उस शरीर प्रमाण परिमाण वाला होता है। जीवका जिस समय में जिस भौतिक शरीर से सम्बन्ध होता है। वह उसके विस्तार के अनुसार ही संकोच और विस्तार की क्षमता रखता है। (समुद्घात की स्थिति के अलावा)। इसकी तुलना दीपक से की गई है जो एक समान रह कर भी जिस छोटे या बड़े स्थान अथवा कक्ष में रखा होता है, उसके अन्दर के पूर्ण स्थान को प्रकाशित करता है। तत्वार्थ सूत्र (अध्याय पंचम, सूत्र १६) में कहा भी है।

"प्रदेशसंहारविसर्पाभ्यां प्रदीपवत्"

किन्तु उपर्युक्त कथन कर्म संयुक्त आत्मा की अपेक्षा से हैं, क्योंकि पुद्गल शरीर का योग पुद्गल कर्मों के कारण है। जब पुद्गल कर्मों का नितान्त अभाव होगा तब पुद्गल शरीर का योग अथवा साहचर्य किस अपेक्षा से सम्भव है ? अतः शुद्ध स्वरुप आत्मा का कोई विशिष्ट परिमाण नहीं माना गया है।

आत्मा का कर्तृत्व भोक्तृत्व

कर्तृत्व भोक्तृत्व का प्रश्न आत्मा के संदर्भ में चर्चा करते समय अवश्य उठता है। क्या आत्मा में कर्तृत्व-भोक्तृत्व भाव है अथवा आत्मा निष्क्रिय है।

सांख्य दर्शन के अनुसार पुरुष (आत्मा) अपरिणामी है। पुरुष केवल दृष्टा है, उसमें कोई क्रिया नहीं होती, वह निष्क्रिय तथा अविकारी है। सांख्य दार्शनिक मानते हैं कि पुरुष स्वभाव से ही शुद्ध

अपरिणामी होने से संसार दशा में विकृत नहीं होता। पुरुष कर्ता नहीं है वह तो प्रकृति के कर्तृत्व के साथ भ्रमवश कर्ता प्रतीत होता है। सांख्य दर्शन में पुरुष को भोक्ता तो माना गया है, उसके अस्तित्व प्रमाण में कहा गया है—

'पुरुषोस्ति भोक्तृभावत' (सं० का० १७)। यहां शंका उठती है कि पुरुष कर्ता नहीं है तो भोक्ता कैसे हो सकता है? कर्ता प्रकृति और भोक्ता पुरुष है। ऐसा मानें तो इसका तात्पर्य है कि कर्म कोई और करे और भोक्ता कोई और हो, यह मान्यता तो नैतिकता के विरुद्ध है। अत; पुरुष को केवल भोक्त मानना, कर्ता नहीं मानना एक अस्पष्ट स्थिति है।

मीमांसा-दर्शन में, प्रभाकर मत में आत्मा क्रियाशीलता, अनुभव सुखोपभोग आदि गुणों का अधिष्ठान है अर्थात् कर्त्ता भोक्ता है।

बौद्ध दार्शनिकों ने स्वतन्त्र नित्य आत्मसत्ता को न मानते हुए भी कर्तृत्व भोक्तृत्व को स्वीकार किया है। उनके अनुसार प्राणी अपने किये गये कर्मो का फल आगामी जीवन में भोगता है।

न्याय–दर्शन के अनुसार जीव प्रयत्नशील होने के कारण कर्ता, सुखी दुखी होने कारण भोक्ता है। किन्तु यह आत्मा का यह कर्तृत्व भोक्तृत्वादि गुण तभी तक रहता जब तक वह शरीर के साथ सम्बन्ध रखता है शारीरिक बन्धन से मुक्त हो जाने पर इच्छा, सुख दुःख, कर्तृत्व, भोक्तृत्व सभी गुण लुप्त हो जाते हैं। जब मन व इन्द्रिय सहित शरीर से आत्मा का सम्पर्क छूट जाता हैं तब ये गुण भी नष्ट हो जाते हैं। अर्थात् न्याय दर्शन के अनुसार संसारी अवस्था तक ही आत्मा में कर्तृत्व भोक्तृत्व गुण हैं, तत्पश्चात् नहीं।

जैन-दार्शनिकों ने आत्मा में कर्तृत्व-भोक्तृत्व स्वीकार किया है। जैनों की 'आत्मा' उत्पाद, व्यय तथा ध्रौव्यात्मक परिणमन करने के कारण कर्तृत्व-भोक्तृत्व पर्याय से स्वयं परिणत होता है। बन्धक भी उसका होता है और मोक्ष भी उसी का होता है। जैन-दर्शन में शुद्ध आत्मा भी कर्तृत्व-भोक्तृत्व युक्त मानी गई है।

यदि आत्मा में कर्तृत्व भोक्तृत्व न स्वीकार किये जायें तो आत्मा निष्क्रिय जड़ रूप हो जायेगी। आनुभविक स्तर पर भी हम देखते हैं कि 'मैं' को किसी न किसी क्रिया के माध्यम से ही जानते हैं, सांख्य-दर्शन की स्थिति विचित्र है। चेतस पुरुष तो निष्क्रिय है और जड़ सक्रिय। प्रकृति के कर्तृत्व से वह भ्रमवश कर्तृत्वयुक्त प्रतीत होता है। एक चेतन सत्ता दूसरी जड़ सत्ता के प्रभाव से कर्तृत्वयुक्त-भोक्तृत्व कैसे प्रतीत होगी? जब पुरुष निष्क्रिय सत्ता को कोई किस प्रकार प्रभावित कर सकता है, शुद्ध रूप से संसारावस्था में कैसे ला सकता है?

आत्मा की प्रभुत्वशक्ति

यहां एक प्रमुख प्रश्न हमारे समक्ष उपस्थित होता है कि आत्मा स्वयं अपना प्रभु है अथवा किसी अन्य सत्ता पर वह आश्रित हैं? सुख-दुःख. जन्म-मरण मोक्ष आदि के लिए वह किसी पर आश्रित है अथवा स्वतन्त्र है?

इस सन्दर्भ में न्याय दर्शन का मत है कि प्राणियों का धर्म व्यवस्थापक, कर्मफलदाता व सुख दुःख का निर्णायक वह स्वयं नहीं अपितु ईश्वर है। परमेश्वर ही जीवों को साधु तथा असाधु कर्म कराते हैं। जीव कर्म करने वाला है और परमेश्वर उन सब कर्मों को कराने वाले हैं अर्थात् हेतु कर्ता या प्रयोजन कर्ता है। वे ही सब जीवों के सब कर्मों के अध्यक्ष हैं।

अर्थात् सब अदृष्टों के अधिष्ठाता हैं तथा वे ही जीवों को कर्मों का फल देने वाले हैं। न्याय दर्शन में जीवात्माओं की मुक्ति के लिए भी ईश्वर को ही आधार माना गया है। कहा भी है—वास्तव में परमेश्वर की पराभक्ति के बिना तत्वज्ञान प्राप्त ही नहीं हो सकता। ईश्वर की परमभक्ति के फल-स्वरूप परमात्मा का दर्शन होने पर, तब उन्हीं के अनुग्रह के शरणागत 'मुमुक्षु' साधक को अपनी आत्मा के स्वरूप का साक्षात्कार होता है। ईश्वर का दर्शन ही मुक्तिलाभ का एकमात्र मार्ग है। ईश्वर के अनुग्रह के बिना किसी को किसी भी कर्म में सफलता नहीं मिल सकती। इसलिए मुक्ति भी नहीं मिल सकती?

इस प्रकार न्याय दर्शन के अनुसार 'ईश्वर' ही जीवों को कर्म कराते हैं तथा फल देते हैं। इससे यह स्पष्ट परिलक्षित होता है कि ईश्वर ही जीवों से साधु असाधु कर्म करवा कर सुखी दुःखी करता है, एक महान् सत्ता के लिए किसी को सुखी किसी को दुखी कर पक्षपाती नीति अपनाना कहां तक समीचीन है।

सांख्य दर्शन में आत्मा (पुरुष) निष्क्रिय है। अतः कर्म व कर्मफल के लिए वह किसी के आश्रित नहीं है। सांख्य का पुरुष न बंधता है न मुक्त होता है। अतः वह मुक्ति के लिये किसी पर भी आश्रित नहीं है।

अद्वैतवेदान्त में आत्मा अथवा ब्रह्म ही एक मात्र सत्ता है, अतः कर्म, कर्मफल इत्यादि के लिए किसी अन्य सत्ता के ऊपर आश्रित होने की सम्भावना ही नहीं है, अर्थात् आत्मा ही अपना प्रभु है। अद्वैतवेदान्त में आत्मा को न कुछ प्राप्त करना है न कुछ त्यागना होता है, अतः मोक्ष के लिए आत्मा को किसी अन्य सत्ता की मुक्ति, कृपा आदि की आवश्यकता ही नहीं है।

जैन दर्शन में आत्मा अपने समस्त कर्म, कर्मफल, ज्ञान, मोक्ष इत्यादि के लिए पूर्णरूपेण स्वतन्त्र है। यह जीव स्वयं ही प्रभु है। प्रभु का अर्थ है स्वामी। यह जीव स्वयं अपना स्वामी है। स्वयं ही अपने कार्यों द्वारा कर्म से बद्ध होता है और स्वयं ही अपने कार्यों के द्वारा कर्मबन्ध से मुक्त होता है। इसका बन्धन व मुक्ति किसी अन्य की कृपा या रोष का परिणाम नहीं है। ऐसी प्रभुत्व शक्ति से युक्त जीव सम्यग्दर्शन, सम्यग्ज्ञान व सम्यक् चरित्र के द्वारा चार घातिकर्मों को नष्ट करके जब अनन्त चतुष्टय से युक्त होता हुआ अर्हन्त दशा को प्राप्त होता है तब उसमें प्रभुत्व शक्ति का पूर्ण विकास होता है, और जब वह शेष चार अघाति कर्मों को भी नष्ट करके सिद्ध युक्त हो जाता है तब वह स्वयं साक्षात प्रभु ही हो जाता है।

जैनों का, जीव के नैसर्गिक अनन्त सामर्थ्य में गम्भीर विश्वास है। वह प्राणी मात्र के लिए आशा का सन्देश व स्वावलम्बन की श्लाघनीय शिक्षा देता है।

आत्मा के भेद

आत्मा कर्ता है, भोक्ता है, वह दुःख सहता है, सुखको भोक्ता है। इन बातों पर विचार करते हुए एक जिज्ञासा होती है कि क्या जीव अथवा आत्मा इन संसार के दुःखों से मुक्त हो सकता है? संसार के दुःखों से मुक्त होने का क्या तात्पर्य है? संसार से मुक्त होने के पश्चात् उसकी स्थिति क्या होती है? इत्यादि।

दुःख की पीड़ा उससे मुक्ति की प्रेरणा देती है, उससे मुक्ति के लिए मार्ग प्रशस्त करती है। प्रायः सभी भारतीय दार्शनिकों ने दुःख के कारण व उनके निवृत्ति के उपाय खोजे हैं, वे सभी दार्शनिक इस बात से सहमत हैं कि मोक्ष की अवस्था

प्राप्त होने पर मानव को सांसारिक दुःखों से निवृत्ति मिल जाती है। इस प्रकार लगभग सभी भारतीय दार्शनिक आत्मा के दो भेद अथवा अवस्थायें स्वीकार करते हैं: (१) सांसारिक (२) मुक्त।

सांसारिक स्थिति में तो लगभग सभी दार्शनिकों ने समान अवस्था स्वीकार की है किन्तु मुक्तावस्था में सभी दार्शनिकों ने आत्मा की अवस्था को भिन्न-भिन्न प्रकार से स्वीकारा हैं।

न्याय-दर्शन के अनुसार आत्मा के दो माने हैं: (१) जीवात्मा (२) परमात्मा।

जीवात्मा अनेक तथा प्रति शरीर में भिन्न-भिन्न है। जीवात्मा के इच्छा, राग, द्वेष, प्रयत्न, सुख, दुःख, और ज्ञान गुण है। जीव कर्त्ता, भोक्ता तथा अनुभवी है, किन्तु आत्मा का कर्तृत्व-भोक्तृत्व, इच्छा, रागद्वेष गुण तभी तक रहता है जब तक वह शरीर के साथ सम्बद्ध रहता है। शारीरिक बन्धन से मुक्त हो जाने अथवा मोक्ष प्राप्त होने पर आत्मा बिल्कुल शान्त और निर्विकार हो जाता है, उस अवस्था में उसे न सुख रहता है न दुःख, शरीर सापेक्ष धर्म है, अतः जब मन इन्द्रिय सहित शरीर से आत्मा का सम्पर्क छूट जाता है तब ये धर्म भी नष्ट हो जाते हैं, उस अवस्था में वह जड़ पाषाणवत् शून्य हो जाता है।

'परमात्मा' एक जगत् का सृष्टा, पालक व संहारक है। उसे सभी वस्तुओं तथा घटनाओं का यथार्थ ज्ञान है। अतः वह सर्वज्ञमयी है।

यहां स्पष्ट है कि न्याय दर्शन ने जीवात्मा व परमात्मा, आत्मा के ये दो ही स्तर माने हैं किन्तु उसकी मान्यता ने तीसरा भेद 'मुक्तात्मा' और स्वीकारा है, क्योंकि जो आत्मा मोक्ष प्राप्त कर लेता है वह न तो जीवात्मा के स्तर का रहा, न परमात्मा के स्तर का, (क्योंकि परमात्मा तो एक ही है) तब फिर मुक्त आत्माओं की न्याय दर्शन में क्या स्थिति है? न्याय दार्शनिक यह भी स्वीकार नहीं सकते कि मुक्त आत्मायें परमात्मा में विलीन हो जाती हैं, इस मान्यता से तो उसकी आत्मा के अनेकत्व को ठेस पहुंचती है। तब मुक्त आत्माओं की स्थिति क्या है? यह विचारणीय प्रश्न है।

सांख्य दर्शन में भी आत्मा के (१) लौकिक जीवात्मा व (२) पुरुष, दो भेद (स्तर) स्वीकार किये हैं।

जैन दर्शन में मुख्यतः जीवों के दो स्तर माने हैं (१) संसारी (२) मुक्त।

कर्मबन्धन से बद्ध जो जीव एक गति से दूसरी गति में संसरण करते हैं, राग द्वेष युक्त हैं वे जीव संसारी हैं और जो इनसे छूट चुके हैं वे मुक्त हैं, अर्थात् मुक्ति या मोक्ष शब्द का अर्थ छुटकारा है, अतः आत्मा के समस्त कर्म बन्धनों से छूट जाने को मोक्ष कहते हैं। जैसे धातु को गलाने तपाने से उसमें से मल आदि दूर होकर शुद्ध धातु प्राप्त हो जाती है वैसे ही आत्मा के गुणों को कलुषित करने वाले दोषों कर्मों को दूर करके शुद्ध आत्मा की स्थिति को मुक्ति या मोक्ष कहते हैं। जैन दर्शन में न तो आत्मा के अभाव को मोक्ष कहा गया है– न आत्मा के गुणों के विनाश को। अपितु जैन दर्शन में आत्मा एक स्वतंत्र द्रव्य है जो ज्ञाता–दृष्टा है, किंतु अनादिकाल से कर्म बन्धन से बन्धा हुआ होने के कारण अपने किये हुए कर्मों का फल भोगता रहता है। जब वह उस कर्म बन्धन का क्षय कर देता है तो मुक्त कहलाने लगता है।

मुक्तावस्था में जीव के अनन्त ज्ञान, अनन्त दर्शन, अनन्त सुख व अनन्तवीर्य आदि स्वाभाविक

गुण विकसित हो जाता है। जैसे स्वर्ण में से मल के निकल जाने पर उसके स्वाभाविक गुण पीतता आदि ज्यादा विकसित हो जाते हैं, इसी से शुद्ध सोना अधिक चमकदार व पीला होता है। वैसे ही आत्मा में से कर्ममल के निकल जाने से आत्मा के स्वाभाविक गुण निखर उठते हैं।

मुक्त अवस्था में आत्मा अपने शुद्ध स्वरूप में स्थित होता है, वह ज्ञान की चरमावस्था है, जैनों ने उसे 'केवलज्ञान' कहा है। उस अवस्था में आत्मा को तीनों लोक का त्रिकालावाधित ज्ञान होता है। लोक की भूत, भविष्यत्, वर्तमान की सर्व ही वस्तुओं का युगपत् ज्ञान होना केवलज्ञान है। एक वार केवल ज्ञान अथवा मुक्ति प्राप्त होने के पश्चात् आत्मा कभी बन्धन में नहीं फंसती, जन्म मरण सब से वह पूर्ण-रूपेण मुक्त हो जाती है।

जैनों ने स्थूल रूप से तो आत्मा के संसारी व मुक्त ये दो ही स्तर माने हैं किन्तु सूक्ष्मरूप से अनेक स्तर हैं। मुक्तावस्था में तो कोई भेद नहीं है। किन्तु संसारी-अवस्था में जीवों के अनेकानेक भेद हैं। गति की अपेक्षा से जीवों के चार भेद हैं—मनुष्य, देव, तिर्यञ्च और नारकी। इन्द्रिय अपेक्षा से जीवों के पांच भेद हैं एकेन्द्रिय, दो इन्द्रिय, तीन इन्द्रिय, चतुरिन्द्रिय व पंचेन्द्रिय।

एकेन्द्रिय, दो-इन्द्रिय, तीन इन्द्रिय, चार-इन्द्रिय व पंचेन्द्रिय जीवों का वर्णन भी अत्यन्त स्पष्ट व सुव्यवस्थित रूप से किया है। इस प्रकार जैन-दर्शन में वृक्ष, कृमि, चींटी, मक्खी, मच्छर घोडा, बैल आदि का व्यवस्थित वर्णन किया है, अर्थात् जैन दर्शन ने पशु-पक्षी कीड़े मकोड़े मानव सभी का वर्णन किया है।

इस प्रकार विदित होता है कि आत्माकी स्वतंत्र सत्ता स्वीकार ने वाले सभी दार्शनिक मतों ने अपने चिन्तन का लक्ष्य मोक्षावस्था को माना है। सभी ने आत्मा की पूर्णता मुक्तावस्था में ही माना है, वही दुख से निवृत्ति की अवस्था नित्य है शाश्वत है।

संक्षेप में चार्वाक दर्शन व बौद्ध-दर्शन के अनुसार स्वतन्त्र आत्मा सत्ता नहीं है। न्याय-दर्शन की मान्यता है कि चैतन्य आत्मा का अगंतुक गुण है, मीमांसा-दर्शन में भी चेतना को आत्मा का औपाधिक गुण माना है। अद्वैतवेदान्ती एक ही आत्मा स्वीकार करते हैं। सांख्य-दार्शनिक मानते हैं कि आत्मा (पुरुष) निष्क्रिय व अविकारी है। विशिष्टाद्वैत में आत्मा पूर्ण-रूपेण ईश्वर पर निर्भर है किन्तु जब जैन दृष्टिकोण पर विचार करते हैं तो पाते हैं कि उन्होंने, स्वतन्त्र आत्मा सत्ता है, ज्ञान-चैतन्य आत्मा का स्वरूप है, आत्मा अनेक है, कर्तत्व-भोक्तृत्व युक्त है तथा पूर्णरूपेण स्व-निर्भर है, ऐसा मानकर सभी भारतीय दर्शनों की आत्मा सम्बन्धी नकारात्मक मान्यताओं को भी युक्तिसंगत रूप से मान्यता प्रदान की है और इससे अनेकान्त सिद्धान्त का अद्भुत उदाहरण पेश किया है।

जैन-दर्शन ने मानव-पशु-पक्षी, कीड़े-मकोड़ों आदि का व्यवस्थित वर्णन किया है जबकि अन्य दर्शनों ने केवल आत्मा-परमात्मा का व मानव जाति का वर्णन किया है अन्य जीवों की विभिन्नता सम्बन्धी उलझन को नहीं सुलझाया है, जो कि मात्र जैन दर्शन ने किया है। ऐकन्द्रिय, दो इन्द्रिय, तीन इन्द्रिय, चार-इन्द्रिय व पचेन्द्रिय जीवों का वर्णन कर विश्व के सूक्ष्म काय से स्थूलकाय के जीवों का वर्णन किया है।

जैन दर्शन की परिमाण, परिरणमन, पुरुषार्थ के द्वारा अपने शुद्ध रूप में स्थित होना, आदि के बारे में अत्यन्त स्पष्ट व युक्ति संगत मान्यता है। इस प्रकार हम देखते हैं कि व्यावहारिक व पारमार्थिक दोनों ही स्तर पर जैन दर्शन की मान्यता उचित व उपयुक्त है। दोनों ही स्तर पर यह मानवीय शंकाओं का निराकरण करती हैं।

कहा मुड़ाए मूंड बसे कहा मठ्ठका।
कहा नहाए गंग नदी के तट्टका।।
कहा वचन के सुने कथा के पट्टका
जो वस नाहिं तोहि पसेरी अट्ठका।।

अर्थ—जब यह आठ पंसेरी का मन ही तुम्हारे वश में नहीं है तो हे मनुष्य सिर मुंड़वाने, मठ में रहने, गंगा में रहने अथवा कथा पाठ के सुनने से क्या काम ? अर्थात् किञ्चत भी लाभ नहीं है।

भैया भगवती दास

जैनदर्शनसार-परिशीलन

पं० गुलाबचन्द जैनदर्शनाचार्य

पण्डित चैनसुखदास जी न्यायतीर्थ की कई मौलिक रचनाएं हैं, उनमें जैनदर्शनसार उनकी विशिष्ट कृति है। इसमें जैन दर्शन के प्रायः सभी मुद्दे आ गये हैं जो कि तत्वतः कहे जा सकते हैं या गिनाये जा सकते हैं। इनकी गणना जैन दर्शन के आधुनिक ग्रन्थों में तो है ही किन्तु भारतीय दार्शनिक ग्रन्थों में भी यह अपना स्थान उसी रूप में रखता है जिस रूप में अन्य प्राचीन ग्रन्थ रखते आये हैं। यह ग्रन्थ अर्वाचीन होते हुए भी प्राचीन ग्रन्थों की कोटि में भली प्रकार गिनाया जा सकता है क्योंकि ग्रन्थकर्त्ता ने इसमें उन सभी विषयों का समावेश किया है जिनमें पूर्वाचार्यो को ख्याति प्राप्त हुई है।

भाषा

ग्रन्थ की भाषा सरल एवं सुबोध संस्कृत है। ग्रन्थकर्त्ता ने अपनी रचना को छोटे-छोटे वाक्यों में सुगम शब्दों से इसलिए गूंथा है कि साधारण संस्कृतज्ञ भी इससे लाभ उठा सके।

प्राचीन दर्शन ग्रन्थ विषय की अपेक्षा से तो दुरूह होते ही हैं, वे भाषा की दृष्टि से और भी दुरूह हो जाते हैं। ऐसे ग्रन्थों में एक तो विद्यार्थी का विषय प्रवेश ही कठिन फिर भाषा भी यदि क्लिष्ट हो तो छूने में भी मन नहीं कर सकता यह भी एक कारण है कि दिनों दिन दर्शन के पढ़ने वालों की संख्या कम होती जा रही है। लेखक ने इस विषय को बड़ी गम्भीरता से सोचा है और यही सार निकाला है कि ग्रन्थ की भाषा अत्यन्त सरल एवं सुबोध हो ताकि विद्यार्थी उसको नोट्स के बिना ही सरलता से समझ सकें। इसी का परिणाम है कि ग्रन्थ आद्योपान्त व्यवहार्य शब्दों द्वारा सरल संस्कृत में रचा गया है। समासों की भी स्तोक रचना है। ऐसे वाक्य ग्रन्थ में खोजने को भी नहीं मिलेंगे जो दीर्घ समासों द्वारा ग्रथित हों।

शैली

जब हम न्याय के ग्रन्थों को देखते हैं तो ज्ञात होता है कि इनकी शैली साहित्य आदि विषयों से जटिल और दुर्बोध जान पड़ती है। चाहे ये ग्रन्थ जैन दर्शन के हो या जैनेतर, सभी की शैली प्रायः समान रूप से एकसी जटिल दिखाई पड़ती है। प्राचीन न्याय एवं नव्य न्याय सभी की एक सी परिपाटी अवच्छेदकावच्छिन्नत्व से ओत प्रोत है। इनके पारिभाषिक शब्द भी सामान्यतया प्रचलित कोषों में नहीं मिलते। इनके शब्द कोष भी विशेष ही होते हैं। न्याय, वैशेषिक, सांख्य, योग, मीमांसा प्रभृति दर्शन ग्रन्थों की शैली अपनी निराली ही है किन्तु जैन दर्शन भी इससे अछूता नहीं रहा है। प्राचीन जैनाचार्यों ने भी अपने ग्रन्थों की रचना उसी दार्शनिक कठिन शैली में की है। उनकी टीकाओं को

समझने के लिए भी टीकाओं की आवश्यकता पड़ती है। विना गुरु सहयोग के इनसे भी ग्रन्थों का समझना सरल नहीं है। अष्टसहस्त्री को कष्ट-सहस्त्री का रूप देना उसकी शैली का महात्म्य ही तो है।

प्राचीन न्याय से नव्य न्याय को सरल होना चाहिये किन्तु यह नव्य न्याय प्राचीन न्याय से भी कष्ट साध्य सिद्ध हुआ है।

किन्तु हमारा प्रकृत ग्रन्थ जैनदर्शनसार सभी दृष्टियों से सरल एवं सुवोध है। न उसमें अवच्छेदकावच्छिन्नत्व की झड़ी है न दीर्घ समास और न दार्शनिक कठिन एवं जटिल परिभाषायें। सारे विषय को सरल शैली में आधुनिकता को लिए हुए समझाया है। यद्यपि दार्शनिक ग्रन्थों में उतनी सरलता एवं सरसता तो आ ही नहीं सकती जितनी कि साहित्यादि रोचक विषयों में आया करती है। किन्तु फिर भी विषय को समझने के लिए इतनी कठिनता नहीं पड़ती जितनी कि अन्य दार्शनिक ग्रन्थों के समझने में पड़ती है। अतः कहना पड़ेगा कि समस्त ग्रन्थ सुवोध गद्यात्मक शैली में रचा गया हैं।

विषय

जिसका नाम ही 'जैनदर्शनसार' है फिर जैन दर्शन का कौनसा विषय इसमें नहीं हो सकेगा, सभी होंगे। ग्रन्थ कर्ता ने मंगलाचरण से लेकर, अन्त तक उन सभी विषयों का वर्णन अपने प्रतिपाद्य ग्रन्थ में कर दिया है।

जैन दर्शन का अन्तिम लक्ष्य मुक्ति की प्राप्ति है जो कि सभी भारतीय दर्शनों का अपना एक है। जैन दर्शन का प्राचीनतम सूत्र ग्रन्थ तत्वार्थ सूत्र है जो आचार्य उमास्वामी द्वारा रचित है। इस ग्रन्थ का आदि सूत्र "सम्यग्दर्शन ज्ञानचारित्राणि मोक्षमार्गः" है। ग्रन्थ कर्त्ता ने भी इसी सूत्र को आधार बना कर ग्रन्थ की संगति प्रारम्भ की है। मोक्ष की प्राप्ति किस को होती है और किन से मोक्ष मिलता है। इन सभी तत्वों का दिग्दर्शन ग्रन्थ में सुचारू रूप से कराया गया है।

तत्व विवेचन

जैनदर्शन में जीव, अजीव, आस्रव, वन्ध, संवर-निर्जरा और मोक्ष इन सात तत्वों की प्रमुखता है। प्रस्तुत ग्रन्थ में इन सातों तत्वों का खुलासा विवेचन किया गया है।

'द्रव्य संग्रह' का आधार लेकर जीव के नव अधिकारों का वर्णन अपनी स्वयं की विशेपता रखता है। तर्क वितर्क एवं शंका समाधानों के साथ सभी अधिकारों का संक्षिप्त एवं सुन्दर विवेचन किया है। इन्हीं नवों अधिकारों के वीच आत्मा की सनातन सिद्धि ग्रन्थ की अपनी स्वयं की मौलिकता है। आत्मा को संसारावस्था में शरीर प्रमाण सिद्ध करना और उसका व्यापकपना वट-कणिका मात्रपना, अणु प्रमाणपना इत्यादि न होना अनेकों युक्तियों से निषेधा गया है। सभी युक्तियां प्रमाण नय और निक्षेपों से युक्त अत्यन्त मनोरम हैं।

आत्मा के अध्यात्म भाषया तीन रूप जो कि आध्यात्मिक ग्रन्थों में वताये गये हैं ग्रन्थ कर्त्ता ने उन तीनों का विवेचन सोदाहरण करके पाठकों का अज्ञान दूर किया है। आत्मा का वहिरात्म रूप कर्मोपाधि सहित होने से हेय वतलाया है और अन्तरात्मरूप साधक रूप में स्वीकार किया है। तीसरा परमात्म रूप पद जिसको दो भागों में विभक्त किया है सकल परमात्मपद और निकल

परमात्मपद। सकल परमात्मा अरहन्तावस्था और निकल परमात्मा सिद्धावस्था है। ऐसे आत्मा के तीनों रूपों को संयुक्तिक समझाया है। इसी आत्मा के अन्तिम रूप को उत्कृष्ट परमज्योतिरूप अविद्या से दूर और महान माना है। आत्मा का यही रूप मुमुक्षुओं द्वारा पृष्टव्य, एष्टव्य और दृष्टव्य है ऐसा ग्रन्थकार ने अपने ग्रन्थ में सिद्ध किया है। इसके विपरीत रूप को अविद्या मय एवम् त्यागने योग्य बताया है। हमें ग्रन्थकर्त्ता के कथनानुसार बहिरात्म रूप को हेय समझ कर छोड़ना चाहिए तथा अन्तरात्मरूप स्वयं बन कर परमात्म पद की प्राप्ति करनी चाहिए। मानव जन्म का सार भी वस्तुतः यही है।

जैसा पूर्वाचार्यो ने अजीव तत्वों का विवेचन किया है ग्रन्थ कर्त्ता ने भी उसी का अनुसरण किया है। किन्तु धर्म अधर्म तत्व को समझाने की ग्रन्थ कर्त्ता की अपनी स्वय की विधा है। सूक्ष्म और अमूर्त्त तत्वों को समझाना और उनके लिए प्रचलित उदाहरण पेश करना ग्रन्थकर्त्ता का निरालापन है।

मोक्ष तत्व के विवेचन में कई शंका समाधान प्रस्तुत कर सिद्ध किया है कि यही अन्तिम तत्व मानव को सुखदायी एवं उपादेय है। यही पुरुष का चरम पुरुषार्थ है। इसके दोनों स्वरूपों का अर्थात् द्रव्य मोक्ष और भाव मोक्ष का, ग्रन्थ कर्त्ता ने सुन्दर विवेचन किया है।

प्रमाण निरूपण

दूसरे अध्याय में प्रमाण का निरूपण किया गया है जिस प्रकार पूर्वाचार्यो ने प्रत्येक विवेच्य तत्व का लक्षण बांधा है उसी प्रकार ग्रन्थ कर्त्ता ने भी लक्षण निर्देश किया है। सर्व प्रथम लक्षण का लक्षण और उसके आत्म भूत और अनात्म भूत दो भेदों के लक्षण समझाये हैं और समझाया है कि जो लक्षण वस्तु के स्वरूप में प्रविष्ट हो वह आत्मभूत और जो वस्तु के स्वरूप में प्रविष्ट न हो वह अनात्मभूत लक्षण है। यथा अग्नि का लक्षण उष्णता आत्मभूत का उदाहरण और दण्डीका दण्ड अनात्मभूत लक्षण का उदाहरण है। ग्रन्थकर्ता ने लक्षण के अव्याप्ति अतिव्याप्ति और असम्भव ये तीन दोष भी प्रकरणवश समझाये हैं।

प्रमाण के स्वरूप को समझाने में भी पूर्वाचार्यो का ही अनुसरण किया गया है किन्तु विशेषता शैली की है। ग्रन्थकर्त्ता ने प्रमाण का लक्षण भेद प्रभेद और दृष्टान्तों को समझाने में अपना निजीपन रखा है।

नय स्वरूप

"नयो हि प्रमाण विकल्पः यह ग्रन्थ कर्त्ता की स्वतन्त्र परिभाषा है। उन्होंने उदाहरण के रूप में पूर्वाचार्यो का निदर्शन प्रस्तुत किया है "सकलादेशः प्रमाणाधीनो विकलादेशो नयाधीनः"। अथवा "नानाभावेभ्यो व्यावृत्य एकस्मिन् स्वभावे वस्तु नयनि नयः" इस प्रकार कई उदाहरण देकर नयों का स्वरूप प्रतिपादन किया है। नय के दो भेद द्रव्यार्थिक और पर्यायार्थिक तथा द्रव्यार्थिक के नैगम संग्रह और व्यवहार ये तीन भेद तथा पर्यायार्थिक नय के चार भेद ऋजुसूत्र, शब्द समभिरूढ और एवंभूत इन सभी को ग्रन्थ में सोदाहरण सरल तरीके से समझाया गया है।

स्याद्वाद निरूपण

जैन दर्शन की आधारशिला स्याद्वाद का विवेचन भी सुगमतया समझाया है कहा है "स्याद्वा-

दोहि जैनागमस्य बीजं" अर्थात् स्याद्वाद जैनागम का बीज है। स्याद् का अर्थ कथंचित् और वाद का अर्थ सिद्धांत है। जिस वाद में स्यात् की प्रधानता है वह स्याद्वाद है। ग्रन्थकार ने इसे निराग्रहवाद भी कहा है। इसमें उन्होंने वस्तु का नित्यानित्यपना, सदसदात्मकपना द्रव्य–पर्यायात्मकपना, सामान्य विशेपात्मकपना, सिद्ध किया है। उन्होंने कहा है कि वस्तु सामान्यतया उदित भी नहीं होती और नष्ट भी नहीं होती वल्कि विशेष रूप से उदित भी होती है और व्यय भी होती है।

सप्तभंगी विवेचन

सप्तभंगी विवेचन में ग्रन्थ कर्त्ता ने स्यादस्ति, स्याद्नास्ति, स्यादस्तिनास्ति, स्याद्अवक्तव्य, स्यादस्ति अवक्तव्य, स्याद्नास्ति अवक्तव्य और स्यादस्तिनास्ति अवक्तव्य इन सातों भंगों का सोदाहरण एवं सलक्षण निरूपण किया है। "प्रश्नवशादेकत्र वस्तुनि अविरोधेन विधि प्रतिपेध कल्पना सप्तभंगी"। अकलंकदेव के इस लक्षण की सिद्धि कई शंका समाधानों के साथ की है।

अहिंसा

जिस प्रकार ग्रन्थकर्त्ता ने सप्तभंगी विवेचन अनेकों उदाहरणों शंका समाधानों एवं उद्धरणों के साथ किया है वैसे अहिंसा का विवेचन भी ग्रन्थ कर्ता की मौलिकता है। "प्रमत्तयोगात् प्राण–व्यपरोपणं हिंसा" इसी सूत्र के आधार पर सम्पूर्ण विवेचन है। द्रव्यहिंसा और भाव हिंसा का विवेचन अनेकों प्रश्नोत्तरों के साथ किया है प्राणघात होते हुए भी यदि भावों में विकृति नहीं है तो वह हिंसा नहीं कहलायगी और यदि भावों में विकार है तो चाहे प्राणघात न हो तब भी हिंसा है। इसमें किसान को हिंसा करते हुए भी अहिंसक और धीवर को हिंसा न करते हुए भी हिंसक सिद्ध किया है। गृहस्थ को आरम्भी उद्योगी और विरोधी हिंसा का त्यागी न बता कर संकल्पी हिंसा का त्यागी बताया है और मुनि को सर्वथा अहिंसक सिद्ध किया है। मन्त्र, औषधि, देवता, यज्ञ और अतिथियों के लिए भी हिंसा करना वर्जित बताया गया है। इस प्रकरण में कई आचार्यो के उद्धरण दिये हैं और सिद्ध किया है कि अहिंसा ही सब धर्मो की जननी है।

जाति तत्व मीमांसा

ग्रन्थ में जाति तत्व को बड़े ही सुन्दर ढंग से समझाया है। सर्वप्रथम यही कहा गया है कि जब तक जाति नाम का मद नष्ट नहीं होना सम्यग्दर्शन की प्राप्ति नहीं होती जो कि रत्नत्रय की नींव है। एकेन्द्रियादि जाति अथवा मनुष्य पशु इत्यादि जातियों पर ही विशेप बल दिया है। अन्य जातियां धन्धों अथवा पेशों के आधार से ही मानी गई है जो अपना पृथक मूल्य रखती है इसमें ऊंच और नीच का प्रश्न ही नहीं पैदा होता है। जिन शासन में इस प्रकार के जातिवाद को कोई स्थान नहीं जहां मानव की मानवता नष्ट की जाती है।

निक्षेप

अर्थो का शब्दों में और शब्दों का अर्थो में आरोप करना निक्षेप कहलाता है इसके आरोप, निक्षेप, न्यास, विन्यास आदि कई नाम हैं। ग्रन्थ में इसके चार भेद नाम, स्थापना, द्रव्य और भाव के रूप में गिनाये गए हैं। इन नामादिकों को बड़ी सुन्दर युक्तियों के साथ उत्तमोत्तम उदाहरण देकर ग्रन्थकर्त्ता ने पाठकों के सम्मुख रखा है।

इस प्रकार पंडितजी की 'जैनदर्शनसार' दर्शन शास्त्र की अमर कृति है।

जैन दर्शन में अवयव-समीक्षा

डा० दरबारीलाल कोठिया न्यायाचार्य

जैन दर्शन में अनुमान के अवयवों का सर्व प्रथम संकेत हमें आचार्य गृद्धपिच्छ के तत्वार्थसूत्र में मिलता है। गृद्धपिच्छ ने अनुमान का उल्लेख अनुमान शब्द द्वारा नहीं किया। न उन्होंने अवयवों का निर्देश अवयव रूप में किया है। पर उसके द्वारा दशवें अध्याय में मोक्ष के प्रसंग से आत्मा के उर्ध्वगमन का प्रतिपादन प्रतिज्ञा, हेतु और दृष्टान्त के प्रदर्शनपूर्वक किया है। उन्होंने मुक्त जीव के उर्ध्वगमन की सिद्धि तर्क पुरस्सर करते हुए निम्न प्रकार लिखा है—

१. तदनन्तरमूर्ध्वगच्छत्यालोकान्तात्

२. पूर्वप्रयोगादसंगत्वाद्बन्धच्छेदात्तथागति परिणामाच्च।

३. आविद्धकुलालचक्रवद्व्यपगतलेपालबूव देरण्डबीजवदग्निशिखावच्च।

इन सूत्रों में ऊर्ध्वगमग रूप प्रतिज्ञा (पक्ष), उसे सिद्ध करने वाले चार हेतु तथा इन चार हेतुओं की सम्पुष्टि के लिये प्रयुक्त चार दृष्टान्त प्राप्त होते है। इससे इतना स्पष्ट है कि आचार्य गृद्धपिच्छ ने यहां अनुमान के प्रतिज्ञा, हेतु और उदाहरण इन तीन अवयवों का संकेत किया है।

हमारे इस कथन को प्रमाणित करने वाला सर्वार्थसिद्धि गत इन सूत्रों की व्याख्या है जिसमें व्याख्याकार पूज्यपाद ने बताया है कि हेतु के कथन किये बिना उर्ध्वगमन का निश्चय नहीं हो सकता। तथा पुष्कल हेतुओं का प्रयोग होने पर भी वे दृष्टान्त के समर्थन बिना अभिप्रेतार्थ की सिद्धि करने में असमर्थ है। यथा—

अनुपदिष्टहेतुकमिदमूर्ध्वगमनं कथमध्यवसातुं शक्यमिति। अत्रोच्यते—आह--हेत्वर्थः पुष्कलोऽपि दृष्टान्तसमर्थनमन्तरेणाभिप्रेतार्थ साधनाय नालमिति, उच्यते। १०।६,७ की उत्थानिका

पूज्यपाद के इस व्याख्यान से स्पष्ट है कि आ० गृद्धपिच्छ को यहां अनुमान के तीन अवयवों द्वारा ऊर्ध्वगमन की सिद्धि करना अभीष्ट है।

गृद्धपिच्छ के बाद स्वामी समन्तभद्र का स्थान आता है। उन्होंने भी उक्त अवयवत्रय का नामतः उल्लेख किये बिना अनुमेयार्थ की सिद्धि प्रतिज्ञा हेतु और दृष्टान्त से की है। किन्तु समन्तभद्र की विशेषता यह है कि उन्होंने अनुमेय-सिद्धि पुष्ट तर्क के आलोक में की है। आ० गृद्धपिच्छ जहां चार-चार हेतु और चार-चार दृष्टान्त उपस्थित कर साध्यकी सिद्धि करते है वहां आ० समन्तभद्र एक पुष्ट प्रतिज्ञा और उसकी सिद्धि के लिए एक-एक ही पुष्ट हेतु और दृष्टान्त प्रयुक्त करते हुए मिलते है। इसके अतिरिक्त समन्तभद्र ने प्रतिज्ञा, हेतु और दृष्टान्त इन तीनों का शब्दतः भी प्रयोग किया

है, जो उनके ग्रन्थों में विकशलित उपलब्ध होते हैं। किन्तु गृद्धपिच्छ ने उनका विशकलित भी प्रयोग नहीं किया। विकास सिद्धान्त के अनुसार ऐसा होना स्वाभाविक ही है।

समन्तभद्र ने उक्त अवयवत्रय के प्रदर्शक कुछ उद्धरण उदाहरणार्थ यहां प्रस्तुत है—

(क) सूक्ष्मान्तरितदूरार्थाः प्रत्यक्षाः कस्यचिद्यथा।
अनुमेयत्वतोऽग् न्यादिरिति सर्वज्ञसंस्थितिः॥

(ख) अस्तित्वं प्रतिपेध्येनाविनाभाव्येकधर्मिणि।
विशेषणत्वात्साधर्म्यं यथा भेद विवक्षया॥

जैन न्याय के विकास क्रम में समन्तभद्र के पश्चात् न्यायावतारकार सिद्धसेन का महत्वपूर्ण योगदान है। सिद्धसेन ने न्यायावतार में पक्षादि वचन को परार्थानुमान कहकर उसके पक्ष हेतु और दृष्टान्त इन तीन अवयवों का स्पष्टतः निर्देश किया है तथा प्रत्येक का स्वरूप विवेचन भी किया है। देखिए का० १४,१७,८१,१६, उत्तरकाल में प्रतिपाद्यों की दृष्टि से अवयव प्रयोगः।

सिद्धसेन तक जैन चिन्तकों ने सामान्यतया तीन अवयवों के प्रयोग की मान्यता को स्वीकार किया है। पर उत्तरकाल में प्रतिपद्यों को दो वर्गो में विभक्त कर उनकी अपेक्षा से अवयवों के प्रयोग का कथन किया है। प्रतिपाद्य दो प्रकार के है— (१) व्युत्पन्न और (२) अव्युत्पन्न।

अकलंकदेव ने अवयवों की समीक्षा करते हुए पक्ष और हेतु इन दो ही अवयवों का समर्थन किया है। उनका अभिमत है कि कुछ अनुमान ऐसे भी है, जिनमें दृष्टान्त नहीं मिलता। पर वे उक्त दो अवयवों के सद्भाव से समीचीन माने जाते हैं। अकलंक पक्ष और हेतु की समीक्षा न कर केवल दृष्टान्त की मान्यता का आलोचन करते हुए कहते हैं कि दृष्टान्त सर्वत्र आवश्यक नहीं है। सर्वत्रैव न दृष्टान्तोऽनन्वयेनापि साधनात्। अन्यथा सर्वभावाना प्रसिद्धोऽयं क्षणक्षयः॥) न्या०वि०३८। अतः एव अकलंक के विचार से किन्हीं प्रतिपादों के लिए या कहीं पक्ष और हेतु ये दो ही अवयव पर्याप्त है। दृष्टान्त किसी प्रतिपाद्य विशेप अथवा स्थल विशेप की अपेक्षा ग्राह्य है, सर्वत्र नहीं।

आ० विद्यानन्द ने प्रमाणपरीक्षा और पत्रपरीक्षा में कुमारनन्दि भट्टारक ने वादन्याय के, जो आज अनुपलव्ध है, कुछ उद्धरण प्रस्तुत किये है, जिनमें वताया गया है कि परार्थानुमान के अवयवों के प्रयोग की व्यवस्था प्रतिपाद्यों के अनुसार की जानी चाहिए।

जैसा कि विद्यानन्द के उल्लेख से प्रकट है कि अवयव व्यवस्था में नया मोड़ स्पष्टतया आ० कुमारनन्दि ने उपस्थित किया है। उन्होंने अवयवों के प्रयोग को 'प्रयोग परिपाटी तु प्रतिपाद्यानुरोधतः' कह कर उनका प्रयोग प्रतिपाद्यों के अनुसार वतलाया है।

विद्यानन्द ने अकलंक और कुमारनन्दि से प्रकाश पाकर प्रतिज्ञा और हेतु को व्युत्पन्न प्रतिपाद्यों तथा शेप अवयव को अव्युत्पन्नों प्रतिपाद्यों की अपेक्षा प्रतिपादित किया है। 'वोध्यानुरोध मात्रातु शेपावयवदर्शनात्'। पत्रपरीक्षा पृ० ३।

'तत्त्वार्थश्लोकवार्तिक' में विद्यानन्द ने तीन प्रकार के वोध्य वतलाये हैं:

१. सन्दिग्ध,

२. विपर्यस्त और

३. अनध्यवसित।

माणिक्यनन्दि ने अपने 'परीक्षामुख' में वहुत ही स्पष्ट शब्दों में कहा है कि 'एतद्द्वयमेवानुमानांगं नोदाहरणम्' प० मु० ३।१७।

प्रभाचन्द्र, देवसूरि और हेमचन्द्र इन तीनों जैन विचारकों ने माणिक्यनन्दि का पूरा समर्थन किया है। ध्यान रहे इन विद्वानों ने वीतराग कथा (शास्त्र) में ही दृष्टान्तादि का प्रतिपादन किया है।

पंच शुद्धियां

भद्रबाहु और उनके अनुसर्ता देवसूरि, हेमचंद्र और यशोविजय ने उक्त प्रतिज्ञादि पांच अवयवों के अतिरिक्त उनकी पांच शुद्धियां भी वर्णित की है और इस प्रकार उन्होंने अधिक-से-अधिक दश अवयवों का कथन किया है। वे इस प्रकार हैं: १—प्रतिज्ञा, २—प्रतिज्ञाशुद्धि, ३—हेतु, ४—हेतु शुद्धि, ५—दृष्टान्त, ६—दृष्टान्तशुद्धि ७—उपसंहार, ८—उपसंहारशुद्धि, ९-निगमन और १०-निगमन शुद्धि। इन तार्किकों का मन्तव्य है कि जिस प्रतिपाद्य को मतिज्ञानादि पांच अवयवों के स्वरूप में शंक हो या उनमें दश—भाषादि दोषों की सम्भावना हो तो उस प्रतिपाद्य को उनके परिहार के लिए उक्त प्रतिज्ञा शुद्धि आदि पांच शुद्धियों का भी प्रयोग किया जाना चाहिये। उल्लेखनीय है कि भद्रबाहु ने एक अन्य प्रकार से भी दशावयवों का निरूपण किया है। उनके नाम हैं—१—प्रतिज्ञा, २—प्रतिज्ञाविभक्ति, ३—हेतु, ४—हेतुविभक्ति ५—विपक्ष, ६—विपक्ष प्रतिषेध, ७—दृष्टान्त ८—आशंका, ९—आशंका प्रतिषेध और १०-निगमन। पर इन दश अवयवों का देवसूरि आदि ने अनुगमन नहीं किया और न उनका उल्लेख किया है।

ध्यान रहे कि ये दोनों दशावयवों की मान्यताएं श्वेताम्बर परम्परा में स्वीकृत हैं। दिगम्बर परम्परा के तार्किकों ने उन्हें प्रश्रय नहीं दिया। इसके कारण पर विचार करते हुए पं० सुखलाल जी संघवी ने लिखा है कि 'इस तफावत का कारण दिगम्बर परम्परा के द्वारा श्वेताम्बर आगम साहित्य का परित्याग जान पड़ता है'। हमारा अध्ययन है कि दिगम्बर परम्परा के तार्किकों ने अपने तर्कग्रन्थों में न्याय व वैशेषिक परम्पराओं के पंचावयवों पर ही चिन्तन किया है, क्योंकि वे ही सबसे अधिक लोक प्रसिद्ध, चर्चित और सामान्य थे। यही कारण है कि वात्स्यायन द्वारा समीक्षित और युक्ति दीपिकाकार द्वारा प्रतिपादित जिज्ञासादि दशावयवों की भी उन्होंने कोई अनुकूल या प्रतिकूल चर्चा नहीं की। दूसरी बात यह है कि जिस प्रकार वात्स्यायन ने पांचों अवयवों का प्रयोजन बतलाते हुए हेतु और उदाहरण की परिशुद्धि का जिक्र किया है अर्थात् वात्स्यायन ने निर्दोष हेतु और उदाहरण के प्रयोग द्वारा ही पक्षादि दोष परिहार हो जाने का प्रतिपादन किया है। उसी तरह दिगम्बर जैन तार्किकों ने भी पक्षादि दोषों को परिहार साध्याविनाभावी हेतु के प्रयोग और प्रत्यक्षाद्यविरुद्ध पक्ष (साध्य) के प्रयोग द्वारा ही हो जाने से उन्हें स्वीकार नहीं किया।

तुलनात्मक अवयव-मीमांसा

यहां जैन दर्शन के अवयव विचार के संदर्भ में जैन दर्शनेतर दर्शनों में हुए अवयव-विचार को भी प्रस्तुत किया जाता है, जो ज्ञातव्य है।

न्याय और वैशेषिक तार्किकों ने पंचावयव के प्रतिपादक वचनों को परार्थानुमान स्वीकार किया है। पर ज्ञान को प्रमाण मानने वाले जैन और बौद्ध विचारकों ने वचन को उपचार से परार्थानुमान कहा है। उनका अभिमत है कि वक्ता के

---

१ प्रमेय कमलमार्त्तण्ड ३।३७

२. प्र०न० त० ३।२८।२

३. प्र० मी० २।१।९ पृ० ५२

स्वार्थानुमान के विषय (साध्य और साधन) को कहने वाले वचनों से श्रोता (प्रतिपाद्य) को जो अनुमेयार्थका ज्ञान होता है वह ज्ञानात्मक मुख्य परार्थानुमान है और उसके जनक वक्ता के वचन उसके कारण होने से उपचारतः परार्थानुमान हैं।

विचारणीय है कि वक्ता का कितना वचन समूह प्रतिपाद्य के लिए अनुमेय की प्रतिपत्ति में आवश्यक है? न्यायसूत्रकार १ और उनके अनुसर्ता वात्स्यायन, उद्योतकर, वाचस्पति, जयन्त भट्ट प्रभति न्याय परम्परा के तार्किकों तथा प्रशस्तपाद[२] आदि वैशेषिक विद्वानों का मत है कि प्रतिज्ञा, हेतु, [३] उदाहरण[४], उपनय[५] और निगमन[६] ये पांच वाक्यावयव अनुमेय प्रतिपत्ति में आवश्यक है। इन में से एक का भी अभाव रहने पर अनुमान सम्पन्न नहीं हो सकता और न प्रतिपाद्य को अनुमेय की प्रतिपत्ति हो सकती है[७]।

सांख्य विद्वान युक्तिदीपिकाकारने[८] उक्त पंचावयवों में जिज्ञासा, संशय योजन, शक्य प्राप्ति और संशयव्युदास इन पांच अवयवों को और सम्मिलित करके परार्थानुमान के दशावयवों का कथन किया है। परन्तु माठर ने[९] परार्थानुमान वाक्य के तीन (पक्ष, हेतु और दृष्टान्त) अवयव प्रतिपादित किये हैं। सांख्यों की यही त्रिरवयव मान्यता दार्शनिकों द्वारा अधिक मान्य और आलोच्य रही है।

बौद्ध विद्वान दिङ्नाग के शिष्य शंकर स्वामी का[१०] मत है कि पक्ष हेतु और दृष्टान्त द्वारा प्राश्विकों को अप्रतीत अर्थ का प्रतिपादन किया जाता है, अतः उक्त तीन ही साधनावयव हैं। धर्मकीर्ति[११] इन तीन अवयवों में से पक्ष को निकाल देते हैं और हेतु तथा दृष्टान्त इन दो अथवा मात्र हेतु को ही परार्थानुमान वाक्यका अवयव मानते हैं।

---

४. परार्थं तु तदर्थं परामर्शिवचनाज्जातं। तद्वचनमपि तद्धेतुत्वात्

५. प्रतिज्ञाहेतूदारणोंयनयनिगमनान्यवयवाः। न्यायसू० १।१।३२

६. अवयवा पुनः प्रतिज्ञाऽपदेश निर्शनानुसन्धान प्रत्याम्नायः। प्रश० भा० पृ० ११४, ३, ४, ५, ६. प्रशस्तपाद ने हेतु के स्थान में अपदेश, उदाहरण के लिये निदर्शन, उपनय की जगह अनुसन्धान और निगमन के स्थान में प्रत्याम्नाय नाम दिए हैं। पर अवयवों की पांच संख्या तथा उनके अर्थ में प्राय: कोई विशेष अन्तर नहीं है।

७. वात्स्या भाष्य १।१।३६, १. ५३।

८. युक्तिदीपि कार १ की भूमिका तथा का० ६ पृ० ४७—५१

९. पक्षहेतु दृष्टान्ता इति त्र्यवयवम्—माठर (का० ५ की) वृत्ति

१०. न्याय प्र० पृ० १,२ (११) प्रमाण वा० १।१२८। हेतुवि० पृ० ५५।

१२. प्रकरण पं० पृ० २२०।

मीमांसक तार्किक शालिकानाथ[12] नारायण भट्ट[13] और पार्थसारथि ने[14] उक्त तीन (प्रतिज्ञा, हेतु और दृष्टान्त) अवयव वर्णित किये हैं। नारायण भट्ट दृष्टान्त, उपनय और निगमय इस प्रकार से भी तीन अवयव मानते हुए मिलते हैं।

उपसंहार

भारतीय दर्शनों में इस प्रकार हमें अवयवों की बड़ी दिलचस्प चर्चा मिलती है। जैन तार्किकों के चिन्तन में जो वैशिष्ठ्य दिखायी देता है वह यही है कि उन्होंने उल्लिखित अवयवों को सबकी अपेक्षा से न मानकर विभिन्न प्रतिपाद्यों की दृष्टि से उन्हें न्यूनाधिक प्रतिपादित किया है। अर्थात् आरम्भ में प्रतिज्ञा, हेतु और दृष्टान्त इन तीन अवयवों की मान्यता होने पर भी उत्तर काल में अकलंक, कुमारनन्दि, विद्यानन्द, माणिक्यनन्दि, प्रभाचन्द्र, देवसूरि, हेमचन्द्र, धर्मभूषण, यशोविजय प्रभृति तार्किकोंने प्रतिपाद्यों को दो भागों में विभक्त कर उनकी दृष्टि से उनका प्रतिपादन किया है। अत्यन्त व्युत्पन्न प्रतिपाद्य के लिए केवल दो और अव्युत्पन्नों में किसी अव्युत्पन्ने प्रतिपाद्य की अपेक्षा से तीन, किसी अन्य प्रतिपाद्य की दृष्टि से चार और किसी अन्य की अपेक्षा से पांच अवयव प्रतिपादित हैं।

●●●

१३. मानमेयो० पृ० ६४।
१४. न्यायरत्ना० पृ० ३६१

अलप थकी फल दे घना, उत्तम पुरुष सुभाय
दूध भरै तृण को चटै, ज्यों गोकुल की गाय ।।
जेता का तेता करे, मध्यम नर सन्मान
घटै बढ़ै नहिं रंचहू, धरयो कोठरै धान ।।
दीजै जेता ना मिलै, जघनपुरुष की बान ।
जैसे फूटे घट धरयो, मिलै अलप पयथान ।।

—बुधजन

८

परिग्रह-परिमाण व्रत और समाजवाद

पूर्णचन्द्र जैन, एम० ए० शास्त्री

दृश्यमान जगत का प्रत्येक प्राणी कल्पित सुखों की प्राप्ति एवं दुःखो की निवृत्ति के लिए ही प्रयत्नशील है। वर्तमान युग भौतिकता का युग है अतएव सभी मनुष्य भौतिक-सुखों को ही अपना प्रेय समझ कर उन्हीं सुख साधनों की पूर्ति हेतु प्रशस्त अथवा अप्रशस्त मार्ग का अनुसरण कर रहे हैं। प्रत्येक प्रवृत्तिमूलक आचारवादी तथा संग्रही प्रवृत्तिवाला होने के कारण स्वार्थजन्य शत्रु-मित्रता को ही जन्म देता हैं जो कि मानसिक द्वन्द तथा सामाजिक क्रान्ति जैसी भारी अस्थिरता को ही जन्म देती है।

संसार में व्यक्तियों की संख्या सीमित हैं किन्तु उनकी इच्छाएं अनन्त एवं असीमित है जिन्हें प्राप्त सीमित साधनों के द्वारा सन्तुष्ट नहीं किया जा सकता। सुख साधनों के प्रति असीमित इच्छाओं का उद्वेलन ही वर्ग संघर्ष एवं विश्वसंघर्ष का जन्मदाता है। वर्ग संघर्ष का अभाव तथा विश्वशान्ति को सुरक्षित एवं स्थायी बनाने के लिए वह आवश्यक है कि मनुष्य अपनी इच्छाओं को सीमित करें।

भौतिक जगत की वे वस्तुएं जिन पर व्यक्ति या देश का स्वामित्व होने के कारण वह सर्वसामान्य की अपेक्षा विशेष सम्माननीय एवं प्रभावशाली माना जाता है वे हैं जमीन जायदाद, महल, मकान, धन आदि। यही बाह्य परिकर ही व्यक्ति या देश को स्वार्थी बनाता है क्योंकि इस परिकर का संचय बिना किसी मनुष्यों को कष्ट दिये सम्भव नहीं है। इस कार्य में प्राणियों तथा मनुष्यों का शोषण अनिवार्य है जो कि वर्ग संघर्ष तथा विश्व संघर्ष का जनक है। समाजवाद तथा साम्यवाद इसी के प्रतिरूप है।

जब जब भी किसी समस्या विशेष ने जन्म लिया, प्रबुद्धमानव ने उसके निराकरण के उपाय अवश्य खोज निकाले। कुशल चिकित्सक जिस प्रकार असाध्य रोग को क्रमशः शमित करने का प्रयास करता है, ठीक उसी प्रकार आचार्य उमास्वामी तथा परवर्ती जैन चिन्तकों में से नीतिशास्त्रकर पं० आशाधर ने मानव-समाज व्यवस्था एवं शान्ति को ध्यान में रख कर व्यक्ति की संचय-प्रवृत्ति जैसी बीमारी से छुटकारा पाने के लिए पंचाणुव्रत रूपी महौषधी प्रदान की। जिसे इस प्रकार समझा जा सकता है—

(१) मनसा, वाचा, कर्मणा किसी प्रकार से प्राणीमात्र के प्रति अहितकारी कार्य न करना।

(२) स्वार्थ-सिद्धि के लिये यथार्थ को अयथार्थ तथा अवास्तविक को वास्तविक रूप प्रदान कर कथन न करना।

(३) दूसरे देशों तथा व्यक्तियों के स्वत्व को सुरक्षित रखना।

(४) भौतिक-विषयों (व्यसनों) के प्रति आत्मा की सजगता रखना।

(५) अनावश्यक वस्तुओं का संग्रह तथा उनके प्रति ममत्व का भाव न रखना।

स्वर्गीय पं० जवाहरलाल नेहरू के द्वारा प्रतिपादित पंचशील का सिध्दान्त इसी का दूसरा रूप है।

इन उपरोक्त पांच अणुव्रतों का अनुसरण एवं अनुकरण ही सम्पूर्ण विश्व में एक आदर्श समाजवाद की स्थापना कर सकता है। अन्य कोई भी शक्ति चाहे वह मजदूर क्रान्ति अथवा पूंजीवादी संघर्ष के रूप में हो समाजवाद या साम्यवाद स्थापित नहीं कर सकती।

परिग्रह-परिमाण-व्रत तथा समाजवाद के स्पष्टीकरण के पूर्व यह जान लेना आवश्यक है कि व्रत क्या है तथा उसके पूर्व परिग्रह परिणाम जैसा विशेषण जोड़ने का क्या महत्व है? जैसा कि ऊपर कहा है कि विश्व मे समाजवाद की स्थापना के लिए यह आवश्यक है कि प्रत्येक व्यक्ति अपनी आवश्यकताओं को सीमित बनाये तथा आचरण को प्रशस्त करे।

व्रत की परिभाषा

व्रत की परिभाषा करते हुए समाजशास्त्रकार पं० आशाधर ने लिखा है कि "जीवनोपयोगी भौतिक" वस्तुओं के प्रति संकल्पपूर्वक नियम करना अर्थात् हिंसादि पांच पापों या सामाजिक अपराधों तथा परोपकारादि शुभ कार्यों में प्रवृत्ति को ही व्रत कहते हैं।[1] अर्थात् विषयाभिलाषाओं का स्वेच्छया नियमन करना ही व्रत है। जब कि इच्छाओं का नियम किसी व्यक्ति का परिस्थिति द्वारा किराया जाय तब वह व्रत न होकर 'दण्ड हो जायेगा। यथा भिखारी का भूखा रहना तथा कैदी का जेल में रहना उसकी स्वाभाविक प्रवृत्ति के विपरीत है एव पराधीनता के कारण व्रत नहीं है।

मनुष्यमात्र में भोगविलास एवं भौतिक सुखों की प्राप्ति की इच्छा सहज स्वाभाविक है किन्तु ससार में इच्छाओं एवं साधनों की असमानता है। कुछ ऐसे व्यक्ति है जिनके पास अपनी इच्छाओं को तृप्त करने के पर्याप्त साधन हैं, कुछ ऐसे हैं जिनके पास इच्छापूर्ति के साधन सीमित तथा इच्छायें असीमित हैं। कुछ ऐसे ऐसी भी व्यक्ति हैं जिनकी इच्छायें असीमित तथ, पूर्ति के साधनों का नितान्त अभाव है। ऐसी अवस्था में यह आवश्यक है कि सर्वमसान्य में साधनों का समान रूप से वितरण करने के लिए स्वार्थ साधन से परे अपनी इच्छाओं का निग्रह करें। इस तरह स्वेच्छया व्यक्ति की अपनी लालसाओं का नियमन हो जायेगा। इसी इच्छा नियमन को दूसरे शब्दों में व्रत कहेंगे। किन्तु त्याग जैसे भावना का अनुसरण कष्ट साध्य होता है, क्योंकि अच्छे कार्य

---

१. संकल्पपूर्वकः सेव्ये, नियमों शुभ कर्मणः। निवृत्ति वा व्रतं स्याद्वा, प्रवृत्ति शुभकर्मणि ॥८०।२ सागार धर्मामृत।

प्रायः प्रयत्न साध्य है जब कि असद्कार्य सहज एवं आकर्षक होते हैं।

असद् कार्यों में प्रवृत्ति सदैव विध्वंसात्मक होती है। अतः समाज में एकरूपता लाने के लिए व्रतों की उपादेयता स्वयं सिद्ध है। व्यक्ति समाज की एक इकाई है। अनेक व्यक्तियों के मेल से समाज का निर्माण होता है। जिस समाज में जिस स्तर के व्यक्ति को समाज को उन्नत रूप प्रदान करने के लिए अपने कर्तव्य के अनुरूप सदाशयी एवं नैतिक-गुणों का धारक होना चाहिए। समाज की सुव्यवस्था, शान्ति सौहार्द तथा सृजन के वातावरण के लिए नैतिक मूल्यों के निर्धारण की आवश्यकता है, जिसके फलस्वरूप समाज में विभिन्न वर्गों के भेद भाव से उत्पन्न होने वाले संघर्ष, अतिसंचय की भावना ऊंच नीच की भावना, दुराचरण, झूठ-चोरी, हत्यायें तथा अन्त में युद्ध आदि प्रलयकारी मनोवृत्तियों को रोका जा सकता है, सुधारा जा सकता है क्योंकि इन सभी बुराईयों की जड़ एक-मात्र भौतिकवादी दृष्टिकोण है।

वर्तमान युग में भौतिक मूल्यों के आधिक्य के कारण सामाजिक, राजनैतिक तथा आर्थिक वातावरण भी पूर्णतः भौतिकता से प्रभावित होता जा रहा है। फलस्वरूप सर्वत्र केवल अर्थ की प्रतिष्ठा तथा नैतिकता की उपेक्षा की जा रही है। 'सर्वे गुणाः कांचनमाश्रयन्ति" के अनुसार अर्थ की ही प्रधानता है। प्रत्येक व्यक्ति काले या सफेद माध्यमों से लक्ष्मीपति बनने का प्रयास कर रहा हैं। वर्तमान सभ्य-संसार को अलंकृत करने वाले व्यक्तियों की रूपसज्जा, सौन्दर्य प्रसाधन और उनके मनोरंजन के साधन उपन्यास, नाटक, नौटंकी, सिनेमा, क्लब, भोजन की विविध सामग्री एवं स्थान, शिक्षा, परिधान का ढंग तथा इन सबके आधार पर निर्मित समाज का वातावरण मनसा, वाचा, कर्मणा व्यभिचार एवं दुराचरण का साधन बन गया है। नैतिकता को ताक में रखकर युद्ध और शोषण का विश्व व्यापी दौर चल रहा है।

आज के युग में जीवन की परिभाषायें बदलती जा रही है। आजकल "जीने की अपेक्षा भोग-विलास में—अनियन्त्रित रूप से संलग्न रहने का नाम ही जीवन है।" तदर्थ धनोपार्जन के लिये नैतिक तथा अनैतिक साधनों का प्रयोग किया जा रहा है। निर्धन—वर्ग अति निर्धन तथा अमीर वर्ग और धनिक बनता जा रहा है। शोषण का बाजार चारों ओर गर्म है। मजदूरवर्ग तथा पूंजी पतियों के बीच संघर्ष ही इसका प्रतिफल होगा। विस्तृत क्षेत्र में इसी के प्रतिरूप उपनिवेशवाद साम्राज्यवाद एवं युद्ध तथा अन्त में जातीय एवं सांस्कृतिक परम्पराओं का लोप हो जाता है। युद्ध से नागरिक जीवन अस्तव्यस्त हो जाता है, सम्पत्ति का विनाश व्यापारियों में मुनाफा खोरी, चोर बाजारी, अतिसंग्रह तथा घूंसखोरी आदि अनैतिक प्रवृत्तियां जन्म ले रही है। ऐसी अवस्था में यह निन्तान्त आवश्यक है कि समूचे विश्व में पुनः नैतिकता के मूल्यों की स्थापना की जाये तथा मनुष्य के भौतिकवादी दृष्टिकोण में परिवर्तन लाया जाय अन्यथा विज्ञान की बढती हुई विनाशकारी शक्तियों मानव जाति का कभी नाम निशान समाप्त कर सकती हैं। अतएव मनुष्य को अपने कर्त्तव्य का ज्ञान करते हुए अपनी लालसाओं को संयमित करना होगा। जिसका एक मात्र माध्यम अणुव्रतों का अनुसरण करना ही है। अणुव्रतों के माध्यम से व्यक्ति के सुधार के बाद समाज तथा विश्वसुधार किया जा सकता है।

अणुव्रत कुटुम्ब, समाज, राष्ट्र और विश्व के मनुष्यों एवं समस्त प्राणियों के प्रति व्यक्ति के व्यवहार की नैतिक गारंटी है। क्योंकि "मनुष्य के कर्त्तव्यों की व्यवस्थित व्याख्या का नाम ही अणु-

व्रत है।[2] अणुव्रतों के माध्यम से व्यक्ति को नैतिक जीवन को अंगीकार करने की प्रेरणा दी जाती है। अणुव्रतों के द्वारा वर्गविहीन' धनी, निर्धन, भिक्षुक पूंजीपति आदि भेदभाव से रहित सच्चे अर्थों में समाजवादी समाजव्यवस्था को मूर्त रूप दिया जा सकता है।

परिग्रह की परिभाषा—

व्रत की परिभाषा एवं उसकी आवश्यकता के कथन के पश्चात् "परिग्रह क्या है" जिसके परिमाण के फलस्वरूप समाजवाद सम्भव हो सकता है, जान लेना आवश्यक है। परिग्रह की परिभाषा विभिन्न चिन्तकों ने भिन्न-भिन्न प्रकार से की है। आचार्य श्री उमास्वामी ने "मूर्च्छा परिग्रह" अर्थात् भौतिक वस्तुओं के प्रति आसक्ति को ही परिग्रह कहा है[3] परवर्ती चिन्तकों ने इसी सूत्र की विस्तृत व्याख्यायें प्रस्तुत की हैं। पुरुषार्थ-सिद्धियुपाय के अनुसार यद्यपि जीवन की आवश्यकताओं की मूर्ति पदार्थों से होती है फिर भी पदार्थ स्वयं में परिग्रह नहीं है प्रत्युत उनके प्रति ममत्व भाव ही परिग्रह है। सर्वार्थसिद्धि में की गई व्याख्या के अनुसार बाह्य गौ, भैंस मणि, मुक्ता आदि चेतन अचेतन पदार्थों के प्रति रागादि भावों का संरक्षण, अर्जन आदि रूप व्यापार को 'मूर्च्छा' कहा है। परिग्रह की उत्पत्ति ममत्व भाव से ही है अतएव उसे परिग्रह कहा है। धन धान्यादि बाह्यपदार्थ ममत्व के आलम्बन एवं उद्दीपक होने से उन्हें भी परिग्रह की कोटि में रखा है। आचार्य समन्तभद्र के अनुसार "अपनी जीवन सम्बन्धी आवश्यकताओं के अनुरूप वस्तुओं से अतिरिक्त वस्तुओं का संग्रह को परिग्रह कहा है"[5] आचार शास्त्रकार पं० आशाधर के अनुसार "यह वस्तु मेरी है इस प्रकार के संकल्प का नाम ही परिग्रह है"[6] आगे परिग्रह को दो भागों में विभक्त करते हुए लिखा है कि मिथ्यात्व, क्रोध मान, माया लोभ, हास्य, रति, अरति, शोक, भय जुगुप्सा, स्त्रीवेद और पुंवेद और तथा नपुंसकवेद इस प्रकार चौदह प्रकार का अन्तरंग परिग्रह तथा बाह्य-परिग्रह भौतिक पदार्थों के प्रति आसक्ति को कहा है। इसके प्रति इच्छाओं को संयमित करना चूंकि युगपत् सम्भव नहीं होता अतएव देश, काल जाति, पदवी तथा अवस्था के अनुरूप क्रमशः वस्तुओं के प्रति आसक्ति का कम करने का विधान भी किया है।[7] आचार्य उमास्वामी ने बाह्य परिग्रह की चर्चा करते हुए क्षेत्र, वस्तु, हिरण्य सुवर्ण, धन, धान्यादि को परिग्रह कहा है।[8]

---

२. विपरितः स्थूलवधादे-र्मनवचोङ्ङ्ग, कृतकारितानुमतैः
क्वचिदपरेऽप्यननुमतेः पचाहिंसाणुव्रतानि ।।५।४।

३. तत्वार्थसूत्र अ। ७।१७ सूत्र।

४. श्लोक संख्या १११ से १२१ तक पुरूषार्थ०।

५. धनधान्यादि ग्रन्थ परिमाय ततोऽधिकेषु निस्पृहता,
परिमिति परिग्रहः स्यादिच्छा परिमाणनामापि ।।

६. ममेदमिति संकल्पश्चिदचिन्मिश्रवस्तुसु, ग्रन्थस्तत्कर्षनात्तेषाम कर्षनम्
तत्प्रमाव्रतम ।।(६१।। रत्नकरण्ड श्रा० । ५६।४ सा० ध० ।।

७. श्लोक सख्या ६०, ६१, ६२। अ० ४ सागा० ध०।

८. क्षेत्रवस्तुहिरण स्वर्णधन धान्यादि दासी दास कुप्य प्रमाणीतिद्रुमा। तत्वार्थसूत्र-७।३९

परिग्रह के दोष

जैसा कि पहले कह चुके हैं कि परिग्रह ही अनन्त अनर्थों का मूल है। व्यष्टिगत, समष्टिगत, देशगत अथवा विश्वव्यापी जिन्होंने संघर्ष हुए हैं वे सभी अतिसंग्रह, ममत्व भाव तथा दुराग्रहवादिता के कारण ही हुए हैं। प्रसिद्ध नीतिशास्त्रकार आशाधर ने परिग्रह जन्य दोषों को इस प्रकार स्पष्ट किया है जिस प्रकार रात्रि में अन्धकार बढ़ता हैं वैसे ही मानव-समाज में परिग्रही व्यक्ति के प्रति अविश्वास बढ़ता है। अग्नि को बढ़ाने के लिए जिस प्रकार घी सहायक होता है उसी प्रकार पदार्थों के प्रति मोह या तृष्णा को प्रज्वलित करने लिए परिग्रह सहयोगी होता है तथा व्यक्ति के मानस सागर में इच्छाओं के ज्वार आने लगते है।

परिग्रह परिमाण व्रत के अतिचार

परिग्रह की सूक्ष्म एवं स्पष्ट विवेचना करते हुए गृहस्थ धर्म शास्त्रकार आशाधर ने कहा—

वास्तु क्षेत्रे योगात् द्धनधान्ये बन्धनात् कनकरूप्ये।
दानात् कुप्ये भावान्न गवादौ गर्भतो मितिमतीथात्॥
सा. धर्मामृत६४। ४

अर्थात् १—वास्तु क्षेत्र योग, २—धन धान्य बन्धन, ३—कनकरूप्यदान ४—कुप्यभाव तथा ५—गवादिगर्भ के विषय में निर्धारित मर्यादा का उल्लंघन करना परिग्रह परिमाण व्रत के अतिचार नामक दोष होने से नैतिक अपराध है।

१. क्षेत्र वास्तुयोगातिचार

वास्तु अर्थात् घर, ग्राम, नगर या देश की मर्यादा का उल्लघंन करना। यथा घर की मर्यादा लम्बाई, चौड़ाई तथा संख्या सीमित होने पर उसे दो या तीन मंजिला बनवाना अथवा दो मकानों को मिलाकर एक कर लेना। दूसरे देशों की सीमा में अपने देश की सीमा निर्धारित करना। नगरों और ग्रामों को राजाओं द्वारा अपने राज्य में मिला लेना।

२. धनधान्य बन्धनातिचार

धन—गणिम, धरिम, मेय और परीक्ष्य के भेद से चार प्रकार का है। व्यक्तिगत तथा व्यापारिक दृष्टिकोण को ध्यान में रख कर सीमोल्लंघन के भय से कभी-कभी व्यक्ति अपनी सम्पत्ति को अपने पास न रख किसी दूसरे के संरक्षण में रख देता है। व्यापारी अपना माल दूसरे व्यापारी के यहां बन्धक करा देता है। इस तरह वस्तुओं की प्राप्ति के अभाव में सामान्य जनता को बहुत कष्ट का सामना करना पड़ता है तथा श्रावक कम होने से वस्तुओं के मूल्य भी बढ जाते है। जीवनोपयोगी वस्तुओं का अतिसंग्रह करना मानवता का हनन करना है।

३. कनकरूप्यदानातिचार

सोना, चांदी को सीमाति रोक के भय से दूसरों परिचितों के पास रख देना अथवा छोटे गहनों को बढ़ा लेना या जमीन में गाड देना आदि।

४. कुप्यभावातिचार

स्वर्ण तथा चांदी से भिन्न ताम्बा, पीतल, बांस, लकड़ी मिट्टी आदि तथा इनसे बने हुए उपकरणों का व्यापार या प्रयोग करना तथा सीमातीत होने पर उन्हें दूसरों के पास सुरक्षित रखना।

५. गवादि गर्भातिचार

गाय, भैस आदि के गर्भाधान होने पर सीमा का उल्लंघन होते भी पशुओं को रखना। आचार्य

उमास्वामी ने भी परिग्रह परिमाण व्रत के अतिचारों को इस प्रकार कहा है—१. क्षेत्र तथा वास्तु का प्रमाणतः अतिक्रमण, २. हिरण्य—सुवर्ण के प्रमाण का अतिक्रमण। ३. धन और धान्य के प्रमाण का अतिक्रमण, ४. दासी-दास के प्रमाण का अतिक्रमण, ५. कुप्य के प्रमाण का अतिक्रमण।[3]

इस प्रकार परिग्रह परिमाण व्रत की परिभाषा तथा अतिचारों के विवेचन से स्पष्ट होता है कि यदि प्रत्येक व्यक्ति परिग्रह परिमाणव्रती बन कर अपने कर्त्तव्य का सही रूप से पालन करे तो न केवल उसका वरन् समाज, देश तथा विश्व के समस्त मनुष्यों का जीवन शांति एवं सुखमय बन सकता है।

विश्व में प्रचलित समाज सुधार के विभिन्न वादों से परिग्रह परिमाणव्रतवाद कहां तक मेल खाता है तथा कहां तक उनकी तुलना में उपयोगी सिद्ध होता है, इसका ज्ञान करने के लिए हमें प्रथमतः सभी वादों का परिचय अपेक्षित है।

समाजवाद

प्रबुद्धविचारक—कार्ल मार्क्स के अनुसार "समाजवाद एक ऐसा समाज है जिसमें प्रत्येक व्यक्ति को उसकी योग्यता के अनुसार पूर्ण एवं स्वतन्त्र विकास का अवसर प्राप्त हो।" मानव इतिहास वर्ग संघर्ष का इतिहास है। उत्पादनों के परिवर्तन के साथ ही समाज में परिवर्तन होता है। क्योंकि सभी सुखसाधनों के प्राप्ति की इच्छा रखते हैं और उसका समाधान संघर्ष में ही होता है। यह संघर्ष—दासों का स्वतन्त्र व्यक्तियों से, साधारण जनता का कुलीन तन्त्रियों से, कृषिदासों का भूमिपतियों से, वेतन भोगियों का श्रेणिपतियों से या पूंजीपतियों से होता रहा है। राज्य का आधार चूंकि वर्ग समाज है अतएव समाजवाद को कार्यान्वित करने के लिए वर्ग संघर्ष आवश्यक होगा।

साम्यवाद

साम्यवाद का लक्ष्य भी व्यक्ति मात्र को समाज में समान रूप से विकास के साधनों की उपलब्धि कराना है। ऊंच नीच तथा अमीर गरीब का भेद भाव रहित समाज के निर्माण की यह कल्पना वर्ग–क्रांति एवं हिंसा का सहारा लिये बगैर सम्भव नहीं हो सकती क्योंकि इसका उदय सामन्तवाद तथा पूंजीवाद के उन्मूलन के लिये ही हुआ। राजनीति के प्रमुख विचारक 'प्लेटो' ने साम्यवाद के दो रूपों में विभाजित किया है। यथा १–आर्थिक-साम्यवाद तथा २. पारिवारिक साम्यवाद। आर्थिक साम्यवाद के अन्तर्गत (क) संरक्षक वर्ग की अपनी कोई निजी सम्पत्ति नहीं होती। (ख) व्यक्ति की आवश्यकताओं की पूर्ति राज्य द्वारा की जायेगी। (ग) सैनिक एवं शासकों का निवास शासन द्वारा निर्धारित स्थानों में ही होगा। (घ) भोजन सभी का शासकीय भोजनालयों में ही होगा। चूंकि राजनैतिक तथा आर्थिक शक्तियों का गठबन्धन राज्य के जीवन को घातक सिद्ध होता है अतएव इस साम्यवाद के अन्तर्गत दोनों शक्तियों को अलग रखा जायेगा और व्यक्तिगत हित की अपेक्षा समाज या राज्य हित की प्रधानता न होगी।

२. पारिवारिक साम्यवाद

प्लेटो महोदय का कथन है कि "जब व्यक्ति विशेष का अपना निजी परिवार होता है तब वह उसे उत्तरोत्तर समृद्धिशाली बनाने का प्रयास करता

---

३ क्षेत्रवास्तु हिरण्यसुवर्ण धन धान्यादि दासीदासकुप्य प्रमाणातिक्रमः ।।२९।७ तत्वार्थ सूत्र

है। अतएव स्वार्थवद्ध दृष्टि होने से ऐसा व्यक्ति साम्यवाद का कभी पोषक नहीं हो सकता। ऐसे ही भेद-भाव को दूर करने के लिए प्लेटो ने पारिवारिक साम्यवाद को निम्न आधारों पर खड़ा किया है—

(१) संरक्षक वर्ग की पारिवारिक संस्था की समाप्ति।

(२) पति-पत्नी के सम्बन्धों का अन्त।

(३) स्त्री पुरुष का सम्भोग संयोग केवल देश के लिए अच्छी सन्तान प्राप्ति हेतु।

(४) उत्पन्न बच्चों पर समाज का अधिकार।

(५) सम्राट् पूर्णतः ब्रह्मचारी तथा (६) उत्पादक वर्ग

पर किसी प्रकार का बन्धन नहीं।

इसी प्रकार के साम्यवाद की कल्पना अप्रायोगिक ही नहीं हास्यास्पद भी है। क्योंकि ऐसा करने से समाज स्वतः दो भागों में विभक्त हो जायेगा और समाज में भ्रष्टाचार फैल जायेगा। मनुष्य केवल मशीन के एक पुर्जे की तरह ही अस्तित्वहीन हो जायेगा। समाज शास्त्री वीसेंज के अनुसार—"परिवार एक आधारभूत एवं सार्वभौमिक संस्था है। प्रत्येक समाज का जीवन इसी पर निर्भर है। अतएव इसे समाप्त नहीं किया जा सकता।"

रूस, चीन अमेरिका जैसे भौतिकवादी प्रगतिशील देशों में प्रचलित उपरोक्त वादों से भारतीय प्रबुद्ध विचारक भी अप्रभावित नहीं रह सके। उन्होंने प्राचीन भारतीय नीतिशास्त्रों के परिप्रेक्ष्य तथा संस्कृति के परिवेश में प्रजातन्त्रात्मक राज्य की कल्पना को मूर्त रूप प्रदान किया। भारतीय संविधान व्यक्ति को अपने बहुमुखी विकास के समान रूप से के अवसर प्रदान किये हैं। महात्मा गांधी ने भी अपने सर्वोदय सिद्धांत के द्वारा व्यक्ति को उसके सर्वांगीण विकास के लिये अपनी एक निजी परिकल्पना प्रदान की है। इसके अन्तर्गत वर्ण तथा वर्गहीन समाज में ग्रामीण स्वराज्य का आधार अहिंसा एवं प्रेम को ही बनाया है।

परिग्रह-परिमाण व्रत एवं समाजवाद

वर्तमान विश्व में प्रचलित समाजवाद, व्यक्ति के विकास के प्राचीन मार्ग का ही एक नया रूप है। भारतीय चिन्तकों ने अपरिग्रहवाद के रूप में इसे बहुत पहिले ही प्रतिपादित किया था। जिसके परिणाम स्वरूप ही विश्व में हुए अपने उतार-चढाव के बाद ही मानव जाति शांति से जी सकी। २५०० वर्ष पूर्व भगवान महावीर ने "जीओ और जीने दो" का सिद्धांत का प्रतिपादन मानव के समान रूप से विकास को ध्यान में रखकर किया था। आचार्य जिनसेन के अनुसार मनुष्य जाति एकैव जातिकर्मोदयोद्भवा" अर्थात् मनुष्य मात्र में देश गत, जाति या वर्णगत कोई भेद नहीं प्रत्युत मानव मात्र की एक ही जाति है। अतएव सभी को अपने विकास के साधन एवं अवसर मिलना चाहिये।

परिग्रहपरिमाण व्रतानुसार पदार्थों के संग्रह की मर्यादा का विधान है। साथ ही अपनी आवश्यकताओं से अधिक संग्रहीत वस्तुओं को उन्हें जिनके पास उनका अभाव है, प्रदान कर देना चाहिये। "अनुग्रहार्थं स्वस्यातिसर्गो दानम्" उपरोक्त कथन की पुष्टि करता है। तात्पर्य यह है कि प्रत्येक मनुष्य अपनी आवश्यकताओं की पूर्ति से अधिक संग्रह न करे जिससे समाज के अन्य सदस्यों की आवश्यकतायें भी पूर्ण हो सके। इस तरह साम्यवाद, समाजवाद एवं सर्वोदयवाद अपने

सिद्धांतों के अनुसार अपरिग्रह-वाद के पर्यायवाची शब्द कहे जा सकते हैं।

परिग्रहवादी व्यक्ति लोभी होने से दूसरों को विकास के अधिकारों से वंचित करता है तथा उनका शोषण करता है। सामन्तशाही तथा साम्राज्यवादिता इसी के सुविकसित रूप हैं। इनके विस्तार में ही अनेक संघर्ष जन्म लेते हैं। अतएव जब प्रत्येक व्यक्ति अपनी आवश्यकता से अधिक वस्तुओं का संग्रह न कर संग्रहीत वस्तुओं के त्यागने का इच्छुक रहेगा तभी मानवमात्र में सौहार्द्र एवं सहानुभूति तथा सहिष्णुता की भावना जाग्रत होगी। तब सही अर्थो में विश्ववन्धुत्व की स्थापना होगी।

मनुष्यों में दो प्रकार आसक्ति अपनी संग्रहीत वस्तुओं के प्रति होती है। १-क्षणिक आसक्ति २-स्थायी आसक्ति। मृग जंगल में क्षणिक आसक्ति के साथ घास का भक्षण करता है। भय की आशंका होते ही निर्ममत्व भाव से उसे छोड़ कर आगे बढ़ जाता है तथा बाद में भी उसके प्रति पश्चाताप नही करता किन्तु बिल्ली अपने शिकार चूहे पर इतनी अधिक आसक्त होती है कि प्राणों पर आ बनने पर भी उसे अपनी इच्छा से त्याग नहीं कर सकती।

दूसरी कोटि के मनुष्य जो कि चमड़ी की अपेक्षा दमड़ी का अधिक मूल्य अधिक समझते हैं, ऐसे व्यक्ति ही अपने कर्तव्य को ताक में रख कर दूसरों का शोषण करने की योजनायें बनाते हैं। परन्तु स्वतः उनके ही अन्तकरण से प्रेरणा प्रवाहित होना चाहिये कि जब वे अपने विकास में किसी की बाधा पसन्द नहीं करते तब उन्हें दूसरों के बाधक बनने का क्या अधिकार है? अतएव मनुष्य मात्र को अपने लिए मानव समाज का एक सेवक मात्र समझना चाहिए तथा अपने द्वारा उपार्जित धन समाज कल्याण के लिए प्रयोग करना चाहिए। अपनी संग्रहीत सम्पत्ति का समाज की ओर स्वयं अपने को उसके संरक्षक समझना चाहिए जिससे उसका दुरुपयोग न हो। साथ ही यह भी स्मरणीय है कि व्यक्ति विशेष को अपनी संचित प्रतिभा के प्रयोग करने में अकर्मण्यता नहीं लाना चाहिए तभी उसकी कमाई में शुध्दता आयेगी क्योंकि "जो व्यक्ति आर्थिकरूप से पवित्र होगा वही पवित्र या सुसंस्कृत कहा जायेगा"।[१०]

परिग्रह-परिमाण व्रत का पूर्णतः व्यावहारिक रूप से पालन करने पर प्रत्येक समाज तथा देश परस्पर विश्ववन्धुत्व के सूत्र में बधेंगे और समाजवाद की कल्पना साकार हो जायेगी। इसमें हिंसा के साधनों का सहारा भी नहीं लेना पड़ेगा।

परिग्रह परिमाण-व्रत के सन्दर्भ में स्वामी कार्तिकेय ने कहा कि जो व्यक्ति अपनी लोभी प्रवृत्ति का हनन कर संतोषरूपी रसायन से संतुष्ट होकर नश्वर भौतिक पदार्थों के प्रति तृष्णा का नाश करता है तथा धन धान्यादि भौतिक वस्तुओं का परहितार्थ परिमाण करता है वही व्यक्ति यथार्थतः परिग्रह-परिमाण व्रती या समाजवादी हो सकता है।[११] परिग्रह-परिमाणव्रत मानव समाज

१०. "योऽर्थशुचिः सो शुचिः" स्मृतिकार, मनु

११ जो लोहं णिहणित्ता सन्तोष रसायणेण सन्तुट्ठो।
णिहणदि तिण्हादुट्ठा मणांतो विणस्सरं सव्वं ॥३३९॥
जो परिमाणं कुव्वदि धणधाण सुवण्ण खित्त माई णं।
उवयोगं जाणित्ता अणुव्वयं पंचम तस्स ॥३४०॥ कार्तिकेयानुप्रेक्ष।

९

जैन दर्शन में स्याद्वाद सिद्धान्त के अन्तर्गत प्रमाण ज्ञान का विषय

पं० मूलचन्द जैन शास्त्री

जैन दर्शन या आर्हत दर्शन में सामान्य रूप से यावत् सत् को परिणामी नित्य माना गया है। उत्पाद, व्यय और ध्रौव्य लक्षण वाला सत्[1] होता है, प्रत्येक सत् अनन्त धर्म विशिष्ट कहा गया है। इस अनन्त धर्म विशिष्ट सत् का यथार्थ रूप में प्रतिपादन करने वाला या एक धर्म मुखेन उस सत् रूप पदार्थ में रहे हुए अनन्त धर्मों को एक साथ विषय करने वाला प्रमाण है—प्रमाण वह स्फार प्रकाश वाला दीपक है कि जिससे पूर्ण प्रकाशित हुई वस्तु का कोई भी अंश अज्ञान नहीं रह पाता है। यद्यपि जैन दार्शनिकों ने पदार्थ के मौलिक रूप को जानने के लिये दो साधनों का उपदेश[2] दिया है, परन्तु उनमें से प्रथम साधन द्वारा ही ऐसा है जो स्याद्वाद सिद्धान्त की शिखर पर पूर्णकलश की तरह

१. "उत्पादव्ययध्रौव्ययुक्तं सत्"-तत्वा० सू० अ० ५

२. "प्रमाण नयैरधिगमः" तत्वा० सू० अ० १

शेष पृष्ठ १४० का

के लिए जैन संस्कृति की देन है। प्रत्येक जैन व्यक्ति अनासक्तभाव से सम्पत्ति का संचय करता है तथा समय आने पर वर्णगत एवं धर्मगत भेद भावों को भूल कर मानवता की रक्षा के लिए सर्वस्व समर्पित कर देता है। चक्रवर्ती भरत तथा राजर्षि जनक ऐसे ही परिग्रह-प्रमाणव्रती थे जिहोने अपार सम्पत्ति के बीच रहते हुए भी उससे अंशमात्र भी ममत्व नही रखा। प्रत्येक जैन गृहस्थ देवदर्शन के साथ ही अपनी ली गई मर्यादा का स्मरण तथा अनुसरण करने की प्रतिज्ञा करता है साथ ही अधिक वस्तुओं को निःसंकोच दूसरों को प्रदान करता है। उसकी यह भावना सच्चे समाजवादी होने को प्रमाणित करती है।

क्षेमं सर्वप्रजानां प्रभवतु बलवान-धार्मिको भूमिपालः
काले काले च सम्यक वर्षतु मघवा व्याधयो यान्तु नाशम् ।।
दुर्भिक्षं चौरमारी क्षणमपि जगतां मास्मभूज्जीवलोके।
जैनेन्द्रं धर्मचक्रं प्रभवतु सततं सर्वसौख्य प्रदायी ।।

रह कर उसकी शोभा में चार-चांद लगा देता है। इसलिये "सकलादेशः प्रमाणाधीनः" ऐसा कह कर जैन दार्शनिकों ने प्रमाण का अभिनन्दन किया है। प्रमाण वस्तु को अखण्ड रूप से ग्रहण करता है। इसके द्वारा अपने अंक में बैठायी हुई वस्तु के किसी भी धर्म में ऐसी पक्षपातमय स्थिति उत्पन्न नहीं की जाती है कि यही धर्म हमें प्यारा है और इसका यह धर्म हमें इस समय प्यारा नहीं है। इसकी दृष्टि में सभी धर्मो का वस्तु के ऊपर युगपत् अखण्ड साम्राज्य रहता है। जिस प्रकार अहमिन्द्रों में कोई किसी की दृष्टि में हीन–या उच्च नहीं होता प्रत्युत सबका एकसा आधिपत्य होता है उसी प्रकार प्रमाण की दृष्टि मे भी वस्तुगत समस्त धर्मो में मुख्य गौण की स्थिति नहीं होती। सभी धर्मो का वस्तु के ऊपर एक सा अधिपत्य होता है।

यह प्रमाण वाक्य किसी एक धर्म के ग्रहण द्वारा समस्त पदार्थगत धर्मो को युगपत् किस पद्धति से अपना विषय बनाता है इसे स्पष्टरूप से समझाने के लिये शास्त्रकारों ने काल, आत्मभूत, अर्थ, सम्बन्ध, उपकार, गुणिदेश, संसर्ग और शब्द "इन आठ द्वारों का-प्रकारों का-उपायो का प्रदर्शन किया है। इनके द्वारा उन्होने यह समझाया है कि इन[3] काल आदि की अपेक्षा वस्तु में अभिन्न रूप से रहने वाले सम्पूर्ण धर्मो में एवं धर्म और धर्मो में अभेद भाव की प्रधानता रख कर अथवा इन काल आदि की अपेक्षा लेकर भिन्न-भिन्न भी धर्म और धर्मो में अभेद का उपचार मान कर सम्पूर्ण धर्म और धर्मो का एक ही साथ जो कथन किया जाता है, उस समय यह सकलादेश होता है। इस सकलादेश के प्रभाव से ही कालआदि की अभेद दृष्टि अथवा अभेदोपचार की अपेक्षा वस्तु के समस्त धर्मो का एक साथ ज्ञान होता है। वस्तु गत धर्म उसके गुण होते हैं। इसीलिये गुणों के समुदाय[4] को द्रव्य कहते हैं। गुणों को छोड कर द्रव्य कोई स्वतन्त्र पदार्थ नहीं माना गया।

द्रव्य का कथन गुणवाचक शब्द के माध्यम से ही होना है इसलिये अस्तित्व आदि अनेक गुणों के समुदाय रूप द्रव्य का, निरशंरूप पूर्णरूप से अभेदवृत्ति (द्रव्यार्थिक नय की अपेक्षा समस्त धर्म अभिन्न हैं और अभेदोपचार (पर्यायार्थिक नय की अपेक्षा समस्त धर्मो में भिन्नता है फिर भी उनमें एकता का आरोप किया जाता है) को लेकर एक गुण के कहने द्वारा ही कथन हो जाता है, यही सकलादेश है और यही प्रमाण का प्रमेय है।

जब "स्याज्जीवादिवस्तु सदेव" जीवादिक वस्तुएं कथंचित् किसी अपेक्षा–सत् ही है। ऐसा कहा जाता है तो इस प्रकार के कथन में यद्यपि जीव के एक अस्तित्व गुण का ही कथन किया गया है अन्य उस के उसमें रहे हुए और अनन्त गुणों का नहीं। पर इस कथन को सकलादेश–वस्तुगत अनन्त धर्मो का कहने वाला इसलिये माना जायगा कि वक्ता का अभिप्राय यहां काल आदि आठ प्रकार के माध्यम से उस एक प्रतिपादित हुए अस्तित्व

---

३. "कलादिभिरभेदेनाभेदोपचारेण च द्रव्यार्पितेन सकलस्यवस्तुनः कथनादिति ब्रूमः" ·अष्टसहस्त्री
"कालात्मरूपसबंधाः संसर्गोपक्रिये तथा ॥ गुणिदेशार्थ शब्दाश्चेत्यष्टौ कालादयः स्मृताः"

४. "तस्माद्गुणसमुदायो द्रव्यं स्यात् पूर्व सूरिभिः प्रोक्तम्" पंचाध्यायी।

गुण के साथ वस्तु में रहे हुए अन्य अविवक्षित-नास्तित्व–अवक्तव्य आदि अनेक गुणों की अभेद-वृत्ति एवं अभेद का उपचार लेकर परस्पर में अभिन्नता की ओर है। तात्पर्य इसका इस प्रकार है—जीवादिक वस्तुओं में जिस समय अस्तित्व गुण वर्तमान है उसी समय उसमें और भी अनन्त गुण मौजूद है। ऐसा तो है नहीं कि जिस समय अस्तित्व गुण मौजूद हो उस समय अन्य अशेष-गुण उनमें मौजूद न हों। जब पुत्र ऐसा कहता है कि "यह मेरा पिता है" तो पितृत्व धर्म की उपस्थिति में और जो पतित्व भागिनेयत्व, पितृ-व्यत्व, आदि धर्म हैं वे भी उसमें उस समय रहे हुए हैं। नय की दृष्टि में ही वस्तुगत अन्य अविव-क्षित धर्म गौणता की कोटि में प्रक्षिप्त हो जाते हैं और प्रमाण की दृष्टि में ये ही सब धर्म एक गुण के प्रतिपादन द्वारा सबके सब उसी समय ग्रहीत कर लिये जाते हैं।[५] इस तरह काल की अपेक्षा लेकर एक विवक्षित हुए धर्म के साथ अन्य अविव-क्षिति धर्मों की अभेदवृत्ति[६] बन जाती है। अस्तित्व गुण जिस प्रकार जीव का स्वभाव है उसी प्रकार और भी शेष धर्म उसके स्वभावरूप हैं। आत्म स्वरूप हैं, यह आत्मरूप की अपेक्षा से उस विव-क्षित धर्म के साथ अन्य अविवक्षित गुणों की अभेदवृत्ति है। जिस प्रकार जीवादिक वस्तुएं विवक्षित हुए अस्तित्व धर्म की आधारभूत हैं, उसी प्रकार वे और भी धर्मों की जो उसमें रहे हुए हैं आधारभूत है। इस तरह यह आधार को लेकर उस अस्तित्व के साथ अन्य धर्मों की अभेदवृत्ति है। जीवादि दुतधर्मों को ग्रहण कर लेता है। इस प्रकार सातों में से एक किसी-किसी धर्म की मुख्यता से समान धर्मों के ग्रहण करने में प्रमाण सप्त भंगी घटित हो जाती है। शंका—भंग सात ही होते हैं इसका कारण क्या है?

उत्तर—जानने वाले के प्रश्न सात होते है

प्रश्न—सात प्रकार के प्रश्न होने में कारण क्या है?

उत्तर—सात प्रकार की जिज्ञासा।

प्रश्न—सात प्रकार की जिज्ञासा क्यों होती है?

उत्तर—क्योंकि सात प्रकार के संशय होते हैं।

प्रश्न—सात ही प्रकार के संशय होने में क्या कारण है?

उत्तर—सात प्रकार के संशय होने का कारण उसके विषयभूत सात प्रकार के वस्तुधर्मों का होना है।

---

५. "प्रमाणप्रतिपन्नानंत धर्मात्मक वस्तुनः कालादिभिरभेदवृत्ति-प्रधान्यादभेदोपचाराद्वा यौगपद्येन प्रतिपादकं वचः सकलादेशः स्याद्वादरत्नाकार-स्याद्वादमंजरी।

६. "तत्र स्याज्जीवादिवस्तु अस्त्येव इत्यत्र यत्कालमस्तित्वं तत्कालाः शेषा अन्तधर्मा वस्तुन्येक त्रेति तेषां कालेनाभेद वृतिः। यदेवास्तित्वस्य तद्गुणत्वमात्मरूपं तदेवान्यायनन्त गुणानामपीति आत्मरूपेणा-भेदवृत्तिः, य एवाधाराऽर्थो द्रव्याख्यो ऽस्तित्वस्य स एवान्यपर्यायाणामित्यर्थेनाभेदवृतिः, य एवाविष्वग्भावः कथंचित् तादात्म्यलक्षणः संबंधो ऽस्तित्वस्य स एवं शेष विशेषाणामिति संबंधेना भेदवृतिः, य एव चोपकरो ऽस्तित्वेन स्वानुरक्तत्वकरणं स एव शेषैरपि गुणैरित्युपकारेणाभेदवृत्तिः, य एवगुणिनः संबंधी देशः क्षेत्र लक्षणो ऽस्तित्वस्य स एवान्य गुणानामिति गुणि देशेनाभेद वृत्तिः इत्यादि–स्याद्वाद मंजरी पृ० २८४।

सात प्रकार के वस्तुधर्म इस प्रकार से हैं:

(१) कथंचित् सत्व

(२) कथंचित् असत्त्व

(३) कथंचित् क्रमार्पित सत्त्वासत्त्व,

(४) कथंचित् सहार्पित अवक्तव्य

(५) कथंचित् सत्त्वविशिष्ट अवक्तव्य

(६) कथंचित् असत्त्व विशिष्ट अवक्तव्य

(७) कथंचित् क्रमार्पित उभय विशिष्ट अवक्तव्य

इन सात प्रकार के वस्तुगत धर्मों को लेकर सात प्रकार का जो संशय उद्भूत होता है वह इस प्रकार से होता है कितने के वादियों की ऐसी धारणा है कि वहां सत्त्व धर्म होगा वहां असत्व कैसे रह सकता है। इस तरह की मान्यता में तो न सत्व धर्म के ही रहने का निर्णय हो सकता है। और न असत्व धर्म के हीर हने का निर्णय हो सकता है। अतः इनके एकत्र मिलकर रहने में संशय का होना स्वाभाविक ही है। इसी प्रकार से आगे के भंगों में– धर्मों में– समझ लेना चाहिये। अतः इन सात प्रकार के संशयों को दूर करने के लिये सात प्रकार के वचन प्रयोग रूप सात भंग होते हैं। इन भंगो द्वारा अमुक-अमुक अपेक्षा लेकर उन-उन धर्मों का जीवादिवस्तुओं में सस्थापन किया जाता है।

नयज्ञान का विषय :

प्रमाण वस्तु को पूर्णरूप से ग्रहण करता है और नय प्रमाण गृहीत पदार्थ के एक धर्म को अपना विषय बनाता है। जैनाचार्यों ने नय के सम्बन्ध में उनके भेद प्रभेदों की प्ररूपणा करके उसके विषय क्षेत्र को विशेष रूप से स्पष्ट किया है। संसार का जितना भी व्यवहार चलता है वह इसी नय बाद के आधीन है। सुनय और दुर्नय रूप मे इस पूर्ण-नयवाद को विभक्त किया गया है। जो नय किसी एक धर्म का किसी विवक्षा वश उसे प्रधान करके कथन करता है और वस्तु गत अन्य धर्मों का खण्डन नहीं करता है वह सुनय है और इससे विपरीत जो नय है वह दुर्नय है। दुर्नय का दूसरा नाम नयाभास भी है।

सुनय और दुर्नय में भी "और" ही का अन्तर है। जब वक्ता का अभिप्राय किसी एक धर्म को वस्तु मे ही लगाकर प्रकट करता है-–उसका कथन करता है जैसे यह पिता हा है तो ऐसा वह अभिप्राय दुर्नय की कोटि में आ जाता है। और जब ऐसा कहा जाता है कि यह पिता भी है तो इस कथन को सुनय का स्थान दिया जाता है दुर्नय अन्य धर्म का निराकरण कर अपने मन्तव्य को ही पुष्ट करता है और सुनय अपने मन्तव्य का पोषण करता हुआ भी उस वस्तुगत अन्य धर्मो का निराकरण नहीं करता है। इसी बात को "अर्पितानर्पित सिद्धेः" इस सूत्र द्वारा सूत्रकार उमास्वामी ने स्पष्ट किया है। मुख्य गौण रूप से प्रत्यक धर्म की स्थापना वस्तु में नय ही करता है प्रमाण ज्ञान नहीं।

शंका : छद्मस्थ जीवों के ज्ञान वस्तु को पूर्ण रूप से नहीं जान पाते अतः प्रमाण ज्ञान से वे उसके पूर्ण रूप को कैसे जान पायेगें। यदि जान लेते हैं तो उन्हें सर्वज्ञ की उपाधि से विभूषित कर देना चाहिये।

उत्तर : प्रमाण ज्ञान से समग्र वस्तुगत धर्मो को जानन का अभिप्राय ऐसा है कि जितना भी उन्होंने जाना है यदि उनकी दृष्टि समग्र को ग्रहण करने की है तो वह दृष्टि प्रमाण ज्ञान है और यदि वस्तुगत एक धर्म

को ग्रहण करने की ओर है तो वह दृष्टि अंशग्राहीनय रूप है।

शंका : प्रमाण सप्तभंगी में और नय सप्तभंगी में जो स्यात् शब्द का प्रयोग होता है सो नयसप्त भंगी में तो यह उचित है क्योंकि वहां यह शब्द प्रतिपादित हुए उस धर्म की मुख्यता बतलाता है और शेष अविवक्षित धर्मों की गौणता। प्रमाण सप्त भंगी में तो यह बात नहीं। क्योंकि विवक्षित एक धर्म के द्वारा अन्य अविवक्षित हुए धर्म गृहीत ही हो जाते हैं हैं अतः इसका प्रयोग यहां निरर्थक ही प्रतीत होता है क्योंकि यहां किसी भी धर्म की मुख्यगौण विवक्षा नहीं है।

उत्तर : पहिले हमें यह समझ लेना चाहिये कि वाक्य के साथ जोड़ा गया यह "स्यात्" किस अर्थ का कथन करने वाला है—स्यात् शब्द अव्यय-निपात-रूप है और यह किसी अपेक्षा, कोई एक दृष्टि, कोई एक धर्म की विवक्षा इस अर्थ का द्योतक या कथक है। यह शायद, भ्रमवाद, अनिश्चयवाद, सम्भववाद आदि का कथक नहीं है। 'स्यात्' शब्द से यह ज्ञान हो जाता है कि वस्तु केवल उस विवक्षित धर्म वाली ही नहीं है किन्तु इससे अतिरिक्त और भी धर्म इसमें विद्यमान है। परन्तु वर्तमान में इस धर्म की विवक्षावश मुख्यता हो रही है। एतावता अन्य अशेष विद्यमान धर्मों का इसमें अभाव नहीं है। विवक्षित धर्म यदि यह समझता हो कि मैं ही इस समय इस बस्तु में मुख्य रूप से विवक्षित हुआ हूं। अतः मेरा ही सर्वदा इस पर एकच्छत्र राज्य रहेगा सो "स्यात्" शब्द उसकी इस सर्वहरा प्रवृत्ति को चुनौती देता है कि यह तेरा मन्तव्य क्षणिक है क्योंकि यहां तो अन्य अनन्त धर्मों का भी साम्राज्य है। मैं इसी बात को द्योतित करने या कहने के लिये बैठा हुआ हूं। मेरा सम्बन्ध विवक्षित धर्म से नहीं हे। क्योंकि उसका उल्लेख तो उस वस्तु में उस प्रयुक्त शब्द के द्वारा हो ही रहा है। मेरा संबन्ध तो इस वस्तु में अविवक्षित अन्य अशेष धर्मों से है। जब अन्य धर्म की विवक्षा होगी तब तुम अविवक्षित की कोटि में पहुंचा दिये जाओगे। इस तरह यह 'स्यात्' शब्द विवक्षित धर्म की सर्वहरा प्रवृत्ति को शमित करता है और वस्तु पर सर्वदा के उसके एकाधिपत्य को नियमित करता है।

शंका : यह स्यात् शब्द अनेकान्त का द्योतक या वाचक है सो इसका क्या हृद्य है ?

उत्तर : जिस प्रकार अंधकार में स्थित घटादिक पदार्थों का दीपक प्रकाशक होता है उसी प्रकार यह शब्द अस्ति आदि पदों द्वारा प्रतिपादित अनेकान्त का द्योतक-प्रकाशक होता है यह कहता है कि वस्तु में अनेकान्तात्मकता स्वाभाविक है। अप्राकृतिक नहीं। घटादि रूप वस्तु का परिवार बहुत बड़ा है। वह इतना ही नहीं है कि जितना वह विवक्षित शब्द द्वारा प्रकट किया जा रहा है।

वाचक पक्ष : जब "स्यात्" शब्द अनेकान्त का कथन परक होता हैं यह विवक्षित धर्म का कथन करता हुआ अविवक्षित धर्मों की रक्षा करता है।

शंका : जब स्यात् शब्दार्थ कथंचित् शब्द सदादि पदों द्वारा कथित अर्थ का द्योतन ही कर देता है तो फिर वाक्य में इसके प्रयोग की

आवश्यकता ही क्या है। इससे तो उल्टा वाक्य में पुनरुक्ति दोष का ही सद्भाव प्रकट होता है। इसी तरह जब यह अनेकान्त का कथक होता है तो फिर वाक्य में सदादि पदों के प्रयोग की भी क्या जरूरत है। क्योंकि इसी से सदादि-पदों द्वारा वाच्यार्थ का प्रतिपादन हो ही जाता है।

उत्तर : शंका यद्यपि ठीक है। परन्तु इस विचार से वह वाक्य में प्रयुक्त न किया जाय तो मिथ्यैकान्त की शंका का व्यवच्छेद नहीं हो सकता। अतः उसके-व्यवच्छेद निराकरण के लिए उसका प्रयोग किया जाता है। प्रमाण वाक्य में यदि प्रतिपात्त स्याद्वादशैली से अभिज्ञ है—अपरिचित है तो उसकी अपेक्षा उस वाक्य में स्यातपद के प्रयोग की कोई विशेष जरूरत भी नहीं हैं। यह द्योतक पक्ष के सम्बन्ध में स्पष्टीकरण है।

वाचक पक्ष में स्पष्टीकरण इस प्रकार से है

यद्यपि स्यातपद के प्रयोग से अनेकान्त का बोध हो जाता है परन्तु वह बोध सामान्यरूप से ही होता है। विशेष रूप से नहीं। अतः विशेष रूप से विशेष अर्थ का बोध कराने के लिए सदादिक पदों का ही उच्चारण करना पड़ेगा। सामान्य शब्द की शक्ति तो सामान्य का ही बोध कराने वाली होगी। विशेष नहीं। इसलिए विशेष के बोधार्थ विशेष सदादिक पदों के प्रयोग की आवश्यकता होगी ही जैसे "वृक्षो न्यग्रोधः" यहां पर सामान्य के अन्तर्गत होने पर भी विशेष रूप से न्यग्रोधका बोध कराने के लिऐ "न्यग्रोध" पद का स्वतन्त्र रूप से प्रयोग होता है। नयज्ञान समुद्र बिन्दु की तरह प्रमाणैक-देश कहा गया है। जिस प्रकार समुद्र की बिन्दु न समुद्र कही जाती है और न असमुद्र ही किन्तु वह समुद्र का एक देश कहलाती है। इसी प्रकार नयज्ञान भी प्रमाणैक देश कहा गया है। नय संक्षेप में शब्दनय अर्थनय और ज्ञानमय इस प्रकार से तीन और विशेष रूप से नैगम, संग्रह, व्यवहार, ऋजु, सूत्र, शब्द, समभिरूढ़ और एवंभूत ये सात कहे गये हैं। इनका विशेष वर्णन जैन ग्रन्थों से जाना जा सकता है।

१०

मध्यकालीन हिन्दी जैन कवियों की द्रष्टि में भेद-विज्ञान

□डा० (श्रीमती) पुष्पलता जैन, नागपुर

स्व-पर का विवेक भेद विज्ञान कहलाता है। उसका प्रकाश आदि काल से लगे हुए. जीव के कर्म और मोह के नष्ट हो जोने पर होता है। सम्यक् दृष्टि ही भेद-विज्ञानी होता है। उसे: भेंद-विज्ञान सांसारिक पदार्थो से ऐसे पृथक् कर देता है जैसे अग्नि स्वर्ण कटिट्का आदि से भिन्न कर देती हैं।[१] रूपचन्द इसी को सुप्रभात कहते हैं– "प्रभु मों को सुप्रभात भयो"। वह मिथ्या भ्रम, मोह, निद्रा, क्रोधादिक कषाय, कामविकार आदि नष्ट होने पर प्राप्त होता है। यही मोक्ष का कारण है।[२]

भेंद विज्ञान होने पर चेतन को स्वानुभव होनें लगता है। अनयपक्ष के स्थान पर अनेकान्त की किरण प्रस्फुटित हो जाती है, आनन्द कन्द अमन्द मूर्ति में मन रमण करने लगता है।[३] इसलिए भेदविज्ञान को "हिये की आंखे"[१] कहा गया है। जिसके प्राप्त होने पर अमृतरस बरसने लगता है और परमार्थ स्पष्ट दिखाई देने लगता है।[४] जैसे कोई व्यक्ति धोवी के घर जाकर दूसरे के कपड़े पहन लेता है और यदि इस बीच उन कपड़ों का स्वामी आकर कहता है कि ये कपड़े मेरे हैं तो वह मनुष्य अपने वस्त्र का चिन्ह देखकर त्याग बुद्धि करता है, उसी प्रकार यह कर्म संयोगी जीव परिग्रह के ममत्व से विभाव में रहता है अर्थात् शरीरादि को अपना मानता है। परन्तु भेदविज्ञान होने पर जब स्व-पर का विवेक हो जाता है तो वह रागादि भावों से भिन्न अपने स्व-स्वभाव को ग्रहण करता है।[५]

जिस प्रकार आरा काष्ठ के दो खण्ड कर देता हैं, अथवा जिस प्रकार राजहंस क्षीर-नीर का पृथक-करण कर देता है उसी प्रकार भेद-विज्ञान अपनी भेदक शक्ति जीव और पुद्गल को जुदा जुदा करता

१. नाटक समयसार, जीवद्वार, २३
२. हिन्दी पद संग्रह पृ० ३६
३. वही पृ० ३६–३७
४. वही वनारसीदास, पृ० ५६
५. नाटक समयसार-जीवद्वार ३२

है। पश्चात् यह भेद-विज्ञान उन्नति करते करते अवधिज्ञान, मन:पर्ययज्ञान और परमावधि ज्ञान की अवस्था को प्राप्त होता है और इस रीति से वृद्धि करके पूर्ण स्वरूप का प्रकाश अर्थात् केवलज्ञान स्वरूप हो जाता है जिसमें लोक-अलोक के सम्पूर्ण पदार्थ प्रतिविवित होते हैं।

जैसे करवत एक काठ बीच खण्ड करै,
जैसे राजहंस निरवारै दूध जलकौं।
तैसे भेदग्यान निज भेदक सकति सेती,
भिन्न भिन्न करै चिदानन्द पुदगल कौं।।[६]

शुद्ध, स्वतन्त्र, एकरूप, निरावाध भेदविज्ञान रूप तीक्ष्ण करौंत अन्त:करण में प्रवेश कर स्वभाव-विभाव और जड़-चेतन को पृथक पृथक कर देता है। यह भेद विज्ञान जिनके हृदय में उत्पन्न होता है उन्हें शरीर आदि पर वस्तु का आश्रय नहीं सुहाता। वे आतमानुभव करके ही प्रसन्न होते है और परमातमा का स्वरूप पहचानते हैं।[७] इसलिए भेद विज्ञान को संवर, निर्जरा और मोक्ष का कारण माना गया है।[८] भेद-विज्ञान के विना शुभ-अशुभ की सारी क्रियायें भगवद्भक्ति, वाह्य तप आदि सव कुछ निरर्थक है।[९]

भेद विज्ञानी अपनी ज्ञानशक्ति से द्रव्यकर्म-भावकर्म को नष्ट कर मोहान्धकार को दूर कर केवलज्ञान की ज्योति प्राप्त करता है। कर्म और नौकर्म से न छिप सकने योग्य अनन्त शक्ति प्रगट होती है जिससे वह सीधा मोक्ष प्राप्त करता है—

जैसे कोऊ मनुष्य अजान महा वलवान,
खोदि मूल वृच्छ को उखारै गहि वाहू सौं।
तैसे मतिमान दर्वकर्म भावकर्म त्यागि,
रहै अतीत मति ग्यान की दसाहू सों।
यही क्रिया अनुसार मिटै मोह अंधकार,
जगै जोति केवल प्रधान सविताहू सौं।
चुकै न सकतीसौ लुकै न पुद्गल मांही,
धुकै मोख थलकौं रुकै न फिर काहू सौं।।[१०]

भेद-विज्ञान को ही आत्मोपलब्धि कहा गया है। इसी से चिदानन्द अपने सहज स्वभाव को प्राप्त कर लेता है। पीताम्वर ने ज्ञानवावनी में इसी तथ्य को भावात्मक ढंग से बहुत स्पष्ट किया है। वनारसीदास ने इसी को काम नाशिनी, पुण्यपापतापहरनी, रामरमणी विवेकसहचरनी, सहजरूपा, जग माता रूप सुमति देवी कहा है।[१२]

---

६. वही अजीव द्वार १४ पृ० ६४

७. वही संवरद्वार, ३ पृ० १२३

८. वही संवरद्वार, ६ पृ० १२५

९. वही निर्जरा द्वार ९, पृ० १३५

१०. वही, पृ० २१०

११. वनारसीविलास ज्ञान वावनी पृ० ७२-९०

१२. वही, नवदुर्गाविवान, पृ० ७ पृ० १६९-७०

भैय्या भगवतीदास ने "जैसो शिवखेत तेसौ देह में विराजमान, ऐस लखि सुमति स्वभाव में प्रगति है ।[13] कहकर "ज्ञान विना वेर वेर क्रिया करी केर फेर, कियो कोऊ कारज न आतम जतन कों कहा है ।[14] कवि का चेतन जव अनादिकाल से लगे मोहादिक को नष्ट कर अनन्तज्ञान शक्ति को पा जाता है तो कह उठता है :

"देखो मेरी सखीये आज चेतन घर आवै ।
काल अनादि फिर्यो परवश ही अव निज सुधहि चितावै ।।[15]

भेद विज्ञान रूपी तरुवर जैसे सम्यक्त्व रूपी धरती पर ऊगता है तो उसमें सम्यग्दर्शन की मजवूत शाखायें आ जाती हैं, चरित्र का दल लहलहा जाता है, गुण की मंजरी लग जाती है, यश स्वभावत: चारों दिशाओं में फैल जाता है । दया वत्सलता, सुजनता, आत्मनिन्दा, समता, भक्ति, विराग, धर्मराग, त्याग, धैर्य, हर्ष, प्रवीणता आदि अनेक गुणमंजरी में गूंथे रहते हैं ।[16] भूधरदास को भेदविज्ञान हो जाने पर आश्चर्य होता है कि हर आत्मा में जव अनन्तज्ञानादिक शक्तियां हैं तो संसारी जीव को यह वात समझ में क्यों नहीं आती । इसलिए वे कहते हैं :

पानी विन मीन प्यासी, मोहे रह रह आवै हांसी रे ।।[17]

द्यानतराय आत्मा को संवोधते हुए स्वयं आत्म रमण की ओर झुक जाते हैं और उन्हें आत्मविश्वास हो जाता है कि 'अव हम अमर भये न मरेंगे'[1] । भेद विज्ञान के द्वारा उनका स्वपर विवेक जाग्रत हो जाता है और अत्मानुभूतिपूर्वक चिन्तन करते हैं । अव उन्हें धर्म चक्षुओं की भी आवश्यकता नहीं । अव तो मात्र आत्मा की अनन्त-गुणशक्ति की ओर हमारा ध्यान है । सभी वैभाविक भाव नष्ट हो चुके हैं और आत्मानुभव करके संसार दु:ख से छुटे जा रहे हैं :

हम लागे आतमराम सौं ।
विनाशीक पुद्गल की छाया, कौन रमे धन-वाम सौं ।।
समता सुख घट में परगास्यो, कौन काज है काम सौं ।
दुविधाभाव जलांजुलि दीनौं, मेल भयौ निज स्वास सौं ।
भेद ज्ञान करि निज पर देख्यौ, कौन विलोकै चाम सौ ।।
उरै परै की वात न भावै, लौ लागी गुण–ग्राम सौं ।।
विकल्प भाव रंक सव भाजें, झरि चेतन अभिराम सौं ।
'द्यानत' आतम अनुभव करि कै, छूटे भव-दुख धाम सौं ।[18]

कवि छत्रपति ने भी भेदविज्ञान के माहात्म्य का सुन्दर वर्णन किया है ।[19]

---

१३. ब्रह्मविलास, शत अष्टोत्तरी, पृ० ३४
१४. वही, शत अष्टोत्तरी, पृ० ६७
१५. वही, परमार्थ पद पंक्ति, १४, पृ० ११४
१६. वही, गुणमंजरी, २-६ पृ० १२६
१७. हिन्दी पद संग्रह पृ०
१८. अध्यात्म पदावली ४७, पृ० ३५९
१९. मनमोदन पद ७६, पृ० ३६

११

जैन धर्म में मूर्ति-पूजा

□श्री नीरज जैन सतना

जैन मान्यता के अनुसार अरहन्त तीर्थंकरों और सिद्ध भगवानों की मूर्तियां स्थापित करने, उनके मन्दिर निर्माण कराने, और उनकी पूजा करने की परम्परा अनादि काल से चली आ रही है। इनके वर्णन में मनुष्यों द्वारा निर्मित, स्थापित और प्रतिष्ठित अनेक जिन विम्बों और जिनालायों का उल्लेख तो प्राचीन काल से मिलता ही है, असख्यात अकृत्रिम जिन विम्वों और जिनालयों का भी उल्लेख तिलोयपण्णति और त्रैलोक्यसार आदि ग्रन्थों में पाया जाता है। ये सभी अनादि-निधन अकृत्रिम रचनायें नन्दीश्वर आदि द्वीपों में तथा देवों के आवासों में होने के कारण ऊर्द्ध, मध्य, और पाताल इन तीनों लोकों में पाई जाती है। भरत क्षेत्र में ऐसी किसी भी अकृत्रिम रचना का उल्लेख नहीं है।

पौराणिक उल्लेख

जैन धर्म में मूर्ति पूजा की परम्परा को सिद्ध करने वाले हजारों उल्लेख जैन शास्त्रों में भरे पड़े है। इस हुंडावसर्पिणी काल में चौथे काल के प्रारम्भ से ही तीर्थंकरों, कुलकरों, शलाकापुरुषों अन्य अनेक महा पुरुषों के जीवन वृत्त हमारे पुराणों में गाए गये है, जिनमें यथास्थान जिनेन्द्र की वन्दना, पूजा आदि का उल्लेख प्रचुरता से मिलता है। प्रथम चक्रवर्ती सम्राट भरत द्वारा भूत भविष्यत् और वर्तमान काल सम्वन्धी तीन चौबीसी जिन प्रतिमाओं की स्थापना और पूजा का उल्लेख आदि पुराण में है। भरत ने गृहस्थाश्रम का उपदेश देते हुऐ अनेक अवसरों पर अर्हन्तों और सिद्धों की पूजा का भी उपदेश दिया है।

रविषेणाचार्य के पद्मपुराण में भी भगवान राम के जीवन चरित्र से सम्वद्ध अनेक स्थलों पर जिनालयों और जिनविम्वों की चर्चा आती है। वनवास के समय मार्ग में प्रथम रात्रि विश्राम राम ने एक जिन मन्दिर में ही किया था। लंका में रावण के महल में भी भगवान शान्ति-जिनेन्द्र का सुन्दर और भव्य जिनालय था जैसा उल्लेख है। रावण ने वहुरूपिणी विद्या की सिद्धि इसी मन्दिर में बैठ कर की थी और रावण को मार कर भगवान राम ने जब लंका में प्रवेश किया तो इसी मन्दिर में उन्होंने जिन पूजा की थी।

सीता ने पुष्पक विमान से नीचे गिरने का अशुभ स्वप्न देख कर अनिष्ट की शांति के लिये मन्दिरो में जिनेन्द्र भगवान का पूजन किया। गर्भिणी सीता को जिन मन्दिरों की वन्दना का दोहला उत्पन्न हुआ और राम ने उसकी पूर्ति की। मन्दिरों को सजाया गया और राम ने सीता के साथ उन मन्दिरों के दर्शन किये। प्रजाजनों में अपवाद प्रचारित होने पर राम ने सीता को बनवास के लिये भेजते समय भी जिन मन्दिरों के दर्शन कराने का ही बहाना लिया था। पद्मपुराण में

इन घटनाओं का विस्तृत वर्णन आचार्य रविषेण ने किया है।[1] यह भी उल्लेख आता है कि एक बार हनुमान मेरु पर्वत की वन्दना के लिये अकृत्रिम जिन चैत्यालयों की वन्दना करके जब वे भरत क्षेत्र को वापस लौट रहे थे तब आकाश में विलीन होती हुई उल्का को देख कर ही वह संसार से विरक्त हुए।[2] मूर्ति स्थापना और पूजा का महत्व बताते हुए रविषेणाचार्य ने लिखा है—

"जो जिन भगवान की आकृति के अनुरूप जिन बिम्ब बनवाता है, तथा जिनेन्द्र भगवान की पूजा और स्तुति करता है उसके लिये कुछ भी दुर्लभ नहीं है"।[3]

आचार्य रविषेण सातवीं शताब्दी के विद्वान थे। सातवीं ही शताब्दी में रचित एक अन्य ग्रन्थ 'परमात्म प्रकाश' में कहा गया है कि—

"तूने न तो साधुओं को दान दिया, न जिनेन्द्र भगवान की पूजा की और न पंच परमेष्ठी को नमस्कार हीं किया, फिर तुझे मोक्ष का लाभ कैसे हो............?[4]

इसी शताब्दी में रचित जटासिंहनंदि के 'वरांग चरित' (सर्ग २२) में जिन पूजा के महत्व के साथ जिनबिम्ब और जिनालय निर्माण का भी बड़ा महत्व बताया है। आचार्य अमितगति ने जिनेन्द्र की अंगुष्ठ प्रमाण प्रतिमा पधराने वाले को भी अविनाशी लक्ष्मी की प्राप्ति का पात्र कहा है। आचार्य पद्मनंदि ने तो उससे भी आगे बढ़कर विल्व पत्र के आकार के मन्दिर में जौ के दाने के बराबर मूर्ति की शान्तिपूर्वक स्थापना करने वाले को ऐसे पुण्य का पात्र कहा है जिसका वर्णन करने में सरस्वती भी असमर्थ है।

श्रीमान् पंडित कैलाशचन्द्र जी शास्त्री सिद्धांताचार्य ने उपासकाध्ययन की प्रस्तावना में[5] इस विषय का विशद विवेचन करते हुये लिखा है कि "यह सहज रूप में कहा जा सकता है कि मूर्ति पूजन की परम्परा जैन धर्म में बहुत पुराने समय से चली आ रही थी, और उत्तर काल में तो जिन प्रतिमा और जिनालयों का निर्माण बहुतायत से होने लगा। जब भारत पर मुसलमानों के आक्रमण होने लगे और मन्दिर तथा मूर्तियां तोड़ी जाने लगीं तो उसकी प्रतिक्रिया के रूप में भारत में मन्दिरों और मूर्तियों के निर्माण पर पहिले से ही अधिक जोर दिया जाने लगा। ग्यारहवीं शताब्दी के बाद का युग तो इन प्रवृत्तियों के चरमोत्कर्ष का युग रहा। इसी युग में प्रतिष्ठा पाठों आदि की रचना हुई और पूजा साहित्य का भी विशेष रूप से सृजन हुआ।

सोमदेव सूरि ने अपने उपासकाध्ययन में तो जैन मूर्ति पूजा का बड़ा ही सांगोपांग विधि-विधान

---

१. पद्म पुराण पर्व ६५, ६६ एवं ६७।
२. आचार्य रविषेण, पद्मपुराण पर्व ११२
३. जिनबिम्ब जिनाकार जिनपूजा जिनस्तुतिम्।
   यः करोति जनस्तस्य न किंचि दुर्लभं भवत् (पद्मपुराण पर्व १४ श्लोक २१३)
४. दाण ण दिण्णउ मुनिवरहुं, णवि पुज्जिउ जिणणाहु, पंचण वंदिउ परमगुरु, किमु-होसइ सिवलाहु।
   (परमात्म प्रकश १६८)
५. ज्ञानपीठ से प्रकाशित उपासकाध्ययन प्रस्तावना पृष्ठ ४८-४९-५०

वर्णन किया है। अन्य ग्रन्थों से भी पूजा के भेद, पूजा की विधि और पूजा के फल की जो विवेचना की गई है वह जैन धर्म में मूर्ति पूजा के महात्म्य को सहज ही सिद्ध करती है।

ऊपर के इन उद्धरणों से यह अनुमान लगाना ठीक न होगा कि जैन साहित्य में पूजा का समावेश इसी काल से हुआ होगा। वास्तव में प्रथम शताब्दी से ही जब से ग्रन्थ रचना का प्रारम्भ हुआ, सभी आचार्यों और ग्रन्थकारों ने जिन बिम्ब और जिनालयों की स्थापना तथा उनकी नियमपूर्वक पूजा का उपदेश दिया है। प्रथम शताब्दी के पूज्य आचार्य भगवान कुन्दकुन्द ने अपने ग्रन्थों में अरहंत, सिद्ध, चैत्य और प्रवचन भक्ति का निर्देश किया है[6] तथा देवता साधु और गुरु की पूजा का भी निर्देश किया है।[7]

दूसरी शताब्दी के प्रसिद्ध तार्किक विद्वान् आचार्य सम्भन्तभद्र ने तो विशेष रूप से भक्ति साहित्य का रचना भी की है। उनकी स्तुतिविद्या, देवागमस्तोत्र आदि ग्रन्थ जिन पूजा की महत्ता का ही उद्‌घोष करते हैं। इतना ही नहीं उन्होंने स्वयं अपने भक्ति बल से, स्वयम्भू स्तोत्र का पाठ करते हुए, अत्यन्त चमत्कार पूर्वक आठवें तीर्थंकर चन्द्रप्रभु भगवान की प्रतिमा का आवाहन किया था। समन्तभद्राचार्य स्वामी ने श्रावक धर्म का उपदेश देते हुए अर्हन्त देव के चरणों की प्रतिदिन आदर पूर्वक पूजा करने का स्पष्ट उपदेश किया है।[8]

इस प्रकार हम देखते है कि प्रारम्भ से ही, प्रायः सभी आचार्यो और ग्रन्थकर्त्ताओं ने जिन बिम्बों और जिनालयों की स्थापना तथा पूजा का उपदेश यथा स्थान दिया है अतः पौराणिक तथा ऐतिहासिक रूप से भी पूजा की प्राचीनता सिद्ध हो जाती है।

अब हम इस विषय पर, हमारे देश में उपलब्ध सामग्री के आधार पर, इस दृष्टिकोण से विचार करेंगे कि जिन बिम्बों और जिनालयों का अस्तित्व हमारे यहां कब से मिलना प्रारम्भ होता है तथा समय-समय पर उनमें किस प्रकार के परिवर्तन हुए और कैसे वे अपनी वर्तमान परम्परा तक पहुंचे हैं।

कलिंग के अग्रजिन और सम्राट खारवेल

भगवान महावीर के समय में ही कलिंग में जैन स्तूपों तथा मूर्तियों का निर्माण प्रारम्भ हो गया था। आज भी कलिंग से उपलब्ध प्राचीनतम शिल्पीकोष जैन है। आदि तीर्थंकर भगवान ऋषभदेव की एक प्रसिद्ध प्रतिमा राज्य के इष्ट देव की तरह पूजी जाती थी तथा उसे कलिंग कहते थे। महावीर के जन्म के पूर्व भी कलिंग जनपद में

---

६. पचास्तिकाय गाथा–१६६।

७. आचार्य कुन्दकुन्द, प्रवचनसार १—६९

८. देवाधिदेवचरणे परिचरणं सर्वदुःखनिर्हरणम। कामदुहि कामदाहिनि परिचिनुया दाहतो नित्यम्॥ आचार्य समन्तभद्र, रत्नकरण्ड श्रावकाचार श्लोक ११९।

उक्त कलिंग जिन की प्रतिष्ठा थी। कलिंग नगर के निकट कुमारी पर्वत पर भगवान महावीर का समवशरण आया था। इस पावन घटना की स्मृति में उक्त स्थान पर स्तूप आदि स्मारक बनाये गये थे और मुनियों के निवास के लिये गुफायें भी निर्मित हुई थी, जो सम्राट खारवेल के समय के बहुत पूर्व से वहां विद्यमान थी। प्रो० बनर्जी का भी यही मत है।[९]

यही कलिंग जिन 'अग्रजिन' के नाम से भी प्रसिद्ध थे। वीर निर्वाण संवत् १०३ (४२४ ई० पूर्व) मे मगध नरेश नंदिवर्धन कलिंग पर आक्रमण करके राजधानी में प्रतिष्ठित इस भव्य मूर्ति को अपने साथ उठा ले गया था। कालान्तर में सम्राट् खारवेल ने अपने राज्य के बारहवें वर्ष में मगध को जीत कर इस मूर्ति को बड़े समारोह पूर्व वापस ले जाकर यथा स्थान पुर्नस्थापित किया था। कलिंग सम्राट खारवेल की इस पराक्रम पूर्व विजय को उल्लेख खण्डगिरी की हाथीगुफ़ा में प्राकृत के एक शिलालेख में किया गया है। इस घटना से अनेक महत्व पूर्ण बातें सिद्ध होती हैं। एक तो यह कि नन्दकाल, अर्थात् ईसा पूर्व पांचवीं चौथी शताब्दी में, जैन मूर्तियों का निर्माण कराकर उनकी पूजा प्रतिष्ठा किये जाने की परम्परा विद्यमान थी। दूसरे यह कि उस समय कलिंग देश में एक प्रसिद्ध जैन मन्दिर व मूर्ति थी जो इस प्रदेश भर में लोक पूजित थी। तीसरे यह कि नन्द सम्राट, जो इस जैन मूर्ति को अपहरण करके ले गया और उसे अपने यहां सुरक्षित रखा, अवश्य ही जैन धर्मावलम्बी रहा होगा व उस लोक पूजित जिन बिम्ब के लिये उसने अपने यहां भी जिनालय बनवाया होगा। चौथे यह कि कलिंग की जनता व राजवंश में उस जिन प्रतिमा के लिये बराबर दो तीन सौ वर्ष तक ऐसी अटूट श्रद्धा बनी रही कि अवसर मिलते ही कलिंग सम्राट ने उसे वापस लाकर अपने यहां पुनर्स्थापित करने का महान् कार्य किया। इस प्रकार जैन धर्म में मूर्ति पूजा का इतिहास सम्मत उल्लेख हमें ईसा पूर्व सातवीं आठवीं शताब्दी में निर्विवाद रूप से प्राप्त होता है।[१०]

मथुरा कंकाली टीला

तीसरी शताब्दी ईसा पूर्व के काल को यदि हम वर्तमान मान्यता के अनुरूप भारतीय मूर्तिकला का प्रारम्भ काल माने तो हमें ज्ञात होता है कि भारतीय मूर्तिकला के उद्‌भव और विकास की इस यात्रा में जैन कलाकारों का उल्लेखनीय और महत्व-पूर्ण योगदान प्रारम्भ से ही रहा है और भारतीय मूर्तिकला की कोई ऐसी विधा नहीं है, कोई ऐसा प्रकार नहीं है तथा कोई ऐसा काल नहीं है जिसका समर्थ एव सम्पूर्ण प्रतिनिधित्व जैन कला में प्राप्त न होता हो।

इस काल की जो जैन मूर्तियां व शिल्पावशेष प्राप्त हुए है उनमें मथुरा के कंकाली टीला से प्राप्त सामग्री अपनी प्राचीनता तथा अन्य कलागत विशेषताओं के लिए सारे संसार में प्रसिद्धि प्राप्त कर चुकी है। यहां प्राप्त शिलालेखों के आधार पर स्मिथ ने अपने ग्रन्थ में लिखा है कि "मथुरा का यह देव निर्मित स्तूप भारत में वास्तुकला का सर्वाधिक प्राचीन उदाहरण है। इससे प्राचीन कोई भी मानव निर्मित उदाहरण समूचे भारत में कहीं भी

---

९. डा० ज्योति प्रसाद जैन—भारतीय इतिहास : एक दृष्टि पृष्ठ १८१

१०. डा० हीरालाल जैन भारतीय संस्कृति में जैनधर्म का योगदान पृष्ठ ३०७

नहीं पाये गये।

जैन गुफाएं

जैन स्तूपों के निर्माण के थोड़े ही काल उपरांत की वनी अनेक जैन गुफाएं हमारे देश में प्राप्त होती हैं। गया के समीप बारावर तथा नार्गाजुनी पहाड़ियों पर तीन जैन गुफाओं का निर्माण सम्राट् अशोक के राज्य काल में हो चुका था।

यद्यपि इन गुफाओं को आजीवकों को दान किये जाने का उल्लेख है परन्तु आजीवक सम्प्रदाय का उद्भव जैन संघ से ही हुआ और उसका विलीनीकरण भी जैन संघ में ही हुआ अतः इन गुफाओं के जैन गुफा चैत्य होने में सन्देह की कोई गुंजाइश नहीं है।[११] इन मौर्य कालीन गुफाओं के पश्चात सर्वाधिक उल्लेखनीय खण्डगिरि उदयगिरि की वे गुफाएं हैं जिनका उत्खनन उडीसा में कटक के समीप ईसा पूर्व दूसरी शताब्दी में सम्राट खारवेल द्वारा कराया गया। ये सभी गुफाएं सुन्दर और विशाल जिन-प्रतिमाओं से सुसज्जित हैं और तात्कालिक मूर्ति पूजा की परम्परा का जीवित प्रमाण हैं।

जैन गुफाओं की इस श्रृंखला में जूनागढ़ (काठियावाड़) के बावा प्यारा मठ के समीप श्री धरसेन आचार्य की चन्द्रगुफा तथा उसी स्थान के पास ढंग की गुफाएं भी जैन मूर्तियों से युक्त है। इनका निर्माण भी ईसा पूर्व दूसरी शताब्दी में हुआ था।

गुप्त काल में चन्द्र गुप्त द्वितीय के उल्लेख सहित गुफा सं० १०६ (४२३ ईस्वी) में मध्य प्रदेश में, विदिशा के पास उदयगिरि में भगवान पारसनाथ की भव्य मूर्ति से युक्त गुफा का निर्माण हुआ। उस्मानाबाद के पास की गुफाएं तथा तेरापुर के समीप पर्वतपुर की गुफाएं भी जैन मूर्तियों से युक्त हैं।

दक्षिण भारत में वदामी की जैन गुफ़ा का निर्माण भी सातवीं शताब्दी का माना जाता है। आठवीं शताब्दी में राष्ट्रकूट के अमोघवर्ष ने दिगम्बर दीक्षा लेकर इसी गुफा में तपश्चरण किया था। गुफा में एक ओर वाहुवली तथा दूसरी ओर पारसनाथ की मूर्तियां वनी हैं। इसी प्रकार अइहोल की गुफाओं में भी जैन मूर्तियां हैं। ऐलोरा में तो पांच जैन गुफाएं हैं जिनमें इन्द्र सभा नाम की दो मंजिली गुफा तो अत्यन्त सुन्दर और कलात्मक है। ऐलोरा की इन गुफाओं में विशाल तीर्थंकर प्रतिमाओं के अतिरिक्त वाहुवलि, इन्द्र-इन्द्राणी, चक्रेश्वरी, पद्मावती आदि अनेक अन्य मूर्तियों का उत्खनन भी वड़ी सुरुचि और संयोजना पूर्वक हुआ है। मध्यकालीन गुफाओं में इन्द्र सभा अपनी अनेक विशिष्टताओं के कारण अद्वितीय मानी जाती हैं। दक्षिण में अंकार्य तंकायी आदि अनेक गुफाएं और भी है। गुफा-तक्षण कला के ह्रास के काल में निर्मित ग्वालियर की गुफाएं इस श्रृंखला की अन्तिम उपलब्धि हैं।

मन्दिर और मूर्तियां

गुप्त काल को कला और संस्कृति के विकास में इस देश का स्वर्ण युग कहा जाता है। उसके प्रारम्भ (चौथी शताब्दी ईस्वी) से ही वरावर जैन मन्दिरों और मूर्तियों का निर्माण प्रायः सारे देश में प्रचुरता से होना पाया जाता है।

---

११. डा० हीरालाल जैन : भारतीय संस्कृति में जैन धर्म का योगदान पृ० ३०७।

कुषाण काल और मौर्य काल में, अथवा यों कहें कि ईसा पूर्व के निर्माण में तीर्थकर प्रतिमाओं में चिन्ह या लाञ्छन वनाने की पद्धति नहीं थी। शासन यक्ष तथा यक्षिणियों का अंकन भी तब तक मूर्ति के साथ नहीं किया जाता था। गुप्त काल से मूर्तियों में चिन्ह वनना प्रारम्भ हुआ और पूर्व मध्य काल (छठवी सातवीं शताब्दी) से तो यह अनिवार्य परम्परा ही हो गई। शासन देवियों को भी तीर्थकर के पादमूल में इसी काल से स्थान मिलना प्रारम्भ हुआ।

गुप्त काल में देवगढ़, सीरा पहाड़, नचना, राजघाट-वाराणसी और मन्दसोर आदि में जैन मन्दिरों और मूर्तियों का निर्माण हुआ। इस काल की दर्जनों एक से एक सुन्दर और मनोज्ञ प्रतिमाएं हमारे देश के अनेक संग्रहालयों में सुरक्षित हैं।

जैन मूर्ति निर्माण और पूजन प्रतिष्ठा की यह परम्परा तब से आज तक जिस उल्लेखनीय कलात्मकता और निर्माण की विशेषता के साथ प्रवर्तमान है वह तो देश के उपलब्ध पुरातत्व से सहज ही स्पष्ट है। श्रवणवेलगोला में गोम्मटेश्वर भगवान वाहुवलि की जगत् प्रसिद्ध प्रतिमा इस परम्परा का एक अद्वितीय और शानदार उदाहरण है। कारकल आदि में भी वाहुवलि की बड़ी बड़ी प्रतिमाएं हैं। उत्तर भातर में आहार, थूवोन जी, खजुराहो और बजरंगगढ़ की शान्तिनाथ प्रतिमाओं की गणना भी इन्हीं में करना पड़ेगा। पद्मासन विराजमान मूर्तियों में कुण्डलपुर, चान्दनपुर महावीर, तेवर, देवगढ़ तथा राजस्थान की सुन्दर संगमरमर की मूर्तियां उल्लेखनीय हैं। इन सब के साथ यथेष्ठ परिकर सज्जा और कथन उपकथन आदि से सम्वन्धित अंकन भी प्रायः हर जगह देखने को मिलते हैं।

जैन मन्दिरों के निर्माण की शृंखला भी हमारे देश में पिछले पन्द्रह सौ वर्षो से अनवरत चली आ रही है। देवगढ़ के विविधता पूर्ण मन्दिर, खजुराहो के उत्कृष्ट कलायुक्त विशाल जिनालय तथा आबू-देलवाड़ा, रनकपुर आदि के विशाल और विशिष्ट मन्दिर इस बात के प्रतीक हैं कि जैन संस्कृति में मूर्ति पूजन और मन्दिर निर्माण की परम्परा एक प्रमुख और प्राणवान परम्परा रही है। जब से हमारा इतिहास पाया जाता है, या यों कहें कि जब से हमारा अस्तित्व पाया जाता है, तभी से मूर्ति पूजा की यह परम्परा हमारी धार्मिक आस्था और आस्तिक्य भावना की अभिव्यक्ति का वड़ा सहज माध्यम वन कर हमारे प्राणों से जुड़ी रही है।
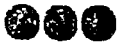
Characteristics of Jaina Mysticism

Dr. (Miss) Shanti Jain

The religious history of mankind draw our attention to those great per. sonalities for whom the attainment of supiritual values constituted the essential meaning of life. Though these personalities where born in different environments, yet they exhibit a remarkable similarity of spiritual experience, Such personalities are known as mystics and the phenomenon is known as mysticism. In Jaina mystical literature various expressions of mystical experience or mystical vision are invariably found. words like Svasamaya, Suddhopayoga, Suddhabhavas, Svarupasatta, Niscayanaya, Antaratman, Paramatman. Tattvanubhava, Ahimsa and so on are indicative of mystical expression in Jainism. In view of this the question whether mysticism is possible in Jainisms seems to be insignificant get us now turn to the marked characteristics of Jaina mysticism.

In point of fact, mystical canscious ness entails certain expressions by virtue of which its presence may easily be recognised. In other words, these characteristics may serve as the criteria of Jaina mysticism. Though to recognize mystical states is not as easy as may be thought, Jaine mystics have endeavoured to present some such characteristics as may give an idea cf the presence of this mystical phenomenon. In view of its obstruseness there is every likeli-hood of its being misunderstood. Only those who are mystically minded and are prone to mystical way of life can ascertain the presence of mystiscal experience. Mr. Stace rightly says that "the imposibility of communitating mystical experience to one who has not had such an experience is like the impossibility of communicating the nature of colour to a man born Mind. This is the reason why the spiritually seeing man, the mystic cannot communicate what he has experienced to the non-mystic"[1], It may be said that these mystical experiences do not possess objectivity of gross type, but it dose not meen that they are purely subject ve in the narrow sense of the words. In fact

1. Mysticism and Philosophy, P. 283

they are subjective, yet they are very much objective. Hence in Jaina spiritual literature certain characteristics are invariably found. These characteristics consist of spiritual knowledge, spiritual joy, spiritual steadfastness, intuition, ineffability, activistic attitude, moral elevation, freedom from fear, permanancy and so on. We may say that these are the articulate expressions of mystical life.

(i) **Spiritual Knowledge.**

First. self knowledge or spiritual knowledge is a characterizing feature of transcendental life. 'Know thyself' is an often quoted maxim. Knowledoe of the Atman is the supreme knowledge. The Samayasara pronounces that the self with spiritual knowledge knows his ture nature and he lacking in the knowledge, blinded by his own nescience is unable to perceive his ture nature.[2] In other words the self with spiritual knowledge by contemplating upon the impure nature of the self becomes himself impure.[2] Moreover, knowledge is the self, there connot be (any) knowledge a part form the self.[4] The self who knows the ture nature of reality becomes Jitamoha or conqueror of delusion who by subjugating the delusion realises that the self is intrinsically of the nature of knowledge.[5] Therefore, the realization of the self as the knower by nature leads towards the eschewment of the sence of mineness[5] Further, it is pointed out that the soul is co-extensive with knowledge, knowledge is said to be co-extensive with the objects of knowledge, the object of knowledge comprises the physical and non-physical universe therefore knowledge is omnipresent[7] The knower of the self become an omniscient and the omniscient neigther accepts ncr abandons, nor transforms the external objectivity, he sees all round and knows everything completely[8] Moreover, the knower of the self knows simultaneously the whole range of variegated and unequal objectivity possible in all places and present in three tenses[9] Hence, in the omniscient the knowledge reaches the very verge of objectivity and the vision extends over the physical and super-physical universe[10] Thus, knoledge and epiritual

2. Samayasara, 185.
3. Samayasara, 186.
4. Pravacanasara,—I. 27
5. Samayasara, 32.
6. Pravacanasara II 109
7. Ibid I 23
8. Ibid I 32
9. Pravacanasara I, 15
10. Ibid I. 61

life are not two different phenomena. They are inseparable.

(ii) **Spiritual Joy** -

Secondly, spiritual knowledge is accompanied with spiritual joy. The Pravacanasara tells us that the self who has destroyed the knot of delusion (Moha). who has overthrown attachment and aversion and is indifferent to pleasure and pain attains eternal happiness[11] This eternal happiness born of the self, is supersensuous, incomparable, infinite anb indestructible[12] Spiritual knowledge and hapiness are one and the same thing. Therefore, spiritual knowledge wich is spreads perfect and pure which over infints things is called real happiness[13] It may be noted that that happiness derived through sense organs is dependent, amenable to disturbances, terminable, and is the cause of bondage[14] In fact spiritual joy is beyond the reach of senses or it is supersensuous happiness, which a mystic enjoys in the hours of transcendental experience.[15] The Jnanarnava, therefore beautifully expresess the same thing while pronouncing that in the State of spiritual joy the mystics have the eternal and everlasting bliss and possessing an attitude of equanimity they really shed the karmas[16] Hence, the great mystic yogindu sums up the whole matter when he tells us that the self realiz ing personalities who are detached from the sense of attachment and aversion who are busy with introspection of the pure self possess the serenity of mind aud are really the happiest beings in this world[17]

(iii) **Spiritual steadfastness :**

Thirdly spiritual steadfastness is also a feature of transcendental life. The aspirant is firmly established in the knowledge of the self. He dose not speak while speaking, does not move while moving and does not see while sceing.[18] Though empirically it seeme to be a paradoxical statement, its implications are solely mystical. The mystic is a unique being and transcendentally he is free from all volitional activity. And therefore. mystic's worldly activities are free from volitional attitude. His activity is only spiritual knowledge and in that knowledge of the self he is steadfast. Since he is beyond attachment and consequently is apprehending the nature of reality, all his doubts are resolved[19]

---

11. Pravacansara II. 103
12. Ibid I. 13,
13. Ibid I. 59.
14. Ibid I. 76.
15. Ibid II. 106
16. Jnanarnava, 24 : 18,
17. Parmatmaprakasa II. 43
18. Istopadesa 41
19. Pravacanasara I-14. II 105.

Hence speaking in the language of the mystic we may say that with the emergence of the Atmanic experience and steadfastness in it, the conquest over the senses, mind and passions, become automatic. The mystic is steadfact in his true nature.

(iv) Intuitive insight

Fourthly intuitive insight is a characterizing mark of mystical exeprience, the intuitive insight is the Pratyaksa Jnana or direct and immediate apprehension of realty. This Pratyaksa knowledge per. ceives (all) the nonconcrete things among the concrete and those that are beyond the scope of senses, those that are hi l-den and all other than are related to substances and also that are not 20 Moreover, the mystic who possesses self knowledge, directly visualizes all objects and their modifcations, he does even comprehend them through sense perception[21] To be more clear we may say that nothing is indirect to him who is himself omniscient that who is all round rich in the qualities of all the organs of senses though himself beyod the sensцs[22] Hence the intuitive insight of self khowledge is able to penetrate into the innermost core of phenomenal and noumenal realities.

The intuitive insight is also termed as Yogi perception. Haribhadra pronounces that Zogic perception will take cognizence of even such things as are beyond the perception of non-yogi[23] Thus Yogic perception pierces through the veils of reality directly and immediately. Prof: Ranade rightly says that "mysticism denotes that attltude of mind which involves a direct immediate intuitive apprehension of God"[24] Montague points out that "the theory that truth can be attained by a super rational and super sensuous faculty of intuition is mysticism"[25] thus, mystical experience involves the full operation of the intuitive faculty which subsums under it the operations of intellect, will and feeling and is not contradlctory to them All things are visualized simultaneously and therefore, the Siddhas and Arhats are the masters of this intuitive insight.

(v) Ineffability

Fifthly, the mystic experiènce or transcendental experience is ineffable or it is inarticulate and unverifiable by empirical methodology. In other words, the spiritual things are beyond the categories of verif ability through the senses. The

---

20. Pravacanasara I 54
21. Ibid I : 21
22. Pravacanasara I : 22
23. Yogabindu, 50. P. 15
24. Pathway to God in Hindi Lit. Preface P. 2
25. The ways of knowing, P. 54
26. Pathway to God in Hindi I it. Preface pp. 3.4

mystic while reflecting upon the nature of the self and solely concentrating on it enjoys, the ineffable experience of transcendental life[27] Similarly plotinus tells us that the vison is a unque experience, it is not to be told not to be written[28] william James rightly points out that the Subject of it (mystic experience) immediately says that it defies expression, that no adequate report of its contents can be given in words. lt follows from this that its quality must be directly experienced; it cannot be imparted or transferred to others"[29] Hence mystic experience is essentially an ineffable experience. It is the experience par-excellence, which transcends the limitations of linguistic formulations. This experience has nothing to do with the out spoken Ianguage, because the mystic experience is indesiriable and unutterable through words. The immediacy of the experience is confronted with this inadequacy of reporting the spiritual matters to the others who are spiritually blind. The nature of this experience is supra dialaectical, supar logical supra rational and supra-conceptional Mr. WT. Stace is perfectly right when he says that "one of the best known facts about mystics is that they feel that Ianguage is inadequate or even wholly useless, as a means of communicating their experience or their insights to others. They says that what they experience is unutterable or Ineffable. According to Plotinus the vision beffles talling"[30] Moreover, the same author again points out that "mystical experience during the experience, is wholly unconceptualizable and therefore wholly unspeakable. and must be so you cannot have a concept of anything within the undifferentiated unity bacause there are no separate items to be conceptualised"

(vi) Activistic Attitude:

Sixthly, activity is also a *marked* characteri-stic of transcendental life. Passivity is no more a goods and likable thing for mystic. Or, spiritual life is fully an active life. The quiet and contemplating spirit is active in spiritual matters. therefore it has always been true that mystics are the sleepless ones. The Yogi or a mystic sleeps where worldly business is concerned and he has been always awake in the business of transcendental experience and similarly, he who is awake in worldly matters sleeps in the business of the self[32]. The pure self is endeavouring to remove the obstacles to mystical life. The joy unbounded, the knowledge infinite, the intuitive insight and the power everlasting are the results of most active

---

27. Tattvanushasana, 170 P. 156
28. Plotinus in the Idight of Vehanta Thesis P. 313
29. Varieties of relig.ous experience, P. 371
30. Mystuism and Philosophy, P. 277
31. Mysticism and Fhilosop y, P. 297
32. Moksapahuda, P. 31 Samadhi Sataka, 78 P. 86 Parmatma prahasa II, 46

life of a mystic. The lazy and letharigic person cannot attain such perfection in every aspect of life. Miss Underhill has rightly pointed out that true mysticism is active and practical, not passive and the critical. It is an organic life process a something which the whole self does; not something an opinion[33] We may say that spiritual perfection is an arduous task in the human life, how can it be pronounced as passive? Assiduity in spiritual pursuits is wholly indispenaable. The mystics have not turned their backs from the betterment of the worldly people. They are ever ready for the spiritual mission to which they are whole heartedly devoted. Therefore, the mystic's heart is set upon the transcenental self on the one hand and on the other he is endeavouring for the overall uplitgrment of the society. The Tirthamkaras set the examples of this activistic attitude towrds mystical life. Mr. William James seems to be partially right when he characterizes the mystical life with passivity. Outworldly the mystics appear to us as passive being; but for their own welfare and for the welfare of the people they are fully active. To be more clear we may say that seeming inactivity is not an essential feature of spirituality. They are most active beings trying hard for the betterment of the society.

(vii) **moral Elevation**

Sevently, moral elevation is another distinguishing feature of Jaina mysticism. Mystics are the upholders of all that is good and perfect, and simultaneously they are the upolders of moral and spiritual values. They follow a fuilfledged moral life or we may say that they teach an eternal ethical code which is beyond the spatis temporal limitations. We find in them a perfcction of moral virtues. Supreme forbearance modesty, straight forwardaness, 'truthfulness, purity, self restraint, austerity, renunciation. non-attachment and celibacy are constitutive of mystics, moral life. It is inconceivable that the mystic who has attained supremacy on account of the realization of perfact. Ahinsa may in the least pursue an ignoble life of Hinsa. a life of vice. He is no doubt beyond the category of virtue and vice. Punya and Papa (good and evil Subha and Asubha psychical states, yet he may be pronounced to be the most virtuous soul in the world. Dr. Radhakrishnan sums up the whole matter while saying that the great sin is the sin of disbelief in the potential powers of the soul. To know onself and not to be untrue to it, is the essence of the goods life"[34]

(iii) **Freedom from fear :**

Eightly, the transcendental life is free from fear. Mystical state is free

---

33. Mysticism, P. 81
34. Idealist View of life, P. 118

state. It is free from every type of foreign thing ether than the spirit. The Samayasara tells us that the souls with right belief free themselves from doubt and therefore they are free from fear. The seven ypes of fears are not found in mystic. Thus fear relating to this life, fear leating to future life. fear of being without protection, fear of the disclosure of what is kept in secret, fear of pain, fear of accident, and fear of death are not seen in a mystic.[35] Hence, the mystical life is a life of fearlessness.

(ix) **Holiness :**

Ninethly, spirituality with intuitive insight, ineffability moral eleavation is also associated with holincss, The mystics belong not to an ordinary world but to the world of holiness. They are the prefect incarnation of holiness and secredness. The mystics are the holy beings and are rejoicing the breath of holiness. Or the holy mystics transcend the categories of good and evil, right and wrong etc. The emergence of holiness is a concomittant phenomenon in the mystic's sacred life. They radiate the rays of holiness to the other worldly beings.

(x) **Permanacy :**

Tenthly, the transcendental experience is not a temporary phase in mystic's life. Rather it is a permanent state of transcendental self. Though, it is worthy to note in the stages of spiritual development i. e. the Gunasthanas, we come across the transient states of illumination, yet after the stages of Sayogakevalin and Ayogakevelin, the self is in the State of permanent peace. joy and bliss. Thus this view "that mystical states cannot be sustained for long,"[36] has an half truth we may say that the self in the illuminative stage casually enjoys the spiritual bliss, but Arhata and the Siddhas are the inhabitants of the enternal and infinite spiritual world. Therefore, the essential characteristic of jaina mysticism rather than traniency.

(xi) **Social Characteristics :**

Finally. the transcendental life is associated with some of the social characteteristics. Though it appears to be a paradox at a first glance, because mystic is a man of solitude, he adopts an introvertive and quietistic attitude to life. He observes silence and likes solitariness[37] Then, how it may be possible to characterize him with social attributes ? The reply is the Tirthaṁkaras set an example of doing an ample good to society. Mystics heart is full of compassion and generosity for all the creatures of this

35. Samayasara, 228
36. Varieties of Religions Experience, p. 572
37. Istopodesa 40.

universe. He is the most benevolent being in the world. It is said that the mystics evince a feeling of friendliness towards those who ares uperior to oneseg in perfection, that of combassion towards those who are superior to onself in perfection, that of compassion to wards those who are in a state of suffering and that of neutrality towards those who are incorrigible[38] Shri Subhacandra proclaimo that the mystical life is so much effective that even furious animals become modest and humble, the cruel tigers give up their cruelty and become free from the feeling of enmity. This change in feelings is an natural as the rains from the clouods which extinguishes the fire in the forest. In other words the company of mystic who possesseso equanimity, removes the ferocity from the hearts of the animals. Moreover, the same idea is exquisitely expressed in the one verse by the same author when he says that in the presence of a mystic the tigress loves the youngone of a dear, the cow caresses the cat, the cat fondles the youngone of the swan and peahen plays with the youngone of the snake[39] Here, we see that all types of enmity is brushed aside. In a similar veino. Hardhadra tells us that on account of spiritual life one finds onself in possession of firmness. patience. faith, friendliness (for all beings), popularity (in the eyes of the worldly ones), intuitive awareness of the nature of things, freodom from obsessions contentment, forbearance, gentlemanly conduct, honour received from otheros and the sup.eme bliss of calmness.[40]

38. Yogasataka, 79 p. 88
39. Jnanarnava, 24 : 21–22
40. Yogabinqu, 52–54 p. 16

Books

1, Mysticism philosophy by W. T. Stace. 'Macmillan & Company, London).

2. Samayasara of Kundakunda (Bhartiya Jana Pitha Kasi)

3. Pravachana Sara of Kundakunda (Raya Chandra Jaina Shastra Mala Bomby).

4. Jnanarnava of Subha Chandra, Raya Chandra Jaina Shastra Mala Bombay).

5. Parmatma Prakash of Yogindu (Raya Chendra Jaina Shasta Mala Bomby).

6. Istopodesa of Punjyapada (Raya Chandra Jaina Shastra Mala Bomby).

7. Yoga bindu of Hari Bhadra (L. D. Institute Inof dology, Ahmedabad).

8. Pathway 'to god in Hindi Literature by R. D. rana (Adhyatma Vidya Mandir Allahabad).

9. Way of knowing by (P. Montague (Macmillan Company New-York).

10. Tatvanusasana of Naga Kumar Muni (Veer Seva Mandir Delhi).

11. Plotoinus in the light of Vedanta (Thesis) dy Theresa Gabriel (The University of Rajasthan, Jaipur).

12. Varieties of Religious Experience by William James (The modern Library New York).

13. Moksa Pahuda of Kundakunda, under the titls of Asta Pahuda (Patani Digamabara Jaina Grantha Mala, Marotha).

14. Samadhisataks of Pujyapada. (Veer seva Mandir, Delhi).

15. Mysticism by vnderhill (Methnen & Comyany, London).

16, Tattavarthasutra under the title of sarvarthasiddhi (Bhartiya Juana Pitha Kasi).

17. Yoga Sataka of Hari Bhadra (L. D. Institute of Indology, Ahemdabad).

१३

ध्यान द्वारा आत्म सिद्धि

श्री रतनचन्द्र जैन रत्नेश
एम. ए., एम. एड, लामटा

प्रत्येक धर्म ध्यान का विशेप महत्व है। किसी न किसी रूप में ध्यान की महिमा सब धर्मों में गाई गई है। कठोपनिषद् की प्रसिद्ध श्रुति है:—

"पराञ्चि खानि व्यतृणत् स्वयम्भू
स्तस्मान् पराङ् पश्यति नान्तरात्मन्।
कश्चिद्धीर: प्रत्यगात्मानमैक्ष—
दावृत्तचक्षुरमृत्वमिच्छन्॥"

अर्थात् मनुष्य स्वभाव से ही वहिर्मुख होता है। वह आत्मदर्शन में साधारणत: प्रवृत्त नहीं होता। कोई धीर—वीर व्यक्ति ही ऐसा होता है जो इन्द्रियों के वाह्य विपयों से अलग, अन्तरात्मा के दर्शन (ध्यान) में दत्तचित्त होता है।

ऐसा साधक ही विभिन्न सीमागत धरातलों से ऊपर ऊठकर स्वयं का अनुभव करता है।

जैनधर्म में भी मोक्ष (मुक्ति हेतु ध्यान की प्रेरणा की गई है) आचार्य रामसेन अपने 'तत्त्वानुशासन' (ध्यानशास्त्र) नामक ग्रन्थ में कहते है।

"स च मुक्तिहेतुरिद्धो ध्याने यस्माद्वाप्यते द्विविधोऽपि।
तस्मादभ्यस्दन्तु ध्यानं सुधिय: सदाऽप्यपास्याऽऽ-
लस्यम॥३३॥"

दोनों प्रकार का (निश्चय एवं व्यवहार) मोक्ष-मार्ग ध्यान से सधता है। अत: मुमुक्षुओं को आलस्य त्यागकर ध्यान का अभ्यास करना चाहिए।

डाक्टर मंगलदेव [1] शास्त्री के अनुसार "सब धर्मों में निश्चय ही अध्यात्म की विशेषता यह रही है कि उसका नेतृत्व लौकिक स्वार्थ सिद्धि से असम्पृक्त तथा विश्व-कल्याण को चाहने वाले ऐसे मुनिजनों के हाथ में रहा है जो आंतरिक शत्रुओं पर विजय प्राप्ति का व्रत धारण किए हुए थे) यह बात अन्य धर्मों में देखने में नहीं आती। यही कारण है कि अन्तर्दृष्टि और आत्म-समीक्षण का जितना अधिक विचार जैन धर्म के अध्यात्म ग्रन्थों में मिलता है उतनी मात्रा में कदाचित् अन्यत्र उपलब्ध नहीं होता।

स्वर्गीय पं० जुगलकिशोर जी मुख्तार 'युगवीर' (सम्पादक एवं व्याख्याकार 'तत्वानुशासन') के

१. भूमिका तत्वानुशासन पृ० १८।

शब्दों में—"विषय कषाय की ज्वालाएं सदा आत्म-हृदय को झुलसती और अशान्त बनाये रखती हैं। जो भव्यात्मा अपने शुद्ध स्वरूप का आभास पाकर उन ज्वालाओं से ऊपर उठता और अन्य सब चिन्ताओं को छोड़कर उस शुद्ध स्वरूप के चिंतन में ही अपने को एकाग्र करता है वह योगी अपने इस योग-बल से, पूर्व के बंधे हुए दृढ़ कर्म बन्धनों को ढीले, त्रुटित एव भस्मीभूत करता हुआ नये कर्मो के आत्मप्रदेशों में प्रवेश को भी रोकता है और इस तरह स्वात्मोपलब्धि रूप-सिद्धि के पथ पर अग्रसर होता है। उसे अपनी उस ध्यानावस्था में बाह्य पदार्थ-जन्य सुख दुःख भी महसूस नहीं होता और न मोह-माया तथा अहंकार-ममकार ही सता पाते हैं। वह अन्तर्दृष्टि द्वारा कर्म गणों को योगानल में भस्म और उनके स्थान पर स्वात्मगुणों को विकसित होता हुआ देखकर, जिस अतीन्द्रिय आनन्द एवं स्वाधीन सुख को प्राप्त होता है उसके आगे संसार के सभी सुख नगण्य हैं। ऐसा अध्यात्म निष्ठ रागद्वेष-विहीन योगी शुद्धात्मा के ध्यान की विशुद्ध किरणों अथवा निर्दोष विचार–तरंगों से विश्व को व्याप्त कर उसके कल्याण में, बिना किसी इच्छा तक प्रयत्न के स्वतः सहायक होता है।[२]"

ध्यान का लक्षण और उसका फल

आचार्य रामसेन ने ध्यान के बारे में कहा है—
"एकाग्र चिन्तारोधो यः परिस्पन्देन वर्जितः।
तद्ध्यानं निर्जरा हेतुः संवरस्य च कारणम् ॥"
आचार्य उमास्वामी ने भी कहा है-॥५६॥

"एकाग्रचिन्तानिरोधो ध्यानम्"

अर्थात् चिन्ता का निरोध ही ध्यान है और ध्यान निर्जरा तथा संवर का कारण है।

२. तत्वानुशासन के भाष्य की भूमिका।

आचार्य पूज्यपाद के अनुसार निश्चल अग्नि-शिखा के समान अवभासमास ज्ञान ही ध्यान है। अर्थात् ध्यान और ज्ञान अलग-अलग नहीं हैं।

'ध्यानशतक' में भी ज्ञान की एकाग्र अवस्था को ही ध्यान कहा गया है—
"ज थिरमज्झवसाणं तं झाणं जं चलतयं चित्तं।
तं होज्ज भावना वा अणुपेहा वा अहव चिंता ॥"

आत्मा और ज्ञान में क्या सम्बन्ध है? इस बारे समयसार कलशा में कहा गया है—
"आत्मा ज्ञानं स्वयं ज्ञानं, ज्ञानादन्यत्करोतिकिम्"

आत्मा का ध्यान ही ध्यान है—

तत्वानुशासन में निश्यनय से आत्मा को ही ध्यान कहा गया है—
"स्वात्मानं स्वात्मनि स्वेन ध्यायेत्स्वस्मै स्वतो यतः
षटकारकमयस्माद् ध्यानमात्मैव निश्चयात् ॥७४॥"

"चूंकि आत्मा स्वयं को, स्वयं में, स्वयं के द्वारा, स्वयं के लिए, स्वयं के ही हेतु से ध्याता है अतः कर्त्ता, कर्म, करण, सम्प्रदान, अपादान और अधिकरण ऐसे षटकारक रूप परिणत हुआ आत्मा ही निश्चय नय की दृष्टि से ध्यानस्वरूप है।"

ध्यान की सामग्री—

ध्यान के लिए आवश्यक वस्तुओं के बारे में कहा गया है—
"संग त्यागः कषायानां निग्रहो व्रतधारणम्।
मनोऽक्षाणां जयश्चेति सामग्री ध्यान जन्मनि ॥"

'परिग्रहों का त्याग, कषायों का निग्रह–नियंत्रण, व्रतों का धारण, मन और इन्द्रियों को

जीतना—यह सब ध्यान की उत्पत्ति-निष्पत्ति में सहायभूत सामग्री हैं'

परिग्रह-त्याग, कषाय निग्रह व्रतधारण तो संभव होता है पर मन एवं इन्द्रियों पर नियंत्रण कठिन है—अतः ज्ञान और वैराग्य के द्वारा इन्द्रिय रूपी घोड़ों को वश में करना चाहिए। कहा भी है—

"ज्ञान वैराग्यरज्जुभ्यां नित्यमुत्पथवर्त्तिनः
जितचिन्तेन शम्यन्ते धर्तुमिन्द्रिय-वाजिनः ।।७७।।"

आत्म द्रव्य ही ध्येय—

संसार में विभिन्न द्रव्य हैं परन्तु आत्म द्रव्य ही ध्येय है। आत्मा सत्, चित् एवं आनन्द स्वरूप है।

"सति ही ज्ञातरि ज्ञेयं ध्येतां प्रतिपद्यते
ततो ज्ञानस्वरूपोऽयमात्मा ध्येयतमःस्मृतः ।।"

'ज्ञाता के होने पर ही ज्ञेय ध्येयता को प्राप्त होता है इसलिए ज्ञान स्वरूप यह आत्मा ही ध्येयतम-सर्वाधिक ध्येय है। इसी की उपासना या ध्यान करना चाहिए'

आत्म द्रव्य के ध्यान में पंचपरमेष्ठी प्रधान है-

आत्मा के ध्यान में वस्तुतः (व्यवहार से) पंच परमेष्ठी ही ध्यान किये जाने योग्य हैं। इनमें अरहंत, आचार्य, उपाध्याय और साधु परमेष्ठी सकल (शरीर सहित) है और सिद्ध परमेष्ठी निष्कल (शरीर रहित) हैं तथा स्वामी हैं।

"तत्रापि तत्वतः पंच ध्यातव्याः परमेष्ठिनः।
चत्वारः सकलास्तेषु सिद्ध स्वामी तु निष्कलः ।।

सिद्धात्मक ध्येय का स्वरूप

सिद्धों का स्वरूप एवं उनके ध्येय का स्वरूप निम्न प्रकार है—

"अनन्त दर्शनज्ञानसम्यक्त्वादि गुणात्मकम्।
स्वोपात्तऽनन्तर-त्यक्-शरीराऽऽकार धारिणम् ।।
साकारं च निराकारममूर्तमजरमरम्।
जिनबिम्बमिव स्वच्छ स्फटिक-प्रतिविम्वितम् ।।
लोकाग्र शिखराऽऽरूढ़मुद्ढ—सुखसम्पदम्।
सिद्धात्मानं निरावाधं ध्यायेन्निर्धूतकल्मषम् ।।

"अनन्त दर्शन, ज्ञान एवं सम्यक्त्व आदि गुणों से परिपूर्ण, स्वगृहीत और पश्चात् परित्यक्त ऐसे (चरम) शरीर के आकार का धारक है, साकार और निराकार दोनों रूप हैं, अमूर्त है, अजर है, अमर है, स्वच्छ स्फटिक में प्रतिबिम्वित जिनबिम्ब के समान हैं, लोक के अग्रशिखर पर आरूढ़ है, सुख सम्पदा से परिपूर्ण है, बाधाओं से रहित और कर्म-कलंक से विमुक्त है—ऐसा स्वरूप है सिद्धात्मा का, सिद्धों का। ऐसे सिद्धों को ध्याता ध्यावे-अपने ध्यान का विषय बनावे।

पंच-परमेष्ठी का ध्यान स्वयं की आत्मा का ध्यान है

एकाग्रता से पंच परमेष्टी का ध्यान स्वयं का ध्यान है। आचार्य कुन्दकुन्द ने प्रवचनसार में कहा है—

"जो जाणदि अरहंतं दव्वत-गुणत्त-पज्जयत्तेहि।
सो जाणदि अप्पाणं मोहो खलु जादि तस्य लओ ।।

"जो अरहन्त को द्रव्य, गुण और पर्याय से जानता हैं, वह अपनी आत्मा को जानता है और उसका मोह क्षीण हो जाता है।"

वर्तमान समय में भी ध्यान सम्भव है

कुछ लोगों का यह कथन हैं कि इस पंचमकाल

में ध्यान सम्भव नहीं है। यह कथन ठीक नहीं है। आचार्य कुन्दकुन्द ने लिखा है—

'भरहे दुस्समकाले धम्मज्झाणं हवेइ णाणिस्स।
तं अप्पसहावट्ठिये ण हु मराणई सो अण्णाणी ॥'

अर्थात इस भरत क्षेत्र एव इस दुःषम पंचमकाल में ज्ञानी के धर्म ध्यान होता है और वह आत्मस्वभाव में स्थित–आत्मभावना में तत्पर होता है–जो इसे नहीं मानता वह अज्ञानी है। आचार्य देवसेन भी अपने 'तत्वसार' में ऐसा कहने वालों को 'शंका कांक्षा में फँसे हुए, विषयों में आसक्त और सन्मार्ग से प्रभ्रष्ट' बताते हैं।

ध्यान के भेद

ध्यान चार प्रकार का होता है—१-आर्त्त-ध्यान २–रौद्रध्यान ३–धर्मध्यान और ४–शुक्ल-ध्यान। इनमें से प्रथम दो ध्यान तो कुध्यान हैं अतः मुमुक्षुओं को त्यागने योग्य है। धर्म-ध्यान और शुक्ल ध्यान उपादेय हैं।

इस काल में संहनन की हीनता, श्रुतज्ञान की अनुपलब्धि और उपशम एवं क्षपक श्रेणियों में चढ़ने की क्षमता का अभाव आदि के कारण शुक्ल ध्यान इस काल में सम्भव नहीं होता। धर्मध्यान ही सम्भव है। इसीलिए इस काल में शुक्ल ध्यान का निषेध है, धर्म ध्यान का नहीं। कहा भी गया है—

"अत्रेदानीं निषेधन्ति शुक्लध्यानंजिनोत्तमा।
धर्म्यध्यानं पुनः प्राहुः श्रेणिभ्यां प्राग्विवर्त्तिनाम् ॥
(तत्वानुशासन पृ० ८२)

इसी प्रकार के कथन महापुराण एवं तत्त्वार्थ-वार्तिक में भी हैं। इससे स्पष्ट है कि इस पंचमकाल में शुक्ल ध्यान सम्भव नहीं है परन्तु धर्मध्यान सम्भव है जो कि परम्परा से शुक्लध्यान एवं आत्म-सिद्धि का साधक है।

ध्यान अभ्यास सम्भव है

जैसे अभ्यास से महाशास्त्र का अध्ययन सम्भव होता है उसी प्रकार अभ्यास से भी एकाग्रता, स्थिरता, सिद्धि या ध्यान की प्राप्ति सम्भव होती है। कहा भी है—

यथाभ्यासेन शास्त्राणि स्थिराणि स्युर्महान्पि।
तथा ध्यानमपि स्थैर्यं लभतेऽभ्यासंन्त्यवर्तिनाम ॥

ध्याता को परिकर्म पूर्वक ध्यान करना चाहिए

परिकर्म का अर्थ संस्कार, उपकरण, सामग्री आदि होता है–इन बाह्य कारणों से ध्यान की स्थिरता बनती है। अतः स्थान, काम, आसन आदि का चुनाव अच्छा होना चाहिए। खाली घर, गुफ़ा, साफ स्थान में सुविधानुसार समय पर सुखा-सन, अन्य कोई आसन या कार्योत्सर्ग मुद्रा से ध्यान में रत होना चाहिए।

नय दृष्टि से ध्यान के भेद

जैन परम्परा में ध्यान नय दृष्टि से दो प्रकार का है १–निश्चय ध्यान-आत्मा स्वरूप के अवलम्बन द्वारा, २–व्यवहार ध्यान–पर के अवलम्बन द्वारा

निश्चय-ध्यान में साधक स्वयं की आत्मा का ध्यान करता है। इसमें वह किसी पर वस्तु (अरहंत, सिद्धि आदि) का अवलम्बन नहीं लेता। यह

३. पं० जुगलकिशोर मुख्तार, तत्वानुशासन टीका, पृ० ९६

निश्चय ध्यान बड़ा दुर्लभ होता है और स्थायी नहीं रह पाता। किंचित् यदाकदा ही यह सम्भव होता है। व्यवहार ध्यान से ही कभी कभी इसकी झलक एक पल के लिए प्राप्त हो पाती है। छठवें एवं सातवें गुणस्थान के बीच झूलते हुए मुनिराज ही इसका आस्वादन कर पाते हैं। कुछ सद्गृहस्थ भी इसकी अनुभूति भाग्यवशात् कभी कर लेते हैं। व्यवहार ध्यान ही निश्चय ध्यान का राजमार्ग है-- "पहले व्यवहारनयाश्रित भिन्न (आलम्बन) ध्यान के अभ्यास को बढ़ाया जाय। तत्पश्चात् निश्चय-नयाश्रित अभिन्न (निरालम्बन) ध्यान के द्वारा अपने आत्मा के शुद्ध स्वरूप में लीन हुआ जाय।[3]

व्यवहार-ध्यान में किसी भी मन्त्र आदि का आलम्बन लिया जाता है। अरहन्त, सिद्ध, आचार्य, उपाध्याय, साधु-इनका आलम्बन लिया जाता है। व्यवहार ध्यान से ही निश्चय ध्यान की परम्परा आगे बढ़ती है। अर्हन्तदेव के ध्यान का फल तत्वानुसार में निम्नप्रकार कहा गया है-

"वीतरागोऽप्ययं देवो ध्यायमानो मुमुक्षिभिः।
स्वर्गाऽपवर्ग-फलदः शक्ति स्तस्य हि तादृशी ।।"

वीतराग होने पर भी अर्हन्तदेव मुमुक्षुओं को स्वर्ग तथा मोक्ष प्रदान करने में सहायक होते हैं।

इसी प्रकार सम्यग्ज्ञानादि से सम्पन्न आचार्य, उपाध्याय एवं साधु ध्यान के योग्य हैं।

इसी प्रकार अकार से लेकर हकार पर्यन्त जो मन्त्ररूप अक्षर हैं वे अपने अपने मण्डल को प्राप्त हुए परम शक्तिशाली ध्येय हैं। वैसे 'अमन्त्रमक्षरं नास्ति नास्ति मूलमनौषधं' अर्थात् ऐसा कोई अक्षर नहीं है जो कि मन्त्र के काम नहीं आता और ऐसी कोई मूल नहीं जो कि औषधि के रूप में काम में न आती हो। केवल 'योजकस्तत्र दुर्लभः' इनकी संयोजना करने वाले ही दुर्लभ होते हैं।

महामन्त्र णमोकार, असिआउसा-संयुक्ताक्षार ॐ, ह्रीं, श्रीं, क्लीं, अर्हं का ध्यान करने से आत्म सिद्धि प्राप्त होती है।

परमेष्ठियों के ध्यान से सब कुछ ध्यात होता है। फिर उससे कुछ और पृथक ध्यान की आवश्यकता नहीं होती, कहा भी है—

"संक्षेपेण यदत्रोक्तं विस्तरात्परमागमे।
तत्सर्वं ध्यातमेव स्याद् ध्यातेषु परमेष्ठिसु ।।"

हृदय, ध्यान का स्थल है

हृदय-कमल के पत्रों पर असिआ उसा की स्थापना करना चाहिए। ये पंच परमेष्ठी के वाचक शब्द हैं।

हृत्पंकजे चतुष्पत्रे ज्योतिष्मन्ति प्रदक्षिणम्।
अ-सि-आ-उ साऽक्षराणि ध्येयानि परमेष्ठिनाम् ।।

ध्येयों के प्रकार

नाम, स्थापना, द्रव्य और भाव के भेद से ध्येय चार प्रकार के होते हैं। इनका संक्षिप्त स्वरूप इस प्रकार है—

"वाचस्य वाचकं नाम प्रतिमा स्थापना मता।
गुण पर्ययवद् द्रव्यं भावः स्याद्गुणोंपर्ययों ।।"

वाच्य का वाचक 'नाम' कहलाता है। प्रतिमा को 'स्थापना' कहते हैं और गुण-पर्याययुक्त 'द्रव्य' कहलाता है तथा गुण और पर्याय दोनों 'भाव' कहलाता है।

नाम ध्येय में मन्त्र एवं नाम आते हैं। स्थापना ध्येय में भगवान् की कृत्रिम और अकृत्रिम प्रतिमाएं आती हैं। द्रव्य ध्येय में उत्पाद-व्यय-ध्रौव्य रूप द्रव्य (तत्व) का ध्यान आता है। द्रव्य के छः भेद होते हैं। (पुद्गल, नभ, धर्म, अधर्म काल आत्मा) इनमें आत्मा द्रव्य ध्येय हैं। अन्य द्रव्यों को जानकर उनकी प्रतीति करना चाहिए। द्रव्य की पर्यायों (अर्थ एवं व्यंजन) तथा गुण (मूर्तिक और अमूर्तिक) को जानकर उनका यथास्थिति चिन्तन करना भावध्येय है।

प्रमुख ध्येय प्रकार

प्रमुख रूप से ध्येय के दो ही प्रकार हैं—द्रव्य ध्येय और भावध्येय।

द्रव्यध्येय को पिंडस्थ-ध्येय भी कहा जाता है। यहां ध्यान में स्थिरता के परिपुष्ट हो जाने पर ध्येय का स्वरूप, ध्येय के संनिकट न होते हुए भी स्पष्ट रूप से आलेखित (प्रतिविम्वित) जैसा प्रतिभासित होता है।

भावध्येय में ध्याता, ध्येय के समान ही अपने आपको वनाने का प्रयत्न करता हैं। वह ध्यान के वल पर अपने शरीर को शून्य वनाकर ध्येय स्वरूप में आविष्ट प्रविष्ट हो जाने से अपने को तत्सदृश वना लेता है। उस समय वह उस प्रकार की संवित्ति से भेद विकल्प को नष्ट करता हुआ परमात्मा, गरुण अथवा कामदेव हो जाता है। तत्वानुशासन में कहा गया है—

"यदा ध्यान-वालाद्ध्याता शून्यीकृत स्वविग्रहम्।
ध्येय स्वरूपाविष्टत्वात्ताहम् सम्पद्यते स्वयम्॥
यदा तथाविध ध्यान-संविति-व्यस्त-कल्पनः।
स एव परमात्मा स्याद्वैनतेयश्च मन्भवः॥"

समरसी भाव और समाधि का स्वरूप

ध्येय और ध्यात का एकीकरण समरसीभाव कहलाता है। यही एकीकरण ही समाधि है जोकि दोनों लोकों के फल को देने वाली है।

"सोऽयं समरसीभावसादेकीकरणं स्मृतम्।
एतदेव समाधिः स्याल्लोक-द्वय-फल-प्रदः॥"

द्विविधि ध्येय का वास्तविक अर्थ

द्रव्य ध्येय या भावध्येय वह सव प्रकार मात्र है। वास्तव में ध्येये का स्वरूप जानकर, श्रद्धा करके और उसमें मध्यस्थता वीतरागता धारण करने वाले को-अपने ध्यान का विपय वनाना चाहिए। इस माध्यस्थ-भाव के अनेक नाम हैं। समता, उपेक्षा, वैराग्य, साम्य, निःस्पृहता, वितृष्णय (तृष्णा का अभाव) प्रशम और शान्ति ये सव इसी माध्यस्थ भाव के ही विभिन्न नाम है। इनको धारण करके ही वास्तव में ध्यान होता है। इनके विना ध्यान, ध्यान नहीं वनता। इसी वीतरागता से निश्चय ध्यान वनता है। इसी वीतरागता का ध्यान वीत-राग वनने का अभ्यास करते हुए करना चाहिए।

निश्चय ध्यान के इच्छुक व्यक्ति को परामर्श

जो निश्चय ध्यान करने का इच्छुक है उसे स्व और पर को यथास्थिति जानकर, श्रद्धान कर-उस रूप आचरण करना चाहिए, अर्थात् पर को निरक्षक जानकर छोड़े और केवल स्व को ही देखे-जाने स्व के ज्ञाता-दृष्टा स्वरूप को ही पकड़े।

"दिध्यासुः स्वं परं ज्ञात्वाश्रद्धाय च यथास्थितं।
विहयाऽन्यदनर्थित्वात् स्वमेवाऽवैतु पश्यतु॥"

स्व और पर के ज्ञान हेतु श्रुत (आगम) ज्ञान आवश्यक है। आगमन को तीसरा नेत्र कहा गया है। अतः पहले श्रुत द्वारा अपने आत्मा में आत्म संस्कार को आरोपित करना चाहिए। श्रुत (आगम) में आत्मा को जिस यथार्थ प्रकार का बताया गया है। उस प्रकार भावनाओं के द्वारा हमें आत्मा को संस्कारित करना चाहिए। इसके पश्चात् इस संस्कारित आत्मा में एकाग्रता (तल्लीनता) प्राप्त करना चाहिए।

श्रोती भावना :—

आगम में जिस प्रकार आत्मा को बताया गया है, उसे श्रोती-भावना कहते हैं। इस श्रोती भावना का स्वरूप निम्न प्रकार है—

—"मैं चेतन हूं, असंख्य प्रदेशी हूँ मूर्त्तिरहित, अमूर्त्तिक हूँ, सिद्धसदृश, शुद्धात्मा हूँ और ज्ञान-दर्शन लक्षण से युक्त हूँ।"

शरीर अन्य है, मैं अन्य हूँ, मैं चेतन हूं, शरीर अचेतन है, शरीर नाशवान है, मैं अक्षय हूँ।

मैं अन्य नहीं हुं, मैं अन्य का नहीं हूँ। अन्य मेरा नहीं है। मैं, मैं ही हूं, अन्य अन्य का है।

अचेतन मेरा नहीं होता, मैं अचेतन का नहीं होता। मैं ज्ञान-स्वरूप हूं, मेरा कोई नहीं है और न मैं किसी दूसरे का हूं।

इस संसार में मेरा शरीर के साथ जो स्व-स्वामि सम्वन्ध हुआ है और दोनों में जो एकत्व का भ्रम है, वह पर के निमित्त से है, स्वरूप से नहीं।

"योऽत्र स्व-स्वामि सम्वन्धो ममाऽभूद्वपुषा सह
यस्त्वेकत्व भ्रमस्सोऽपि परस्मान्न स्वरूपतः

इस श्रोती भावना में आत्मा अपने में स्थित हुआ, अपने द्वारा, अपने आपको इस रूप में देखता है कि अन्य पदार्थों से उसे रूचि नहीं रहती उनसे स्वतः विरक्ति हो जाती है।

इस प्रकार, इस भावना में लीन होकर आत्मा अन्य शरीरादिक से अपने आपको भिन्न निश्चित करके स्वयं में ही लीन हो जाता है और अन्य किसी प्रकार की चिन्ता नहीं करता। यह ध्यान की प्रमुख सीढ़ी है।

चिन्ता का अभाव तुच्छ नहीं यह स्वसंवेदन रूप है :—

चिन्ताऽभावो न जैनानां तुच्छा मिथ्या द्दशामिव।
दृग्बोध साम्य रूपस्य स्वस्य संवेदनं हि सः॥

चिन्ता का अभाव जैन मत में वैशेषिक दर्शन के समान तुच्छ अभाव नहीं है। बल्कि यह अभाव वस्तुतः दर्शन, ज्ञान और समता रूप आत्मा के संवेदन रूप है।

जैन दर्शन में अभाव को भी वस्तु धर्म माना है जो कि वस्तु-व्यवस्था के अंग रूप है। यदि एक वस्तु में दूसरी वस्तु का अभाव स्वीकार न किया जाय तो किसी भी वस्तु की कोई व्यवस्था नहीं बनती। इस दृष्टि से अभाव सर्वथा असत् रूप या तुच्छ नहीं है, जिससे चिन्ता के अभाव रूप होने से ध्यान को ही असत् कह दिया जाय। वह अन्य चिन्ताओं के अभाव की दृष्टि से असत् होते हुए भी स्वात्म-चिन्तात्मक-स्वसंवेदन की दृष्टि से असत् नहीं है, और इसलिए तुच्छ नहीं है। ध्यान के लक्षण में प्रयुक्त 'निरोध' अथवा 'रोध' शब्द का अर्थ करने पर उसका यही आशय है, न कि सर्वक्ष चिन्ता के अभाव रूप, ध्यान का ही अभाव।[४]

---

४. पं० जुगलकिशोर जी मुख्तार' वही पृ० १५१

स्वसंवेदन का लक्षण

साधक जब अपने आत्मा का स्वयं के द्वारा अनुभव करता है—वैद्यपना और वेदकपना यही स्व संवेदन है। यही आत्मा का दर्शन रूप अनुभव है।

समस्त कर्मज भावों से सदा भिन्न अपने निर्मल ज्ञान स्वभाव एवं उदासीन (वीतराग) आत्मा को आत्मा के द्वारा ही देखना चाहिए।

'कर्मजेभ्यः समस्तेभ्यो भावेभ्यो भिन्नमन्वहम्।
ज्ञस्वभावमुदासीनं पश्येदात्मानमात्मना ॥'

आत्मा कब दिखलाई पड़ता है ?

इन्द्रियज्ञान तथा मन के द्वारा आत्मा दृश्य नहीं होता। इन्द्रियों और मन का व्यापार रुकने पर ही स्वसंवित्ति द्वारा आत्मा दर्शन होता हैं।

इस ज्ञान स्वरूप आत्मा को न देखने वाला योगी नहीं हो सकता और आत्म ज्ञान के बिना सब निस्सार है। बल्कि वह ध्यान, मूर्छा-वाला मोह ही सिद्ध होता है—

'समाधिस्थेन यद्यात्मा बोधा नाऽनुभूयते।
तदा न तस्य तद्ध्यानं मूर्छावन्मोह एव सः ॥"

आत्मानुभव का फल

ज्ञान स्वरूप आत्मा का अनुभव करके योगी उस परम एकाग्रता और स्वाधीन स्थायी आनन्द का अनुभव करता है जोकि वचन के अगोचर है। यह ध्यान मुक्ति का एक मात्र रास्ता है।

"ध्यानाऽभ्यास प्रकर्षेण त्रुटयन्मोहस्य योगिनः
चरमाङ्गस्य मुक्तिः स्यात्तदैवाऽन्यस्य च क्रमात् ॥

अर्थात् ध्यान से ही मोह नष्ट होता है। इससे चरम शरीरी तो उसी भव से मोक्ष जाते है और अन्य लोगों की क्रमशः मुक्ति होती है।

"तक्ष ह्यचरमाङ्गस्य ध्यानमभ्यस्यतः सदा।
निर्जरा संवरश्च स्यात्सकलाऽशुभ कर्मणाम् ॥
आस्नवन्ति च पुण्यानि प्रचुराणि प्रतिक्षणम्।
येर्महर्द्धिर्भवत्येप त्रिदशः कल्पवासिपु ॥"

"ध्यान का अभ्यास करने वाले अचरमाङ्ग योगी के सदा अशुभ कर्मों की निर्जरा होती है और (अशुभ कर्मास्रव के निरोध स्वरूप) संवर होता है। साथ ही साथ उसके प्रतिक्षण पुण्यकर्म का आश्रव प्रचुर मात्रा में होता है। इससे यह योगी कल्पवासी देवों में महा ऋद्धिधारक देव होता है।"

इसके पश्चात् पुनः मनुष्य होकर वह चक्रवर्त्ती आदि की सम्पदा प्राप्त करके और उन्हें स्वयं छोड़ कर, निर्ग्रन्थ हो—चार प्रकार के शुक्ल ध्यान को ध्याकर और आठों कर्मों का नाश करके अक्षय मोक्ष पद की प्राप्ति करता है।

कर्मों के बन्धनों को विध्वंस करके—

ऊर्ध्वगमन का स्वभाव होने के कारण-मुक्त आत्मा एक क्षण (समय) में ही लोक-शिखर के अग्र भाग में पहुंच जाता है और अन्त समय तक वहाँ अक्षय सुख को भोगता है जन्म मरण के चक्कर से वह सदा के लिए मुक्त हो जाता है। इस प्रकार ध्यान स्थायी-सुख को प्राप्त कराने का एक मात्र साधन है। यही आत्मसिद्धि का राजमार्ग है।

इस प्रकार ध्यान के द्वारा वह उस सार पदार्थ (मोक्ष) को प्राप्त करता है। अतः ध्यान आत्मसिद्धि अथवा मोक्ष का श्रेष्ठतम साधन है। ध्यान के बिना मोक्ष का प्राप्ति संभव नहीं है। इसी कारण यह सब कहा गया है—

सारश्चतुष्टयेऽप्यस्मिन्मोक्षः स ध्यानपूर्वकः।
इति मत्वा मया किंचिद्ध्यानमेव प्रपंचितम्।२५२।

(तत्वानुऽशासन)

14

Analytical Treatment Of Transfinite Numbers In Dhavala

☐L. C. Jain

In the authors article (1967)[1] certain set theoretic approaches of Virsena's life-long work "DHAVALA"[2] (circa ninth century) commentary of "SHATKHANDAGAMA" were related in briefo In the present article only a few pages of DHAVALA are exposed in simple modern mathematical operational symbols. The units of set measures are classified as simple measure and number measure about which dteails are available else where.[4] Herern and what follows the symbols and notataons of number measure will be adhernd to as already adopted, unles otherwise stated.[5]

1. Logarithmic Treatment

At the out set it may be noted that in DHAVLA, the mathematical details are given in sentences without any notations practically. The sets treated therein are finite, transfinite; ordered, well-ordered, plain and mixed. One may call those sets mixed which have been formed as a result of mixing well-orderd set or sets with plain or ordered set or sets.[6] There seems no

1. Cf. JSM.
2. Cf. DT.
3. For its preliminary mathematical details, Cf. MD.
4. Cf. JSM. ND, BCM. TPG etc.
5. Cf. JSM.
6. Cf. AST for details; Cf. as for symbolic repreaentations.

distinction between the sets and their cardinal or ordinal numbers so far as their mathematical manipulations are concerned, because they are implied so at different places. It thus appears that the school made use of the Arciom of choice freely.[7]

Virasena, in the following[8] has attempled to prove that $\overline{\text{Iij}}|^3$ is imfinite times less than the cordinal of the set J of all living beings in the whole universe (LOKA).[9]

He proceds as follows[10] :

$$\log Ipj + 1 + \log \log Ipj = \log \log Ilj \quad (1.101)$$

$$[2 \log Ipj] \; [Ipj] = \log Iij \quad (1.102)$$

because

$$Iij = [Iyj]^2 = \left[(Ipj)^{Ipj}\right]^2$$

Further

$$\log Iij = A \; [Iyj] \quad (1.103)$$

or

$$\log Iij = \frac{[Ipj]^2}{A} \quad (1.104)$$

because of (1.102) and Ipj)=Aau+1.

Now

$$\log Iij > \log Ipj \quad (1.105)$$

7. Cf. RAC for details.
8. Cf. DT, p. 21 et seg.
9. Cf. RY, pp. 138, 248 for definition etc.
10. Unless otherwise stated the symol for logarithm ie. log will stand for logariltion to the base two, ie. for $\log_2$. This is the operational symbol for bisection

    or Ardhaccheda. Similarly $\log_2 \log_2$ stands for Vargasataka, or Ardhaccheda of Ardhaccheda.

and

$$\log Iij + \log\log Iij = \log\log \overline{Iij}|^1 \quad \ldots\ldots(1.106)$$

$$Iij\,(\log Iij) = \log \overline{Iij}|^1 \quad \ldots\ldots(1.107)$$

Therefore

$$\log \overline{Iij}|^1 \sim I\,[Iij[\quad \ldots\ldots(1.108)$$

Similarly

$$\log \overline{Iij}|^1 \sim \frac{[Iij]^2}{I} \quad \ldots\ldots(1.109)$$

Further

$$\log \overline{Iij}|^1 + \log\log \overline{Iij}|^1 = \log\log \overline{Iij}|^2 \quad \ldots\ldots(1.110)$$

Also

$$[\log Iij|^1]\,[\overline{Iij}|^1] = \log \overline{Iij}|^2 \quad \ldots\ldots(1.111)$$

Therefore

$$\log \overline{Iij}|^2 \sim I\,[\overline{Iij}|^1] \quad \ldots\ldots(1.112)$$

Similary

$$\log \overline{Iij}|^2 \sim \frac{[Iij|^1]^2}{I} \quad \ldots\ldots(1.113)$$

It is known that

$$\log \overline{Iij}|^2 + \log\log \overline{Iij}|^2 = \log\log \overline{Iij}|^3 \quad \ldots\ldots(1.114)$$

Now

$$\log\log \overline{Iij}|^3 < [\overline{Iij}|^1]^2$$

because according to (1.111) and (1.114)

$$\log\log \overline{Iij}|^3 = \log \overline{Iij}|^2 + \log\log \overline{Ij}|^2$$

$$= [Iij]^{Iij+1} \log Iij + [Iij+1] \log Iij$$

$$+ \log\log Iij \quad \ldots\ldots(1.115)$$

Thus the $\log\log \overline{Iij}|^3$ has not reached even a single square-place (Varga-Sthana) above $\overline{Iij}|^1$ from this the auther concluds

"तेणे देसि दोण्हं रासीणं वग्गसलागाओ सरिसाओ"

$\log \log [\overline{Iij}|^1]^2 = \log \log \quad \xi \log \overline{Iij}|^3$ ....(1.116)

The L.H.S. of (1.116) is also stated as

$\log \log [\overline{Iij}|^1]^2 = 1 + \log \log \overline{Iij}|^1$

$= 1 + A' \, Ipj + \log Ipj + 1 + \log \log \, SPS$

$= A \, Ipj$ ....(1.117)

Now Virasena applies the method of reductio-ad-absurdum.

If we take it for granted that

$\log \log \overline{Iij}|^3 = \log \log (J)$

in which care

$\overline{Iij}|^3 = J$

Which is not so, becauose according to Parikarma,

$\log \log (J) = [\{(Iij)^2\}^2]^2$.... ....

.....................(1.118)

the square indices being raised Iim times

Where as

$\log \log \overline{Iij}|^3 \quad [\{(Iij)^2\}^2]^2$.....................

....(1.119)

The indices on R.H.S. being raised Iim times

As a matter of fact

$\log \log \overline{Iij}|^3 = [Iij]^{2^{(A \, Ipj)}}$ ....(1.120)

Virasena proceeds to submit proof for (1.120) as follows :

It is known that

$\log \log Iij > \log Ipj$ ....(1.121)

because

$Iij = \left[(Ipj)^{Ipj} \right]^2$

$\therefore \log Iij = 2 \, Ipj \log Ipj$

$\therefore \log Iij > Iyj$ proing (1.121)

Again

$$\log \log \overline{\text{Iij}}|^3 < [\overline{\text{Iij}}|^1]^2$$

by virtue of (1.115)

Therefore

$$\log \log \log \log \overline{\text{Iij}}|^3 < \log \log \left\{ (\text{Iij})^{(\text{Iij})} \right\}^2$$

$$< \log 2\ \text{Iij} + \log \log \text{Iij}$$

$$\leqslant [\text{Iij}]^2 \quad \text{..................(1.122)}$$

Now

$$\log \log \log \log \overline{\text{Iij}}|^2 < 1 + \log \text{Iij} + \log \log \text{Iij}$$

$$\therefore \log \log \log \log \overline{\text{Iij}}^3 - \log \log \text{Iij} < 1 + \log \text{Iij}$$

$$< 1 + 2\ \text{Ipj} \log \text{Ipj}$$

..........................(1.122a)

At the same time

$$\log \log \overline{\text{Iij}}|^3 > \overline{\text{Iij}}|^1 \text{ by virtue of } (1.115)$$

$$\therefore \log \log \log \log \overline{\text{Iij}}|^3 > \log [\text{Iig} \log \text{Iig}]$$

$$> \log \text{Iij} + \log \log \text{Iij}$$

Or

$$\log \log \log \log \overline{\text{Iij}}|^3 - \log \text{Iij} > \log \log \text{Itj}$$

$$> 2\text{Ipj} \log \text{Ipj}.................$$

.................(1·122b)

Now if in (1·122a) and (1·122b)

A is substituted in place of 2 log Ipj

Then

$$\log \log \log \log \overline{\text{Iij}}|^3 - \log \log \text{Iij} = \text{A Ipj}$$

..................1·123)

Again, from (1·120)

$$\log \log \log \log \overline{\text{Iij}}|^3 = \log \left[2^{\text{A (Ipj)}} \log \text{Iij} \right]$$

$$= \text{A Ipj} \log^2 + \log \log \text{Iij}$$

$\therefore$ log log log log $\overline{Iij}|^3$–log log Iij = A Ipi
..................(1·124)

Which is the same as (1·123)

Thus the proof is evident from the relations (1·118) and (1·120)

It may be remarked that the proof will be changed if the term $\overline{Iij}|^3$ is taken in the form $\overline{Iij}|_3$ which stands for third vargita samvargita Rasi in Tiloya Pannatti.[11]

2.

ANALYSIS OF FLUENT[12]MEASURE

Dravya (Fluent) is that which always flows through its Gunas (Controls) and paryayas (Events). Gnna always remains in whole of Dravya in all its Paryayas. Paryaya is an accurrence every Samaya (Instant) in a Guna of a Dravya.

The knowledge of fluentmeasure (Dravya-Pramananugama) is the second Anuyogadvara in which measure of a particular set of living beings is described relatlve to fluent, Time, Quarter and Becoming (Bhava).

The present treatment will be limited only to the measure of the set of souls who have Mythic or false view, i.e., the Mithya-drishti-Jiva-Rasi.

should be replaeed by $\overline{}|_3$ One may note that

$\overline{a}|a$ stands for $\overline{a}|_1$

further $\overline{\overline{a}|_1}|^{\overline{a}|_1}$ stands for $\overline{a}|_2$

Similarly $\overline{\overline{a}|_2}|^{\overline{a}}$ stands for $\overline{a}|_3$

The original verses related in satkhandagama are ;

---

11. Cf. TPG pp. 58-60, where $\overline{}|^3$
12. Cf. Ry pp. 8, 129-134, 162-163 for details.

(1) How many are the Mythic view souls relative to Fluent-measure, in general ? (They) are Infinite.[13]

(2) Relative to time (the Mythic view souls) are not exhausted by Infinite-Infinite Hypo-serpentine and. Hyper-Serpentine (periods).[14]

(3) Relative to quarter (the My thic view souls) are Infinite-Infinite Universes (lokas)[15]

(4) The knowledge of the (above) three (measures) is the Becoming measure.[16]

Now we proceed to expose tne details given by Virasena.

FLUENT–MEASURE

This measure has been shown by Virasena to be equivalent to Iim, where the number is said to be between the following terms :[17]

$$\left[\left\{(Iij)_2\right\}^2\right]^{2\cdots\cdots} < Iim < \left[\left\{(Iiu)\ y^2\right\}^{y^2}\right]^{y^2\cdots\cdots} \quad \cdots\cdots\cdots(2\cdot101)$$

Where the proeess of squaring and extracting square roots is an infinitum.

---

13. ओघेण मिच्छाइट्ठी दव्यपमाणेण केवडिया ? अणंता ।।2।।
Cf. DT, verse 2.
14. अणंताणंताहि ओसप्पिणि-उस्साप्पिणीहि ण अवहिरंति कालेण ।।3।।
Cf. DT, verse 3.
15. खेत्तेण अणंताणंता लोगा ।।4।।
Cf. DT, verse 4.
16. तिण्हं पि अधिगमो भाव पमाणं ।।5।।
Cf. DT, verse 5.
17. Cf. DT, p. 10.

In what follows, the set of the Mythic-view souls will be denoted by the symbol Jमि

TIME-MEASURE

Relative to time Jमि is such that it cannot be exhausted by the set of Samays (Instants) contained ih the past time. We shall denote this set of instants in the past by Kभू It is clear that this set is ordered and has for its order type w* Its elements are given as { ....1, 3, 2, 1 }

By application of the method of one-to-one corresopndence,[18] Virasena compares the above two sets and shows

Kभू < Jमि............ (2·102)

This result is confirmed by comparing the above sets with the sixteen types of sets related in mixed comparability.[19] Comparability means Alpa-bahutva.

Virasena derives that

$$\text{Jमि} = \text{Kभू} \left[\frac{\text{Jमि}}{\text{I}} \right] - \frac{(1\frac{6}{8}\ \text{month})\ \text{Kभू}}{(\text{S. S. Kआ}+1)} + \text{Iyi (Kव)},$$

............(2·103)

Where I is infiniie, S is summable (samkhyata), $1\frac{6}{8}$ month denote the set of instants, Kव stends for one present instant. K आ is the set of instants contained in a single Avalika which consists of Ayj instants. Here[20] I must stand for infinite, less than Iim, and it is then evident that Jमि >Kभू Then result shows that Jमि is not exhausted inspite of the fact that relative to the liberated souls the set of souls of the non-liberated or word's souls is continually losing.

---

18. Cf. DT, p. 28·
19. Cf. DT, pp. 30 et seq., for "सोलह राशि गत-अल्पबहुत्व" ।
20. Cf. CT. p. 31.

QURTER MEASURE

Relative to quarter, or Kshetra, the measure of the set Jमि is said to be Ii times the measure of the set L which is the set of space-points (Pradesas)[21] contained in Loka or universe beyond which is non-universe or empty space. Virasena follows the method of mapping of Jमि upon L, ie., by alloting to every space-point of the universe L an element of Jमि, and repeating the process Ii times.

The Loka (universe) has 343 cublic Rajus of volume. A Raju is a unit of cosmological measure of the immense distances of the Loka. This length in a Euclidean flat space may be considered to be a straight line & the set of space-points contained in it may be denoted by R.

The measure of space-points or Pradesas in R has been discussed by Virasena analytically[22]

Let the number of islands and oceans be n and the diameter of Jambudvipa be denoted in terms of the set of space-points contained in the stretch, Z. In the discussion, it appears that the term "gunide" should be replaced by "bhanide", otherwise results obtained would be incorrect.

Thus according to one of the schools,

$$\left[2^{\{n+1+\log_2 z\}}\right] = R \ldots\ldots\ldots\ldots\ldots (2.104)$$

or taking log both the sides,

$$n+1+\log z = \log R \ldots\ldots\ldots\ldots\ldots\ldots (2.105)$$

According to the other school,

$$\left[2^{\{n+S+\mathrm{Log}\ z\}}\right] = R \ldots\ldots\ldots\ldots\ldots (2.106)$$

If one insists on having "gunide" $\log 2_2$ will have to be interpreted for "Chinnavisitthama" and thus

---

21. Pradesa is the space occupied by an ultimate particle of matter, known as Pudgale-Paramanu.

    Cf. RY, p. 135 for details.

22. Cf. DT, p 34 et seq. Cf. also TPG, pp. 99–102.

$$R = 2^{\{n+(1+S)+\log_2 z\} \log^2_2}$$
..............................(2.107)

Every ocean has an even number as its label and every island would have an odd nnmber for its label. Thus the "Savyambhu ramana" ocean would have $n=2w$ for its lable. Its correspoding island would have $n-1$ or $2w-1$ for its lable. Now the diameter of the ocean is 2^{2-w1} lacs of yojanas[23], Hence the measure of a Raju in lacs of Yojanas would be

$$1+2\ [\ 2+2^2+2^3+ \ldots\ldots\ldots\ldots\ldots\ldots + 2^{2-2w-1}]$$
.........................(2.108)

Whose run is $2^{2w*1}-3$..................(2.109).

This is the measure according to first school. Now we proceed to find the value of $\log_2 R$ from the above, remembering that ultimately $\log_2$ of a lac of yojana will have to be determined in terms of space-points.

This first middle point or bisection (ardhaccheda) of the Raju, the width of the mid-universe, would lie at the centre of the Jambu dvipa from where the distance of the out skirt of the "Svayambhu ramana' ocean would be

$$\tfrac{1}{2}+[2+2^2+2^3+\ldots\ldots\ldots+2^{2w-1}]$$
$$=2^{2w}-\tfrac{3}{2} \text{ lace of Yojanas.}$$
.........................(2.110)

The middle point of the above distance (2·110) would lie on or outside or the corresponding island because the distance of the out-skirt of the "Svayambhu ramana" island from the centre of the Jambudvipa is.

$$\frac{1}{2}+\left[2+2^2+2^3+\ldots\ldots\ldots+2^{2^{w-2}}\right]$$

lacs of Yojanas, or, $2^{2w-1} - \frac{3}{2}$ lacs of Yojanas.
..................(2·111)

---

23. Cf. TPG, pp. 18-23 for Raju and Yojana.

Dividing (2·110) by 2 we have

$$2^{2^{w-1}} - \frac{3}{4} \text{ lacs of Yojanas} \qquad \ldots\ldots\ldots(2{\cdot}112)$$

As

$$2^{2^{w-1}} - \frac{3}{4} > 2^{2^{w-1}} - \frac{3}{2} \qquad \ldots\ldots\ldots(2{\cdot}113)$$

hence the second mid-section of the Raju will fall on the "Svayambyu ramana" ocean

Similary the third mid-section or ardhaccheda wiil lie on the corresponding island, because the distance of the centre of the ocean preceding the Svayambhuramana" island from its own.
outskirt is

$$\frac{1}{2} + \left[2 + 2^2 + 2^3 + \ldots\ldots\ldots + 2^{2^{w-3}}\right]$$

$$= 2^{2^{w-2}} - \frac{3}{2} \text{ lacs of Yojanas,} \qquad \ldots\ldots\ldots(2.114)$$

Whereas the half of amount given in
(2·112) is

$$2^{2^{w-2}} - \frac{3}{2^3} \qquad \ldots\ldots\ldots(2{\cdot}115)$$

And

$$2^{2^{w-2}} - \frac{3}{2^3} > 2^{2^{w-2}} - \frac{3}{2} \ldots\ldots\ldots(2{\cdot}116)$$

Similar it is obvious that

$$2^{2^{w-3}} - \frac{3}{2^4} > 2^{2^{w-3}} - \frac{3}{2}$$

....

....

and in general

$$2^{2^{w-(x-1)}} - \frac{3}{2^x} > 2^{2^{w-(x-1)}} - \frac{3}{2}$$

$$\ldots\ldots\ldots(2{\cdot}117)$$

नाम	जीव	पुग्दल	धर्म	अधर्म	लोकाकाश	मुख्य काल	व्यवहार काल	अलोकाकाश
द्रव्यमान	१६	१६ ख	१	१	१	≡	१६ ख ख	१६ ख ख ख
क्षेत्रमान	≡ ख	≡ ख ख	≡	≡	≡	≡	≡ ख ख ख	≡ ख ख ख ख
कालमान	अ ख	अ ख ख	क a	क a	क a	क a	अ ख ख ख	अ ख ख ख ख
भावमान	के ख ख ख ख	के ख ख ख	ओ a	ओ a	ओ a	ओ a	के ख ख	के ख

Here १६ is the set of all souls, ख is infinity, १ is unity, ≡ is the volume of universe or Loka as a set of space-points, अ or अ is the set of instants in the past, क is the set of instants in Kalpa (creation) period of time, ओ or ओ is the set of Avadhi (clairvoyance), a for asamkhyata, and के is the set of indivisible-corresponding-sections of the knowledge of Cmnisicience.

26. Cf. AS, p. 177.

The first row may be rather translated as, name, Soul, Matter, Medium of motion, Medium of Rest, Universe, real time, practical time, non-universe (empty space), the words carrying some shade of the meaning attached to them.

The first column may be similarly translated as name, fluent-measure, quarter-measure, time-measure and becoming-measure.

REFERENCES

AS : "ARTHA SAMDRISHTI" of todaramala, Gandhi Hari Bhai Deokaran jain Granthamala, Calcutta. (date of publication not mentioned). Note : This chapter is on Jiva Kanda and Karma-Kanda of Gommatasara (pp. 1–308). There is one more chapter on "ARTHA SAMDRISHTI" on Labdhl-sara and Kshapan-asara by the author under the same publications (pp. 1–207). The work was completed by the author in A. D. 1771. We shall denote the later chapter by ASL.

AST : "ABSTRCCT SET THEORY" by A. A. Fraenkel, Amsterdom (1953).

BCM : "The Jain School of Mathematics" B.B. Datta, Bul. Cal. Math. Soc., vol XXI, 1929, pp. 115-145.

DT : "DHAVALA TIKA samanvitah SHATKHANDAGMA'i, by Virasenacarya, book 3, edited by Hiralal Jain, Amaroti (1941).

JSM : "On the Jain School of Mathematice", L. C. Jain, Chotelal Smriti Grantha, Calcutta (1667), pp. 265–292.

MD : Mathematies of Dhavala", A. N. Singh, Shat khandagama, vol. IV, Amarasoti, (1942), V–XXI.

RAC : The Role of the Axiom of choice in the development of the Abstract Theory of Sets", doctoral thesis by W. L. Zlot,

Where x is the number of cuts or sections.

If we start from the "Svayambhu ramanan' ocean, then the Oıder-number of the "Lavana" ocean would be (2w-1). As the first cut lies on the centre ol the Jambudvipa, the value of x is 2w. Substituting this value of x in (2.117), we have.

$$2^{2w-(2w-1)} - \frac{3}{2^{2w}} > 2^{2w-(2w-1)} - \frac{3}{2}$$

Or

$$2-\frac{3}{2^{2w}} > 2-\frac{3}{2} \quad \text{............} \quad (2{\cdot}118)$$

The result shows that the 2w th cut lies on the "lavana" ocean.

This cut or section lies at a distance of $\left(\frac{1}{2}+\frac{3}{2^{w}}\right)$ lacs of Yojanas inside the "Lavana" ocean from its out skirt.

Now on calculating the (2w+1) th cut, one gets

$1-\frac{3}{2(2w+1)}$ lacs of Yojanas which is greater than the radius of Jambudvipa. Thus the (2w+1) th cut also lies inside the "Lavana" ocean. This shows that two cuts lie inside the "Lavana" ocean. The next cut lies at a distance of $1\frac{1}{2}+\frac{3}{2(2w+1)}$ lacs of Yojanas inwards, from ihe outskirt of the ocean. It my be noted that n or 2w is some Asamkhyata number, therefor in the limit. $\frac{3}{2(2w+1)}$ my be ignored.

Thus after getting (2w+1) cuta of the Raju, $1-\frac{3}{2^{3w+1}}$ lacs of Yojanas of distance is left. The remaining argument may be seen from the test.

R has also been defined as follows :

$$\left[(\text{अं})^3\right]^{\left\{\frac{\log_2 \text{प}}{A}\right\}} = \text{श्रे} = 7R$$

.... (2·119)[24]

Where अं is the set of space-points in the specified finer width प is the set of instants contained in Palyopama period of time, and श्रे is the world-line or Jaga-sreni which is a set of space-point contained in a length of seven Rajus.

BECOMING-MEASURE—

The knowledge of the three foregoing measures is the Becoming measure or Bhave-pramana. Virasena, perhaps on the basis of traditional knowledge, has deserided this in an analytical form in details through the methods of cut (khandita), division (bhaita), spread (viralana) reduction (aphrita), measure (pramana), reason (karana), explanation (nirukti), and extra-creation (vikalpa)[25]

The method of vikalpa (abstraction or extracreation) is classified as adhastana vikalpa (lower-abstraction) and uparima vikalpa (higher abstraction) wher the use of the concepes of dharas (sequences) play roles, as muell as use is made of the logarithnrs to different bass.

An example regarding logarithrns is the equation.

$$\frac{(J)^2}{\left\{\log_n \left(\frac{J^2}{J\text{मि}}\right)\right\}} = J\,\text{मि}$$

...............(2·121)

3. APPENDIX

The following copy of a table from Artha Samdrishti chapter of Todaramala illustrate the symbolic expressions about measures of various types of sets relative to Fluent, Quarter, Time and Becoming measures.

24. Cf. TPG, p. 22.
25. Cf. DT, p, 40 et seq.

Columbia University 1957, Library of congress numbur Mic 57-2164.

RY : "REALITY" by S. A. Jain, (English translation of shri Pujyapadas 'SARVARTHASIDDHI'), Calcutta (1960)

TPG : "Tiloya Pannthi Ka Ganita", L.C. Jain, reprinted from introduction to 'JAMBUDIVAPANNATTI SAMGAHO', Sholapur (1958), pp. 1-104.

खण्ड 3

१५

पुष्पदन्त और सूरदास का कृष्णलीला चित्रण एक तुलनात्मक अध्ययन

□ डा० देवेन्द्रकुमार जैन

महाकवि पुष्पदन्त और सूरदास का समय, दार्शनिक मान्यतायें, भापा और यहां तक काव्य वस्तु भी विभिन्न है, फिर भी दोनों के कृष्ण-लीला वर्णन में मूलभूत समानताएं हैं। पुष्पदन्त अपभ्रंश के कवि हैं, जबकि सूरदास व्रज भापा के। एक का समय (१० वीं सदी का मध्य विन्दु) देशी राज्यों के बीच सत्ता संघर्ष का समय था, जवकि दूसरे का (१६ वीं सदी का उत्तरार्ध) मुगल सत्ता के उत्कर्ष का। एक ने अपने महापुराण की गिनी-चुनी सन्धियों में कृष्ण का वर्णन किया है, जवकि दूसरे ने सूर सागर में कृष्ण की समूची लीलाओं का गान किया है। श्रीमद् भागवत पर आधारित होते हुए भी सूर दसवें स्कन्ध में इन लीलाओं को इतना विस्तार कर डालते हैं कि वह एक स्वतन्त्र काव्य-सर्जना वन गई है।

'सूर सागर' में वर्णित कृष्ण लीलाओं के परम्परागत स्रोत के सम्बन्ध में अभी तक धारणा यह है कि विद्यापति पदावली और गीत गोवन्द से सूर ने प्रेरणा ग्रहण की। आचार्य शुक्ल का कहना है कि सूर के लीलागान की कोई पूर्व-परम्परा (चाहे वह मौखिक ही क्यों न हो) थी। पुष्पदन्त के महापुराण में वर्णित लीलाओं को देखकर सन्देह नहीं रह जाता कि ई० सदी दसवीं में कृष्ण की वाल और यौवन लीलाएं अपने नये सन्दर्भ में न केवल लोकप्रिय थीं, वरन् उन्हें भाषा काव्य में प्रवेश मिल चुका था। मोटे तौर पर, पुष्पदन्त कृष्ण की लीलाओं के साथ उनकी देवी (पौराणिक) लीलाओं का भी वर्णन करते हैं। ठीक उसी प्रकार जिस प्रकार सूर। यह नहीं कहा जा सकता कि प्रेरणा सूर ने पुष्पदन्त से सीधे ग्रहण की। फिर भी यह तो कहा जा सकता है कि दोनों के लीला वर्णन में कुछ न कुछ मूल समानता है और यदि यह कि पुष्पदन्त ने परम्परागत जैन कृष्ण नेमि पुराण में जो कुछ नई वातें जोडी वह लोकप्रियता के कारण। महापुराण की दो सन्धियों (८५-८६) में कृष्ण लीलाओं का ही मुख्य रूप वर्णन है। शेप सन्धियों में (८७-८८) में जरासन्ध और तीर्थंकर नेमिनाथ के प्रसंग में श्री कृष्ण का चरित्र आता है।

पुष्पदन्त के अनुसार श्रीकृष्ण का जन्म सामान्य समय से पहले, अर्थात् ७ वें माह में होता है और वह भी माता-पिता की वन्दी अवस्था में। यही कारण है कि मारने की इच्छा रखने वाला कंस उनके जन्म की वात नहीं जान पाता। वसुदेव नवजात वालक को गोद में उठाते हैं। वलराम उस पर छत्र की छाया करते हैं और एक देव, बैल

वनकर अपने सींगों से प्रकाश करता हैं। उन्हें डर है कि कहीं शत्रु को इसका पता न लग जाय। धीरे-धीरे वे तीनों चलते हैं बालक के अंगूठे के छू जाने से गोपुर का द्वार खुल जाता है। उग्रसेन यह जानना चाहते हैं कि यह बालक कौन है? परन्तु उन्हें यह बताकर की यह बालक उन्हें सुख देगा, वे आगे बढ़ जाते हैं अब मन्द-मन्द लहराती यमुना नदी उनके सामने हैं, कृष्ण की जैसे नीराजना करती हुई। कवि अपनी भावना, यमुना पर आरोपित कर वर्णन करता है:—

'गरुयरतु' तोउ रत्तंवरू।
णं परिहई चुय- कुसुमहिं कव्वरू॥
विणरि-थण सिहरई णं दावइ।
विष्म मेहिं णं संसऊ भावहि॥
फिणिमणि—किरणहिं णं उज्जोयइ।
कमलच्छिहिं णं कण्हु पलोयइ॥
मिसिणिपत्तथालेहिं सुणिम्मल।
उच्चाइय णं खल कण-तन्दुल॥
खलखलंति णं मंगलु घोसई।
णं माहवहु पक्खु सा पोसई॥
णउ का सुवि सामण्णहु अण्णहु।
अवसैं तूप्रइ जवण सवण्णहु॥
विहिं भाईहिं थक्कउ तीरिणिजलु।
णं थरणारि विहतंउ कज्जलु॥

यमुना नदी कृष्ण के प्रति इतनी भक्ति-विभोर हो जाय कि गेरू से रंगे जल के कपड़े पहन ले, गिरे हुए फूलों का जूड़ा बना ले, स्नान करती हुई किन्नरियों के स्तनों से अपना वात्सल्य दिखाए, लहरों के विलास से विभ्रम पैदा कर दे, नागराज की मणि किरणों से आलोक बिखेर दे, कमल की आंखों से देखे, कमलिनी के पत्तों पर जलकणों के चावलों से आरती उतारे और कृष्ण को मार्ग देने के लिए स्वयं दो टुकड़ों में बंट जाय।

सूर ने कृष्ण-जन्म की घटना को पौराणिक सन्दर्भ में लिया है। वहां कृष्ण योगमाया से देवकी के घर में आते हैं और जन्म के बाद वसुदेव से कह देते हैं कि वह उन्हें गोकुल पहुंचा दें।

"अहो वसुदेव जाहु लै गोकुल
तुम हो परम सभागे।"

वसुदेव गोद में ले जाते हैं और शेष नाग उन पर अपने फनों से छाया करता है। वह सीधे नन्द के घर पहुंच कर कन्या से विनिमय कर मथुरा वापस आ जाते हैं। वचन के अनुसार वह कन्या कंस को सौंप दी जाती है। पुष्पदन्त ने इस प्रसंग को एक दम बल दिया है। उसके मूल में तत्कालीन लोक-विश्वास सक्रिय है। उनके अनुसार यमुना पार करते ही बलराम को नन्द मिलते हैं। उनके साथ में नवजात कन्या है पूछने पर वह बताते है कि उनकी पत्नी यशोदा ने लड़के की मनौती की थी परन्तु हुई लड़की। वह उसे वापिस करने जा रहे हैं। देवी लड़का देगी तो ठीक नहीं तो उसकी लड़की उसे वापिस। बलराम अवसर का लाभ उठाते हुए कहते हैं—लो, यह लड़का। यह देवी ने तुम्हें भेजा हैं और लड़की मुझे दो। वह लड़की लेकर चले जाते हैं। यहां भी लड़की कंस को दे दी जाती है। कंस उसके नाक-कान काटकर तल घर में डाल देता है। कन्या बाद में साध्वी बन जाती है लेकिन वह कृष्ण जन्म की सूचना नहीं देती जबकि सूर सागर में जैसे ही कंस कन्या को पछाड़ता है, वह कृष्ण जन्म की सूचना दे देती है। महापुराण में कंस को कृष्ण-जन्म का पता वरुण ज्योतिषी से बहुत बाद में चलता है। इसमें संदेह नहीं कि महापुराण और सूरसागर में कृष्ण जन्म की आलौकिक पृष्ठभूमि और परिस्थितियां समान

रूप से वर्णित है परन्तु उसके कारण अलग-अलग है।

"महापुराण" में कृष्ण की बाल लीलाओं के दो भाग है : मानवी लीलाएं, देवी लीलाएं, बाल-पन की लीलाएं जैसे धूलधूसरित बालक का गोपियों का हृदय चुराना, मथानी पकड़ लेना, मन्दिर तोड़ लेना, अर्धवेलिया दही बिखेर देना, गोपियों का पकड़ना और मथानी तोड़ने के बदले आलिंगन मांगना या दिन भर आंगन की कैद।

कृष्ण शरीर की श्याम छाया से गोपी का सफेद वस्त्र काला होना, उसे धोने के प्रयास में सहेलियों हंसी का पात्र बनना, कभी भैंस का पाड़ा पकड़ना, और कभी गाय का बछड़ा। यशोदा का (गुंजाभे दुय-रइअपयोगे) मूंगों की गेंद बताकर उसे छुडाना बालक का मक्खन खाना और उसे पास पाकर गोपियों का घर के काम में मन न लगना।

भद्दइ नियडि विर घरयम्मु ण।
लग्गइ वारिहि ॥ (८५।६)

पुष्पदन्त ने जिसे प्रयोग कहा है, सूरदास ने बाल-विनोद के वर्णन में ऐसे कई-प्रयोगों का उल्लेख किया है।

घी के बर्तन में अपना प्रतिविम्ब देखकर कृष्ण उसे बुलाते हैं। यह देखकर नन्द यशोदा आपस में हंसते हैं :

"घयभायणि अवलोइवि भावइ।
णिय पडि बिम्बू विट्ठ वोल्लावइ।
हसइ णंदु लेप्पिणु अवरूंडइ।
तहु उरयलु परमेसरू मन्डइ।
इसी तथ्य को शब्दों में देखिये :
"माखनखात हंसत किलकत हरि
स्वच्छ घट देख्यों।
निज प्रतिविम्ब निरखि रिस मानत
जानत आन परेख्यो ॥"

दूसरी लीलाएं देवी लीलाएं जिनमें से कृष्ण का आलौकिक व्यक्तित्व उभर कर आता है। "सूर सागर" में चूंकि कृष्ण जन्म की खबर कंस को बालिका से लग जाती है अतः उसमें ये घट-नाएं प्रारम्भ से ही होने लगती हैं। महापुराण में कंस को कृष्ण के जन्म की बात उस समय ज्ञात होती है जब उनका पुण्य प्रताप बढ़ चुका होता है। कंस दुस्वप्न देखता है। उसका फल देखने पर उसका ज्योतिष वरूण उसे कृष्ण जन्म की सूचना देता है। वह पूतना को भेजता है, कृष्ण उसका रक्त मांस चूस लेते हैं। वह भाग खड़ी होती है, फिर नहीं आती है। एक दूसरे दिन बालक जब अपनी स्वाभाविक क्रीड़ा में लीन रहता हैं तब शकटाकार बना कर देवी आती है और मुंह की खाती है। मां ऊखल से बालक को बांध कर यमुना किनारे चली जाती है। बालक उसके पीछे लगता है, एक राक्षस वृक्ष फेकता है जो उसकी बाहुओं से टकरा-कर नष्ट हो जाता है।

एक गधी और अश्व आते हैं, दोनों पराजित होते है। पनिहारिनें यशोदा को सब बाते बताती हैं। वह घबड़ाकर आती है और हाथ फेरकर देखती है कि कहीं बालक को चोट तो नहीं है ? उसका बन्धन खोल देती है। बालक अरिष्ट को पछाड़ता है और उसकी कीर्ति सारी गोकुल बस्ती में फैल जाती है। मां को जब मालूम होता है तो वह कुढ़ती है. सोचती है कि कोख से बालक नहीं—राक्षस पैदा हुआ है। लोग तमाशा देखते हैं और मेरा लाल अकेला ही संकट से भिड़ जाता है। वह उसे नंद-गोठ ले जाती है। कृष्ण को मथुरा बुलाने

के लिये कंस अपनी कन्या के स्वयंवर का ढोंग रचता है। जरासंघ के पुत्रों के साथ कृष्ण भी हो लेते हैं। वर्षा में गोर्वधन उठाने से उनकी कीर्ति दूर-दूर तक फैल जाती है। भानु सुभानु के साथ कृष्ण मथुरा जाते हैं। वे स्वयंवर की तीनों बातें कर देते हैं। कंस उन्हें मारने दौड़ता है। बलराम सब बात नन्द को बताते है। नंद वहां से हटकर नंद गोठ की स्थापना करता है। कंस वहां भी पीछा नहीं छोड़ता। इन्दीवर चयन और चाणूर-वध के बाद वह कंस का काम तमाम करता है। आकाश के फूलों की वर्षा होती है। एक उद्धारकर्त्ता के रूप में उनकी सब ओर प्रशंसा होती है।

सूर सागर में ये घटनाएं न केवल विस्तार से आती है, अपितु इससे कुछ अधिक घटनाएं आती हैं। उदाहरण के लिये उसमें कनछेदन आदि संस्कार, बालक की दैनिक चर्या, बालहठ आदि बातें विस्तार से आती हैं। इसके दो कारण है, एक तो सूर सागर में स्थान अधिक है। दूसरे कवि अपनी प्रभु भक्ति की रसात्मक अनुभूति के लिए उन्हें विस्तार देता है।

पुष्पदंत ने बाल लीलाओं का ही प्रत्यक्ष वर्णन किया है। यौवन लीलाओं का वर्णन उन्होंने जान बूझकर नहीं किया। लेकिन इन लीलाओं की जानकारी उन्हें थी। पुष्पदन्त राक्षस द्वारा दो वृक्षों के गिराये जाने की बात तो करते हैं, पर वे हिन्दू पुराणों की उस मान्यता का उल्लेख नहीं करते, जिसके अनुसार उलूखल वाली घटना का सम्बन्ध कुबेर के बेटे, यमलार्जुन के उद्धार से है। सूरसागर में यशोदा पुष्पदंत की तरह बाहर नहीं जाती, घर में ही रहती, कृष्ण चुपके से निकल जाते है। इसी प्रकार पुष्पदंत बाल विनोदों के उपरांत घटित होने वाली श्रृंगार लीलाओं के वर्णन के विषय में मौन हैं। कुछ हिन्दू पुराणों में वर्णित दैवी घटनाओं का वर्णन भी इसमें नहीं है। लेकिन कस द्वारा "कालिया दह" से कमल लाकर देने की घटना का वर्णन दोनों करते हैं। कंस का यह आदेश सुनकर दोनों की प्रतिक्रिया एक सी होती है। पुष्पदंत के नंद की प्रतिक्रिया यह है :

"ता णंदु कवइ—सिरकमलु धुवइ
जहि दीप सरणु तहि ढुक्कु मरणु
जहि राउ हणइ अण्णऊ कुणइ
कि घरइ अण्णु तहि विगमगण्णु
हउ काइ करमि लइ जामि भरमि।

इसी घटना का आभास सूर की यशोदा को अपशकुनों से होता है। वह चौंक जाती हैं। वह और नंद करे तो करें क्या ? कभी घर के भीतर है और कभी बाहर।

"खन भीतर खन आंगन ठाड़े,
खन बाहर देखत है जाइ।"

महापुराण के वर्णन-क्रम से सूरसागर के वर्णन-क्रम में मुख्य महत्वपूर्ण अन्तर यह है कि एक में कृष्ण जरासंघ के पुत्र भानु-सुभानु के अनुचर बनकर जाते हैं, जहां कंस की कन्या के स्वयंबर की तीनों शर्तों (नागशमन, शंख और धनुष) को पूरा कर देते है। कंश अपने शत्रु को पहिचान लेता है और उसके ससैन्य वध की योजना बनाता है। बलराम यह बात नंद को बताते हैं। नंद सुरया की दृष्टि से दूसरी बस्ती बताते है—"नंदगोकुल" कंस पीछा नहीं छोड़ता। वह यमुना के कमल लाने का आदेश भेजता है। इसकी नंद पर गहरी प्रतिक्रिया होती है। कृष्ण न केवल कमल तोड़कर लाते है, प्रत्युत हाथी और चाणूर के का भी काम तमाम कर देते है। आकाश से कुसुम वृष्टि के बीच

श्रीकृष्ण का अपने कुल के उद्धारक के रूप में अभिनन्दन किया जाता है। उग्रसेन को मथुरा के राज्य पर स्थापित कर वह थौरीपुर जाने का निश्चय करते हैं। "सूरसागर" में कंस, कृष्ण को लेने के लिए अक्रूर को भेजता है। कृष्ण के साथ केवल नंद जाते हैं—यशोदा और दूसरी गोपियां नहीं जाती है। देवकार्य (कंस वध) होने के बाद भी, जब कृष्ण वृन्दावन नहीं जाते तो नन्द लौट आते हैं। कृष्ण के बिना उनकी इस वापसी पर यशोदा और गोपियों पर गहरी प्रतिक्रिया होती है। बाद में कृष्ण कुशल संदेश देने के लिए उद्धव को भेजते हैं। उद्धव से निर्गुण साधना का उपदेश सुनकर गोपियों को गहरा आघात लगता है। वे उसका कड़ा विरोध विरोध करती है और इस प्रकार प्रेमभक्ति के समर्थन में उपालम्भ प्रधान एक नया आख्यान चल पड़ता है। उद्धव, कुब्जा और राधा उसके प्रमुख पात्र या कोण है। पुष्पदंत के कृष्ण काव्य में उनका अभाव है। उनके अनुसार कृष्ण के साथ ग्वाल बाल सहित नन्द यशोदा भी मथुरा में जाते हैं। थोरीपुर जाने के पहले वे सब की कामनाएँ पूरी कर बिदाई देते हैं। वह स्वीकारते हैं कि नन्द यशोदा का उन पर बहुत बड़ा उपकार है कि वे उसे भूल नहीं सकते—

"इय गोवीयण वयणइं सुणंतु
कीलइ परमेसरू दर हसंतु
संभासियऊ मेल्लिवि गव्वनाऊ
इह जन्महु महु तुहुं तायताउ
परिपालिउ थण थणणेण जाइं
कीसरमि न खणु भि जसोइमाइ
कइवय दियहिइ तुहुं जाहि ताम
पडिवक्ख कुलक्खऊ करभि जाय।"

इस प्रकार, गोपीजनों की बातें सुनते और कुछ हंसते हुए परमेसरु क्रीडा करते रहे। बाद में गर्व-भाव छोड़ कर उन्होंने कहा—"इस जन्म में आप मेरे तात हैं। मैं यशोदा माता को एक क्षण के लिए भी नही भूल सकता, जिसने स्तन का दूध पिलाकर मुझे पाला है। कुछ दिनों के लिए आप लोग चले जांय, तब तक मैं शत्रुओं का नाश कर लूं।

कृष्ण की कृतज्ञता के इस स्वर की अनुगंज सूर सागर में कहां सुनाई देती है, जब उद्धव को संदेश देते हुए कृष्ण कहते हैं

"ऊधो मोंहि ब्रज विसरत नाहीं
प्रात समय माता जसुमति
अरू नंद देखि सुख पावत
माखन रोटी दही सजायो
अति हित साथ खवावत।"
"अनगन भांति करी बहुलीला
जसुदा नंद निबाहीं"

ऊपर कहा जा चुका है कि गोपियों की बातें सुनकर कृष्ण कुछ मुसकाते रहे। आखिर ये वचन क्या थे। वास्तव में इन वचनों के बहाने पुष्पदन्त ने अपने कौशल से कृष्ण की संयोग लीलाओं की झलक दे दी है। मथुरा में ही कुछ दिनों तक कृष्ण के साथ रति क्रीडा (रइ कीलिरेहिं) करने वाली गोपियां उनसे कहती है—

कइ वय दियहहिं रइ कीलिरीहिं।
कोल्लावाउ पहु गोवालिणीहिं॥
पंगुत्तउं पइं माहव सुहिल्लु।
कालिंदि-तीरि मेरउं कहिल्लु।
एवहिं महुरा-कासिणिहिं रत्तु।
महुं उपरि दोसहि अथिर चित्तु।
कवि भणइ दहिउ मंथंति यादू।
तुहुं मइं धरियउ उब्भंतियाइ।

लवणीय वित्तु करू तुज्झलग्गु ।
कवि भणइ पलोयइ भज्भु भग्गु ।
तुहुं णिसि नारायण सुयहिं णाहिं ।
आलिंगिउ अवरहिं गोवियाहिं ।
सो सुयरहि किण पउण्णवंछु ।
संकेय कुडं गुडीडण रिछु ।

घत्ता कावि भणइ वासन्तु उद्ध रिवि खीरभिगारउ ।
किं वीसरियउ अज्जु जं मइं सित्तु भडारउ ।।
(८६।१०)

हे माधव ! तुमने यमुना के किनारे मेरे कटि-वस्त्र का अपहरण किया था और अब मथुरा की स्त्रियों पर तुम अनुरक्त हो, हम से तुम्हारा मन फट गया है । कोई कहती है—

दही मथते मैंने तुम्हें पकड लिया था और तुम्हारा मक्खन लिपटा हाथ मुझे लग गया था । कोई कहती—

तुम मेरा मार्ग देखो, रात तुम सो नहीं सके, दूसरी गोपियों ने तुम्हारा आलिंगन किया है । तुम्हारा रतिमुख से मन नहीं भरा और तुम संकेत विटप के पास जाने को उत्सुक हो ।
कोई कहती—

क्या तुम भूल गए, जब मैंने दूध के फूटे बर्तन से तुम्हारा अभिषेक किया था ।

यह वचन स्वयं बताते हैं कि पुष्पदन्त को कृष्ण की संयोग लीला कहानी का पूरा और गहरा परिचय था । इतना ही नहीं—उन्होंने कृष्ण को एक जगह राधिका रमण-अर्थात् राधा का प्रिय कहकर (८८।१४) राधा से उनके सम्बन्ध का भी बोध करा दिया है । इन सूत्रों को जोड़ देने से कृष्ण की गोपियों और विशेष रूप से राधा के साथ प्रणय लीलाओं का चित्र हमारे सामने खिंच जाता है और भारतीय साहित्य में वर्णित पूर्व सूर-लीलाओं का लिखित प्रामाणिक सूत्र मिल जाता है—

तणक्य वलय–विहुसिय–कस
वण–कणियारि- कुसुम–रय–पिंजरू ।
ससुसिर वेणु–सद्द–मोह्यि—जणु
धरणि—धाउ—मण्डिय तणु ।
कूर—णिवन्धण—वेढ़िय—कन्दलु
कन्दल—पोसिय—महिसी—दलु ।

घत्ता—
गुंजा–हल–जडिय–दंडय–विहत्यु संचिल्लउ ।
महिवह–तणु–रूहेण आसण्णु पढुक्कु वोल्लिउ ।
(८५।१६)

और यह कहा जा सकता है कि अपनी दार्शनिक और पौराणिक भिन्नताओं के होते हुए भी—दोनों कंस के सन्दर्भ में कृष्ण जन्म की पूर्व पृष्ठ भूमि स्वीकार करते हैं । दोनों मानते हैं कि कृष्ण का जन्म असाधारण परिस्थितियों में हुआ, उनका अधिकांश जीवन लोक धर्म और राजनैतिक समाज व्यवस्था के सिद्धान्तों की स्थापना में हुआ । कृष्ण का प्रारंभिक व्यक्तित्व चाहे जो रहा हो परन्तु मानवलीलाओं के मिश्रण से उनका व्यक्तित्व मनुष्य की बाल और यौवन लीलाओं की अभिव्यक्ति का प्रतीक बन गया और इस प्रकार उनके व्यक्तित्व भी अन्तिम परिणति सामान्य लोक जीवन की सुख दुःखमय घटनाओं से जुड़ जाती है । वात्सल्य और शृंगार का ऐसा नायक कि जो सबके हृदय को छू सके, जो सब में रम सके, और सबको रमा सके, विश्व साहित्य में दूसरा नहीं मिल सकता । जैन दार्शनिक दृष्टि से कृष्ण की ये लीलाएं राग मूलक अथवा प्रवृत्ति मूलक मानी जायेगी परन्तु हिन्दू दर्शन के अनुसार कृष्ण अवतार होने से इनमें व्यक्तिगत रूप से लिप्त

१६

मध्यकाल के राजस्थानी जैन काव्यों का वर्गीकरण

डा० देव कोठारी

जैन साहित्य के निर्माण एवं सुरक्षा की दृष्टि से राजस्थान प्रदेश का वातावरण सर्वाधिक अनुकूल रहा है। यहां के जैन शास्त्र भण्डारों में प्राकृत अपभ्रंश, संस्कृत, राजस्थानी, हिन्दी आदि भाषाओं में लिपिबद्ध रूपात्मक तथा विषयात्मक विपुल हस्तलिखित साहित्य इसका पुष्ट एवं प्रबल प्रमाण है।

किन्तु मध्यकाल में यहां जितना अधिक जैन सर्जित हुआ, उतना अन्य किसी शताब्दी में नहीं हुआ। उस विपुल साहित्य में भी राजस्थानी भाषा में जैन काव्यों की रचना अत्यधिक परिमाण में हुई। वास्तव में यह काल राजस्थानी जैन काव्य के निर्माण का स्वर्णकाल था। राजस्थानी के अधिकतर उत्कृष्ट जैन कवि इसी काल में हुए तो काव्य सौष्ठव की दृष्टि से भी सर्वश्रेष्ठ राजस्थानी जैन काव्य इसी अवधि में लिखे गये। इस काल के राजस्थानी के प्रसिद्ध जैन कवियों में हेमरत्नसूरी, उपाध्याय जयसोम, सारंग, उपाध्याय गुणविनय, महोपाध्याय समयसुन्दर पुण्यकीर्ति, भुवनकीर्ति, जिनोदयसूरि, जिनराजसूरि, केशराज, जटमल, महोपाध्याय लब्धोदय, सहजकीर्ति, श्रीसार, कनककीर्ति, उपाध्याय कुशलधीर, जिनसमुद्रसूरि, त्रीकममुनि, जयरंग, लक्ष्मीवल्लभ, उपाध्याय लाभवर्द्धन, समयप्रमोद, कनकसुन्दर, महिमसुन्दर, लावण्यकीर्ति, जिनरंगसूरि, कांतिविजय, जयसोम तपागच्छी,य महिमोदय, धर्ममन्दिर, कनकनिधान, लोहट, खेतल, घनानन्द आदि प्रमुख है। इनकी राजस्थानी जैन काव्य रचनायें सैंकडों की संख्या में विविध जैन और जैनेतर ग्रन्थ भण्डारों में सुरक्षित हैं। ये रचना प्रबन्ध और मुक्तक दो रूपों में पाई जाती हैं —

प्रबन्ध काव्य

राजस्थानी के जैन प्रबन्ध काव्यों में महाकाव्य और खण्डकाव्य दोनों सम्मिलित हैं। इन काव्यों के नामकरण काव्य की नायक-नायिका अथवा कथा वस्तु में जैन धर्म के मुख्य चर्चित सिद्धांत के अनुसार या काव्य की प्रमुख प्रवृत्ति के आधार पर हुआ है। ये जैन प्रबन्ध काव्य रस, चौपाई, वेलि, फागु, चर्चरी, चरित, सन्धि, धवल, बारहमासा, विवाहलो, प्रवाड़ा, प्रबन्ध आदि काव्य-रूपों में सर्जित हैं।

किन्तु मध्यकाल में 'रास' काव्य के स्वरूप और शैली में व्यापक परिवर्तन हो गया। लोकगीतों की देशियों तथा दोहों का प्रयोग इस अवधि के रासो काव्य में अधिक हुआ। किसी-किसी रास में चौपाई छन्द का प्रयोग भी किया गया, फलस्वरूप रासो को चतुष्पदी या चौपाई सज्ञा से भी अभिहित किया जाने लगा। कुछ ऐसी रचनाएं भी उपलब्ध होती हैं, जिनमें चौपाई छन्द का प्रयोग नहीं किया गया है, फिर भी उनका नामकरण 'चौपाई' के नाम से किया गया है। ऐसी रचनाएं आगे चल

कर चरित काव्यादि के लिये रूढ़ हो गई। परिणाम यह हुआ कि रास व चौपाई में कुछ विशेष अन्तर नहीं रह गया और एक ही प्रकार की रचना को किसी ने रास तो किसी ने चौपाई के नाम से संबोधित किया।

इसी प्रकार 'सन्धि' शब्द अपभ्रंश काव्यों में अध्याय अथवा सर्ग के लिये प्रयुक्त होता था किन्तु आलोच्यकाल में जब अपभ्रंश में सृजन कार्य अत्यन्त सीमित हो गया तो सन्धि शब्द राजस्थानी जैन काव्यों में प्रबन्ध काव्य के लिये रूढ़ हो गया। इस काल में फागु, विवाहलो, चर्चरी, प्रवाड़ आदि संज्ञक रचनाओं का निर्माण कम हुआ परन्तु रासो व चौपाई की तरह वेलि नामान्त रचनाएं काफी संख्या में लिखी गई। इस अवधि में पाये जाने वाले प्रबन्ध काव्यों का विषयानुसार वर्गीकरण इस प्रकार किया जा सकता है :—

(क) धार्मिक व पौराणिक प्रबन्ध काव्य।

(ख) ऐतिहासिक प्रबन्ध काव्य

(ग) उपदेशात्मक प्रबन्ध काव्य

(घ) कथात्मक प्रबन्ध काव्य

(ङ०) प्रेमव्यंजनामूलक प्रबन्ध काव्य

धार्मिक व पौराणिक प्रबन्ध काव्य

इस वर्गीकरण के अन्तर्गत धार्मिक व पौराणिक आख्यानों से सम्बन्धित प्रबन्धकाव्य आते हैं। अधिकांश प्रबन्ध काव्य रामायण महाभारत एवं अन्य कथानकों से सम्बन्धित है। इनकी कथावस्तु जैन धर्म की मान्यता के अनुरूप गुम्फित है। उदाहरणार्थ कतिपय ऐसे प्रबन्ध काव्य इस प्रकार हैं।

नाम कृति	कर्त्ता	रचनाकाल
१. अञ्जना सुन्दरी रास[1]	उपाध्याय गुणविनय	वि० सं० १६६२
२. नल दमयन्ती प्रबन्ध[2]	,, ,,	वि० सं० १६६५
३. सीताराम चौपाई[3]	महोपाध्याय समयसुन्दर	वि० सं० १६७७
४. रामयशो रसायणरास[4]	केशराज	वि० सं० १६८३
५. हरिचन्द रास (चोपाई)[5]	महोपाध्याय सहजकीर्ति	वि० सं० १६९७
६. द्रोपदी चौपाई[6]	विनय मेरू	वि० सं० १६९८
७. रूकमणी चरित[7]	जिनसमुद्रसूरि	—

१. बड़ा उपाश्रम, बीकानेर हस्तलिखित प्रति. ग्रन्थांक १०३१
२. जैन गूर्जर कविओं, भाग—३ खण्ड १, पृ० ८३२
६. अभय जैन ग्रन्थालय, बीकानेर, ग्रन्थांक ४४०१
४. जैन गूर्जर कविओं; भाग—३ खण्ड—१ पृ० १०१५
५. अभय जैन ग्रन्थालय, बीकानेर, ग्रन्थांक ३७००
६, परम्परा (त्रैमासिक) भाग १५–१६, पृ० ८१
७. राजस्थानी (त्रैमासिक) भाग २, पृ० ४७

८. मोह विवेक रास[8]	धर्म मन्दिर	वि० सं० १७४१
९. परमात्म प्रकाश चौपाई[9]	" "	वि० सं० १७४२

एतिहासिक प्रबन्ध काव्य

ऐतिहासिक प्रबन्ध काव्य जैन धर्म के प्रभावक आचार्यों व जैन संघ के प्रमुख श्रावकों से सम्बन्धित है। इनमें से ऐसे प्रभावक आचार्यों व श्रावकों के प्रमुख कार्यों का अंकन किया गया है, ताकि भावी पीढ़ी उनसे प्रेरणा ग्रहण कर सके, ऐसे कुछ प्रबन्ध काव्य निम्न है—

१. कर्मचन्द वंशावलीरास[10]	उपाध्यायगुण विनय	वि० सं० १६५६
२. जिनचन्द्रसूरि निर्वाण रास[11]	समय प्रमोद	वि० सं० १६७०
३. संघपति सोमजी निर्वाणवेलि[12]	समय सुन्दर	वि० सं० १६७० के बाद
४. विजयसेन सूरि निर्वाण स्वा[13]	गुणविजय	वि० स० १६८३
५. सुजस वेलि[14]	कांतिविजय	वि० सं० १७४४ के लगभग

उपदेशात्मक प्रबन्ध काव्य

जैन धर्म की मान्यताओं व सिद्धान्तों को उपदेशात्मक तरीके से इन प्रबन्ध काव्यों में प्रस्तुत किया गया है। कतिपय ऐसे प्रबन्ध काव्य निम्नलिखित है—

१. बारह व्रत रास[15]	उप० गुणविनय	वि० सं० १६५५
२. चार कषाय वेलि[16]	विद्याकीर्ति	वि० सं० १६७० के लगभग
३. वृहद्गर्भ वेलि[17]	रत्नाकरगणि	वि० सं० १६८०
४. पंचगति वेलि[18]	हर्षकीर्त्ति	वि० सं० १६८०
५. बारह भावना वेलि[19]	जयसोम	वि० सं० १७०३

---

८. हस्तलिखित ग्रन्थों की सूची (जोधपुर), भाग १, पृ० २१६
९. जैन गूर्जर कविओं, भाग–२, पृ० २४०
१०. वही, भाग–३, खण्ड १, पृ० ८३० ११. वही, पृ० ८९८
१२. समयसुन्दर कृति कुसुमांजली, पृ० ४१५– १७
१३. जैन गूर्जर कविओं, भाग–१, पृ० ५२१ १४. वही, भाग-६, खण्ड–२, पृ० १२०९
१५. जैन गूर्जर कविओ, भाग ६, खण्ड १, पृ० ८२९
१६. अभय जैन ग्रन्थालय, बीकानेर ग्रन्थांक ८६२९
१७. ओरियन्टल रिसर्च इन्स्टीट्यूट, वड़ौदा, ग्रन्थांक १९१९०
१८. दिगम्बर जैन मन्दिर ठोलिया, जयपुर,
१९. अभय जैन ग्रन्थालय, बीकानेर, ग्रन्थांक ८५८६

६. धर्मवुद्धि पापवुद्धि चौपाई[२०]	लाभवर्द्धन	वि० सं० १७४२

कथात्मक प्रवन्ध काव्य

कथात्मक प्रवन्ध काव्य जैन धर्म के तीर्थकरों की जीवन कथाओं से सम्वन्धित है। प्रसंगानुसार तीर्थकरों के जीवन व पूर्वभव की अन्य कथाओं का उल्लेख भी इनमें किया गया है। उदाहरण स्वरूप कुछ कथानक प्रवन्ध काव्य निम्न हैं—

१. वर्द्धमान जिन वेलि[२१]	सकलचन्द	वि० सं० १६४३–६०
२. पार्श्वनाथ गुण वेलि[२२]	जिनराजसूरि	वि० सं० १६८९
३. पार्श्वनाथ रास[२३]	जिनसमुद्रसूरि	वि० सं० १७१३
४. गुणसागर पृथ्वीवेलि[२४]	गुणसागर	वि० सं० १७२४
४. आदिनाथ वेलि[५]	भट्टारक धर्मचन्द	वि० सं० १७३०

प्रेमव्यंजनामूलक प्रवन्धकाव्य

इस श्रेणि के प्रवन्ध काव्यों के कथानक प्रेमव्यंजनामूलक है। नायक-नायिका की प्रेमाभिव्यक्ति और एक-दूसरे को प्राप्त करने के प्रयास में आने वाले संघर्षो का मुख्य रूप से इनमें चित्रण किया गया है। अन्त में नायक नायिका के आत्मोद्धार का उल्लेख भी हुआ है। कथानक अधिकांशतः जैन धर्म की लौकिक व पौराणिक कथाओं से सम्वन्धित है। अन्य प्रेम कथानकों से युक्त काव्य भी मिलते हैं। उदाहरण इस प्रकार है।

१. मृगावती रास[२६]	समय सुन्दर	वि० सं० १६६८
२. सिंहलसुत चौपाई[२७]	,,	वि० सं० १६७२
३. पुण्यसार चौपाई[२८]	,,	वि० सं० १६७३

२०. राजस्थान प्राच्यविद्या प्रतिष्ठान, जोधपुर, ग्रन्थांक ४०५९

२१. लालभाई दलपत भाई भारतीय संस्कृति विद्यामन्दिर, अहमदावाद के कस्तूरभाई मणिभाई के संग्रह में सुरक्षित, ग्रन्थांक ११३१

२२. जैन गूर्जर कविओ, भाग ३, खण्ड १, पृ० १०४९

२३ परम्परा (त्रैमासिक), भाग १५, १६ पृ० ९५

२४. डा० नरेन्द्र भानावत, राजस्थानी वेलि साहित्य, पृ० ३४०

२५. वही, पृ० २३४–३५

२६. डा० रामगोपाल गोयल–राजस्थानी प्रेमाख्यान: परम्परा और प्रगति, पृ० ४८

२७. भंवरलाल नाहटा-समयसुन्दर रास पंचक, पृ० १-२४

२८. वही, पृ० १२०–१४८

४. लीलावती चौपाई[२९]	हेमरत्न	वि० सं० १६७३
५. पद्‌मिनी चरित चौपाई[३०]	लब्धोदय	वि० सं० १६८०
६. गोराबादल चौपाई[३१]	जटमल	वि० सं० १६८०
७. प्रेमविलास प्रेमलता चौपाई[३२]	जटमल	वि० सं० १६९३
८. लीलावती चौपाई[३४]	लाभवर्द्धन	वि० सं० १७४२

मुक्तक काव्य

राजस्थानी जैन प्रबन्ध काव्यों की तरह राजस्थानी जैन मुक्तक काव्य भी मध्यकाल में सँख्या, रूप एवं विषय-वैविध्य की दृष्टि से अपरिमित प्राप्त होते हैं। प्रायः समस्त मुक्तक काव्यों का मूलस्वर धर्म व नैतिक जीवन के उत्थान के साथ-साथ आत्म कल्याण की अटूट भावना है। फ़लस्वरूप यह काव्य शान्त रसात्मक भक्ति का अंग बन गया है। औपदेशिक प्रवृत्ति भी इनमें उपलब्ध होती है। किन्तु उसका स्वर भी भक्ति प्रधान ही है। इस कारण इन मुक्तक काव्यों को कण्ठस्थ करने की सामान्य प्रवृत्ति जैन समाज में रही है। मन्दिरों में पूजा, उत्सव एवं अन्य मांगलिक अवसरों पर तन्मयता के साथ तथा भाव विभोर होकर विभिन्न देशियों में गाना इनकी मुख्य विशेषता है। इनमें रचनाकाल का उल्लेख अत्यल्प पाया जाता है। अतः इन रचनाओं का निर्माण कारण कवि-समय ही मानना उपयुक्त रहता है।

रचनात्मक वर्गीकरण

मध्यकाल में रचित राजस्थानी जैन मुक्तक काव्य बारह प्रकार के विभिन्न काव्य-रूपों में उपलब्ध होता है, यथा—

(१) संख्यामूलक मुक्तक काव्य

ये वे मुक्तक काव्य है, जिसके नाम पद्यों की संख्या सूचक होते हैं। अर्थात् जिनका नामकरण उस रचना की कुल पद्य संख्या की ओर संकेत करता हुआ होता है, जैसे—

पंचक, अष्टक, नवरसा, बीसी, इक्कीसी, चौबीसी, पच्चीसा, इकतीसी, बत्तीसी, छत्तीसी, चालीसी, पच्चासा, बावनी, सत्तरी, पिचहत्तरी, छिहत्तरी, शतक (सईक), सतसई, हजारा, मातृका, कक्का आदि।

छन्दमूलक मुक्तक काव्य

विशिष्टि छन्दों में लिखे गये मुक्तक काव्य छन्दमूलक मुक्तक काव्य की श्रेणी में आते हैं। ऐसे काव्य, छन्द के नाम से ही अभिहित किये जाते हैं। उदाहरणार्थ-निसांणी, गजल, छन्द, छप्पय, कुण्डलिया, लावणी, दोहा, गीत, ढाल, ढालिया

---

२९. राजस्थान प्राच्य विद्या प्रतिष्ठान, जोधपुर ग्रन्थांक ३५००
३०. भंवरलाल नाहटा-पद्‌मिनी चरित चौपाई, पृ० १-१०८
३१. वही, पृ० १८२–२०८
३२. जैन गूर्जर कविओं, भाग ३, खण्ड १, पृ० ४०१३
३३. अभय जैन ग्रन्थालय, बीकानेर, ग्रन्थांक ४०१३

आदि। इसमें ढाल व ढालिया जैन कवियों का प्रिय विशिष्ट छन्द है।

(३) वन्दनामूलक मुक्तक काव्य

जिन राजस्थानी जैन मुक्तक काव्यों के द्वारा परमात्मा, तीर्थंकर' अर्हत्, साधु, मूर्ति, देवी-देवता आदि की स्तुति या वन्दना की जाती है, वे रूप इस में सम्मिलित किये जा सकते हैं—यथा-स्तुति, स्तव, स्तवन. स्तोत्र, थूई, पूजा, वन्दना, नमस्कार, पारणा, गंडूली, कलश, प्रभाती, सांझी, अभिषेक, ध्रुपद आदि।

(४) बुद्धिपरीक्षा मूलक मुक्तक काव्य

इस प्रकार के राजस्थानी जैन मुक्तक काव्यों को विभिन्न प्रकार से बुद्धि की परीक्षा, विकास या मनोरंजन करने के उद्देश्य से लिखा जाता हैं, जैसे—हीयाली (पहेलिका), गूढ़ा, समस्या, सिलोका आदि)

(५ उपदेशमूलक मुक्तक काव्य

इस प्रकार का मुक्तक काव्य समाज में लोगों को उपदेश देकर सही आचरण करने की प्रेरणा देने के उद्देश्य से लिखा जाता है, उदाहरणार्थ उपदेशी, सीख, बोल, थोकड़ा संज्ञक रचनाएं इसी श्रेणी में आती है।

(६) संवादमूलक मुक्तक काव्य

ऐसी रचनाओं में दो वस्तुओं के मध्य चाहे विवाद हो अथवा न हो, इसको गौण मानते हुए एक वस्तु का दूसरी वस्तु से गुण, अवगुण, महत्त्व और हीनता का संवादात्मक काव्य रूप में वर्णन होता है। संवाद, वाद, झगड़ों आदि संज्ञक रचनाएं इसी श्रेणी में आती हैं।

(७) मंगलमूलक मुक्तक काव्य

मांगलिक अवसरों पर गाई जाने वाली रचनाएं इसी काव्य रूप के अन्तर्गत आती है। वधावा या वधावणा के रूप में ये उपलब्ध होती है।

(८) तीर्थयात्रा मूलक मुक्तक काव्य

धार्मिक तीर्थों, उनकी यात्राओं, संघ-वर्णनों आदि से सम्बन्धित काव्य इस रूप के अन्तर्गत सम्मिलित किया जा सकता हैं, यथा-तीर्थमाला, चैत्य परिपाटी, चैत्य परिवाड़ी, संघ वर्णन।

(९) मालामूलक मुक्तक काव्य

जिन राजस्थानी जैन मुक्तक रचनाओं के के शीर्षक के साथ 'माला' शब्द जुड़ा हो, उन्हें इस काव्य रूप के अन्तर्गत रखा जा सकता है। नाम माला, रागमाला, रूपकमाला, माला, मालिका, तीर्थमाला, मुनिमालिका आदि संज्ञक रचनाएं इसी प्रकार की है।

(१०) संगीतमूलक मुक्तक काव्य

जिन राजस्थानी जैन मुक्तक काव्यों को तालियों की ताल देते हुए तथा संगीत की लय के साथ पांवों का ठेका देते हुए, रास की तरह गोलाकार घूमते हुए गाया जाता है, उन्हें इस श्रेणी में सम्मिलित किया जाता हैं। हीचं व हमचड़ी ऐसी रचनाएं हैं।

(११) स्वाध्याय मूलक मुक्तक काव्य

इस प्रकार का मुक्तक काव्य स्वाध्याय, मनन व अनुशीलन से सम्बन्धित है, यथा-स्वाध्याय, सज्झाय, कुलक आदि रचनाएं।

(१२) अन्य मुक्तक काव्य

अन्य किसी श्रेणी में नहीं आने वाले काव्यों-रूपों को इस वर्गीकरण के अन्तर्गत रखा गया है जैसे—प्रवहण, वाहण, गीत आदि।

विषयनुसार वर्गीकरण

मध्यकाल में पाये जाने वाले उपर्युक्त समस्त राजस्थानी जैन मुक्तक काव्य-रूपों का वर्ण्य-विषय विविध प्रकार के है। अतः विषय विविता की दृष्टि से जैन मुक्तक काव्य का वर्गीकरण इस प्रकार किया जा सकता है—

१. धार्मिक व सैद्धान्तिक मुक्तक काव्य
२. उपदेशात्मक मुक्तक काव्य
३. ऋतु व तिथि सम्बन्धी मुक्तक काव्य
४. स्तुति प्रधान मुक्तक काव्य
५ तीर्थ व यात्रा प्रधान मुक्तक काव्य
६. ऐतिहासिक मुक्तक काव्य
७. बुद्धि परीक्षा प्रधान मुक्तक काव्य
८. वर्णनात्मक मुक्तक काव्य
९. प्रकीर्णक मुक्तक काव्य

धार्मिक व सैद्धान्तिक मुक्तक काव्य

जिन मुक्तक काव्यों में धार्मिक भावनाओं की अभिव्यक्ति और सैद्धान्तिक विश्लेपण को प्राथमिकता दी गई है, उन राजस्थानी जैन मुक्तक काव्यों को इस वर्गीकरण के अन्तर्गत रखा गया है। ऐसे कुछ काव्य निम्न है—

१. वारह भावना गीतम्[३४]	समयसुन्दर
२. श्रावक वारह व्रत कुलकम्[३५]	समयसुन्दर
३. सिद्धान्त श्रद्धा सज्झाय[३६]	समयसुन्दर
४. चौदह गुणस्थाणक[३७] स्तवण	धर्मवर्द्धण
५. अट्ठावीस लब्धि स्तवन[३८]	धमवर्द्धण
६. पंच इन्द्रिय री सज्झाय[३९]	जिनहर्ष
७. सामायक बत्तीस दोष सज्झाय[४०]	जिनहर्ष
८. नववाड़ सज्झाय[४१]	जिनहर्ष

२-स्तुति प्रधान मुक्तक काव्य

इस वर्गीकरण के अन्तर्गत उन मुक्तक काव्यों को लिया गया है जिनमें तीर्थंकर, विरहमान, ऐरावत क्षेत्र, तीर्थ, पौरणिक चरित्र, गुरू, एवं साधु आदि की वन्दना, स्तुति के माध्यम से चौबीसी, वीसी व स्तवन के द्वारा की गई है। उदाहरणार्थ कुछ स्तुति प्रधान काव्य इस प्रकार है—

---

३४. नाहटा-समयसुन्दर कृति कुसुमांजली, पृ० ४५९
३५. वही, पृ० ४६४
३६. वही. पृ० ४७७
३७. नाहटा-धर्मर्द्धन ग्रन्थावली. पृ० २७८
३८. वही, पृ० २८६
३९. नाहटा-जिनहर्प, ग्रन्थावली, पृ० ४६६
४०. वही, पृ० ३८१
४१, वही, पृ० ४९८

आदि। इसमें ढाल व ढालिया जैन कवियों का प्रिय विशिष्ट छन्द है।

(३) वन्दनामूलक मुक्तक काव्य

जिन राजस्थानी जैन मुक्तक काव्यों के द्वारा परमात्मा, तीर्थंकर अर्हत्, साधु, मूर्ति, देवी-देवता आदि की स्तुति या वन्दना की जाती है, वे रूप इस में सम्मिलित किये जा सकते हैं–यथा-स्तुति, स्तव, स्तवन. स्तोत्र, थूई, पूजा, वन्दना, नमस्कार, पारणा, गंडूली, कलश, प्रभाती, मांझी, अभिषेक, ध्रुपद आदि।

(४) बुद्धिपरीक्षा मूलक मुक्तक काव्य

इस प्रकार के राजस्थानी जैन मुक्तक काव्यों को विभिन्न प्रकार से बुद्धि की परीक्षा, विकास या मनोरंजन करने के उद्देश्य से लिखा जाता है, जैसे–हीयाली (पहेलिका), गूढ़ा, समस्या, सिलोका आदि)

(५ उपदेशमूलक मुक्तक काव्य

इस प्रकार का मुक्तक काव्य समाज में लोगों को उपदेश देकर सही आचरण करने की प्रेरणा देने के उद्देश्य से लिखा जाता है, उदाहरणार्थ उपदेशी, सीख, बोल, थोकड़ा संज्ञक रचनाएं इसी श्रेणी में आती है।

(६) संवादमूलक मुक्तक काव्य

ऐसी रचनाओं में दो वस्तुओं के मध्य चाहे विवाद हो अथवा न हो, इसको गौण मानते हुए एक वस्तु का दूसरी वस्तु से गुण, अवगुण, महत्त्व और हीनता का संवादात्मक काव्य रूप में वर्णन होता है। संवाद, वाद, झगड़ो आदि संज्ञक रचनाएं इसी श्रेणी में आती हैं।

(७) मंगलमूलक मुक्तक काव्य

मांगलिक अवसरों पर गाई जाने वाली रचनाएं इसी काव्य रूप के अन्तर्गत आती है। वधावा या वधावणा के रूप में ये उपलब्ध होती है।

(८) तीर्थयात्रा मूलक मुक्तक काव्य

धार्मिक तीर्थों, उनकी यात्राओं, संघ-वर्णनों आदि से सम्बन्धित काव्य इस रूप के अन्तर्गत सम्मिलित किया जा सकता है, यथा-तीर्थमाला, चैत्य परिपाटी, चैत्य परिवाडी, संघ वर्णन।

(९) मालामूलक मुक्तक काव्य

जिन राजस्थानी जैन मुक्तक रचनाओं के के शीर्षक के साथ 'माला' शब्द जुड़ा हो, उन्हें इस काव्य रूप के अन्तर्गत रखा जा सकता है। नाम माला, रागमाला, रूपकमाला, माला, मालिका, तीर्थमाला, मुनिमालिका आदि संज्ञक रचनाएं इसी प्रकार की है।

(१०) संगीतमूलक मुक्तक काव्य

जिन राजस्थानी जैन मुक्तक काव्यों को तालियों की ताल देते हुए तथा संगीत की लय के साथ पांवों का ठेका देते हुए, रास की तरह गोलाकार घूमते हुए गाया जाता है, उन्हें इस श्रेणी में सम्मिलित किया जाता है। हीचं व हमचड़ी ऐसी रचनाएं हैं।

(११) स्वाध्याय मूलक मुक्तक काव्य

इस प्रकार का मुक्तक काव्य स्वाध्याय, मनन व अनुशीलन से सम्बन्धित है, यथा-स्वाध्याय, सज्झाय, कुलक आदि रचनाएं।

(१२) अन्य मुक्तक काव्य

अन्य किसी श्रेणी में नहीं आने वाले काव्यों-रूपों को इस वर्गीकरण के अन्तर्गत रखा गया है जैसे—प्रवहण, वाहण, गीत आदि।

विषयनुसार वर्गीकरण

मध्यकाल में पाये जाने वाले उपर्युक्त समस्त राजस्थानी जैन मुक्तक काव्य-रूपों का वर्ण्य-विषय विविध प्रकार के है। अत: विपय विधिता की दृष्टि से जैन मुक्तक काव्य का वर्गीकरण इस प्रकार किया जा सकता है—

१. धार्मिक व सैद्धान्तिक मुक्तक काव्य

२. उपदेशात्मक मुक्तक काव्य

३. ऋतु व तिथि सम्बन्धी मुक्तक काव्य

४. स्तुति प्रधान मुक्तक काव्य

५ तीर्थ व यात्रा प्रधान मुक्तक काव्य

६. ऐतिहासिक मुक्तक काव्य

७. वुद्धि परीक्षा प्रधान मुक्तक काव्य

८. वर्णनात्मक मुक्तक काव्य

९. प्रकीर्णक मुक्तक काव्य

धार्मिक व सैद्धान्तिक मुक्तक काव्य

जिन मुक्तक काव्यों में धार्मिक भावनाओं की अभिव्यक्ति और सैद्धान्तिक विश्लेषण को प्राथमिकता दी गई है, उन राजस्थानीं जैन मुक्तक काव्यों को इस वर्गीकरण के अन्तर्गत रखा गया है। ऐसे कुछ काव्य निम्न है—

१. वारह भावना गीतम्[३४]	समयसुन्दर
२. श्रावक वारह व्रत कुलकम्[३५]	समयसुन्दर
३. सिद्धान्त श्रद्धा सज्झाय[३६]	समयसुन्दर
४. चौदह गुणस्थाणक[३७] स्तवण	धर्मवर्द्धण
५. अट्ठावीस लव्धि स्तवन[३८]	धमवर्द्धण
६. पंच इन्द्रिय री सज्झाय[३९]	जिनहर्ष
७. सामायक वत्तीस दोष सज्झाय[४०]	जिनहर्ष
८. नववाड़ सज्झाय[४१]	जिनहर्ष

२-स्तुति प्रधान मुक्तक काव्य

इस वर्गीकरण के अन्तर्गत उन मुक्तक काव्यों को लिया गया है जिनमें तीर्थंकर, विरहमान, ऐरावत क्षेत्र, तीर्थ, पौरणिक चरित्र, गुरू, एवं साधु आदि की वन्दना, स्तुति के माध्यम से चौवीसी, वीसी व स्तवन के द्वारा की गई है। उदाहरणार्थ कुछ स्तुति प्रधान काव्य इस प्रकार है—

---

३४. नाहटा-समयसुन्दर कृति कुसुमांजली, पृ० ४५९
३५. वही, पृ० ४६४
३६. वही. पृ० ४७७
३७. नाहटा-धर्मर्द्धन ग्रन्थावली. पृ० २७८
३८. वही, पृ० २८६
३९. नाहटा-जिनहर्ष, ग्रन्थावली, पृ० ४६६
४०. वही, पृ० ३८१
४१, वही, पृ० ४९८

१. चौवीसी[४२] समयसुन्दर
२. नाकोड़ा पार्श्वनाथ स्तवन[४३] समयसुन्दर
३. संखेश्वर पार्श्वनाथ स्तवन[४४] समयसुन्दर
४. वीस विरहमान जिणगीत[४५] जिनराज सूरि
५. वासुपूज्य स्तवन[४६] श्री सार

३–उपदेशात्मक मुक्तक काव्य

इस विभाजन में वे मुक्तक सम्मिलित किये गये हैं, जिनमें उपदेशात्मक प्रवृत्ति प्रमुख रूप से प्रकट हुई है और उस प्रवृत्ति के माध्यम से मानव को आत्म कल्याण की ओर प्रवृत्ति किया गया है। लोभ, मोह, कर्म, स्वार्थ, व्यसन, पाप, निन्दा, झूठ, अहंकार, नश्वरता, चोरी, वासना, मन, पुण्य, क्षमा, आत्मा, जीव, शील आदि विषयों को उपदेशात्मक मुक्तक काव्य में स्थान दिया गया है। कतिपय उपदेशात्मक मुक्तक काव्य निम्न है—

१. लोभ निवाकरण गीतम्[४७] समयसुन्दर
२. जीव व्यापारी गीतम्[४८] समयसुन्दर
३. सप्त व्यसन त्याग सज्झाय[४९] धमवर्द्धण
४ तम्वाकु त्याग समज्झाय[५०] धर्मवर्द्धण
५. कर्मवत्तीमी[५१] जिनराजसूरि
६. शील वत्तीसी[५२] जिनराजसूरि
७. स्वार्थ वत्तीसी[५३] श्रीसार
८. उपदेश सत्तरी[५४] श्रीसार
९. मोह छत्तीसी[५५] पुण्यकीर्ति

४–तीर्थ व यात्रा प्रधान मुक्तक काव्य

उस श्रेणी में उन मुक्तक काव्यों को लिया गया है, जिनमें जैन तीर्थो एवं उनकी यात्राओं का वर्णन किया गया है। ऐसे कुछ मुक्तक काव्य इस प्रकार है—

---

४२. नाहटा–समयसुन्दर कृति कुसुमांजली, पृ० १–१५
४३. वही, पृ० १६६–६५
४४. वही, पृ० १६२–३५
४५. वही। जैन गूर्जर कविओ, भाग १; पृ० ५१८
४६. प्राच्य विद्या प्रतिष्ठान, बीकानेर. ग्रन्थांक ३९३७
४७. नाहटा–समयसुन्दर कृति कुसुमांजली, पृ० ४३१
४८. वही, पृ० ४३८
४९. नाहटा–धर्मवर्द्धण ग्रन्थावली, पृ० ७६
५०. वही, पृ० ७८
५१. नाहटा–जिणराजसूरि कृति कुसुमांजली, पृ० ११२–१३
५२. वही, पृ० ११६–१९
५३. अभय जैन ग्रन्थालय, बीकानेर, ग्रन्थांक १८९९
५४. राजस्थान प्राच्य विद्या प्रतिष्ठान, बाकानेर, ग्रन्थांक ६४५६ (१५४)
५५. राजस्थान प्राच्य विद्या प्रतिष्ठान, जोधपुर, ग्रन्थांक २११६०

१. बीकानेर चैत्य परिपाटी[५६] धमवर्द्धन
२. जैसलमेर चैत्य प्रवाड़ी[५७] सहजकीर्ति
३. तीर्थयात्रा निरूपक गीतम्[५८] जिनराज सूरि
४. गिरनार तीर्थयात्रा स्तवन[५९] जिनरजासूरि
५. तीरथभास[६०] समयसुन्दर
६. अष्टापद तीरथभास[६१] समयसुन्दर

५–ऋतु व तिथि सम्वन्धी मुक्तक काव्य

ऋतु व तिथि विषयक मुक्तक काव्यों में विभिन्न ऋतुओं, तिथियों एवं पर्वो का वर्णन किया गया है। ऐसे कुछ मुक्तक काव्य निम्नलिखित हैं—

१. ज्ञानपंचमी वृहत्स्तवन[६२] समयसुन्दर
२. मोन एकादशी स्तवन[६३] समयसुन्दर
३. सीत उष्ण वर्षा वर्णन[६४] धर्मवर्द्धन
४. पनरह तिथि रा सवैया[६५] जिनहर्ष
५. बरसात रा दूहा[६६] जिनहर्ष

६–ऐतिहासिक मुक्तक काव्य

इस प्रकार के मुक्तक काव्य इतिहास पुरुषों, ऐतिहासिक स्थानों एवं घटनाओं से सम्बिन्धित है। जैन और जैनेतर इतिहास विषयक दोनों प्रकार के ऐसे मुक्तक काव्य उपलब्ध होते हैं, यथा—

१. अनूपसिंघ रा सवैया[६७] धर्मवर्द्धन
२. गीत राउल अमरसिंघ रो[६८] धर्मवर्द्धण
३. कवित्त जसवन्तसिंघ रो[६९] धर्मवर्द्धण
४. कवित्त दुरगादास रो[७०] धर्मवर्द्धण
५. गुर्वावली गीतम्[७१] समयसुन्दर

७–बुद्धि परीक्षा प्रधान मुक्तक काव्य

जैसा कि नाम से स्पष्ट है इस प्रकार के मुक्तक काव्यों का विषय मानव बुद्धि की परीक्षा करना है। हियाली, गूढ़ा, प्रहेलिकाएं, समस्या आदि इसी श्रेणी के मुक्तक काव्य है। उदाहरणार्थ प्रस्तुत है—

---

५६. नाहटा–धर्मवर्द्धन ग्रन्थावली, पृ० २१८
५७. जैन गूर्जर कविओ, भाग–३, खण्ड १, पृ० १०२२
५८. नाहटा–जिनराज सूरि कृति कुसुमांजली, पृ० ६०
५९. वही, पृ० ४२
६०. नाहटा–समयसुन्दर कृति कुसुमांजली, पृ० ६०
३१. वही, पृ० ६१–६३
६६. नाहटा–समयसुन्दर कृति कुसुमांजली, पृ० २३६
६४. नाहटा–धर्मवर्द्धन ग्रन्थावली, पृ० १०१
६५. नाहटा–जिनहर्ष ग्रन्थावली, पृ० ४०३
६६. वही, पृ० ४२२
६७. नाहटा–धर्मवर्द्धन ग्रन्थावली, पृ० २४२
६८, वही, पृ० १४५
७९. वही, पृ० १४६
७०, वही, पृ० १४७
७१. नाहटा–समयसुन्दर कृति कुसुमांजली, पृ० ३४८

१. हियाली गीतम्[७२] समयसुन्दर
१. नेमिनाथ गूढ़ा गीतम्[७३] समयसुन्दर
३. हियाली (थापणा, मन, जीभ मुंइयति आदि)[७४] धर्मवर्द्धण
४. समस्या[७५] धर्मवर्द्धण
५. प्रहेलिकाएं[७६] जिनहर्ष

८–वर्णनात्मक मुक्तक काव्य

इस वर्गीकरण के अन्तर्गत उन मुक्तक काव्यों को सम्मिलित किया गया गया है, जिनमे किसी नगर, स्थान, वस्तु घटना आदि का यथा तथ्य उल्लेख वर्णनात्मक शैली मे किया गया है। कतिपय ऐसे काव्य निम्न है—

१. सत्यासिया दुष्काल वर्णन–समयसुन्दर छत्तीसी[७७]
२. दुष्काल वर्णन[७८] धर्मवर्द्धण
३. स्त्री-कुस्त्री वर्णन[७९] धर्मवर्द्धण
४. दीपक वर्णन[८०] धर्मवर्द्धण
५. लाहोर गजल[८१] जटमल
६. चित्तौड़ गजल[८२] खेतल

९–प्रकीर्णक मुक्तक काव्य

वे मुक्तक काव्य जिन्हें उपर्युक्त किसी वर्गीकरण में सम्मिलित नहीं किये जा सके है, उन्हें इस वर्गीकरण के अन्तर्गत रखे गये हैं। यथा—

१. सप्ताक्षरी कवित्त[८३] धर्मर्द्धन
२, नारी कुंजर सवैया[८४] धर्मर्द्धन
३. राग करण समय कवित[८५] जिनहर्ष
४. प्रेमपत्री रा दूहा[८६] जिनहर्ष

---

७२. नाहटा--समयसुन्दर कृति कुसुमांजली, पृ० ४६१–६२
७३. वही, पृ० १२८
७४. नाहटा–धर्मवर्द्धण ग्रन्थावली, पृ० १११–१३
७५. वही, पृ० १२१–३४
७६. नाहटा–जिनहर्ष ग्रन्थावली, पृ० ४१६
७७. नाहटा–समयसुन्दर कृत कुसुमाजली, पृ० ५०१–१४
७८. नाहटा–धर्मर्द्धन ग्रन्थावली, पृ० १०२
७९. वही, पृ० १०३
८०. वही, पृ० ९८
८१. राजस्थान प्राच्य विद्या प्रतिष्ठान, बीकानेर, पृ० ६५९८ (८)
८२. जैन गूर्जर कविओ, भाग ३, खण्ड २, पृ० १३६८
८३. नाहट–धर्मवर्द्धन ग्रन्थावली, पृ० ३०७
८४. वही, पृ० ३१०
८५. नाहटा–जिनहर्ष ग्रन्थावली, पृ० ४०७
८६. वही, पृ० ३०८

५. सुन्दरी स्त्री [87] जिनहर्ष
६. यौवन [88] जिनहर्ष

मध्यकाल के राजस्थानी जैन काव्य के उपर्युक्त वर्गीकरण से स्पष्ट है कि इस अवधि में राजस्थानी जैन काव्य कितना समृद्ध एवं विशाल परिणाम में उपलब्ध है। इस समस्त काव्य की भाषा सरल सुबोध राजस्थानी है जिस पर तत्कालीन लोक भाषा का प्रभाव भी स्पष्टतः परिलक्षित है। जहां कहीं पर भी भाषा में क्लिष्टता आई है वह मात्र प्रसंग की अनिवार्यता के कारण ही है। कला पक्ष एवं भाव पक्ष की समृद्धि इनकी अन्य विशेषता है और उस दृष्टि से इस कारण के काव्य का स्वतंत्र अनुसंधानात्मक अध्ययन अपेक्षित है।

●●●

८७. वही, पृ० ४२५
८८. वही, पृ० ४२५-२६

(शेष पृष्ठ १६४ का)

नहीं है और लीलाओं के वर्णन का दार्शनिक उद्देश्य व्यक्ति चेतना को रागात्मक धरातल पर समष्टि चेतनाओं की प्रतीति कराता है। इस व्यापकता की अनुमति में मनुष्य अहं की व्यक्तिगत क्षुद्रताओं को तिरोहित कर देता है।

●●●

भक्त कवियित्री चम्पादेवी-एक अध्ययन

□श्रीमती सुशीलादेवी बाकलीवाल एम. ए.

चम्पादेवी एक प्रसिद्ध कवियित्री थी। स्त्री समाज की वह उन इनी गिनी महिलाओं में से हैं जिन्होंने साहित्य निर्माण में रूचि ली एवं जीवन के अन्तिम वर्षों में अपने आपको भक्ति रस में डुबो दिया। भक्ति में भाव विह्वल होकर अन्तरात्मा से जो भाव निकले, वे स्वमेयव पदों के रूप में परिवर्तित हो गये। "चम्पा शतक" यद्यपि इसकी एक मात्र कृति है लेकिन वह अकेली ही चिरकाल तक कवियित्री के यशोगान के लिये पर्याप्त है। "चम्पाशतक" हिन्दी पद साहित्य की उत्कृष्ट कृति है जिसमें भक्तिरस से ओत-प्रोत १०१ पदों का संग्रह है। १९ वीं शताव्दी में ये प्रथम महिलाकवि थी जिन्होंने अपने जीवन के संध्याकाल में साहित्यिक क्षेत्र में पदार्पण किया और थोड़े समय ही में अपनी प्रतिभा से हिन्दी भक्ति साहित्य को अलंकृत किया। भक्त कवियित्रियों में मीराबाई एवं जडाववाई के पश्चात चम्पादेवी का नाम विशेष रूप से उल्लेखनीय है जिन्होंने भक्ति के भावों से ओत-प्रोत होकर हिन्दी साहित्य की रचना की एवं अपने को अर्हद् भक्ति में समर्पित कर दिया।

चम्पादेवी देहली निवासी श्री सुन्दरलाल जैन टोंग्या की धर्म पत्नी थी। आपके पिता अलीगढ़ निवासी श्री मोहनलाल पाटनी थे। आपके दो बड़े भाई थे। सन् १९१३ के करीब आपका जन्म हुआ। आपके जीवन पर आपके बड़े भाई श्री प्यारेलाल का विशेप प्रभाव पड़ा। परिणाम स्वरूप आपकी रूचि स्वाध्याय की ओर बढ़ने लगी। छोटी अवस्था में ही आपका विवाह हो गया। आपके पिता श्री सुन्दरलाल जवाहरात के कुशल व्यापारी थे। पिता एवं पति दोनों ही घरों में आपका पूर्ण समादर था किन्तु ३० वर्ष की अवस्था में ही आपके पति मृत्यु के करालगाल में प्रवेश कर गये। आपके सन्तान भी नहीं थी। एक ओर पति का वियोग तथा दूसरी और सन्तान का अभाव दोनों ही दुःख आपको झेलने पड़े। संसार के नश्वर क्षणों से विरक्त होकर आपने अपना अधिकतर समय स्वाध्याय में लगाया। ६६ वर्ष की उम्र में आप भयंकर रूप से वीमार हुई, औपधि लेने पर भी रोग दूर न हुआ। अन्त में भौतिक संसार से विरक्त होकर आपने अर्हद्-भक्ति को ही एक मात्र सहारा माना और उसमें तल्लीन होने पर निम्न पद आपके मुख से स्वत: निकल पड़ा:—

पडी मंझधार मेरी नैया, उवारोगे तो क्या होगा,
तरण-तारण जगत्पति हो, जु तारोगे तो क्या होगा।
यहां कोई है नहीं मेरा, मेरे रक्षपाल तुम्ही हो,
वही जाती मेरी किश्ती, निहारोगे तो क्या होगा॥

भाव विह्वल हो कवियित्री अपनी सुधवुध एवं अपना अस्तित्व खो बैठी। धीरे धीरे भक्ति की धारा नदी के रूप में परिवर्तित हो गई और एक के बाद दूसरे पद का निर्माण होता चला गया।

तेरे दर्शन से हे स्वामी, लखा है रूप मैं मेरा,
तजूं कब राग धन तन, वे सब मेरे विजाती हैं।

अर्हद् भक्ति की कृपा से उनका रोग शांत हो गया। ७० वर्ष की अवस्था में उनका देहान्त हो गया।

चम्पाशतक में यद्यपि अधिकांश पद भक्ति परक है किन्तु कुछ पद आध्यात्मिक, सामाजिक एवं उपदेश परक भी मिलते हैं। अनेक राग एवं रागनियों में निर्मित इन पदों में कवियित्री ने जो भाव भरे हैं उससे उनकी विद्वत्ता, सिद्धान्तभिज्ञता एव अध्यात्मिकता के दर्शन होते हैं। आपके पदों को हम भक्तिपरक, शिक्षा परक और अध्यात्म परक इन तीन भागो में विभाजित कर सकते हैं।

आपके भक्तिपरक पदों में कवियित्री के भक्त हृदय की स्पष्ट झलक निहित है। उनकी अन्तर्वेदना पद के प्रत्येक वाक्य से ध्वानित होती है। इन पदों का परायण करने से ऐसा प्रतीत होता है मानों उनमें हृदयगत भावों को गूंथ कर सामने रख दिया हो। आपकी कविताओं से परमात्मा की शांत मुद्रा के दर्शन होते हैं जिससे विपत्तियां स्वतः दूर होने लगती है। सभी पद वासना से मन को हटाकर अपने आत्म स्वरूप में लग जाने की प्रेरणा देते हैं। मानव विराट शक्तिशाली होता हुआ भी दीन, गरीब एवं अल्पबुद्धि वाला है इसलिये दुःखों से घबराकर उनसे वह छुटकारा पाना चाहता है। कवियित्री की धारणा है कि कर्म मोह का प्याला मिला कर उसे पूर्णतः अज्ञानी बना देते हैं किन्तु अर्हद् भक्ति ही एक ऐसा अमोघ मन्त्र है जिससे आत्मा का कल्याण सम्भव है और इसी भावावेश में गा उठती है:—

"करम म्हारो कांई करसी,
जो म्हारे परमेष्ठी आधार।"

आपको परत्मामा के समान ही गुरू में भी अटल विश्वास था। सच्चे गुरू वीतरागी होते हैं भक्ति ही मोक्ष मार्ग में सहायक होती है। गुरू ही उसे उचित मार्ग पर चलने का उपदेश देते हैं। अतः गुरू कैसे हो ? यह उन्होने इस प्रकार वताया है—

जिन्हों का ध्येय आतम है, लगी है लौ जहां जिसकी,
नहीं कुछ खवर बाहर की
सुरति खगी जिनमें लगी जिनकी
इसी चित्त ध्यान केवल ते, चिदानन्द ज्योति जागी है,
मिलेंगे कव गुरू हमको, को सांचे वीतरागी है॥

अध्यात्म परक पदों में भी कवियित्री ने अध्यात्म की जो गंगा वहायी है वह अपने आप में पूर्ण है। वह आत्मा को सम्बोधित करके जगत के सभी विकल्पों को त्याग कर अपने आत्म सुख को वरण करने के लिये कहता है। आत्मा परमात्मा एक है। परमात्मा सिद्धावस्था को प्राप्त हो गये हैं किन्तु आत्मा अभी शरीर वन्धन से मुक्त नहीं हुई, वस यहां दोनों में भेद है। आपको आत्मध्यान की तीव्र अभिलाषा है। इसीलिये आप कहती है:—

"मैं कव निज आतम को ध्याऊं,
पर परिणति तजि, निज परिणति गही,
ऐसी निज निधि कव पाऊं,
इतने से ही उनको सन्तोष नहीं होता।
"समकित विन गोता खाओगे,
दर्शन विन गोता खाओगे।"

कवियित्री ने अपने कर्म के पल भी गहरी आस्था प्रकट की है। जैसा कर्म वैसा ही फल—
"कारण कौन प्रभु मोहि समझावो,
एक मात ने दो सुत जाये, रंग रूप में भेद लखायो"
एक पाठशाला पढे दोऊ मिलि,

एक भया योगी, एक व्यसन लुभायो ।

शिक्षात्मक पदों में कवियित्री ने मानव को ऐसे ज्ञान का मन्त्र बताया जिसमें उसका कल्याण हो सके:—

(१) वार-वार इम भ्रमण कियो,
बहुत कठिन-कठिन यहां आयो रे,
फिर यह दाव मिले नहीं भोंदू,
यह सतगुरू फरमायो रे ।

(२) चेतन कुमति घर मति जाय,
तोकूं सुमति रही समझाय ।
हिंसा झूंठ चोर धन लाया,
पर नारी पर मन भायो ।
अरे यह महा दुख दाय,
चेतन कुमति घर मति जाय ।

इस प्रकार हम कह सकते हैं कि आपकी कविता संग्रह अपने आपमें स्वतः पूर्ण है । पदों में तत्कालीन समाज में फैली हुई बुराइयों की ओर भी व्यंग किया है । शतक की भाषा शुद्ध हिन्दी है किन्तु कहीं-कहीं ब्रजभाषा का पुट भी दिखाई देता है । उनका यह प्रयास हिन्दी भाषा के प्रति अगाध निष्ठा का द्योतक है । प्रस्तुत शतक की भाषा अत्यधिक प्रांजल एवं मधुर है । अतः चम्पाशतक सभी दृष्टियों से भक्ति साहित्य की एक उत्तम कृति है जिसके सतत् अध्ययन एवं मनन से मानव मात्र को शांति मिल सकती है ।

चम्पाशतक—सम्पादक डा० कस्तूरचन्द कासलीवाल
प्रकाशक—साहित्य शोध विभाग, महावीर भवन, जयपुर

१८

अपभ्रंश के जैन प्रेमाख्यान काव्य

डा० त्रिलोचन पाण्डेय, जबलपुर

विगत शताब्दी के अन्तिम चरण में हिन्दी साहित्य के इतिहासकारों ने कुछ प्रेमाख्यानों की ओर संकेत किया था किन्तु इनकी ओर वास्तविक ध्यान 'पदमावत्' के उस संस्करण से आकर्षित हुआ जिससे डा० ग्रियर्सन तथा पं० सुधाकर द्विवेदी ने प्रस्तुत किया था। तब से आज तक पिछले ७०-८० वर्षों में इस काव्य धारा पर अनेक विद्वानों ने विचार किया है और सन्त-काव्य, राम-काव्य, कृष्ण-काव्य आदि की भांति इसकी भी प्रतिष्ठा हो चुकी है। इनका अध्ययन करते समय आज मुख्य रूप से दो प्रश्न उठते हैं—क्या इनका मूल स्रोत भारतीय माना जाय जैसा कि पं० परशुराम चतुर्वेदी, पं० रामपूजन तिवारी आदि विद्वानों ने लक्षित किया है? अथवा इन्हें फारसी काव्य-परम्परा में स्थान दिया जाए जैसा पहले पं० रामचन्द्र शुक्ल की मान्यता थी। हम एक तीसरा प्रश्न रख सकते हैं—इनमें जन साधारण में प्रचलित लोक कथाओं का आधार किस उद्देश्य के लिए किस सीमा तक ग्रहण किया गया है।

उपर्युक्त तीनों प्रश्नों का समाधान खोजने के लिए हमें उन जैन आख्यानों का विश्लेषण करना होगा जिनकी परम्परा संस्कृत, प्राकृत और अपभ्रंश से होती हुई हिन्दी में चली आई है। हिन्दी में इस समय दो प्रकार के प्रेमाख्यान स्वीकृत हैं—सूफी प्रेमाख्यान और असूफी (हिन्दू) प्रेमाख्यान। इनके अतिरिक्त प्रेमाख्यानों की एक तीसरी काव्य धारा है जैन प्रेमाख्यानों की जिसके बिना प्रेमाख्यानों का वास्तविक रूप ज्ञात नहीं हो सकेगा। एक प्रकार से यदि देखा जाए तो असूफी प्रेमाख्यानों में आधे से अधिक जैन प्रेमाख्यान ही दिखाई देगें। ढोला मारू, मृगा-हंसावली, उषाअनिरूद्ध, स्थूलिभद्र, नेमिनाथ, विद्या विलास आदि के वृत्तों को अनेक जैन कवियों ने ग्रहण किया है जो विशुद्ध भारतीय परिवेश को लेकर चले है। प्राकृत और अपभ्रंश में इनका प्राचीन स्वरूप देखना आवश्यक है। अपभ्रंश के प्रेमाख्यान विशेष रूप से महत्त्व रखते है।

अपभ्रंश के आख्यानों में 'णायकुमार चरिउ', 'भविस्सयत्त कहा', 'करकंड चरिउ', प्रकाशित हो चुके हैं जिनमें प्रेम, अपहरण, यात्रा विवाह, युद्ध, उदारता आदि के वर्णन यथा स्थान मिलते हैं। इनके अतिरिक्त कुछ आख्यानों का संकेत खोज रिपोर्ट से मिलता है। इस प्रकार अपभ्रंश के लगभग २५ ग्रन्थ उल्लेखनीय है :—

१. णायकुमार चरिउ	पुष्पदन्त	१० वीं शताब्दी
२. विलासवई कहा	साधारण	११ ,,
३. सुदंसण चरिउ	नयनन्दि	,, ,,
४ जम्बूसामी चरिउ	वीरकवि	,, ,,
५. करकण्डु चरिउ	कनकामर	,, ,,
६. पउमसिरी चरिउ	धाहिल	१२ वीं ,,

७. भविस्सयत्त चरिउ—श्रीधर „ „

८. सुलोचना चरिउ देवेसन गणि „ „

९. अंजना सुन्दरी कथा-अभयतिलक गणि „ „

१०. कथा कोष श्री चन्द्र „ „

११. सणकुमार चरिउ — हरिभद्र सूरि „ „

१२. पुज्जुण्ण चरिउ — सिंह कवि „ „

१३. सुकुमाल चरिउ — विबुध श्रीधर „ „

१४. जिणयत्त कहा — लाखू „ „

१५. भविस्सयत्त कहा — वनपाल धक्कड़ „ „

१६. धणकुमार चरिउ — रइधू „ „

१७. वारांग चरिउ — तेजपाल „ „

१८. सिरिवाल चरिउ — नरसेन १६ वीं „

१९. अमरसेन चरिउ — माणिक्क राज „ „

२०. नागकुमार चरित „ „ „

२१. ससिलेहा चरिउ — भगवती दास १६ वीं „

२२. सुभद्रा चरित — अभय तिलक गणि

२३. मंदन पराजय — हरिदेव

२४. सतवसण कहा — — —

२४. मदन रेखा रचित — — —

इनके अतिरिक्त 'मेहेसर चरिउ,' 'सुकोसल चरिउ' 'पुण्णासव कहा कोसों' 'अणायमिका कहा' शीर्षक रचनाएं मिली हैं किन्तु अज्ञात रहने के कारण अभी इनके तत्त्वों का विवेचन नहीं हुआ है। यह आवश्यक नहीं कि प्रत्येक 'चरिउ' नाम धारी ग्रन्थ प्रेमाख्यान भी हो। कथा संघटन, काव्य-सूचियों और वातावरण निर्माण आदि की दृष्टियों से इन रचनाओं में जो समानताएं मिलती हैं वे इन्हें किसी निश्चित परिपाटी पर रचित सिद्ध करती है। असूफी और सूफी प्रेमाख्यानों की कई रूढियों इनमें विद्यमान हैं अतः परवर्ती आख्यानों के लिए इन्होंने आदर्श निर्धारित किए है।

१. उपर्युक्त अपभ्रंश रचनाओं की संघटनात्मक विशेषताएं जान लेना हमारे लिए उपयोगी होगा। वर्णन शैली की दृष्टि से हम देखते हैं कि काव्य के मंगलाचरण में जिनवर महावीर की वन्दना के पश्चात् कवि अपनी परम्परा, आश्रयदाता, नगर-वासियों आदि की चर्चा करता है। मुख्य कथा किसी निस्संतान नृपति से आरम्भ होती है जो अलौकिक शक्तियों के आशिर्वाद से संतान प्राप्त करता है। ज्योतिषी आकर उसके अनागत जीवन की भविष्य वाणी करते हैं। युवक होते ही कथा-नामक अपना राज्य छोड़ कर किसी सुन्दरी की खोज में निकल पड़ता है या निष्कासित होता है, उसकी यात्राएं आश्चर्य से भरी रहती हैं। फिर कई राजकुमारियों से विवाह करते हुए अतुल धन-राशि लेकर वह अपने राज्य में वापस लौट आता है। आनन्द पूर्वक जीवन व्यतीत करते हुए अनन्तर किसी जैन मुनि का उपदेश सुन कर वह परम पद का अभिलाषी हो जाता है। ग्रन्थ की समाप्ति पर कवि श्रोताओं के प्रति पुण्यफल की मंगल कामना अवश्य करता है।

२. उपर्युक्त अपभ्रंश आख्यानों का विभाजन संधियों में हुआ है। प्रत्येक संधि कई कडवकों में विभक्त है और कडवकों के छन्दों में पज्झटिका अडिल्ल, पादाकुलक आदि मुख्य है। छन्द के अन्त में घत्ता प्रायः एक संधि पर्यन्त एक जैसा रहता है। रस वर्णना में शृंगार, वीर की प्रधानता है जिनका पर्यवसान शान्त रस में होता है। अद्भुत, हास्य, रौद्र के उदाहरण प्रसंगानुकूल मिलेगा। भाव, अनुभवों का विशद चित्रण है और स्त्री पुरुषों के स्वाभाविक उद्गार दर्शनीय हैं। यथा स्थान नख-शिख वर्णन, विरह वर्णन, षट्रितु वर्णन भी मिलेंगे जो संस्कृत काव्य की शास्त्रीय शैली की ओर अधिक झुके हुए हैं।

३. अलंकार प्रायः सादृश्य मूलक हैं। उत्प्रेक्षा, रूपक और उपमा अलंकार अधिक हैं। इनका विधान भी शास्त्रीय शैली का है। अप्रस्तुत विधान आकर्षक है किन्तु उसमें कोई नवीनता नहीं। अन्य अलंकारों में अतिशयोक्ति, विरोधाभास, श्लेष और यमक प्रधान हैं जो रचयिताओं की चमत्कार प्रवृत्ति के परिचायक हैं।

४. अपभ्रंश आख्यानों की भाषा मुक्तक रचनाओं की भाषा से भिन्न पड़ती है। वाक्य-विन्यास, पदरचना, क्रियारूप परिनिष्ठित स्वरूप का परिचय देते है यद्यपि शब्द भण्डार तद्भव अधिक है। कवियों के सम्मुख प्राकृत—अपभ्रंश रचनाओं का आदर्श रहा है। भाषा में प्रवाह एवं सहजता अवश्य है किन्तु वह एक सांचे में ढली है। ध्वन्यात्मक शब्द युग्मों की जिस आवृत्ति के लिए अपभ्रंश प्रसिद्ध है, वह इनमें स्थान स्थान पर लक्षित होगी। सूक्तियों और लोकोक्तियों के प्रयोग ने इसे समृद्ध किया है और फिर भी इन प्रयोगों ने उसे बोलचाल का स्वरूप प्रदान नहीं किया।

५. सांस्कृतिक चित्रण की दृष्टि से ये काव्य महत्वपूर्ण हैं। लगभग पांच सौ वर्षों के दीर्घकाल में फैले हुए ये आख्यान तत्कालीन सामाजिक जीवन, नगरवासियों के रहन सहन, रीतियों, प्रथाओं, लोकाचारों, अनुष्ठानों और लोक विश्वासों की विशाल सामग्री जुटा देते हैं। यह सामग्री इतिहास ग्रन्थों में कहीं उल्लिखित नहीं। बड़े-बड़े नगरों, उद्यानों, जलाशयों तथा रनिवासों के वर्णन यदि समाज के उच्च स्तरों का परिचय कराते हैं तो खानपान, मनोरंजन, उत्सव विलास, विवाह, वर्णव्यवस्था, पारिवारिक सम्बन्धों आदि के चित्रणों से मध्यम वर्ग का भी परिचय मिलता है। जन साधारण का जीवन सरल था, फिर भी राजाओं, सामन्तों तथा सेठों का अधिक वर्णन हुआ है। व्यापारी जिस प्रकार की यात्राएं करते थे और जिस प्रकार की सामग्रियां खोज कर लाया करते थे, वह वैभव विलास का विशेष रूप से द्योतक है। नायकों के देशान्तर वर्णन अन्य द्वीपवासियों पर प्रकाश डालते हैं। सिंहल द्वीप की यात्राएं इस दृष्टि से उल्लेखनीय हैं।

६. इन आख्यानों की विषयवस्तु लोक कथाओं का अनुसरण करती है। यह इन्हें देखने से ही ज्ञात है। प्रायः सभी कथानक उन महत्वपूर्ण व्यक्तियों पर केन्द्रित हैं जो धर्म साधना में विश्रुत हो चुके थे। ऐतिहासिक यात्रा या घटनाओं का उल्लेख केवल चरित्र को व्यापकता प्रदान करने के लिए किया गया है अन्यथा काल्पनिक वृत्तों की अधिकता उन्हें सामान्य जन जीवन से ऊपर उठा देती है। जैन पुराणों के महापुरुष इन आख्यानों की आधार भूमि बने हैं। जिनकी अलौकिक या आश्चर्यकारी घट-नाओं के अंकन में जैन कवियों ने काल्पनिक तत्त्वों का ही उपयोग किया है। अतः ये आख्यान अव-दानों की कोटि के हैं।

७. इनमें लोक तत्त्वों का भी व्यापक प्रयोग हुआ है। काल्पनिक कथानक स्वयं अपने में लोक तत्त्व हैं। इसके अतिरिक्त तीन ओर विशेषताएं मिलेंगी जो लोक तत्त्वों की है। ये हैं—रोमांचक वातावरण की सृष्टि, लोक विश्वासों की प्रचुरता और प्रेम मार्ग में विघ्न बाधाओं व उनके निरा-करण का विधान, रोमांचक वातावरण के लिए अलौकिक प्राणियों में गंधर्व, विद्याधर, व्यंतर, राक्षस आदि उपस्थित होकर भूमिका तैयार करते है। जादुई शक्तियां पात्रों को ही नहीं, अपने पाठकों को भी रहस्यपूर्ण प्रदेशों में खींच ले जाती है, श्मशान भूमि, पाताल लोक, किन्नर लोक, भयंकर वनस्थली आदि अद्भुत वातावरण की सृष्टि करते हैं। स्वप्न विचार, शकुन विचार, कर्मफल, भाग्य-

वादिता भविष्य फल के प्रति सर्वत्र आस्था प्रकट की गई है। मुनि गण पूर्व जन्म की घटनाओं का स्मरण कराते हुए कर्म विपाक की चर्चा करते हैं। निस्संतान राजाओं के यहां भावी शासक का चुनाव विशेष पद्धति से हुआ है।

८. आख्यानों में वर्णित ये लोक विश्वास कुछ कथाभिप्रायों को जन्म देते हैं जो फिर अपनी लोकप्रियता के कारण परवर्ती भारतीय साहित्य में बहुत प्रयुक्त होते रहे, प्रेम मार्ग में असाधारण बाधाएं आना और असाधारण रूप से ही उनका निराकरण इसी प्रकार का एक प्रसिद्ध कथाभिप्राय है जिसका उद्देश्य नायक नायिका की परीक्षा लेना है। इसमें नायक को कोई रोमाञ्चकारी कार्य सम्पन्न करके अपनी वीरता व श्रेष्ठता का परिचय देना पड़ता है। प्रायः दैवी शक्तियां उन्हें लक्ष्य सिद्धि में सफल बनाती हैं।

९. जहां तक प्रेम निरूपण की स्थिति है, हम देखते हैं कि रूपाकर्षण नामक नायिकाओं को परस्पर मिलाने में विशेष 'सहायक' हुआ है, नायक नायिकाएं दोनों ही अतीव सुन्दर, विद्या सम्पन्न हैं, नायिका का सौंदर्य चित्रण निखशिख के आधार पर है। मन्त्री पुत्र या कोई अन्तरंग सखा, या कोई पक्षी नायक का पथ प्रदर्शन करते हैं और प्रेम सन्देशों का गुप्त आदान प्रदान होता है। अनुराग का आकर्षण प्रबल है क्योंकि उसके शमन द्वारा ही प्रेम का वास्तविक रूप निखरता है। किन्तु जैन कवियों का प्रेम निरूपण केवल निरूपण के लिए नहीं है, उनका उद्देश्य तो किसी व्रत, अनुष्ठान या मन्त्र का परिणाम दिखाना है। वे चाहते थे कि समाज में कथाओं के माध्यम से नैतिकता बनी रहे और विश्रृंखलता उत्पन्न न हो, अभी तक यह समझा जाता रहा कि जन कवि कोरे उपदेशक थे। उन्होंने कबीर जायसी की भांति ही लोक कथाओं को काव्य का माध्यम बनाया और सामाजिक परंपराओं को आधारण बनाये रखने में लौकिक कथाओं के सहारे पर्याप्त योग दिया। अतः प्रेमाख्यान शब्द को व्यापक रूप में ग्रहण करना चाहिए।

उपर्युक्त विशेषताएं सभी अपभ्रंश के आख्यानों में मिलती हैं। यहां 'करकण्डुचरिउ' के आधार पर इन्हें पृथक पृथक निर्दिष्ट किया जा सकता है। इस प्रेमाख्यान की कथा संक्षेप में इस प्रकार है:—

चम्पापुरी के घोड़ीवाहन राजा एक बार कुसुम पुर जाकर वहां पद्मावती नामक युवती पर मुग्ध हो गए जो एक माली के संरक्षकत्व में रहती हुई वस्तुतः कौशांबी नरेश वस्तुपाल की पुत्री थी, जन्म के समय अनिष्ट कार्य होने के फ़लस्वरूप वह जल में प्रवाहित कर दी गई थी। घोड़ी वाहन ने उसे रानी बना लिया। पदमावती को एक बार वर्षा काल में नररूप धारण करके पति के साथ हाथी पर सवार होकर नगर परिभ्रमण करने का दोहद हुआ। यह प्रबन्ध कर दिया गया किन्तु दुष्ट हाथी राजा रानी को लेकर बीहड वन की ओर भाग निकला। राजा तो एक वृक्ष की डाल पकड कर बच गया किन्तु रानी को लेकर वह हाथी एक जलाशय में घुस पड़ा। वह वहां से कूद कर रानी बीहड वन में चली गई। उसके आगमन से वनस्थली हरी भरी हो गई। यह देख कर वनमाली ने उसे धर्म की बहिन मान लिया किन्तु ईर्ष्यालु मालिन के कारण उसे श्मशान भूमि शरण लेनी पड़ी। वहां उसके पुत्र ने जन्म लिया। उस पुत्र को एक मातंग, पूर्व जन्म का विद्याधर उड़ा ले गया। बालक को पढाया लिखाया और हाथ में खुजली होने से वह बालक करकण्डु कहलाया। कालोपरान्त जब एक दिन दन्तीपुर का राजा मरा तो हाथी के मंगल कलश द्वारा करकंडु ही वहां का राजा चुना गया, गिरिनगर की राजकन्या मदनावली के साथ उसका विवाह हो गया।

एक बार करकुंड की सभा में आकर चम्पा के राजदूत ने अपने राजा का प्रभुत्व स्वीकार करने को कहा जिस पर क्रुद्ध होकर उसने चम्पा नरेश पर चढाई कर दी। घोर युद्ध के बाद माता पदमावती ने पिता पुत्र का सम्मिलन कराया। धोंडीवाहन उसी को राजपाट सौंप कर स्वयं विरक्त हो गया। मन्त्री के कहने पर करकुंड ने दक्षिणपवर्ती राजाओं पर चढाई की। मार्ग में तेरापुर नामक स्थान पर उसने पार्श्वनाथ भगवान का दर्शन किया, उसने वहां दो गुफाएं और बनाई। इसी बीच एक विद्याधर उसकी प्रेमिका मदनावली को ले भागा। करकुंड उसके वियोग में विह्वल हो गया किन्तु पूर्व जन्मा एक बन्धु के समझाने पर कि पुनः उनका मिलन होगा, वह आगे बढा। यह आश्वासन देने के लिये उसे नरवाहनदत्त का आख्यान सुनाया गया। सिहंलद्वीप जाकर उसने राजकन्या रतिवेगा का पाणीग्रहण किया। जल मार्ग से लौटते समय एक भीमकाय मत्स्य ने नौका उलट दी। जल में कूद कर उसने मत्स्य को मार डाला पर अपनी नौका पर नहीं लौट सका। मन्त्री किसी प्रकार उस बेडे को किनारे पर ले आया। शोक पूर्ण रतिवेगा दूसरे किनारे जा लगी और देवी-पूजन करने लगी। देवी ने उसे अरिदमन का आख्यान सुनाया।

करकुंड का अपहरण कोई विद्याधरी कर ले गई। उससे विवाह करके करकुंड पुनः रतिवेगा के पास आया और चोल, चेर, पांड्य के नरेशों को उसने पराजित किया। उन राजाओं के मुकटों पर जिन प्रतिमा के दर्शन करने के कारण, जिन्हें वह रौंद चुका था, उसे पश्चाताप हुआ। तेरापुर स्थान में पुनः लौट आने पर उसे मदनावली मिल गई। चम्पापुरी में आकर वह सुख से रहने लगा। एक दिन वह उपवन में शीलगुप्त मुनिराज का दर्शन करने गया। उनके धर्मोपदेश से उसे वैराग्य उत्पन्न हुआ। उसने मुनिराज से तीन प्रश्न किए— उसे कुंडु क्यों हुई? उसके माता पिता का वियोग क्यों हुआ? उसकी प्रिय मदनावली का अपहरण क्यों किया गया? मुनिजी ने इन प्रश्नों का समाधान करने के लिए उसके तीन पूर्वभवों के वर्णन सुनाए। इन्हें सुनकर करकंडु अपने पुत्र वसुपाल को राजपाट सौंप कर विरक्त हो गया।

'करकुंड चरिउ' के लेखक मुनि कनकामर ने ग्रन्थ के आरम्भ में जिनेंद्रदेव का स्मरण किया है जो परमात्मा पद में लीन हैं और मृत्यु भय से रहित हैं। वे संयमरूपी सरोवर के राजहंस हैं, उत्तम गुणों से सम्पन्न हैं तथा आत्मरस के अगाध समुद्र हैं। कवि अपनी विनय प्रदर्शित करते हुए कहता है—

"वायरणु ण जाणामि जई विछंदू।
सुअ जलहि तरेव्वइं जइवि मंदु॥
जइ कहवण परसइ ललिय वाणि।
जइ वुहयण लोयहो तणिय काणी॥
जइ कविगण सेव हु मइंण कीय,
जइ जडमण संगइ मलिण कीय॥

अर्थात् न तो मैं व्याकरण जानता हूं और न छंद शास्त्र। शास्त्र रूपी समुद्र के पार पहुंचने में मन्दवुद्धि हूं। मेरी वाणी में लालित्य का प्रसार नहीं होता। बुद्धिमानों के सम्मुख लज्जा उत्पन्न होती है। मैंने कविजनों की सेवा भी नहीं की, मूर्खों की संगति से ही मेरी मति मलिन हुई है। तदुपरान्त कवि अपने पूर्ववर्ती कवियों स्वयंभू आदि का उल्लेख करते हुए कथानायक करकुंडु के चरित्र वर्णन में प्रवृत्त होता है। फिर उसने जम्बूद्वीप स्थित विशाल नगरी चम्पा का भव्य वर्णन किया है जहां रेशमी पताकाएं उड़ती हैं, स्थान स्थान पर रक्त कमल बिखरे हुए हैं।

कथानक दस संधियों में विभक्त है। संधि के अन्त में कथा के उपशीर्षक दिए गए हैं, पज्झटिका मुख्य छंद है। प्रत्येक संधि में छंद बदलते हैं। तीसरी संधि में मदनावली का चित्रपट देखने से करकुंडु के मन में जहां प्रेम का जागरण होता है वह रूपाकर्षण है। इसकी परिणिति विवाह में होती है। सातवीं संधि में रतिवेगा का पाणिग्रहण करते समय रतिभाव दर्शनीय है। वीर रस के प्रकाशक मुख्यस्थल दो हैं; तीसरी संधि में चम्पा नरेश की सेना के साथ युद्ध तथा आठवीं संधि में द्रविड़ राजाओं के साथ करकंडु का युद्ध, भयानक वीभत्स रसों की दृष्टि से श्मशानभूमि का चित्रण दर्शनीय है जहां चोर व्यापारी शूलों से भिदे हुए थे। मांस लोभी राक्षस फें-फें करते थे और अग्नि ज्वाला में जलते हुए जीवों से रणभूमि व्याप्त थी। अन्य भावों की अभिव्यक्ति भी हुई है। पद्मावती और मालिन की ईर्ष्या, पदमावती का पुत्र करकंडु की आशीर्वाद इसके अच्छे उदाहरण है। जैसे वनमाली की पत्नी कुसुमदत्ता पदमावती को देख कर अपने मन में विचार करती है :

एह णारि विसिट्ठी तें तहिं दिट्ठी किं णारि किं विज्जाहरीय। णाम णाय पियारी महि लह सारी चम्पय गोरी गुण भरिम ।। तसु रूव रिद्धि एह अइ विहाइ, णह रूवइं रवि ससि णाइं। सारउ सरिस इच्छतियाएं, इह सारिउ जघंउ कमलियाए ।।

अर्थात् यह असाधारण सुन्दरी कोई किन्नरी है या विद्याधरी, जो नेत्र दर्शना है, और गुणवान कदली इसकी जंघाओं का अनुकरण करती हैं, ऐरावत हाथी जिसके समक्ष नत मस्तक होकर मेरूशिखर को को चला गया है। फिर वह सोचती है यदि इसके सौन्दर्य ने मेरे पति को विचलित कर दिया तो वह मुझे निकाल देगा। इसलिए वह दोष लगा कर रानी को ही घर से बाहर निकाल देती है।

अलंकारों में रूपक, उत्प्रेक्षा, अतिशयोक्ति आदि के जो उदाहरण हैं, वे शास्त्रीयता के सांचे में ढले हैं। भाषा परिनिष्ठत अपभ्रंश की विशेषताओं से मुक्त है। करकंडु को देखने के लिए नगर नारियों का जो समूह उमड़ता है, उस समय भाषा का प्रवाह दर्शनीय है-कोई रमणी उत्कंठित होकर चली, तो कोई विह्वल द्वार पर ही खड़ी रह गई। कोई दौड़ पड़ी, किसी को अपने वस्त्राभूषणों की सुधि ही नहीं रही। कोई अधरों में काजल देने लगी, कोई करतल में नूपुर धारण करने लगी। कोई बिल्ली को ही सन्तान समझ कर गोद में उठाने लगी (संधि-३)। ऐसे वर्णनों द्वारा वस्तुस्थिति का बिंब ग्रहण कराया जाता है।

सांस्कृतिक दृष्टि से न केवल 'करकंड चरिउ" महत्वपूर्ण है बल्कि सभी अपभ्रंश आख्यानों का इस दृष्टि से विशेष स्थान है। यदि सभी आख्यानों का सांस्कृतिक विवेचन किया जाए तो दसवीं शताब्दी से लेकर सोलहवीं शताब्दी तक उत्तर भारत का एक जीता जागता चित्र सामने आ जाएगा। चम्पानगरी की समृद्धि उसके उच्च प्रसाद शिखरों से जानी जा सकती है जो मानों अपनी सैकड़ों भुजाओं से स्वर्ग छूते थे। वह पंचरंग मणियों की किरणों से दैदीप्य मान थी। राजा धाडी वाहन दीन दुखियों का परम आश्रय था। उसके मुख कमल में सरस्वती शोभायमान थी और हृदय में लक्ष्मी। जैन धर्म का प्रसार दक्षिण भारत तक हो चुका था। चोल, चेर, पाण्डय राजाओं ने ने करकंडु ने उनके मुकुटों पर पैर रखा तो उन पर जिन प्रतिमा बनी थी, उसे पश्चाताप हुआ। लोक प्रथाओं, पूजा-अनुष्ठानों, व्रत कथाओं, खानपान मनोरंजन के विविध उपायों का उल्लेख पर्याप्त हुआ है। मंगल हाथी के द्वारा करकंडु को राजा चुना जाना, अपशकुन होने के कारण जन्मते ही पदमावती को नदी में प्रवाहित कर देना, रतिवेगा से

विवाह करते समय मोतियों से तोरण सजाया जाना स्वर्ण निर्मित चौरियां लटकाना, मनोहारी निर्मल वेदियां बनाना, ये सभी प्रसंग आचारों व अनुष्ठानों के निर्देशक हैं। रतिवेगा देवी की उपासना लाल वस्त्रों से करती है। आज भी लोकपरम्परा में देवी पूजा के लिए लालवस्त्रों का ही विधान मिलता है।

कहीं रणनीति का परिचय होता है। रथ रथों से, हाथी हाथियों से घोडे घोडों से पुरुष पुरुषों से लडते थे जैसे करकंडु के द्रविड़ राजाओं के साथ युद्ध में वर्णित है। पद स्मरण करते हुए सात पग आगे बढ़ता है, फिर आनन्द भेरी बजवा कर दक्षिण कांक्षी लोगों को एकत्र करता है। मुनिवर के उपदेश जैन धर्म के विशिष्ट सिद्धान्तों की व्याख्या करते हैं। आदर सत्कार की यह प्रणाली अन्य काव्यों में भी मिलेगी।

इस आख्यान की वस्तु उत्पाहत नहीं है। 'उत्तराध्ययन सूत्र' के अनुसार जैन पुराणों में और बौद्धों के 'कुम्भकार जातक' में यह वृतात मिलता है। जैन परम्परा में करकण्डु को कलिग देश का राजा कहा गया है। इसकी अवांतर कथायें भी भिन्न स्रोतों से ली गई है। कुछ तत्त्व, जैसे अशुभ शिशु का जल प्रवाह कराना, महाभारत मे मिलते है। यदुवंशी पृथ्या कन्यावस्था में सूर्य का आवाहन करने से गर्भवती हो गई और प्रसव के उपरान्त उसने पुत्र को जल में छोड़ दिया जो महा प्रतापी कर्ण हुआ। कुछ कथाएं प्राचीन साहित्य में परिचित हैं जैसे रानी पदमावती के दोहद का वर्णन अपने पूर्व रूप में 'णायाधम्मकहाओ' में दिखाई देता है। महाराजा श्रेणिक की देवी धारिणी को वैसा ही दोहद होता है। रानी, राजा को साथ ले कर मन्द मन्द जल वृष्टि के बीच नगर का भ्रमण करती है। नरवाहनदत्त की कथा 'कथा सरित्सागर' से ली गई है। शुक की कथा, जो अरिदमन के कथानक में आई है, 'कथासरित्सागर' में सुमना राजा की कथा से तुलनीय है। 'कादम्बरी' में जिस प्रकार पण्डित तोता राजा को उपदेश देता है, यहां भी वह पैर उठा कर राजा का अभिनन्दन करता है। ये सभी कथासूत्र लोक जीवन से ग्रहण किए गए हैं जिन्हें कवि आकर्षक बना देता है। करकण्डु का कथानक अवदान की श्रेणी में आएगा।

लोकतत्त्व की दृष्टि से दूसरी संधि में मातंग विद्याधर द्वारा करकण्डु की शिक्षा के लिए कही गई कथा पठनीय है जिसमें मन्त्रशक्ति का प्रभाव बताया गया है। मदनावली के हरण से दुखी हो जाने वाले करकण्डु को तेरापुर में एक विद्याधर जो कथा सुनाता है, उसमें अलौकिक शक्ति के द्वारा न केवल मदन मञ्जूषा के हरण का उल्लेख है बल्कि ऋषिकन्या के श्राप से प्रेमी विद्याधर का शुक बन जाना भी वर्णित है। शाप द्वारा रूप परिवर्तन लोक कथाओं की प्रसिद्ध रूढ़ि है जो यहा प्रयुक्त हुई है। छठी संधि में मदनामर एक ऋषि कन्या का स्पर्श कर लेता है जिसके श्राप से वह शुक हो जाता है। प्रार्थना करने पर ऋषि कन्या श्राप की अवधि घटा कर कहती है– नरवाहन दत्त का रति विभ्रमा से परिणय हो जाने पर वह पुनः मनुष्य हो जाएगा।

शुभ शकुन की एक कथा सातवीं संधि में है जहां कोई क्षत्रिय कुमार ब्राह्मण से कह सुन कर उसके शकुन का फल स्वयं ले लेता है। वह लड़ते हुए साप और मेंढक को अपने शरीर का मांस देता है और वे दोनों मनुष्य रूप धारण कर उसके साथ हो लेते हैं। दसवीं संधि में ऐसी ही एक अलौकिक कथा मुनिराज शील गुप्त पदमावती को सुनाते हैं जिसमें उज्जैन नरेश की पुत्री किसी ब्राह्मण पुत्र का जन्म लेती है जो राक्षसी को वश में कर लेने के उपरान्त कभी शेरनी का दूध लाता है तो कभी बोलता हुआ पानी। मुनिवर ने जहां पूर्व भवों का वर्णन करके करकण्डु के प्रश्नों का समाधान किया

हैं उसमें भी अनेक अभिप्राय है। प्रेम मार्ग की कठिनाइयां, कठिन परीक्षाएं, नायक की सफलता आदि तत्त्व इसमें यथा स्थान मिलेंगे।

जहां तक प्रेम व्यंजना का प्रश्न है, हम देखते हैं रूपाकर्षण ही करकण्डु को मदनावली तथा रतिवेगा की ओर आकर्षित करता है। फिर भी कवि का उद्देश्य उसके चारित्रिक गौरव का चित्रण करना रहा है। नायक स्वयं तो अद्वितीय सुन्दर है ही उसे देखने के लिए दन्तीपुर की नगर वधुएं व्याकुल हो उठती है। मदनावली अद्भुत सुन्दरी है। सिंहल की राजकन्या रतिवेगा भी अलौकिक सुन्दरी है। मन्त्री सर्वत्र राजा की उद्देश्य पूर्ति में सहायक होते हैं। पूजा पाठ का विशेष माहात्म्य रतिवेगा के प्रसंग में ज्ञात होता है। ध्यान लगाने पर देवी प्रकट होकर उसे पति-प्राप्ति का वरदान देती है और स्वयं करकण्डु के पराक्रम का उल्लेख करती है। यह सूचना देती है कि उसने अन्य सात सौ कन्याएं विवाही हैं।

इस प्रकार 'करकण्ड चरिउ' की उपर्युक्त विशेषताएं न्यूनाधिक रूप से सभी जैन प्रेमाख्यानों में दिखाई देगी। ये प्रेमाख्यान भाव चित्रण, वातावरण निर्माण, पात्र एवं रूढ़ि संयोजन आदि की दृष्टि से संस्कृत-प्राकृत आख्यानों की ही परम्परा में हैं और उसी प्रकार कान्ता सम्मत उपदेश देने के लिए लिखे गये हैं। विशुद्ध मनोरंजन इनका लक्ष्य कभी नहीं रहा। एक तथ्य और प्रकाशित होता है कि इन कथाओं के रचना विधान में शास्त्रीय परम्परा तथा लोक परम्परा दोनों का पालन किया गया है।

हिन्दी साहित्य को ध्यान में रखते हुए अपभ्रंश के इन जैन-प्रेमाख्यानों का महत्त्व दो दृष्टियों से सर्वाधिक है। एक ओर इन्होंने कथा शैली, उपमान योजना, छन्द विधान वातावरण आदि दृष्टियों से हिन्दी के सूफी प्रेमाख्यानों का मार्ग प्रशस्त किया है तो दूसरी ओर एकाधिक जैन कवियों को मिलते-जुलते जैन कथानकों के आधार पर हिन्दी में रचना करने की प्रेरणा दी है।

सूफी काव्यों की जो मसनवी पद्धति कही जाती है अर्थात् कथारम्भ में अल्लाह की वन्दना, पैगम्बर व खलीफाओं का स्मरण, गुरू परम्परा, शाहे वक्त की चर्चा आदि, ये सब प्रवृत्तियां अपभ्रंश के उपर्युक्त आख्यानों में पूरी मिल जाती हैं। नायिकाओं के नाम पर ग्रन्थ का जैसा नामकरण सूफियों ने किया 'पदमावत', 'मिरगावती', 'मधुमालती' आदि वह अपभ्रंश रचनाओं 'विलासवती', 'शशिलेखा', 'मदन लेखा' की ही परम्परा में स्वीकृत होनी चाहिए। राजाओं का सिंहल कुमारी से विवाह, समुद्र यात्रा और जहाज टूटना भारतीय आख्यान साहित्य की चिर परिचित काव्य रूढ़ियां हैं जो इन्हीं अपभ्रंश आख्यानों से होकर कुतबन, जायसी, मंझन जैसे कवियों द्वारा अपनाई गई हैं। शुक का विलक्षण और पण्डित होना भी भारतीय तत्त्व है। वह सर्वत्र मार्गदर्शक है और प्रेम संदेशों का प्रिय वाहक है। चित्रदर्शन से प्रेम की उत्पत्ति इन सभी प्रेमाख्यानों में एक सी है। नायक नायिकाओं के जीवन में अलौकिक शक्तियां सहायक होती है वे चाहे व्यन्तर या विद्याधर हों अथवा कोई देवी देवता हों। देवी शक्तियां का रूपान्तरण लोक कथाओं में साधारण सी बात है। शिवजी प्रसन्न होकर सर्वत्र वरदान देते हैं और गौरापार्वती उनसे भी अधिक दयालु हैं।

इन वस्तुगत विशेषताओं के अतिरिक्त बारह महिनों का वर्णन, वृक्षों-फल फूलों का नाम परिगणन जो अपभ्रंश आख्यानों में हैं, उसे सूफी कवियों ने भी अपनाया है, सरोवर में स्नान करना, मन्दिर में शिव पार्वती का पूजन करना ऐसे काव्यों की अनिवार्य रूढ़ियां थी जिन्हें सूफी कवियों ने प्रचुरता से

अपनाया। छन्दों की दृष्टि से सूफियों द्वारा प्रयुक्त दोहा चौपाई छन्द अपभ्रंश की ही देन है। नाथ पंथियों का प्रभाव भी दोनों काव्य परम्पराओं पर एक जैसा है। अत: अपभ्रंश के इन प्रेमाख्यानों का अधिकाधिक अध्ययन सूफी प्रेमाख्यानों की विचार धारा तथा शैली विधान को समझने में विशेष सहायक होगा।

दूसरी ओर हिन्दी साहित्य में आदि काल से लेकर रीतिकाल के अन्त तक जैन कवियों द्वारा अनेक प्रेमाख्यान लिखे गए जिनका थोड़ा संकेत आरम्भ में किया गया है। 'नेमिनाथ फागु', 'ढोला मारु रा दूहा', 'मलय सुन्दरी कथा', हंसराज वच्छराज चउपई, 'विद्याविलास चउपई' 'थूलिभद्द कोसा प्रेम विलास' 'मिरगावती रास' 'प्रेम विलास, प्रेमलता' आदि कई ऐसे प्रेमाख्यान हैं जो हिन्दुओं द्वारा रचित कहे जाते हैं। इन हिन्दुओं में अधिक तर जैन कवि थे। सूफी काव्यों से ये जैन काव्य जिन विशेषताओं में दूर पड़ते हैं, वे विशेषताएँ हमें अपभ्रंश के जैन प्रेमाख्यानों में उपलब्ध होती है।

इस प्रकार अपभ्रंश के जैन प्रेमाख्यानों के साथ हिन्दी की तीन प्रेमाख्यान परम्पराओं का सम्बन्ध जुड़ता हैं—सूफी काव्य परम्परा, जैन काव्य परम्परा और अन्य कवियों द्वारा रचित प्रेमाख्यान काव्य परम्परा। आश्चर्य की बात है कि ऐसे महत्त्व पूर्ण विषय की ओर अभी लोगों का बहुत कम ध्यान गया है और अपभ्रंश के ये आख्यान काव्य राजस्थान के विविध ग्रन्थ भण्डारों में अज्ञात या अल्पज्ञात ही पड़े हुए हैं। इनके समुचित सम्पादन एवं प्रकाशन के उपरान्त ही संस्कृत से लेकर आधुनिक भाषाओं तक के भारतीय प्रेमाख्यानों को ठीक ठीक समझा जा सकेगा।

●●●

सुख–दुख

नहीं चाहता है कोई भी हत हो जाना
हर प्राणी को प्रिय है जीवन।
सभी चाहते जीवन में सुख
दुख कोई भी नहीं चाहता।।

—अर्हत्

जैन गूर्जर कवियों की हिन्दी सेवा

□ डा. हरीश गजानन शुक्ल

गुजरात जैन धर्म, सस्कृति एवं साहित्य का प्रमुख केन्द्र रहा है। इस प्रदेश में जैन धर्म का अस्तित्व तो इतिहासातीत काल से मिलता है। प्रथम तीर्थंकर ऋषभदेव के प्रधान गणधर पुंडरीक ने शत्रुंजयपर्वत से (गुजरात) निर्वाण से लाभ किया था।[1] २२ वें तीर्थंकर नेमिनाथ (कृष्ण के पैतृक भाई) का तो यह प्रधान विहार क्षेत्र था। जूनागढ़ के महाराजा उग्रसेन की राजकुमारी राजुल से नेमिनाथ के विवाह की तैयारी करने; भौतिक देह और संसारी भोगों से विरक्त हो गिरनार पर्वत पर समाधि लेने तथा तीर्थंकर मुनिसुव्रत के आश्रम का भृगुकुच्छ में होने के उल्लेख मिलते हैं[2] १३ वीं शती में वनराज चावड़ा, सौलकी राजा, शिलादित्य और वस्तुपाल तथा तेजपाल जैसे मंत्रियों ने जैन धर्म और साहित्य को पर्याप्त प्रोत्साहन दिया। जैन धर्म का यह उत्कृष्ट काल था। मुसलमान बादशाह भी इस धर्म के प्रति काफी सहिष्णु रहे। सम्राट अकबर को प्रतिबोध देने गये जैनाचार्य हीरविजयसूरि, जिनचन्द्र तथा उपाध्याय भानुचन्द्र, गुजरात से ही आगरा गए थे।

दिगम्बर और श्वेताम्बर दोनों ही सम्प्रदायों को साथ-साथ फलने-फूलने का सुअवसर देने का श्रेय गुजरात को ही है। गुजरात श्वेताम्बरों का तो प्रधान केन्द्र रहा ही है, किन्तु ईडर, नागौर, सूरत, बारडोली, घोधा आदि कई स्थानों में दिगम्बर भट्टारकों की भी गादियां प्रस्थापित हुई थीं। और उनका जबरदस्त प्रभाव रहा।

इस प्रान्त में जैन धर्म के चिरस्थायी प्रभाव के फ़लस्वरूप ही जैन-साधुओं, विद्वानों एवं गृहस्थ कवियों ने इसे सांस्कृति एवं साहित्यिक अमूल्य भेटों से अलंकृत किया। आधुनिक भारतीय आर्य भाषाओं में गुजराती और हिन्दी भाषा और साहित्य की इन कवियों के हाथों महत्ती सेवा हुई है। इन भाषाओं के विकासक्रम के अध्ययन के लिए यही जैन-ग्रंथ आज आधारभूत हैं। इस भाषा अध्ययन से यह स्पष्ट हो जाता है कि हिन्दी और गुजराती का उद्भव एक ही स्रोत से हुआ है। पं० नाथूराम प्रेमजी के इस अभिप्राय से भी यह बात स्पष्ट है—'ऐसा जान पड़ता है कि

१, जैन सिद्धांत भास्कर, प्रो० ज्योतिप्रसाद जैन का लेख, पृ० ४८ भाग २० किरण-१ जून, १९५३.

२, मध्यकालीन गुजराती साहित्य, मुंशी, पृ० ७२.

प्राकृत का जब अपभ्रंश होना प्रारम्भ हुआ, और फिर उसमें भी विशेष परिवर्तन होने लगा, तब उसका एक रूप गुजराती के सांचे में ढलने लगा और एक हिन्दी के सांचे में। यही कारण है जो हम ई० १६ वीं शताब्दी से जितने ही पहले की हिन्दी और गुजराती देखते हैं, दोनों में उतना ही साहश्य दिखलाई पड़ता है। यहां तक कि १३ वीं और १४ वीं शताब्दी की हिन्दी और गुजराती में एकता का भ्रम होने लगता है।[3] इसी भाषा साम्य के कारण वि० १७ वीं शताब्दी के कवि मालदेव के 'भोजप्रबन्ध' और 'पुरन्दर कुमार चउपई', जो वास्तव में हिन्दी ग्रन्थ है, गुजराती ग्रन्थ माने जाते रहे।[4]

निष्कर्षतः यह कहा जा सकता है कि १६ वीं-१७ वीं शती तक भारत के पश्चिमी भू-भाग में बसने वाले जैन कवि अपभ्रंश मिश्रित प्रायः एक सी भाषा का प्रयोग करते रहे। हां, प्रदेश विशेष की भाषा का इन पर प्रभाव अवश्य था। हिन्दी, गुजराती और राजस्थानी का विकास शौरसैनी के नागर अपभ्रंश से हुआ।[5] यहीं धारणा है कि १३ वीं-१७ वीं शती तक इन तीनों भाषाओं में साधारण प्रान्तीय भेद को छोड़कर विशेष अन्तर नहीं दिखता। श्री मो० द० देसाई ने इस भाषा को प्राचीन हिन्दी और प्राचीन गुजराती कहा है...." विक्रम की सातवी से ग्यारहवी शती तक अपभ्रंश की प्रधानता रही, फिर वह जूनी हिन्दी और जूनी गुजराती में परिणत हो गई।[6] गुजराती के प्रसिद्ध वैयाकरणी श्री कमलाशंकर प्राणशंकर त्रिवेदी ने गुजराती को हिन्दी का पुराना प्रान्तिक रूप मानते हुए कहा है—" स्वरूप में गुजराती हिन्दी की अपेक्षा प्राचीन है। वह उस भाषा का प्रान्तिक रूप है। चाणुक्य राजपूत इसे काठियावाड़ के प्रायद्वीप में ले गये और वहां दूसरी हिंन्दी बोलियों से अलग पड़ जाने से यह धीरे-धीरे स्वतंत्र भाषा बनी। इस प्रकार हिन्दी में जो पुराने रूप लुप्त हो गये हैं वे भी इसमें कायम हैं।[7]

श्री मोतीलाल मेनारिया ने शार्गधंर, असाहत, श्रीधर, शालिभद्रसूरि, विजय सेनसूरि विनयचन्द्रसूरि आदि गुजराती कवियों की भी गणना राजस्थानी कवियों में की है।[8] इन्हीं कवियों और उनकी कृतियों की गणना हिन्दी साहित्य के इतिहासकारों ने हिन्दी में की है और उनकी भाषा को प्राचीन हिन्दी अथवा अपभ्रंश कहा है। मिश्र बन्धुओं ने अपने ग्रंथ 'मिश्रबन्धु विनोद' भाग १ में धर्मसूरि, विजयसेन-सूरी विजयचन्द्रसूरि, जिनपद्मसूरि और सोम-सुन्दरसूरि आदि जैन-गूर्जर कवियों का उल्लेख किया है।

---

३. हिन्दी जैन साहित्य का इतिहास, सप्तम् हि० सा०स० कार्य विवरण भाग-२, पृ० ३
४. वही पृ० ४४-४५.
५. हिन्दी भाषा का इतिहास, धीरेन्द्र वर्मा.
६. जैन-गूर्जर कविओं, भाग-१, पृ० १०
७. गुजराती भाषानु बृहद् व्याकरण, प्रथम संस्करण, पृ २१.
८. राजस्थानी भाषा और साहित्य, मोतीलाल मेनारिया.

इस प्रकार एक ही सामान्य साहित्य को हिन्दी, राजस्थानी अथवा गुजराती सिद्ध करने के प्रयत्न बराबर होते रहे हैं। राजनैतिक कारणों से हिन्दी तथा राजस्थानी से गुजराती के अलग हो जाने और उसके स्वतन्त्र रूप से विकसित हो जाने के पश्चात् गुजराती कवियों का हिन्दी के प्रति परम्परागत प्रेम बना रहा। यही कारण है कि वे स्वभाषा के साथ-साथ हिन्दी में भी रचनाएं करते रहे। हिन्दी की यह दीर्घकालीन परम्परा उसकी सर्वप्रियता और सर्वदेशिकता सूचित करती है।

यहां तक कि इस परम्परा के निर्वाह हेतु अथवा अपने हिन्दी प्रेम को अभिव्यक्त करने के लिए, गुजराती कवियों ने अपने गुजराती ग्रन्थों में भी हिन्दी अवतरण उद्धृत किये है। उदाहरणार्थ नयसुन्दर ने 'रूपचन्द कुंवरदास', 'नलदमयंतीरास', 'गिरनार उद्धाररास', 'सुरसुन्दरीरासे', ऋषभदास के 'कुमारपालरास', हीरविजयसूरिरास. 'हितशिक्षारास' तथा समयसुन्दर के 'नलदमयंतीरास' आदि द्रष्टव्य है। ऋषभदास की कृतियों से पता चलता है कि उस समय व्यापार के लिए भारत में आने वाले विदेशी-अंग्रेज आदि मुगलसम्राटों से उर्दू या हिन्दी में व्यवहार करते थे।

जनभाषा में धर्मप्रचार तथा साहित्य सृजन जैन कवियों का उल्लेखनीय कार्य रहा है। इन कवियों का विहार राजस्थान एवं गुजरात में अधिक रहा। गुजरात में हिन्दी भाषा के प्रभाव और प्रचार ने इन्हें आकर्षित किया। फलतः हिन्दी भाषा में इनके रचित छोटे-बड़े ग्रन्थ १५ वीं शती से आज तक अच्छे परिमाण में प्राप्त होते रहे हैं। इन्होंने अपनी कृतियों में भारतीय साहित्य की अजस्त्र धारा बहायी तथा आध्यात्मिक प्रवचनों, गीतकाव्यों तथा मुक्तक द्वारा जन-जीवन के नैतिक धरातल को सदैव ऊंचा उठाने का प्रयत्न किया है। ये जैन सन्त विविध भाषाओं के ज्ञाता होते हुए भी इन्हें भाषा विशेष से कभी मोह नहीं रहा। संस्कृत, प्राकृत, अपभ्रंश हिन्दी, राजस्थानी, गुजराती आदि सभी भाषाएं इनकी अपनी थीं, प्रान्तवाद के झगड़ों में ये कभी नहीं उतरे। साहित्य रचना का वृहद् उद्देश्य-आत्मोन्नति और जनकल्याण केन्द्र में रखकर अपनी आत्मानुरति से जन-मन को ये परिप्लावित करते रहे।

ज्ञानानंद, यशोविजय, आनंदघन, विनयविजय, जिनराजसूरि, समयसुन्दर, लक्ष्मीवल्लभ, जिनहर्ष, श्रीमद्देवचन्द्र, किसनदास आदि ऐसे ही श्रेष्ठ कवि है जिनके अन्तर के अनेकों की वेगवती धारा धर्म सम्प्रदाय आदि वाह्य मर्यादाओं की अवहेलना कर अपने प्रकृत सांस्कृतिक रूप का परिचय देती हुई वह निकली हैं। इसी वृहद् उद्देष्य को लेकर गुजरात के दिगम्बर जैन कवि भी अवतरित हुए। राजस्थान का वागड़ प्रदेश (विशेषतः डूंगरपुर, सागवाड़) गुजरात प्रान्त से लगा हुआ है)। अतः गुजरात में होने वाले भट्टारकों का राजस्थान से भी निकट का सम्पर्क रहा। गुजरात के इन भट्टारकों के मुख्य केन्द्र नवसारी, सूरत, भडौच, जांबूसर, घोघा तथा उत्तर-गुजरात में ईडर आदि थे। सौराष्ट्र में गिरनार और शत्रुंजय की यात्रा के लिए भी इनका आगमन बराबर होता था।[६] इन भट्टारकों का भी साहित्य विशेषतः राजस्थान के विभिन्न जैन भण्डारों में (रिखबदेव, डूंगरपुर, सागवाड़ा एवं उदयपुर) विपुल परिमाण में उपलब्ध है। इन भट्टारक संतों ने तो हिन्दी को राष्ट्रभाषा बनाने का स्वप्न ८ वीं

---

६. भट्टारक सम्प्रदाय, विद्याधर जोरहापुरकर, पृ० ६,७.

शताब्दी से पूर्व ही देखना प्रारम्भ कर दिया था। मुनि रामसिंह का 'दोहा पाहुड' हिन्दी साहित्य की एक अमूल्य कृति है जिसकी तुलना में भाषा साहित्य की वहुत कम कृतियां आ सकेंगी। महाकवि तुलसीदास को तो १७ वीं शताब्दी में भी हिन्दी भाषा में 'राम चरित मानस' लिखने में झिझक हो रही थी किन्तु इन जैन संतों ने उनके ८०० वर्ष पहले ही साहस के साथ प्राचीन हिन्दी रचनाएं लिखना प्रारम्भ कर दिया था।[१०] गूर्जर भट्टारक कवियों की भी हिन्दी रचनाएं १५ वीं शती से प्राप्त होती है। १५ वी शती के ऐसे गूर्जर भट्टारकों में भट्टारक सकल कीर्ति और ब्रह्मजिनदास उल्लेखनीय हैं। ये संस्कृत के प्रकाण्ड पण्डित थे। फिर भी इन्होंने लोकभाषा के माध्यम से राजस्थान और गुजरात में जैन साहित्य और संस्कृत के निर्माण में अपूर्व योग दिया। ये अणहिलपुर पट्टण के निवासी थे।[११] इनके शिष्य ब्रह्मजिनदास भी पाटण निवासी हूंबड जाति के श्रावक थे।[१२] इन्होंने ६० से भी अधिक रचनाएं लिखकर हिन्दी साहित्य की श्री वृद्धि की। इन रचनाओं में रामसीतारास, श्रीपालरास, यशोधररास, भविष्यदत्तरास, परमहंसरास, हरिवशपुराण, आदिनाथपुराण आदि विशेष उल्लेखनीय हैं। इनकी भाषा शैली की दृष्टि से इनके 'परमहंसरास' से एक उदाहरण द्रष्टव्य हैं—

पाषाण भाट्टि जिम होई,
गोरस भाट्टि जिमि घृत होई।
तिल सारे तैल वसे जिमिभंग,
तिम शरीर आत्मा अभंग।।
काष्ठ भाटिट् आगिनि जिमि होई,
कुसुम परिमल भाट्टि नेटट।
नीर जलद सीत जिमि नीर,
तेम आत्मा वसै जगत सरीर।।

१६ वीं शती के भट्टारक कवियों में आचार्य सोमकीर्ति, भट्टारक, ज्ञानभूषण तथा भट्टारक विजयकीर्ति विशेष उल्लेखनीय हैं। आचार्य सोमकीर्ति का सम्वन्ध काष्ठासघ की नन्दीतट शाखा से था। इनका विहार विशेषतः राजस्थान और गुजरात में रहा। इनकी रचनाओं में 'यशोधर रास' विशेष महत्व की रचना है, जिस पर गुजराती प्रभाव स्पष्ट लक्षित है। भट्टारक ज्ञानभूषण मूल गुजरात के निवासी थे और सागवाड़ा की भट्टारक गादी पर आसीन हुए थे।[१३] इनकी हिन्दी कृतियां आदिश्वरफाग, 'जलागणरास' 'पोसद्वरास' षटकर्मरस तथा नागद्रारास है। आदिश्वररास इनकी एक चरित्र प्रधान सुन्दर रचना है। भट्टारक विजयकीर्ति इन्हीं के शिष्य और उत्तराधिकारी थे जो अपनी सांस्कृतिक सेवाओं द्वारा गुजरात और राजस्थान की जनता की गहरी आस्था प्राप्त कर सके थे।

सत्रहवीं और अठारहवी शती के भट्टारकों में शुभचन्द्र, ब्रह्मजयसागर, रतनकीर्ति, कुमुदचन्द्र, चन्द्रकीर्ति, वीरचन्द, सकलभूपण, रत्नचन्द्र आदि अच्छे कवि हो गये हैं। गुजरात के इन भट्टारकों और उनके शिष्यों ने हिन्दी कविता की महत्ती

---

१०. राजस्थान के जैन संत-व्यक्तित्व एवं कृत्तित्व, डा. कस्तूरचंद कासलीवाल, प्रस्तावना
११. वही, पृ० १
१२. वही, पृ २३
१३. राजस्थान के जैन संत-व्यक्तित्व एवं कृत्तित्व, डा० कस्तूरचन्द कासलीवाल, पृ ५०.

सेवा की है। ये भट्टारक सम्प्रदाय शिक्षा और साहित्य के जीवन्त केन्द्र थे।

कच्छ (गुजरात) के महाराव लखपतसिंहजी ने अपनी राजधानी भुज में अठारहवी शताब्दी में ब्रज-भाषा के प्रचार एवं साहित्य सृजन हेतु एक पाठ-शाला की स्थापना की थी। दूलेराय कारणीजी ने अपने ग्रन्थ 'कच्छनासंतों अनेकविग्रों' में लिखा है—कवि श्री लखपतसिंहजी ने इस संस्था की स्थापना करके समस्त देश पर एक महान उपकार किया है। जहां कवि होने का प्रमाण-पत्र प्राप्त किया जा सके, ऐसी एक भी संस्था भारतवर्ष में कहीं नहीं थी। इस संस्था की स्थापना करके महा-राव ने समस्त देश की एक बड़ी कमी दूर करदी। इस संस्था से निकलने वाले कवियों ने सौराष्ट्र और राजस्थान के अनेक प्रदेशों में अपना नाम प्रख्यात कर इस संस्था को यशस्वी बनाया है।

इस विद्यालय में भारत भर के विद्यार्थी आते थे और उन्हें राज्य की ओर से खाने-पीने तथा आवास की पूर्ण व्यवस्था मिलती थी। यहाँ के प्रथम अध्यापक के रूप में जैन यति एवं कवि कनक-कुशल और उनके शिष्य कुंवरकुशल तथा लक्ष्मी कुशल, ज्ञानकुशल, कीर्तिकुशल गंगकुशल आदि की हिन्दी सेवाओं को भुलाया नहीं जा सकता। हिन्दी के शिक्षण और सर्जन दोनों ही क्षेत्रों में इनका असाधारण कृत्तित्व राष्ट्रभाषा के के इतिहास में अमर रहेगा। महाराव लखपतसिंह स्वयं भी एक अच्छे कवि थे।

नाहटा जी के उल्लेख के अनुसार—'करीब डेढ़ सौ वर्षो तक व्रजभाषा के प्रचार व शिक्षण का जो कार्य इस विद्यालय द्वारा हुआ वह हिन्दी साहित्य के इतिहास में विशेष रूप से उल्लेखनीय है।'[१४] यह विद्यालय छन्द और काव्यों के अध्ययन-अध्यापन का एक अच्छा केन्द्र था। यदि कनककुशल की परम्परा में यह करीब २०० वर्ष तक चलता रहा। अहिन्दी भाषी विद्वानों द्वारा व्रजभाषा में काव्यरचना की परम्परा महत्त्वपूर्ण है ही परन्तु व्रजभाषा पाठ-शाला की प्रस्थापना और निःशुल्क शिक्षा देने की यह बात विशेष महत्त्व की है। इस दृष्टि से गूर्जर विद्वानों का यह व्रजभाषा प्रचार का कार्य निःसंदेह अनूठा है।

जिनकी मातृभाषा हिन्दी नहीं, उन लोगों ने भी कितनी शताब्दियों तक हिन्दी में रचना करने की परम्परा सजीव रखी है। इससे स्पष्ट है, प्रारम्भ से ही हिन्दी एक व्यापक भाषा के रूप में विकसित होती रही है। यह अन्तर्प्रान्तीय व्यवहार की और संस्कृति की वाहक भाषा रही है। हिन्दी भाषी प्रदेश का निकटवर्ती प्रदेश होने के कारण भी गुजरात में हिन्दी भाषा का प्रचार अधिक रहा है।

गूर्जर जैन कवियों का हिन्दी में साहित्य रचना के प्रति परम्परागत मोह रहा है। प्रान्तीयता को लेकर भाषा के झगड़े इनमें कभी नहीं उठे, उठे भी तो लोकभाषा को लेकर ही। हिन्दी में लोकभाषा और लोकजीवन के सभी गुण विद्यमान थे। अतः गूर्जर जैन कवियों ने भी इसे सहर्ष अपनाया। इनकी हिन्दी भाषा में, शिक्षा और प्रान्तीय प्रभाओं के कारण थोड़ा अन्तर अवश्य आया किन्तु भाषा के एक सामान्य रूप अथवा उसकी एकरूपता में कोई विकृति नहीं आने पाई। गांधीजी ने हिन्दी के जिस रूप की कल्पना की थी, जैन गूर्जर कवियों की रचनाओं में वह उपलब्ध है। हां, साधु सम्प्रदायों में पले कवियों की भाषा संस्कृतनिष्ठ रही है।

---

१४. आचार्य विजय वल्लभसूरि स्मारक ग्रन्थ, श्री अगरचन्द नाहटा का लेख, पृ० ६७।

इस प्रकार जैन-गूर्जर कवियों ने १५ वीं शती से आज तक प्राचीन हिन्दी या प्राचीन पश्चिमी राजस्थानी, डिंगल, व्रज, अवधी, खड़ी बोली, उर्दू आदि भाषाओं में अनेक गौरवग्रन्थों की रचना की है। इससे स्पष्ट है कि हिन्दी, इन अहिन्दीभाषी जैन कवियों पर वलात् थोपी या लादी नहीं गई थी, उन्होंने उसे स्वयं ही श्रद्धा और प्रेम से अपनाया था और अपनी अभिव्यक्ति का माध्यम वनाया था।

जैसा कि इन कवियों की रचनाओं पर आरोप लगाया जाता रहा है कि इनकी रचनायें धार्मिक सकीर्णता से ग्रस्त हैं अतः साहित्यिक मूल्य कम है। वस्तुतः धर्म और आध्यात्मिकता तो इनकी मूल प्रेरणा रही है, इनमें मात्र नीरसता और शुष्कता का पिष्टपेशन नहीं, काव्यरस का चरम परिपाक भी है। श्वेताम्बर और दिगम्बर विद्वानों ने इस कृत्तियों के माध्यम से अनेक विषयों पर अनेक रूपों में प्रकाश डाला है। ये सव विषय मात्र धार्मिक ही नहीं, लोकोपकारक भी हैं। इन कवियों ने उपदेश को हृदयंगम कराने की नवीन पद्धति का अनुसरण किया है। इन्होंने काव्यरस और अध्यात्मरस का कवीर, सूर, तुलसी की तरह ही समन्वय किया है।

हिन्दी को अपनी वाणी का माध्यम वनाकर इन जैन-गूर्जर संत कवियों ने भक्ति, वैराग्य एवं ज्ञान का उपदेश देकर काव्य, इतिहास और धर्म साधना की जो त्रिवेणी वहाई है—उनमें आज भी हम उनकी शतशत भावोर्मियों का स्पंदन अनुभव कर सकते हैं। इनकी भाषा सरल और प्रवाहपूर्ण है। इन्होंने कई छन्द विविधराग–रागिनियों में प्रयुक्त किये। ये अलंकारों में मर्यादाशील वने रहे। अलंकारों के कारण कहीं स्वाभाविकता समाप्त नहीं हुई। इनके काव्य में काव्यरूपों की विविधता और मौलिकता के भी दर्शन होते हैं। विभिन्न राग-रागिनियों में निवद्ध इन कवियों की कविता काव्य संगीत एवं भक्ति का मधुर संयोग वनकर आती है।

उपसंहारतः गुजरात के इन जैन संतों की वाणी भी भारत व्यापी संत परम्परा की एक अविच्छेद कड़ी प्रतीत होती है। साथ ही इन कवियों की देन मात्र भाषा के क्षेत्र में ही महत्त्वपूर्ण नहीं, वल्कि विचारों में समन्वयवादी, धर्म में उदार, संस्कृति के क्षेत्र में व्यापक तथा साहित्य के क्षेत्र में विविध काव्यरूपों, उदात्त भावनाओं एवं कल्पनाओं से परिपूर्ण है।

जैन गज़ल साहित्य : एक परिचयात्मक आलेख

□डा० भगवतीलाल शर्मा

नूतन काव्य-विधाओं का प्रवर्तन और प्रचलित काव्य-रूपों का परिवर्तन-प्रयोग जैन कवि-सन्तों की अपनी अन्यतम विशिष्टता रही है। ऐसी ही उनकी प्रतिभा की उद्भासक देन है उनके द्वारा रचित यात्रा-परक गज़ल साहित्य। जैन-संतों की यात्रा-गंगा सदैव प्रवहमान रही है। इस यात्रा गंगा में जो भी उनका पड़ाव रहा, वह इस गज़ल साहित्य में प्रयाग बन गया है।

गज़ल अरबी भाषा का शब्द है जिसका अर्थ है स्त्री से बात करना।[1] अतः अच्छी गज़ल वही समझी जाती है जिसमें इश्कों-मुहब्बत की बातें सच्चाई और असर के साथ लिखी जायं।[2] गज़ल के अन्य शाब्दिक अर्थ हैं घंटा, घंटे की आवाज, प्रेम की कविता, फारसी या उर्दू का एक छंद।[3] जैन-कवियों द्वारा रचित गज़ल साहित्य परिवर्तित वर्ण्यविषय और इस छंद की गेयता दोनों लिए हुए हैं। "लोक-प्रचलित इस गज़ल साहित्य का उर्दू काव्य की गज़ल से न तो वाह्य रूप में कोई साम्य है और न वर्ण्य विषय में ही।[4]

छंद और संगीत के निर्माण-तत्त्व समान हैं। संगीत की शैली पर निर्मित गज़ल भी ऐसा ही छंद है। अपने अभिष्ट की अभिव्यक्ति हेतु इस परिवर्तित छन्द-स्वरूप को अपनाकर जैन-कवियों ने अन्य भाषा के छन्दों के प्रति अपनी हृदय-विशालता और संगीत प्रेम का परिचय दिया तथा काव्य की एक विशेष विद्या का वह वट-वृक्ष लगाया जो अनुभूति और अभिव्यक्ति को हर दृष्टि से अनूठा है।

इस गज़ल साहित्य में हमें पंजाब, बंगाल, राजस्थान, गुजरात, मध्यप्रदेश आदि के विस्तृत भू-खण्ड के लाहोर, बीकानेर, जोधपुर, गिरनार, भावनगर, उदयपुर, कापरड़ा, सूरत, खंभात, बड़ोदा, पाटण, डीसा, पोरबन्दर, मुर्शिदाबाद,

---

१. उर्दू साहित्य का इतिहासः एहतिशाम हुसैनः पृ० ३५५,
२ हिन्दी साहित्य कोशः प्रथम भागः संपा डा० धीरेन्द्र वर्मा आदि, पृ० २२५.
३. अवधी कोशः रामाज्ञा द्विवेदी "समीर": पृ० ६४.
४. हिन्दी साहित्य के शृंगार-युग में संगीत काव्यः डा० हेम भटनागर पृ० २५६

इन्दौर, मंगलोर आदि नगर विशेषों का चित्रात्मक वर्णन प्राप्त होता है।[५]

इस काव्य-विद्या को विशेष छन्द के ढंग पर गाये जाने के कारण ही गज़ल नाम दिया गया है। चार-चार वर्णों पर यति लिये हुए इसमें आठ वर्णों की एक पंक्ति होती है। अधिक वर्ण हुए तो ताल की चार मात्राओं में उन्हें समाहित कर दिया जाता है। प्रत्येक पंक्ति के बीच में कि, क, के शब्दों को रखकर दूसरी पंक्ति को उसी लय और ताल में पकड़ लेना इसका विशेष ढंग है।

विशेष काव्य-विद्या की दृष्टि से ही नहीं, इस यात्रा-प्रधान साहित्य की सांस्कृतिक महत्ता भी है। तत्कालीन नगर-व्यवस्था, रचना, उसकी प्राकृतिक छवि, खान-पान, वेश-भूषा, रीति-रिवाज, व्यापारिक-समृद्धि, उद्योग-धन्धे, विदेशों से व्यापारिक सम्पर्क आदि का संकेत हमें इनमें मिलता है। सांस्कृतिक दृष्टि से समृद्ध इन काव्यों में तद्‌युगीन शासक और शासन-व्यवस्था इत्यादि का इतिवृत्त प्रस्तुत कर इन गज़लों को ऐतिहासिक दृष्टि से भी समृद्ध और सम्पन्न बनाने का प्रयास किया गया है। काव्य, इतिहास और संस्कृति-तीनों ही दृष्टियों से यह गज़ल साहित्य अनूठा है। अतिशयोक्ति नहीं होगी यदि इन्हें इनमें वर्णित नगरों का तत्कालीन 'गाइड' कहा जाय।

अभिव्यक्ति पक्ष भी इन गज़लों का समृद्ध है। गज़लों में उस समय साधारण भाषा का ही प्रयोग किया गया है जिससे इनमें अनूठी स्वाभाविकता और सरलता-सरसता का संचार हो गया है। काव्यों में प्रचलित जन-भाषा के प्रयोग यों ही बहुत कम मिलते हैं। इन गज़लों में १८ वीं, १९ वीं, २० वीं विक्रम शती की जन-जिह्वा भी मिलेगी जिसका अपना भाषा वैज्ञानिक मूल्य है। इन गजलों में गज़ल, रेखता के अतिरिक्त दोहा, सोरठा, पद्धरी, हाटकी, हणूफाल, कवित्त, छप्पय, लावणी, मोतीदाम आदि छंदों के प्रयोग से पर्याप्त छंद-वैविध्य भी विद्यमान है। भाषा प्रसाद और माधुर्य गुणोपेत है जिसमें वयण-सगाई, अनुप्रास, रूपक, उपमा, स्वभावोक्ति, उत्प्रेक्षा आदि अलंकारों को भी यत्र-तत्र प्रयुक्त किया गया है। इनसे वर्णन और भी आकर्षक बन गये हैं। इनमें मंगलाचरण भरत वाक्य, कलश कवित्त रखने आदि की काव्य-रूढ़ियां भी मिलेंगी।

यह गज़ल साहित्य मात्रा में भी अल्प नहीं है। २०-२५ छन्दों की लघु रचनाओं लेकर २००-२५० छन्दों तक की रचनायें बहुतायत से उपलब्ध होती है जो भिन्न-भिन्न कवियों की वर्णन क्षमता की द्योतक हैं। इसका अल्पांश पद्म श्री मुनि जिन-विजय, श्री अगरचन्द नाहटा, श्री मुनि कान्तिसागर आदि द्वारा प्रकाश में भी लाया गया है।

आगे कतिपय प्रमुख गज़लों का परिचयात्मक आलेख प्रस्तुत किया जाता है—

---

५. जैनेतर कवियों का आबू (चेलो) दुगोली गांव (अर्जुन), उदयपुर (भोज) आदि पर लिखा गया गज़ल साहित्य भी उपलब्ध होता है। व्रज भाषा में कवि नन्ददास की रचना 'वियोग बोली गज़ल' भी मिली है।

१. आगरा गजलः

इसके रचयिता लक्ष्मीचन्द हैं और इसकी रचना सं० १७८० आषाढ़ शुक्ला त्रयोदशी को हुई।[६] गजल में ६४ पद्य हैं जिनमें आगरा की उत्पत्ति और इतिहास-कथन कवि का उद्देश्य रहा है –

सरसती माता सुभावनी क, देहो दास कुंजानी क।
अकबराबाद की टुक आज, उतपति कहत है कविराज ॥१॥

कवि ने नगर के सौन्दर्य से अभिभूत हो गज़लान्त में अपनी मनोकामना इस तरह अभिव्यक्त की है—

अकबराबाद है ऐसा क, लाखयँ इन्द्रपुर तैसा क।
सब गुन सहर है भरपूर, देखत जात है दुख दूर ॥६१॥
जब लग गगन अरु इंदाक, पृथवी सूरगनचंदाक।
सुबसों तब लगँ पुर एह, सहर आगरा गुन गेह ॥६२॥

२. इन्दौर वर्णनः

इसका रचयिता अज्ञात है। दोहा, पद्धरी आदि विभिन्न छन्दों में इसके अज्ञात रचियता ने इन्दौर वर्णन प्रस्तुत किया है —

दोहा : सकल गुणँ करि सोहतो, सकल देश सिरदार।
अति इन्दौर उद्योत है। सब जाणत संसार ॥१॥
छंद पद्धड़ी : सब सिरै सहर इन्दौर साच, वर्णवुं गुनह तिनके जु वाच।
जिण नगर मांहि धनवाण जाण, वलि बुद्धि सुद्धि बलवंत वखाण ॥

छन्दों की भाषा अत्यन्त सरल है और इनमें 'वयण-सगाई' 'शब्दालंकार' का सफल निर्वाह हुआ है।

३. उदयपुर गजलः

यह खरतरगच्छीय जैन कवि खेतल की ८० पद्यों की रचना है जो उन्होंने राणा अमर-सिंह के राज्यकाल में सं० १७५७ के मार्गशीर्ष में रची—

खरतर जती कवि खेताक, आखै मौज नुं एताक।
राणा अमर कायम राज, लायक सुन जस मुख लाज ॥७८॥
संवत सतरै सतावना, मिगसर मास धुर पख धन्न।
कीन्हीं गजल कौतुक काज, लायक सुणतसु मुखलाज ॥८०॥

इसमें सर्वप्रथम मेवाड़ के राज्यवंश के इष्टदेव श्री एकलिंगजी का स्मरण किया गया है और तत्पश्चात् वहां के प्राकृतिक-सौन्दर्य का वर्णन किया गया है। गजल में राणा अमरसिंहजी का यश वर्णन भी कवि ने किया है—

जपूं आदि इकलिंगजी, नाथ दुवारै नाथ
गुण उदयापुर गावतां, संतां करा सनाथ ॥१॥
सघन अब गिरिवर सघन, सिखर रमै सुर राय।
राठ सेन सुप्रसन रही, प्रथम नमंता पाय ॥२॥
वाड़ी, तलाव, गिर, बाग, वन, चक्रवर्ति ढलते चमर।
अन भंग जंग कीरत अमर, अमरसिंह जुग-जुग अमर ॥७६॥

---

६. संवत सतरै सै असी क्या क, आषाढ़ मास चित बसियाक। सुदि पख तेरमी तारीख, कीनी गज़ल धुए बारीक ॥६३॥
अपनी बुद्धि के सारू क, कीनी गज़ल ए वारू क।
लखमी करत है अरदास, नित प्रति कीजिए सुविलास॥ ॥६४॥

२. कापड़रा गजल:

जोधपुर-विलाड़ा मार्ग पर स्थित कापरडा जैन-समाज का प्रसिद्ध तीर्थ है। इसी श्रृद्धा-स्थल को वर्ण्य बनाकर तपागच्छीय यति गुलाब विजय ने ३१ पद्यों की यह लघु-रचना संवत् १८७२ की चैत्र कृष्णा तृतीया को रची।[७] उस समय कापरड़ा में राठौड़ खुशालसिंह का राज्य था और नगर की धन-धान्य सम्पन्नता देखते ही बनती थी--

माम नृपति महाराज आज अधिक यश गाजै।
कापरड़े कमधज खुशालसिंह नित राजै ॥३१॥

ज्ञानी ध्यानी बहुगुणी, पाखंड रहे न कोय।
इण खड़े जनपुर अधिक, रंग रली घर होय ॥४॥

गिरनार गजलः

यह खतरगच्छीय यति कल्याण की रचना है—

खरतर जती है सुप्रमाण, कवि यु कहत है कल्याण ॥५४॥

कवि ने सर्व प्रथम मंगलाचरण प्रस्तुत करते हुए तत्कालीन नरेश का परिचय भी दिया है—

वर दे माता वागेसरी, गजल कहु गुण खाण।
जबर जंग है जीर्ण गढ़, वाचा तास वखाण ॥१॥
महवत खान महीपति, रघु विराजै राज।
गय थट्ट हय थट्ट गाजता, सब ही सारै साज ॥२॥

तत्पश्चात् कवि ने वहां के देवालयों आदि का अनुपम चित्र खींचा है—

दिन दिन होत है दैकार,
गिरवर गाजते गिरनार।
दामोदर कुण्ड है सुखदाय,
करतां स्नान पातक जाय ॥१॥

देवल ऊच है धज दण्ड,
नीचे खूब खेती कुन्ड।
भवेसर नाथ सांनू देव,
सारत लोक जाकी सेव ॥२॥

कवि ने वहां के अनुपम नारी समाज का संकेत देते हुए सं० १८३८ माह वदि-२ को अपनी रचना समाप्त की—

ग्रैसी नारियां अलेख,
उपमा कही ऐसी देख।
संवत अढार अड़तीसैक,
महा वदि बीज कै दिवसैक ॥५१॥

गिरनार जूनागढ़ वर्णन :

यह तपागच्छीय कवि मनरूप विजय की कृत्ति है। कृत्ति से इसका रचनाकाल तो ज्ञात नहीं होता, परन्तु कवि की अन्य कृत्तियों को दृष्टि में रखते हुए यह रचना सं. १८६० के आसपास की होनी चाहिये। कवि ने सौराष्ट्र स्थित इस तीर्थ स्थल को देखने का निमन्त्रण देते हुए अपना यह्र अपना यह वर्णन समाप्त किया है—

जूनोगढ़ जग येष्ट, श्रेष्ट वानी तिहां सो है।
दल सब्बल दईवान, मन्त्र जन देखत मोहै ॥
श्रावक जिहां सुखकार, पार जिनका कुन पावै।
धरम करत धनवंन, गुणह बढ़ बड़े जु गावै ॥

७. संवत अठारह जाणु'क, वरस बहुत्तर आणुक। चैत्र मास है चंगा, वद पख तीज दिन रंगा ॥२९॥ तपागच्छ यति है गुलाब, किया इस गजल का जाब। जिसने कहियै कैसीक, आंखिया देखी ऐसी क ॥३०॥

तिए देश तीर्थ शत्रुञ्ज शिखर,
वले गिरनार वखाणियै।
मनरूप विजय कवि कहै मरद,
अवस सोरठ चित आणिये ।।१।।

(७) चित्तौड़ गज़ल :

यह कवि खेतल का कृतित्व है और इसकी छंद सं० ५६ है। इसका रचना काल सं० १७४८ श्रावण वदि १२ है।[८] वर्णन में कवि की दृष्टि धर्म-निरपेक्ष एवं व्यापक रही है—

गढ चित्तौड़ है वंका कि, मानु समंद में लंका कि।
विडड् पूरत लहलवती, अरूगंभीर तीर रहति कि।।२।
अला दैति अल्लावदिन, वंधी पुल बड़ी पदवीन।
गैवी पीर है गाजी कि, अकवर अवलियौ राजी कि।।३।।

(८) जैसलमेर गज़ल :

यह गज़ल कल्याण कवि की है जो उन्होंने सं० १८२२ के वैसाख के शुक्ल पक्ष में वनाई—

वरणे चोतरफ वाखांण,
पांचु कोश की परिमांण।
संवत अठारसै वावीस,
सुद वैसाख सुभ दीसे क ।।१२८।।
भापा गज़ल की भाखी क,
अपणी उकत परि आखी क।
वाचत पढ़त जण वाखांण,
कीजै प्रभु नित कल्याण ।।१२९।।

उस समय महारावल वैरीसाल का शासन-काल था—

वैरीमाल तिहां वंका क,
शाहि को करे अर शंका क ।।५।।

गज़ल काफी लम्बी है और उसमें १२९ पद्य है।

(९) जोधपुर वर्णन गज़ल :

इस गज़ल के रचनाकार तपागच्छीय यति गुलाव विजय थे। गज़ल का रचना समय सं.१९०१ पौप कृष्ण १० है—

पोसइ मास वलि वदि पक्ष,
दसमी तिथह भृगु परतक्ष।
खमजो सुकवि चित्तहि लाय,
वालक रीत कीनी थाय ।।१०२।।

गज़ल की भाषा सरल होने से सुग्राह्य है—

जोधहि नगर है कैसाक,
भानु इन्द्रपुर जैसाक।
कहियै सोभ तिन केतीक,
अपनी वुध है जेतीक ।।१।।

(१०) जोधपुर नगर वर्णन गज़ल :

इस गज़ल के रचयिता हेम कवि हैं। ये तपागच्छीय नेम विजय के शिष्य थे। यह गज़ल इन्होंने सं० १८६६ कार्तिक सुदि १५ को रची—

---

८. खरतर जती कवि खेताक, आखै मौज मुं एताक ।।५४।।
संवत सतरैसै अड़ताल, सावण मास ऋतु वरमाल। वदि पख वाखी तेरी कि, कीनी गज़ल पढ़ियो ठीकि ।।५५।।

वली अठार छासठ वर्ष,
हिकमत करी काती हर्ष ।
निपट ही पूर्णिमा तिथ नीक,
ठावी गज़ल कीनी ठीक ।।४६।।

छन्दों में दोहा, गज़ल कवित्त इत्यादि प्रयुक्त हुए हैं और कुल छंद संख्या ४६ है। वर्णन का एक कवित्त द्रष्टव्य है—

योधनयर जग जाण, इन्द्रपुर ही सम ओपत ।
वाजत वज्ज छत्तीस, नित्य उच्छव कर नरपति ।
राज ऋद्ध वड़ रीत, प्रीत नर नार रू पेखो ।
अही सूर चंद अडिग, दुनी वाड़ नर थे देखो ।
वाह जी वाह ओपम वडिम,
मनुष्य घणा सुख माण री ।
कवि दिट्ठ जिसड़ी कही,
जग शोभा जोधाण री ।।४७।।

(११) जोधपुर वर्णन गज़ल :

त्रुटित प्रति होने के कारण इसके रचयिता अज्ञात हैं और इसका रचना काल भी।[६] वैसे महाराज मानसिंह के समय में इसकी रचना हुई थी—

राज करै राठौड़ वर, श्री मानसिंह महाराज ।
अटल आण वरतै अखंड, इसड़ो अवर न आज ।।४।।

महाराज मानसिंह का समय सं० १८३६ से सं० १६०० है।[१०] कवि ने मंगलाचरण प्रस्तुत कर वर्णन किया है–

सारद गणपति शिरनवुं, निश्चै इक चित्त होय ।
गढं जोधाणो वर्णवुं, मोटी बुद्धि द्यो मोय।।२।।

सव ही गढ़ा शिरोमणि, अति ही ऊंचो जाण ।
अनड़ पहाड़ां ऊपरै, जालम गढ़ जोधाण ।।२।।

(१२) झींगोर गज़ल :

इसके कवि जटमल हैं। आप नाहर गोत्रीय जैन श्रावक थे। इस गज़ल में कवि का वर्ण्य झींगोर नगर की एक नारी रही है—

झींगोर कोटां खूव देखी नारी एक सुनार की ।
मन लाइ साहिव आप सिरजी पत सिरजणहार की ।
मुख चंद मुंह निसाण चाढे नैन घासी सार की ।
अलि मस्ति आछी नाजि नखरा कली जान अनार की।

(१३) डीसा गज़ल :

यह खतरगच्छीय जैन यति देव हर्ष की[११] १२१ पद्यों की रचना है जिसमें डीसा का वड़ा सुन्दर वर्णन प्रस्तुत हुआ है—

वीन उपदेश कथीर जुं, पहिर खुशी नहीं होय ।
हीरा मणि माणक सही, लीला कवि जन लोय ।।२।।
घर नीली धाण धार में, गुणीयल नर शुभ गाम ।
नग फण रस कस नीपजै, धवल नवल सुख धाम ।।३।।

(१४) नागौर वर्णन गजल :

यह गज़ल कवि मनरूप ने महाराज मानसिंह के समय में सं० १८६२ में रची जिसका कवि ने इस तरह उल्लेख किया—

महीपति मानसिंह महाराज, सवही भूप का सिरताज ।
उग वल प्रवल अरियण खेस, डंडही भरै दस ही देस ।।२।।

---

९. राजस्थान में हिन्दी के हस्तलिखित ग्रन्थों की खोज : द्वितीय भाग : संपा. श्री अगरचन्द नाहटा : पृ० १०५ ।

१०. परम्परा : भाग १५–१६ : पृ० ३४१–३४६.

११. पुण्य सुजस कोधी प्रगट, जिहा सिद्ध अंवा माता धणी ।
कवि देवहर्ष मुख थी कहै, दीयै सुजस लीला धणी ।।१२१।।

गजल के अन्त का कवित्त इस प्रकार है—

गजल सुणैं जे गुणी भली तिनके मन भावैं ।
मुणैं राव गजान, उमंग तिनके चित आवैं ।
पंडित गुणैं प्रवीण, हरख उपजै हिय उलह सैं ।
अवर सुणैं नर नार, वड़े चित्त माया विल सैं ।
नग रतन सहर नागौर है, कहो कीरत केती करां ।
कूड नहीं जाण तिलमात कंथ, निरख दाद देज्यों नरा ।।८३।।

(१५) पाटण गजल :

इसके कर्त्ता खतरगच्छीय देव हर्ष है।[१२] इस कृति की पद्य संख्या १४५ है। इसे कवि ने सं० १८५९ के फागुन मास में बनाया।[१३] रचना की बानगी इस प्रकार है—

धर नीली मंदिर धवल, अक्षय लाछि अलक्ष्य ।
सर्व लोक सुखिया वसैं, खूबी कहै खलख्य ।।४।।
रथ पायक हय गय घणा, दिन दिन चढ़ते दाव ।
गायक वाल गाजैं गुहिर, राज करै हिन्दू राव ।।५।।

(१६) पाली नगर वर्णन:

कवित, ढालादि में यह किसी अज्ञात जैन कवि की रचना है। इसमें कृति का रचना-काल भी नहीं दिया गया है। नगर वर्णन का आदि-अन्त इस प्रकार है—

आदि—

पाली नगर सुहामणों, देख्यां आवै दाय ।
वर्णन ताको अब वढूं, सामण करत सहाय ।।१।।

अन्त—

आण वहै जिननी सदा रे, प्रमुदिन मन ससनेह ।
नाम जपै श्री पूज्य नो रे, ज्यूं बाबैया मेह ।।

(१७) पूरब देश वर्णन

इसके रचयिता ज्ञानसार हैं। आप खरतर गच्छीय रत्नराज गणि के शिष्य एवं मस्त योगी एवं राज्य मान्य विद्वान थे। इस वर्णन में १३३ पद्य हैं और कवि की अन्य रचनाओं को दृष्टि में रख कर इसका रचनाकाल सं० १८५६ और सं० १८८१ के बीच माना जा सकता है। रचना का आदि-अन्त अधोलिखित है—

आदि—

केई मैं देख्या देश विशेषा
नतिरे अब का सब ही में ।
जिह रूप न रेखा नारी पुरुषा,
फिर फिर देख्या नगरी में ।।

जिहां काणी चुचरी अघरी बघरी,
लगुरी पंगुरी हवै काई ।

पूरब मति जाज्यो, पच्छि जाज्यो,
दक्षिण उत्तर है भाई ।।१।।

अन्त—

घणु घणु क्या कहुं, कह्यौ मैं कंचित कोई ।
सब दीठों सब लहै, देश दठो नहीं जाई ।।

---

१२. पाटण जस कीधौ प्रगट, जिहा पंचासर त्रिभुवन धणी ।
कवि देवहर्ष मुख थी रटै, कुशल रंग लीछा घणी ।।१।।

१३. संवत अठार उगणसठ वरस, फागण वाणी सु दिखो सरस ।।१४४।।

जाणी जेती वात, तिती में प्रगट कहाणी ।
झूठी कथ नहीं कथी, कहीं है साच कहाणी ।।
पिण रहिस हूं इक वात री,
तन सुख चाहै देह धर ।
नारण धरी अरू क्या पहर,
रहे नहीं सो सुघड़ नर ।।१।।

(१८) पोरबन्दर (सोरठ देश) वर्णन :

यह 'गिरनार जूनागढ़ वर्णन'-कार मनरूप कवि की रचना है । इस वर्णन के २६ पद्यों में कवि ने पोरवन्दर का वर्णन इस प्रकार रखा है—

तिण देश पुरहविंदर प्रसिद्ध,
वर्णवूं ताहि गुन सुन विवुद्ध ।
कीरति ताहि की सुनहुं कान,
अलकापुरी जू ओपम जुं श्रान ।।१।।

(१९) बड़ोदरा गज़ल :

इसके रचयिता कविराज वहादुर तपागच्छीय रत्न विजय के शिष्य दीप विजय हैं । इसकी रचना तिथि सं० १८५२ मार्ग शीर्ष शुक्ला १ शनिवार है जो रचना के अन्तिम कलश सवैया में इस प्रकार है—

पूरण किद्ध गज़ल अवल्ल
अढार सै बावन चित्त उल्लासें ।
थावर वार मृगशिर तिथि
प्रतिपद पक्ष उजा सें ।।
उदयो तले थाट उदय सूरि पादह लक्ष्मी
सूरि जिम भान आकाशें ।
प्रमेय रत्न समान वरनन सेवक
दीप विजय इम भासें ।।

(२०) बीकानेर गज़ल :

यति उदयचन्द्र विरचित इस गज़ल की रचना महाराज सुजाण के समय सं० १७६५ के चैत्र मास में हुई । कृति का अन्तिम झूलणा छंद इस प्रकार है—

संवत सतर पैंसठ रे मास,
चैत्र में गज़ल पूरी कीनी ।
माता शारदा के सुपसाइ सुं रे,
मुझे खूब करण की मति दीनी ।।
बीकानेर सहिर अजब है च्यारूं,
चक में ताकी प्रसिद्धि दीनी ।
उदैचन्द आनन्द सुं युं कहै रे,
चतुर माणस के चितमाहि लीनी ।।
चावो च्यारे चक में नवखण्ड मेरे,
प्रसिद्ध वधो बीकानेर बाइ ।
छत्रपति सुज़ाण सा जुग जुग जीवो,
ताके राज्य में बाजते नौवत थाइ ।।
मनसुं खूब वणाई कै रे सू सुणाइ
के लोक सुवास पाई ।
कवि चन्द आणंद सुं युं कहै रे
ग्र धूं धूं धूं धूं खूब गज़ल गाई ।।

(२१) बीकानेर गजल :

इसके कवि लालचन्द हैं । गज़ल में १९१ पद्य है । कवि ने नगर में होने वाले व्यापारादि का वर्णन इन शब्दों में किया है—

मोती किलंगी मालाक, वागे जरकसी वालाक ।
लाखूं हुंडियां ल्यावे क,
जनसां माल ले जावे क ।।६२।।

गजल की रचना समय सं० १८३८ ज्येष्ठ सुदि७ रविवार है—

संमत अढार अड़तीस में, बीकानेर मझार ।
जेठ सुकल सप्तम दिने, साचो सूरजवार ।।१९०।।
लालचन्द की लील सूं, कही खेत धर हेत ।
पढै गुणे जे प्रेम धर, जे पामै लछ जैत ।।१९१।।

है। वर्णन का एक पद्धरी छंद उदाहरणार्थ रखा जाता है—

मंगलोर सहर मोटे मंडाण,
ज्योत जगत मांहि कैलास जाण।

पहलो जु कोट अत ही प्रचंड,
नहीं इसौ अवरन वहीं जु खण्ड॥

कवि ने वर्णन के अन्तिम छप्पय में अपने गुरू एवं गच्छ इत्यादि की सूचना इस प्रकार दी है—

तरूण तेज गच्छ तपै, विजय जिनेन्द्र सूरीश्वर।
ज्ञानवंत गम्भीर, नमै सहू को नारी नर॥

योग अष्ठ विध जाण वाण अमृत सत वदियत।
संग सकल मिल सदा, निज उच्छव करते नित॥

देश परदेश मांहे दीपत,
जीपत अष्ट कर्मह अरी।

कीरत सत गच्छ पति तणी,
कव जोढ़ण सैरह करी॥१४॥

(२६) मरोट गजल:

इसके रचयिता यति दुर्गादास हैं। इस गजल को उन्होंने दीपचन्द के आग्रह पर सं० १७६५ पौष कृष्णा ५ को बनाया—

सम्मत सतरै पैंसठै, पोह वदी पांचम्म।
श्री गुर सरसती सानिधै गज़ल
करी गुण रम्य॥१॥

आग्रह दीपचन्द उल्हास,
कहता जती यूं दुरगादास।

सुण है दीजियो स्यावास,
गज़ल खूब कीनी रास॥

२७. मेड़ता वर्णन गज़ल :

यह मेड़ता वर्णन कवि मनरूप ने किया है। आप तपागच्छीय भक्तिविजय के शिष्य थे—

सब ही गच्छ में सिरताज,
राजत अटल तप गच्छ राज।
भक्ति ही विजय गुण भारीक,
जाकुं खवर घर सारीक॥४७॥

इस गजल में ४८ पद्य हैं और इसकी रचना सं० १८६५ कार्तिक शुक्ला १५ को हुई।

सम्वत् अठारह पैंसट साच,
वलि सुद मास कार्तिक वाच।
पखही सुकल पुनम पैख,
दाखी गज़ल कवि जन देख॥४६॥

वर्णन वडा ही सरस वन पड़ा है—

सवही में सहर जु, सिरह पुरह मेदनी पिछानौ।
इनका गुन अनपार, जाहि म रहस म जानौ॥

भाव भक्ति जिन भेद, जठै श्रावक सुखकारी।
दयावंत दातार निपुण, धम्र में नर नारी॥

जिन धर्म मरम जाणण जिके,
हित कर मानव हेर तो।
सुरपुरी मांहि इन्द्रपुर सरस,
पिण मरूधर मांहि मेड़तो॥१॥

(२८) मेदनीपुर महिमा छन्द :

मेदनीपुर मेड़ता का ही अन्य नाम है। इस रचना के रचयिता तपागच्छीय विजयजिनेन्द्र सूरि के शिष्य भक्ति विजय है। यह महिमा छन्द उन्होंने सं० १८६६ कार्तिक शुक्ला १५ को रचा—

संवत् अठार छासट्ट वर्ष,
हद मास कार्तिक आन हर्ष।
पूनम जु प्रथम कुजवार पेख,
घड़ तप गच्छ दिपत विशेष॥३७॥
विजैजिनेन्द्र सूरि भरपुरि राज,
कर तेज धर्म के केई काज।
कवि कहत भक्त कर विन्हु जोड़,
मेड़तो सदा मुरधरा मौड़॥३८॥

इसमें ३६ पद्य हैं जिनमें से निम्नांकित पद्धरि छंद अवलोकनार्थ दिया जाता है—

ट्रिग दिट्ठ मिट्ठ मरूधरा देश,
वलि शहर मेड़ता है विशेष ।
वड़ कवि करत तिनके वखान,
मानव जू सत यह सतमान ।।१।।

इसके छन्दों में राजस्थानी के शब्दालंकार 'वयण-सगाई' का भी सुन्दर निर्वाह किया गया है। दृष्टान्त स्वरूप अधोलिखित छन्द के चारों चरणों में इसका निर्वाह द्रष्टव्य है—

नाभि नन्द निन नित नमुं, शान्त नेम सुख कार ।
पारस श्री वर्द्धमान प्रति, धरू ध्यान चित्त धार ।।

(२६) लाहोर गजल :

इसके रचयिता नाहर गोत्रीय जैन श्रावक जटमल हैं जो मूलतः लाहोर निवासी थे।[१६] कवि ने गजल के ५६ पद्यों में शहर की वसावट, रावि नदी की शोभा, फलों की वहार आदि का सुन्दर वर्णन किया है।

देख्या सहिर जव लाहौर,
विसरे सहिर सगले और ।
रावी नदी नीचे वहै,
नावा खूव ढाली रहै ।।१।।
वोले वत्तकां, वग तीर,
निरमल वहै आछा नीर ।
वसतो सहिर है चौरास,
वारह कोश गिरदी वास ।।२।।

है जिहां जाइ गुल रंग,
लाल गुलाव वहुत सुरंग ।
चिपल, राइवेल, चंवेल, मरुआ,
मौगरा, गुल, केल ।।५४।।
कितेइक नागरणी के फूल,
करणेयर, कवल, मालति मूल ।
शोभा नगर की अनेक,
जटमल कहै केती एक ।।५५।।

(३०) सांडेरा छन्द :

पूर्व प्रति उपलव्ध न होने के कारण इसके रचयिता और रचना-काल अज्ञात हैं। 'छन्द' में दोहा और हाटकी इत्यादि प्रयुक्त हुए हैं। छन्द हाटकी उदाहरण-स्वरूप दिया जाता है—

सकल देश मां सिर देश,
अनोपम गुणवन्त गोढाण ।
वसहै भल्ला सहिर अवल्ला,
सांडेरा शुभ ठाम ।।
प्रवल प्रतापी दिनकर सरिखो,
पाले राज प्रमाण ।
एसो सांडेरा नगर सवाई,
परगट पुण्य प्रमाण ।।१।।

(३१) सिद्धाचल गजल :

यह खरतरगच्छीय यति कल्याण की रचना है जो उन्होंने सं० १८६४ की भाद्र शुक्ला १४ को किसी दौलत के हितार्थ वनायी।[१७] गजल में दोहा, हिरणफाल आदि ६६ छन्द हैं। छन्द हिरणफाल का उदाहरण दिया जा रहा है—

---

१६. लहानूर सुहावना देख्या होत अनन्द । कवि जटमल वर्णन करि होत सुखकन्द ।।५६।।

१७. संवत अठार चौसहैक, भाद सुद चउदसी ठेक । कीनी गजल दौलत हेत, चित में धार अखर समेत ।।६८।।

गुणवंत पाहु के गहगीर,
पूरत हरत तन की पीर ।
भूषण वाव है भल्लीक,
वड़ घन घटा है वल्लीक ॥१॥

(३२) सूरत गजल :

इसके रचयिता तपागच्छीय यति दीप विजय है। गजल में ८३ छन्द हैं। इसकी रचना सं० १८७७ मार्ग शीर्ष-२ को हुई—

सतोतर सतवां अठार,
मिगसर मास द्वितीयासार ।
वरण्या दीप श्री कविराज,
सुरत सेहर को साम्राज ॥८२॥

'सव सेहारां सिरताज, सूरत सेहर नगीनों' का वर्णन कवि ने यह लिख कर किया है—

सूरत शहर है सुथानाक, विदर दीपता दानाक।
अलका भूमि पै आईक, कोट कोट सै पड़ खाईक ॥१॥

पूरे लोक से पूरेक, अमर वास कु ं घुरेक ।
शोभा देत है कमठाण, अट्टा पहुंचती असमान ॥२॥

(३३) सोजत वर्णन गजल :

इसके कवि तपागच्छीय पं० भक्ति विजय के शिष्य मनरूप हैं। यह गजल उन्होने मरूधर नरेश महाराजा मानसिंह के समय सं० १८६३ कार्त्तिक शुक्ला १५ को वनायी —

भनु जिहां मानसिंह भूपत्ति,
राग छत्तीस सुण है रत्त ।
वाका तेज का वाखान,
रटते सदा राव ही रान ॥२॥
संवत अठार तेसठह याच,
चलि सुद मास कार्त्तिक वाच ।
पूनम तिथ के दिन पेख,
दरस ही वजल कीनी देख ॥६१॥
(छप्पय)

गज़ल में ६३ पद्य है। इसका अन्तिम कलश कवित्त इस तरह है—

गजल कही गुणवंत भला, कवि तिण मन भावे।
रीझै राव ही राण सुणै, नर अवर सरावै ॥
भवन वल अवहु वेद भेद, वांचे सु वखाणै ।
चारण भाट ही चतुर जिके, गुण वोहोला जाणै ॥
सोझाली नयर करनी सुकव, जे जे ठौड हुंती जीती ।
कवि मनरूप अरजह करै, गुन सव रीझौ गहा पती ॥६३॥

इन गज़लों का वर्ण्य-विषय कोई प्रान्त नगर आदि ही नहीं रहा है, नगर की नारियों की छवि भी आध्यात्मिक रूपक के वहाने इनमें उतारी गई है। ऐसी एक दो उपलब्ध गज़लों का परिचय दिया जाता है —

(३४) नारी गजल :

इसके रचयिता महिमा समुद्र हैं।[१८] इस कथन से सिद्ध होता है कि इसकी रचना मुल्तान में शाहजहां के समय में हुई—

पतिसाही सहर मुलतान,
दिसे जरकां का थांन ।
कायम राजा साहजहांन,
उग्या जाणे सम्मो भाण ॥३४॥

१८. महिमा समुद्र मनि इल्लोल,
कीवा कछु कवि कल्लोल ।
सुणकर सुख पावइ छयल,
हीं हीं हसइ मूरिख वयल ॥४०॥

इसमें सुनार जाति की किसी सुन्दरी का वर्णन है ।[१६] कवि लिखता है—

देखि कामिनी इक खूब,
उनके अधिक इहे असलूव ।
कहीयई कहसी तसु तारीफ,
देखइ मगन हो यह रीफ ॥१॥
जाणे अपछरा मसहूर,
चमकइ सूर नवसो नूर ।
महके स्वास वास कपूर,
पइदावार सम्मी हूर ॥२॥

कवि ने कथन के भेद को समझने का इन शब्दों में आग्रह किया है—

सुरता लहइ अइशो भेद,
विप्र किं जांणइ वेद ।
मोती लाल विणसा,
जांणइ कोण किम तिसा ॥४१॥
इणकी यह है तारीफ,
जडिसइ नेह हरीफ हरीफ ।
महिमा समुद्र कह विचार,
सुणतां सदा सुख प्यार ॥४२॥

(३५) सुन्दरी गजल :

इसके रचयिता जटमल नाहर हैं। इनकी झींगोर गजल में भी नारी वर्णन ही प्रधान रहा है–यह हम पहिले लिख चुके हैं। प्रस्तुत गज़ल का भी यही वर्ण्य है जिसमें नारी–सौन्दर्य के साथ साथ उसके शील का भी वर्णन किया गया है—

सुंदर रूप गुण गाढ़ीक,
देखी बाग मूं ठाढी कि ।

सखियां वीस दस हैं साथ,
जाके रंग राते हाथ ॥१॥

निरमल नीर सूं नाही क.
डंडीया लाल है लाही क ।

ओढण सवे सालू लाल,
चल है मराल कैसी चाल ॥२॥

सुन्दरी तुझ है शावास,
पुजउ सकल तेरी आश ।

अपने कंत सूं रस रंग,
कर तूं वरस सहस अभंग ॥

राजस्थानी में लिखित जैन गज़ल साहित्य का यह परिचयात्मक आलेख है। काव्य-रूप, वर्ण्य-विषय और भाषा-वैज्ञानिक दृष्टि से इसका अध्ययन अन्वेषण महत्वपूर्ण है। हिन्दी में यात्रात्मक साहित्य यों ही अल्प है। यह पद्यात्मक यात्रा साहित्य हिन्दी की श्री वृद्धि में सहायक होगा।

---

१६. कामिण जात की सौन्नार, अइसी का न देखी नार ।
ताकी सयल सोभा सार, कहतांम को न पावइ पार ॥३६॥

२१

जीवन्धर चम्पू : एक परिशीलन

डा० भागचन्द्र जैन

१. भूमिका

जैनाचार्यो का संस्कृत साहित्य विषयक अनुराग नितान्त अभिनन्दनीय है। उनकी अमूल्य कृतियां साहित्य की प्रत्येक विधा में अपना महत्त्वपूर्ण स्थान वनाये हुये हैं। हर कवि अथवा लेखक का सम्प्रदाय विशेष से स्वभावतः सम्वद्ध रहा करता है। अतः समालोचक की दृष्टि पक्षपात की दूषित व्याधि से ग्रसित नहीं होनी चाहिये। जैन साहित्य के साथ दुर्भाग्य यही है कि पाश्चात्य विद्वानों और उनका अन्धानुकरण करने वाले प्रो० वलदेव उपाध्याय जैसे समीक्षक विद्वान् भी उसे मात्र साम्प्रदायिक साहित्य कहकर एक किनारे कर देते हैं। ऐसे विद्वान् यह भूल जाते हैं कि कालिदास, भारवि आदि महाकवि भी साम्प्रदायिक ही रहे हैं। फिर यह साम्प्रदायिकता की मुहर जैन महाकवियों के सिर पर ही क्यों थोपी गई ? वास्तविक तथ्य यह है कि जैन साहित्य का प्रचार प्रसार अपेक्षाकृत वहुत कम हो सका और जो भी हुआ, उसका अद्यावधि सही मूल्यांकन नहीं किया जा सका।

२. जीवन्धर चम्पू और उसका लेखक

संस्कृत साहित्य में चम्पू साहित्य का विशेष योगदान है। इसमें पाठक को गद्य और पद्य दोनों की संमिश्रित सरसता उपलब्ध हो जाती है। महाकवि हरिचन्द्र ने स्वयं लिखा है—

गद्यावलिः पद्यपरम्परा च
प्रत्येकमप्यावहति प्रमोदम्।
हर्ष प्रकर्षं तनुते मिलित्वा
द्राग्वाल्यतारुण्यवतीव कान्ता॥

अर्थात् गद्य और पद्य दोनों पृथक्-पृथक् रूप से पाठक को आनन्द विभोर कर देते हैं फिर हमारा काव्य तो दोनों का संमिश्रण है। वह निःसंदेह वाल्य और तारूण्य से युक्त कान्ता के समान आह्लाद उत्पन्न करेगा।

चम्पू परम्परा का अवलोकन करने से यह स्पष्ट है कि सर्व प्रथम त्रिविक्रम भट्ट (ई० ६१५) ने नल चम्पू और मदालसा चम्पू लिखे। इसके बाद

सोमदेव (ई० ९५९) ने यशस्तिलक चम्पू और हरिचन्द्र (लगभग १२ वीं शती) ने जीवन्धर चम्पू[1] का निर्माण किया। तदनन्तर चम्पू परम्परा और अधिक विकसित हुई।

महाकवि हरिचन्द्र का काल निर्णय अभी तक एक समस्या ही बना हुआ है। उनके विषय में कोई विशेष ज्ञातव्य सामग्री उपलब्ध नहीं। मात्र धर्मशर्माभ्युदय के अन्त में दी गई प्रशस्ति इसके लिए सहायक बनी हुई है। इसके अनुसार कवि मोमकवंश के थे। उनके पिता कायस्थ जातीय आर्द्रदेव तथा माता रथ्या थी। भाई का नाम लक्ष्मण था। गुरू के प्रसाद से महाकवि को विद्या लाभ हुआ था—गुरू, प्रसादादमला बभूवुः सारस्वते स्रोतसि यस्य वाचः—परन्तु गुरू का नाम यहां उल्लिखित नहीं। अतः हरिचन्द्र का समय निश्चित नही किया जा सका। परन्तु उनकी रचनाओं का अन्तःस्वरूप देखकर यह सीमा लगभग १२ वीं शती निर्धारित की जा सकती है। कवि की रचनायें अभी तक दो ही उपलब्ध हुई हैं—जीवन्धर चम्पू और धर्मशर्माभ्युदय।

जीवन्धर चम्पू की कथा का आधार—

जीवन्धर स्वामी को जैन ग्रन्थों में श्रुतकेवली कहा गया है। उनका चरित लगभग नवीं शताब्दी से कवियों का आकर्षण केन्द्र बन चुका था। प्रस्तुत कथा के प्रमाण का भार यद्यपि कवि ने सुधर्म गणधर पर छोड़ दिया है (१.१०) परन्तु उसका आधार गुणभद्र का उत्तरपुराण (७५.१८८.६९१), तथा वादीभसिंह सूरि के क्षत्रचूड़ामणि एवं गद्यचिन्तामणि ग्रन्थ है। उत्तर पुराण की पौराणात्मक कथा को जहां कवि ने चम्पू शैली में गूंथा है वहीं वे कौतुकावह स्थलों के शिल्प निर्माण में उत्तर पुराण व क्षत्रचूड़ामणि का अधिक अनुकरण नहीं कर सके।

जीवन्धर की कथा के आधार पर अनेक आचार्यों ने अपनी प्रतिभा का प्रदर्शन किया है। सर्व प्रथम यह कथा गुणभद्र के उत्तर पुराण (७५.१८८.६९१) में उल्लिखित पायी जाती है। इसी प्रकार महाकवि पुष्पदन्त ने भी अपभ्रंश भाषा के अपने महापुराण (सन्धि ९९) में इसे अन्तर्गर्भित किया है। इसके बाद कवियों ने स्वतन्त्र ग्रन्थों का प्रणयन करने में इसका उपयोग किया है। वादीयसिंह सूरि की गद्यचिन्तामणि व क्षत्रचूड़ामणि, हरिचन्द्र का जीवन्धर चम्पू, शुभचन्द्र का जीवन्धर चरित, तिरूत्तक्कदेवा का जीवकचिन्तामणि (तमिल) रइधू का जीवन्धर चरित (अपभ्रंश), भास्कर का जीवन्धरचरित (कन्नड), तेरकनाम्बि बोम्मरस का जीवन्धर सांगत्य (कन्नड), कोटीश्वर का जीवन्धर षट्पदी (कन्नड़) और ब्रह्मकवि का जीवन्धरचरित (कन्नड़) अभी तक प्रकाश में आ चुके हैं। सम्भव है, और भी ऐसे ग्रन्थ शास्त्र भण्डारों में सुरक्षित असुरक्षित स्थिति में पड़े हुए किसी शोधक का मार्ग देख रहे हों।

३. कथानक

जैन कथा ग्रन्थों की रचना का मूल आधार कर्म सिद्धान्त का विवेचन रहा है। जीवन्धर का समूचा चरित इसी का दिग्दर्शक है जिसे कवि ने "नियतिनियत रूपा प्राणिनां हि प्रवृत्ति" (७.३)

---

१. सम्पादक व अनुवादक—श्री पं० पन्नालाल साहित्याचार्य, प्रकाशक भारतीय ज्ञानपीठ, काशी। प्रस्तुत निबन्ध में इसी प्रकाशन का उपयोग किया गया है। गद्य भाग का संकेत पृष्ठ क्रमांक देकर पद्य भाग का संकेत लम्ब और पद्य क्रम लिखकर दिया गया है।

कहकर अभिव्यक्त किया है। कथानक काफी बड़ा है। फिर भी महाकवि ने उसे एकादश लम्बों में पूरा कर दिया। यही कारण है कि कथानक के प्रवाह में विरसता नहीं आ सकी।

प्रथम लम्ब—हेमांङ्गद देश में राजपुरी नगरी थी। उसका राजा सत्यन्धर और महामन्त्री काष्ठाङ्गार था। विषयासक्त राजा द्वारा काष्ठाङ्गार को राज्य समर्पित किये जाने के बावजूद युद्ध में कूदने को वह विवश हुआ और वहां मारा गया। गर्भिणी विजया के गर्भ की दैवयोग से रक्षा हुई। गन्धोत्कट वैश्य द्वारा जीवन्धर का स्वपुत्रवत परिपालन हुआ।

द्वितीय लम्ब-जीवन्धर का विद्याध्ययन प्रारम्भ हुआ। काष्ठाङ्गार की क्रूरता ज्ञात होने पर उसके प्रति जीवन्धर अत्यन्त कुपित हो गया परन्तु गुरू ने दक्षिणा के रूप में उससे शांत रहने की भिक्षा ली। कालकूट वनचर द्वारा गोपालों का गोधन हरा गया। काष्ठाङ्गार की सेना भी वनचर सेना से पराजित हुई। जीवन्धर ने उस वनचर सेना को हराकर गोधन वापिस लिया। इस वीरतापूर्ण कृत्य के परिणामस्वरूप नन्दाढ्य की पुत्री गोविन्दा के साथ स्वयं विवाह न कर अपने अभिन्न मित्र पद्मास्य का विवाह करा दिया।

तृतीय लम्ब-राजपुरी के श्रीदत्त वेश्य का धनार्जन निमित्त रत्नदीप (सिंहल) जाना। लौटते समय समुद्र में जहाज का डूबना। काष्ठखण्ड के सहारे किसी प्रकार मृत्य मुख से बच निकलना। धर-विद्याधर द्वारा उनका विजयार्द्ध पर्वत ले जाया जाना। गुरूड़वेग की पुत्री गन्धर्वदत्ता का राजपुरी में स्वयंवर किया जाना। वीणावादन में जीवन्धर द्वारा गन्धर्वदत्ता की पराजय। जीवन्धर-गन्धर्वदत्ता का विवाह होना। काष्ठाङ्गार आदि राजाओं से जीवन्धर का युद्ध और उस युद्ध में जीवन्धर की विजय होना।

चुर्तथ लम्ब-जीवन्धर द्वारा कुत्ते को णमोकार मन्त्र दिया जाना। फलस्वरूप उसका सुदर्शन यक्ष होना और जीवन्धर की यथा समय सहायता करना। गुणमाला और सुरमंजरी के चूर्णों की परीक्षा में गुणमाला का विजयी घोषित किया जाना। मद्दोन्मत्त हाथी से उसका बचाया जाना। परिणामतः जीवन्धर के साथ उसका पाणिग्रहण हो जाना।

पञ्चम लम्ब-काष्ठांगार की सेना के साथ जीवन्धर का युद्ध। गन्धोत्कट की सलाह से काष्ठांगार के प्रति आत्मसमर्पण फलतः जीवन्धर को मृत्युदण्ड दिया जाना। सुदर्शन यक्ष द्वारा बचाया जाना। दावानल से हाथियों का स्मरित यक्ष द्वारा उभारा जाना। तीर्थयात्रा के प्रसग में जीवन्धर द्वारा पल्लवदेश की चन्द्राण नगरी में धनपति की पुत्री पद्मा का विषयोचन। अन्त में दोनों का विवाह बन्धन।

षष्ठ लम्ब-तीर्थ यात्रा के प्रसंग में ही किसी तपोवन सी मिथ्यान परिचयों को सदुपदेश। उसी वन में निर्मित जिन मन्दिर के कपाट उद्घाटित होना। फ़लतः क्षेमनगरी के सुभद्र सेठ की पुत्री क्षेणकी के साथ जीवन्धर का विवाहा जाना।

सप्तम लम्ब-क्षेमपुरी से चलकर एक उपवन में ठहरना जहां पर विद्याधरी के मोहित होने पर अनेक उपदेश देना। हेमामपुरी नगरी के उद्यान में दृढ़ मित्र के राजकुमारों को धनुर्विद्या का प्रदर्शन तथा बाद में उनका गुरु रूप में धनुर्विद्या दान। कृतज्ञता के रूप में कनकसला से विवाह रचना।

अष्टम लम्ब—नन्दालाल से यहां भेंट होना। गोपों के लिए किये गए युद्ध के समय पद्मास्य आदि मित्रों से भेंट तथा साथ ही अर्ज में विजया माता के दर्शन होना। यहां से राजपुरी वापिस होना और वहां सागरदत्त सेठ की पुत्री विमला के साथ विवाह करना।

नवम् लम्ब-मित्रों की व्यंग्यात्मक वाणी से प्रेरित होकर जीवन्धर द्वारा वृद्ध का रूप धारण किया जाना और सुरमञ्जरी के प्रासाद में पहुंच कर किसी तरह स्वयं को प्रगट कर देना। फलतः वैवाहिक सम्बन्ध हो जाना।

दशम लम्ब-राजपुरी में हीं गन्धोत्कट, सुनन्दा, गन्धर्वदत्ता गुणमाला आदि से मिलना। काष्ठांगार से राज्य प्राप्ति के निमित्त आया गोविन्द से विचार-विमर्श करना। गोविन्द द्वारा लक्ष्मण का स्वयंम्वर किया जाना। वराह यन्त्र को भेजने में जीवन्धर का विजयी होना। फलतः उनके साथ लक्ष्मण का विवाह हो जाना। काष्ठांगार के साथ जीवन्धर का भीषण युद्ध। काष्ठांगार की पराजय और मृत्यु। जीवन्धर द्वारा सारा राज्य स्वाधिकार में लिया जाना।

एकादश लम्ब-जीवन्धर की राज कुशलता का परिचय। विजय माता की दीक्षा। जीवन्धर को उक्त आठों पत्नियों से आठ पुत्रों की प्राप्ति। तदनन्तर वन क्रीड़ा में वानरी के हाथ से वनपाल द्वारा तालफल का छीना जाना देखकर विरक्ति पैदा हो जाना और महावीर स्वामी के समवशरण में जाकर जिन दीक्षा लेकर मुक्ति प्राप्त करना।

४. आधिकारिक तथा प्रासंगिक वृत्त

कथावस्तु दो प्रकार की होती है—आधिकारीक प्रमुख और प्रासंगिक (गोण) कथा के फल भोक्ता के इतिवृत्त को आधिकारिक और उसके सहकारी वृत्तकों प्रासंगिक कहा जाता है।[१] जीवन्धर चम्पू में जीवन्धर की कथा तो आधिकारिक है और आर्यनन्दी की आत्मकथा श्रीदत्त कथा, चूर्णपरीक्षा, तीर्थयात्रा प्रसंग, आदि सभी प्रासंगिक कथायें हैं जिनसे कथा और कथा-नायक के चरित्र के विकास में साहाय्य मिल सका। नाटकों की तरह कथानकों में भी अर्थ प्रकृतियां, कार्यावस्थायें तथा सन्धियों का होना आवश्यक बताया है। बीज, विन्दु पताका, प्रकरी व कार्य के पांच अर्थ प्रकृतियां हैं। आरम्भ, यत्न, प्रत्याशा, नियताप्ति और फलागम ये पांच कार्यावस्थायें हैं। मुख, प्रतिमुख, गर्भ, विमर्श तथा उप-संहृत ये पांच सन्धियां है। ये प्रायः सभी जीवन्धर चम्पू में पाई जाती हैं।

५. कथानक का औचित्य

काव्य का कथानक अत्यन्त सजीव व स्वाभाविक होना चाहिए। उसमें ऐतिहासिक तथ्य के साथ व्यावहारिक दृष्टिकोण का भी संयोजन हो तो अच्छा है। काव्यों मे कल्पनाओं का वाहुल्य तो रहता ही है पर वह भी किसी एक सीमा तक। यदि सत्य और विश्वास का द्वार वन्द हो गया तो कथानक की सफलता संदिग्ध हो जावेगी।

जीवन्धर चम्पू का कथानक इस संदर्भ में अत्यन्त स्वाभाविक वन पड़ा है। जीवन्धर के समूचे जीवन के माध्यम से कर्म सिद्धान्त का प्रदर्शन किया गया है। कवि ने व्यावहारिकता का भी पर्याप्त ध्यान रखा है। मंत्री काष्ठागार पर राजा सत्यन्धर विश्वास कर लेते हैं और विषय भोगों में आपाद-

---

२. वस्तु च द्विधा। तत्राधि..रिकं मुख्यमंङ्ग प्रासंगिकः विदुः। अधिकारः फलस्वाम्यमधिकारी च तत्प्रभुः। ननिवर्त्य मभिव्यापि वृतं स्यादाधिकारिकम्।। दशरूपक, १।११-२,

मग्न रहने के कारण सारा राज्यभार भी उसी को समर्पित कर देते हैं। फलतः सत्यन्धर को अपने प्राणों से हाथ धोना पड़ता है। इधर जीवन्धर और उनकी माता विजया बच जाती हैं। पुण्योदय से जीवन्धर का परिपालन गन्धोत्कट वैश्य करता है और विजया को दण्डक वन के आश्रम में शरण मिल जाती है। आगे के जीवन में एक ओर जीवन्धर और उनका परिवार सफलता पाता है जबकि दूसरी ओर सत्यन्धर और उनका परिजन सदैव विफलता तथा अनादर का शिकार होता है। सुकृत और दुष्कृत कार्यों का यही परिणाम है।

कथानक राजपुरी नगरी से प्रारम्भ होता है। पंचम लम्ब में तीर्थयात्रा के उद्देश्य से जीवन्धर देश भ्रमण करते हैं और "अष्टम लम्ब में पुनः वे राजपुरी वापिस आ जाते हैं। इसके बाद के सभी कार्य राजपुरी में ही सम्पन्न होते हैं।

सम्पूर्ण कथानक को महाकवि हरिचन्द्र ने एक कुशल शिल्पकार जैसा निबद्ध किया है। रस, गुण और अलंकार की त्रिपथगा सहृदय पाठक के हृदय को आकर्षित कर लेती है। प्राकृतिक दृश्यों की मनोहारी सुषमा, षड् ऋतुओं की यथा समय प्रस्तुति, संयोग और वियोग श्रृंगार का भावुक अभिलेखन, युद्ध स्थलों में रोमांचकारी स्थल, आदि ऐसे प्रसंग हैं जो पाठकों के मन को आकर्षित कर लेते हैं।

कथानक को अनुकूल बनाने के लिए भी कवि ने भरपूर प्रयत्न किया है। जहां कहीं हास्य और सौन्दर्य के चित्रण, कष्ठांगार की अवमानना दिखाने के लिए गोविन्द से स्वयंम्वर कराना, काष्ठांगार की उसमें उपस्थिति प्रदर्शन कर जीवन्धर द्वारा चन्द्रकयन्त्र का भेदन के माध्यम से उसका उपहास कराना, चन्द्रकयन्त्र भेदने के उपरोक्त अनेक लोगों की शंकाओं का काव्यात्मक ढंग से विविध निराकरण कर जीवन्धर के पक्ष में विविध का संकेत करना आदि ऐसे स्थल हैं जिनमें कथानक का औचित्य सिद्ध होता है और पाठक का चित्त आगे बढ़ती हुई कथा की पूर्ण जानकारी के लिए दौड़ता रहता है।

६. पूर्व कवियों का प्रभाव

जीवन्धर चम्पू का महाकवि पूर्व कवियों से निश्चित ही प्रभावित जान पड़ता है। अपूर्व माला मन्येऽहं पूर्वाचार्य परम्पराम् (१ ८) लिखकर उन्होंने स्वयं इस बात को स्वीकारा है। प्राकृतिक चित्रण, रणस्थल वर्णन, स्वयम्वर की शोभा, नगर प्रवेश करने पर जीवन्धर का नगरवधुओं पर हुआ प्रभाव, आदि ऐसे स्थल हैं जहां पर कालिदास, भवभूति माघ जैसे कवियों का प्रभाव स्पष्ट दिखाई देता है। वादीभसिंह सूरि द्वारा विरचित गद्य चिन्तामणि एवं क्षत्रचूड़ामणि के तो अनेक गद्य-पद्य भाव और भाषा दोनों में समानता लिए हुए हैं। इस समानता के बावजूद कवि की उपमा, उत्प्रेक्षा और रूपक इतने हृदयहारी हैं कि पाठक के मन में कभी खीझ पैदा नहीं होती।

रस और भाव की अभिव्यक्ति

रसानुभूति अथवा भावानुभूति काव्य ही का वर्णन है। स्थायी भाव, विभाव, अनुभावए वं सञ्चारी भावों से यह चर्वण मिलता रहता है। रस संख्या के विषय में आचार्यों में मत वैभिन्नय है। कुछ आचार्य श्रृंगार, हास्य, करुण, रौद्र, वीर, भयानक, वीभत्स, और अद्भुत इन आठ रसों को मानते हैं। इसलिए उनके अनुसार कुल रस दस हो जाते हैं।

महाकवि हरिचन्द्र ने रस संख्या के विषय में अपना मत व्यक्त तो नहीं किया है पर इतना अवश्य कहा है कि उनका "जीवन्धर-चम्पू विलसित रसा सालंकारा" (११.६०) है। इससे यही निष्कर्ष निकाला जा सकता है कि महाकवि ने उक्त कृति

में प्राय: सभी मान्य रसों का समावेश किया है। जीवन्धर चम्पू के देखने से यह कथन और भी स्पष्ट हो जाता है। यद्यपि वहां शृंगार और वीर रस अंग और अंगीभाव से उपस्थित हुए प्रतीत होते हैं परन्तु अन्य रसों की भी न्यूनता नहीं।

जीवन्धर चम्पू में शृंगार रस के संयोग और वियोग दोनों पक्षों का सुन्दर वर्णन हुआ है। जीवन्धर स्वामि के आठ विवाह हुए जिनमें कुछ स्वयम्वरजन्य हैं, कुछ पराक्रमजन्य हैं, कुछ गुणाकर्षणजन्य हैं और कुछ माता पिता द्वारा पूर्व नियोजित हैं। पूरी कथा में संयोग और वियोग दोनों के मार्मिक प्रसंग उपस्थित किये गये हैं। प्रथम संयोग होता है और तुरन्त ही जीवन्धर आगे बढ़ जाते हैं तो विप्रलम्भ प्रारम्भ हो जाता है। विप्रलम्भ के प्रसंग में चित्र लेखन और शुक द्वारा पत्र प्रेषण का भी संयोजन हुआ है। भारतीय प्रेम पद्धति में नायिका का नायक में अनुराग प्राय: पहले दिखाया जाता है। चम्पू में भी इस परम्परा का पर्याप्त अंश तक पालन किया गया है।

विजया का पुत्र के प्रति अनुराग आदि में वात्सल्य रस, जीवन्धर आदि के वीरता प्रदर्शन में वीर रस, सूरमंजरी के प्रासाद में वृद्ध वेषधारी जीवन्धर के पहुंचने की अभिव्यक्ति में अद्‌भुत रस, गुणमाला के पत्र में और माता विजया के मिलन में वियोग सिक्त करुण रस स्वयम्वरों में जीवन्धर के विजयी होने पर काष्ठांगार आदि अन्य राजाओं के उपहास में हास्य रस, युद्ध क्षेत्र में क्रोध भाव की व्यन्जनायें रौद्र रस, वियोगावस्था में अभिराम वस्तु में जुगुप्सा का भाव व्यक्त करने में वीभत्स रस और उन्मत्त हस्ती आदि के प्रसंग में भयानक रस की सुन्दर अभिव्यक्ति हुई है। रस और भाव के रम्य संगम से कथानक में एक नवीनता और उत्साह झलकता है।

वस्तु वर्णन

वस्तु वर्णन का कौशल इसी में है कि पाठक नीरसता का अनुभव न करे। काव्य में वर्णित प्राय: सभी वर्णन किसी न किसी पात्र के आलम्बन बनाकर उपस्थित किये जाते हैं। प्रस्तुत में अप्रस्तुत की और अप्रस्तुत में प्रस्तुत की अभिव्यञ्जना तथा विविध उपमाओं, उत्प्रेक्षाओ, रूपकों आदि अलंकारो द्वारा विषय की प्रस्तुति वस्तु वर्णन की विशेषता है।

७. चरित्र चित्रण—

जीवन्धर चम्पू काव्य का धरातल जीवन्धर की यशोगाथाओं से ही मढा गया है। उनके गुण गौरव के वशीभूत होकर उत्तम कुलोत्पन्ना आठ कन्याओं ने उन्हें अपना जीवनाधार बनाया। इन्हीं प्रसंगों में राजा सत्यन्धर उनका अमात्य काष्ठांगार, गन्धोत्कट सेठ, नन्दगोप, पद्मास्य, गोविन्दा, श्रीदत्त, गुरुणवेग, श्रीधरिणी, मथन, धनपति, तिलोत्तमा: देवान्त, सुभद्र, अनंगतिलका, दृढ़मित्रे, नलिना, सुमित्रा, सुभद्रा, श्रीदत्त बुद्धिसेण, देवदत्त, नयुल, विपुल, सागरदत्त आदि पात्रों का भी यथावसर चरित्र चित्रण हुआ। ये सभी पात्र प्रधान पात्र जीवन्धर की चरित्रगत विशेपताओं को प्रकाशित करने में भरपूर सहायक हुए हैं।

जीवन्धर के चरित्र का उत्कर्ष दिखाने के लिए कवि ने परम्परानुसार प्रत्येक घटनाओं में उनकी

३. गन्धर्वदत्ता, गुणमाला, पद्मा, क्षेमकी, कनक माला, विमला, सुरमंजरी, लक्ष्मणादि आदि

विजय प्रदर्शित की है। उनके रूप, गुण और चरित्र की भूरी-भूरी प्रशंसा की है। जीवन्धर का चरित्र धीरोदात्त कोटि का है। कवि ने उन्हें कृत्यविदामग्रणी।[४] (पृ० १११)। कुरुकुलवर, पारीणपुण्यगुणाकर (१.११५) कुवलयाह्लाद संहायक, सन्तोषाम्बोधिवर्धक (पृ० ११६), निखिलगुणपयोधि (पृ० ११८), वृषावन्ध आदि विशेषतायें का प्रयोग किया है। संगीत शास्त्र, आयुर्वेद शास्त्र, मन्त्र शास्त्र आदि सभी शास्त्रों में भी पारंगत बताया। महत्व और सुलभतायें दोनों गुण कवि ने जीवन्धर के जीवन क्षेत्र में स्पष्ट किये हैं।[५] युद्ध कौशल के भी दृश्य एक नहीं अनेक मिलते हैं। जब जीवन्धर का अपनी माता से साक्षात्कार हुआ और माता ने राज्य प्राप्ति के विषय में प्रश्न चिन्ह खड़ा किया तो जीवन्धर स्वयं अपनी वीरता का आख्यान करते हैं और कहते हैं कि मेरे बाण सेना रूपी वनों से दावानल हैं और शत्रु राजाओं की स्त्रियों की मन्द हास्य रूपी सुगंधित दूवरी धारा के पान करने में सर्व है।[६] इसी प्रकार मेरी कृपाण भी शत्रु लक्ष्मी को लाने के लिए श्रेष्ठ इतीश का काम करती है। इसी प्रसंग में जीवन्धर कहते हैं कि रणाङ्गण में जब मैं अपने धनुष को शस्दायमात करता हूं तब बलाधिपति रणछोड़ भाग खड़ा होता है, धरापति तिरस्कृत हो जाता है। गुजरात का राजा जर्जर हो जाता है, विद्याधर भयभीत हो जाता है और कोङ्कण देश का स्वामी घायल हो जाता है।

८. सामाजिक संस्थान

जैन धर्म में मूलतः जाति को स्थान नहीं परंतु जिनसेन के सामाजिक वर्गीकरण ने जैन धर्म में जाति व्यवस्था कर दी जिसका समर्थन सोमदेव जैसे धुरन्धर आचार्य ने यशस्तिलक चम्पू में और अधिक स्पष्ट शब्दों में करने का प्रयत्न किया। प्रायः सभी उत्तरकालीन आचार्यों ने इन आचार्यों का अनुकरण किया। हरिचन्द्र की कृतियों को देखने से लगता है कि इस वर्गीकरण को उन्होंने भी स्वीकारा, भले ही उस पर पृथक रूप से कुछ नहीं लिखा हो। उन्होंने समाजके चार वर्ग किये—ब्राह्मण, क्षत्रीय, वैश्य और शुद्र। ब्राह्मण सम्प्रदाय के विषय में जीवन्धर चम्पू में अधिक संदर्भ नहीं मिलते। उन्होंने उसके ज्ञान हीन क्रियाकाण्ड तथा स्पृश्यास्पृश्य पर अवश्य आघात किया है। ये क्रियाकाण्ड प्रायः ग्राम क्षेत्र के बाहर हुआ करते थे। उसमें स्पृश्य–अस्पृश्य का ध्यान अधिक रखा जाता था। किसी कुत्ते आदि के छू जाने पर तो ये क्रियाकाण्डी उसका स्नान किये बिना नहीं छोड़ते थे। ऐसी ही घटना का उल्लेख हरिचन्द्र ने किया है। कोई सारमेय (कुत्ता) यज्ञ करते हुए ब्राह्मणों का साकल्प छू गया। उसे उन्होंने निर्दयी होकर इतना ताड़ित किया कि वह काल कवलित हो गया।

ततः क्षप्ततन्तुभारभमाणेः द्विजै र्हविः स्पर्शन जनितकोपनै–र्हन्यमानमन्तरूत्कूलत दुःखाम्बुधि घोपमिव प्राणमहीपालस्य प्रमाण-सूचक भिवाक्रन्द-

---

४. महत्त्वमात्रं कनकाचलेऽपि लोष्टेऽपि सोलम्यमिह प्रतीतम्। एतद्द्वयं कुमचिदप्रतीतं कुरुप्रवीरे न्यवसत्प्रकाशम् ।।७.५।।

५. ८.५६

६. ८.५७

७ ८.५८

नारावमातन्वानमन्तरूज्वलित दुःसाग्नि ज्वालामिव शोणितधारामुद्गिरन्तं क्षारमेयम्–पृ० ७९–८०

क्षत्रियवर्ग को अधिक महत्व दिया गया है। जीवन्धर स्वयं क्षत्रिय थे। काष्ठागांरादि भी क्षत्रिय थे। प्रायः क्षत्रिय वर्ण राज्य का अधिकारी हुआ करता था। युद्ध द्वारा जनता व देश का संरक्षण करना उसका प्रमुख कर्त्तव्य था। वैश्य वर्ग शुद्ध व्यापारी वर्ग था। इसलिए योद्धावर्ग में सम्मिलित नही किया गया। जीवन्धर ने स्वयम्वर में वीणा-वादन द्वारा पराजित कर गन्धर्वदत्ता कोविवाहा। काष्ठागांर को यह असह्य हो गया और कहने लगा कि वस्त्र तथा वर्तनों के क्रय-विक्रय करने में दक्ष वैश्यसुत स्त्रीरत्न के योग्य कैसे हो सकता है? (कुप्य क्रय विक्रय योग्यों वैश्यसुत कथं स्त्रीरत्न योग्य (पृ० ६६)। काष्ठागांर के साथ हुए जीवन्धर के एक अन्य युद्ध के सन्दर्भ में भी कवि ने वैश्यों के विषय में क्षत्रिय वर्ग का विचार व्यक्त किया है। काष्ठागांर कहता है कि अत्यन्त भीरू वैश्यपुत्र तुम कहाँ और धनुष शास्त्र के पारगामी हम लोग कहां। फ़िर भी तेरी युद्ध में जो प्रवृत्ति हो रही है उसमें अपनी अनात्मज्ञता ही कारण समझो। हे वणिक् तुलादण्ड (तराजू) के पकड़ने मे तुम्हारा जो हस्तकौशल है उसे तू धनुष चलाने मे लगाना चाहता है।

क्व वैश्यपुत्रस्त्वमतीव भीरूर्वयं क्व चत्पागमपार–निष्ठा।

अथापि ते संयति संप्रवृत्ता वनात्मवेदित्व मवेहि हेतुम् ॥१०.१११.

तुलादण्डधृतों वैश्य तव यत्कर कौशलम्।

विस्तारयसि तच्चापे धिक्चापलम हो तव ॥१०.११२.

इससे स्पष्ट है कि उस समय वैश्य वर्ग मूलतः व्यापारी वर्ग था। वह जैन धर्म का परिचालक होने से अहिंसक था। शायद इसीलिए उसे योद्धा के रूप में स्वीकार न किया जाता हो। परन्तु इसका तात्पर्य यह नहीं कि जैन धर्मावलम्बी नृपति युद्ध से पीछे हटते हों। जैन इतिहास व साहित्य ऐसे उदाहरणों से अपूर हो जहां जैन धर्मावलम्त्रियों ने आवश्यकता पड़ने पर यथाशक्ति युद्ध किया और आत्मसम्मान तथा देश की रक्षा की। जीवन्धर चम्पू ने भी यही किया।

शुद्र वर्ग के विषय में जीवन्धर चम्पू में कुछ भी नही लिखा गया। कृषक वर्ग को इसमें सम्मिलित किया नहीं जा सकता। जीवन्धर चम्पू के सभी पत्र प्रथम तीन वर्गों से ही लिए गये हैं।

६. विवाह व्यवस्था

साहित्य में विवाह के आठ प्रकार वताये गए हैं—ब्राह्म, दैव, आर्ष, प्राजापत्य, असुर, गान्धर्व, राक्षस और पैशाचन। इनमें जीवन्धर चम्पू में ब्राह्म, प्राजापत्य और गान्धर्व विवाह प्रकार के प्रसंग उपलब्ध है। स्वयं प्रथा का भी उल्लेख है जिसमें पराजित पक्ष विजित पक्ष से कन्या हरण करने का प्रयत्न करता था।

ज्योतिषि साधारणतः विशिष्ट कन्याओं के विषय में भविष्यवाणी करते कि किस समय और किस स्थिति में किस महापुरूष से कन्या का विवाह होगा। समुद्र सेठ की पुत्री क्षेमकी तथा सागदत्त की पुत्री विमला का सम्बन्ध जीवन्धर के साथ ऐसी ही भविष्यवाणी पूर्वक हुआ। इनमें प्रायः कन्या का पिता वर अथवा वर के पिता अथवा वर के सम्बिन्धियों के समक्ष प्रस्ताव रखता और स्वीकृत हो जाने पर विधि पूर्वक विवाह कर देता।

जीवन्धर चम्पू के कवि के अनुसार वर-वधु की अवस्था तथा रूप समान होना चाहिए—वधु-वरमिदं तुल्यवयो रूप परिस्कृतम्, (३.४६)। विवाह में कहीं-कहीं दूति पति प्राप्त कराने में अधिक सहायक होती थी—कुलोचिता वभूवेयं कुमार प्राप्ति दूति का (३.३५)।

विवाह घटना के अनेक कारण होते हैं। कुछ ऐसे कारण जीवन्धर के चरित में भी देखे जा सकते हैं। उदाहरणार्थ—कभी कला विशेष में कन्या पराजित होती और वह विजेता का स्वयंवरण करती। वीणावादन से पराजित होकर गन्धर्वदत्ता ने जीवन्धर का वरण किया। कभी भयानक आपत्ति से बचाने पर स्नेह सम्बन्ध हो जाता है। मदोन्मत हस्ती से बचाने पर गुणमाला के साथ और विष विमोचन करने पर पद्मा के साथ जीवन्धर का विवाह सम्बन्ध हुआ। जीवन्धर के प्रभाव से जिन मन्दिर के कपाट खुलने पर क्षेमकी के साथ, अस्त्र-शिक्षण की कृतज्ञतावश कनकमाला के साथ, कन्दुक के अघात से विमला के प्रति प्रेम और विवाह, वृद्ध का वेश धारण करने पर सुरमंजरी का प्रभावित होना और पणिग्रहण करना आदि अनेक आकस्मिक कारण रहते जिनसे वर वधु प्रेम-सूत्र में बंध जाते।

इसके अतिरिक्त स्वयंम्वर प्रथा प्रचलित थी ही। इनमें कन्या सभी के समक्ष अपने अनुकूल वर का चुनाव करती अथवा जिस कला में कन्या स्वयं दक्ष हो उसी में पराजित करने वाले से विवाह करती अथवा किसी यन्त्रादि भेदक के साथ अपना सम्वन्ध स्थापित करती। जीवन्धर ने वीणावादन से गन्धर्वदत्ता को पराजित कर विवाह किया और चन्द्रक-यन्त्र भेदकर गोविन्दा का स्वयंवरण किया।

किसी योद्धा विशेष को कन्या देने में कन्या का पिता गौरव अधिक समझता था। भीलों को पराजित करने पर नन्दगोप ने जीवन्धर के साथ अपनी कन्या गोविन्दा का परिणय किया। साथ ही सप्त स्वर्णयुत्तलिकायें भी भेंट की (पृ० ५०)।

स्वयंम्वर करने की अनुमति राजा से लेनी पड़ती और इस वृत्तान्त की घोषणा समस्त नगरों में करनी पड़ती। स्वयंम्वर मण्डप को अधिकाधिक सुसज्जित किया जाता। उसमें मरकत, पद्मरा आदि मणि लगाये जाते। कुकुंम रस का सिंचन होता। सुरभित पुष्प विकीर्ण किये जाते। विभिन्न रंगों के मुक्ता मण्डित बेलबूट बनाये जाते (पृ. ६३)। प्रत्येक राजकुमार के लिए पृथक-पृथक मंच बनाया जाता। यदि किसी कला विशेष में निपुणता प्रदर्शन पूर्वक स्वयंम्वर होना हो तो उसके लिए भी एक मंच होता था। कन्या को शिविका में बैठाकर स्वयंम्वर मण्डप में लाया जाता, जहां कला प्रदर्शन पूर्वक स्वयंवरण होता। कन्या के लिए दूती इस कार्य में सर्वाधिक सहयोगिनी बनती थी। राजाओं के वंश, पराक्रम, राज्यादि, विषयक परिचय वही दिया करती थी। स्वयम्वर में समागत प्राय: प्रत्येक राजा अथवा राजकुमार के साथ उसकी अपनी सेवा रहती थी। प्रायः समूचे साहित्य में स्वयंम्वर के बाद संघर्ष होता हुआ दिखाई देता है। इसीलिए शायद पूरी सैनिक सज्जा के साथ राजा स्वयंम्वर में भाग लिया करते होंगे।

युद्ध में विजयी होने के बाद कन्या का पिता शुभ मुहूर्त में वर-वधु का विवाह करना निश्चित करता। तदर्थ एक सुन्दर और विशाल पट मण्डप (शाला) बनाया जाता। इसी पटमण्डप के बीच मागलिक द्रव्यों से संगत वेदिका बनायी जाती जहां पर विवाह सम्बन्धी समूचा मांगलिक कार्य सम्पन्न किया जाता। इसके पूर्व वर-वधु का मांगलिक अभिषेक किया जाता। तदुनन्तर कन्या को प्रसाधन गृह में ले जाते जहां पर उसकी सखियां उसे पूर्व दिशा की ओर मुंहकर बैठातीं और अलंकृत करतीं

(३.३९) सुगन्धित शरीर में मृदु शुभ वसन पहनातीं, पैरों में नूपुर (५.४२), कमर में करधनी (पृ० १०४), हार (५.४३), नासामणि (५.४४) पहनाती, पयोधरों पर मकरी का चिन्ह बनाती (५.४५), मांग (सीमन्त) भरतीं, पुष्पमाला पहनातीं (३.४२), ललाट पर वेंदी (ललाटिका) लगाती, आंखों में कज्जल भरती, तथा कपोल भाग पर मकरी चिन्ह एवं कस्तूरी द्वारा पत्राकार रचना करती जिसे कवि ने कामदेव की पताका (मकर केतोः पताकेयम्) कहा है। केशपाश में पुष्प कानों में ताटङ्क (कर्णफूल) लगाकर भी वधु को अलंकृत किया जाता।

इसके बाद वेदी के समीप पूर्व दिशा की ओर मुंहकर दोनों को पीठ (चौकी) पर बिठाया जाता। वेदिका के चारों ओर मणिमय दीपक जलाते, वाद्य बजते, मन्त्रवेत्ता मन्त्र-पाठन करते (पृ० १०५,३.४४-४५, ६.४८)। इसी बीच सिद्ध प्रतिमा की पूजन होती। प्रसन्नताव्यक्त करने की दृष्टि से वराङ्गनाओं के नृत्य-गान का भी प्रबन्ध किया जाता (मारसती पदनूपुरवानुका मधुर गान चतुरवाराङ्गना नर्तन-विलसिते-पृ० ६९,) वन्दीजन विरूदगान करते। इसके बाद शुभ मुहूर्त में कन्या का पिता स्वर्णकलश से वर के हाथ पर "दीर्घं भवन्तामिह जीविताम" कहकर जलधारा छोड़ता और बाद में वर-वधु का पाणिग्रहण करता। (३.४८, पृ० १०५)।

मामा की लडकी के साथ विवाह करने की भी प्रथा थी। जीवन्धर की आठवीं पत्नी गोविन्दा उसके मामा की ही लड़की थी। यह प्रथा दक्षिण में तो थी ही, उत्तर में भी दिखाई देती है। गोविन्द राजा विदेह का अधिपति था। यह विदेह विहार अथवा उसके आसपास का ही भाग होना चाहिए। बहु विवाह प्रथा भी थी। यह जीवन्धर के आठ विवाहों से स्पष्ट है। प्रत्येक पत्नी को पृथक्-पृथक् प्रासाद रहा करते थे। प्रवास काल से पति के वापिस आने पर पत्नी स्वयं उससे मिलने नहीं जाती बल्कि पति का कर्त्तव्य रहता कि वह पत्नी से मिलने जाय। गन्धर्वदत्ता और गुणमाला के पास जीवन्धर स्वयं गये थे (१०. २-३)।

१०. नारी की स्थिति—

प्राचीन भारतीय संस्कृति में नारी की स्थिति जहां हीन बतायी है वहां उन्हें नीतिदशा और विदुषी भी बताया गया है। हीन बताये जाने का मुख्य कारण धार्मिक दृष्टि रही है। नारी को सदा से संसार का कारण बताया गया है। जैनाचार्यों ने भी प्रायः इसी दृष्टिकोण से नारी की अवमानना की है। नारी की चोटी को सर्पिणी की उपमा शायद इसीलिए दी गई है (व्यालीनिभ वेलीनां, पृ० ११८) इसी प्रकार स्त्री का स्वभाव सम्भ्रान्त माना गया है। गन्धोत्कट अपने मृतपुत्र को श्मशान में जलाकर सत्यन्धर के पुत्र (जीवन्धर) को अपनी पत्नी के पास ले जाता है और कृत्रिमता से क्रोध पूर्वक कहता है कि अरी पगली। तूने परीक्षा किये बिना ही जीवित पुत्र को मरा हुआ क्यों कह दिया ?

> जीवन्तमंरयात्मजमद्य मत्त विना परीक्षां
> मृतकं किमात्थ १,९३.

अथवा ठीक ही है, जिनका चित्त स्वभावतः सम्भ्रान्त रहता है ऐसी स्त्रियां यदि जीवित कुमार को मृत समझने लगें तो इसमें क्या आश्चर्य।

> यद्वा सम्भ्रांतचित्तानां वनितानां स्वभावतः।
> युक्तं न किं कुमारस्य मारान्तस्त्वप्रकल्पनम् ॥१.९४.

विद्याधरी पात्र का नियोजन कर कवि ने यह भी बताया कि साधारण स्त्री अन्य पुरुष के साथ

किस प्रकार अपने पति को वंचित कर सम्बन्ध स्थापित करती। जीवन्धर के मुख से कवि ने नारियों की इस प्रकृति का सुन्दर चित्रण किया है। वे कहते हैं कि मृगनयनी स्त्रियों का चित्त वज्र से भी अधिक कठोर होता है, वचन का प्रचार पुष्प से भी अधिक मृदुल होता है, कृत्य अपने केश से भी अधिक वक्र (कुटिल) होते हैं। इसलिए विद्वान उनका विश्वास नहीं करते—

वज्रात्कठोरतर मेणदृशां हि चित्तं
पुष्पादतीव मृदुलो वचन प्रचार।
कृत्यं निजालक कुलादपि वक्ररूपं,
तस्माद्बुधाः सुनयनां न हि विश्व सन्ति
॥७.३७॥

हरिचन्द्र और भी कहते है कि स्त्री का मुख कफ का भण्डार है परन्तु मूर्ख कवि उसे चन्द्रमा के समान बताते हैं। दोनों नेत्र मल से आपूर हैं, परन्तु मूर्ख-कवि उन्हें विकसित नील कमल के समान सुशोभित कहते है, पयोधर मांस के सघन पिण्ड हैं परन्तु मूर्ख कवि उन्हें हाथी का गण्ड स्थल मानते हैं, नितम्ब मण्डल रूधिर व अस्थियों का पुंज है परन्तु मूर्ख कवि उसे बालू का बड़ा भारी टीला बताते हैं। यह सब वस्तुतः राग का उद्रेक ही है। स्त्रियों में यथार्थतः कोई सौन्दर्य नहीं परन्तु कवियों की प्रतिभा ने उनमें विविध सौन्दर्य देखा है—

वक्त्रं श्लेस्म निकेतनं मलमयं नेमद्वयं तत्कुचौ
माँसाकार घनों नितम्बफलकं रक्तास्थिपुञ्जाततम्।
शीतांशु विकचोत्पलं करियतेः कुम्भो माह सैकतं
भातीत्येव मुशन्ति मुग्ध कव्यस्तद्रागविस्फूर्जितम्
॥७.३८.

कवि ने एक ओर जहां विद्याधरी के चरित्र के माध्यम से ऐसी स्त्रियों के स्वभाव का दिग्दर्शन किया है जो अपने पति को वंचित कर अन्य पुरुष पर मुग्ध हो जाती हैं वहीं उसने ऐसी वानरी का भी चित्रण किया है जो अपने पति का सम्पर्क अन्य वानरी के साथ देखकर रुष्ट हो जाती है और तरूण वानर बड़ी दीनता के साथ उस वानरी को शान्त करने का प्रयत्न करता है, परन्तु उसमें सफल नहीं होता। मृतक की तरह जब वह अपने आपको दीनतापूर्वक जमीन में लिटा देता है तो वानरी वानर को मृतक समझकर भय से कांप उठती है और पास जाकर उसकी यह दशा दूर कर देती है। पतिव्रता स्त्रियों के स्वभाव की यह उद्‌भावना है। (११. १६-२०)।

विधवा स्त्री की स्थिति का भी भी कवि ने प्रसंगवशात् चित्रण किया है। उसने बताया कि विधवा महिला केशों में नवमालिका और शरीर में हल्दी नहीं लगाती। वस्तुतः पति विरहित स्त्री का भोगापभोग सामग्री में लीन रहना निन्दास्पद है

प्रजावति विजानती सकलपद्धति त्वंकथं,
विभर्षि नवमालिकां कचकुले हरिद्रां तनौ।
न युक्तमिदमास्थितं विगतभर्तृवामयुवां,
वृथा खलु सुखासिका सकल लोक गर्हास्पदम्
॥८.१५.

११. शिक्षा और शिक्षालय—

शिक्षालय नगर के बाहर रमणीय स्थल में बनाया जाता था। बच्चे की शिक्षा-दीक्षा पांचवे वर्ष में प्रारम्भ होती थी। इसके लिए बच्चे को किसी आचार्यप्रवर के पास भेज दिया जाता था। सबसे प्रथम वर्णमाला को सिद्ध मातृ का (पृ० ३८) कहा गया है। एक गुरू के पास अनेक छात्र पढ़ते थे। गुरू शिष्य का सम्बन्ध भी बड़ा ही मधुर रहता। उनका व्यवहार परस्पर में पिता-पुत्रवत् था। शिष्य अत्यन्त विनम्र और शिष्ट रहता था।

जीवन्धर चम्पू में गुरु की विशुद्धता पर भी बल दिया है (पृ० १४५)। शिक्षार्थी को आज जैसी कोई फीस नहीं देनी पड़ती थी। हां, यदि आवश्यक हुआ तो शिक्षक गुरु दक्षिणा अवश्य स्वीकार कर लेता था। शिक्षक शिक्षार्थी को अधिकाधिक कलाओं का अभ्यास कराता और नैतिक शिक्षा भी साथ ही देता था। गुरु आर्यनन्दी ने जीवन्धर को क्रोध न कर शांति धारण करने की नैतिक शिक्षा दी।

न कार्यः क्रोधोऽयं श्रुतजनविमर्शैक हृदयैः,
न चैवयर्या शास्त्रे परिचय कलाचार विधुरा।
निजं पाणौ दीपे लसति भुवि कूपे निपतितां,
फलं किं तेन स्यादिति गुरुरयोऽशिक्षयद्मुम्
॥२.१६.

१२. मन्दिर और धर्म साधना केन्द्र—

मन्दिर व धर्म साधना केन्द्र प्रायः शहर के बाहर पर्वत पर बनाया जाता। उसके प्रवेश द्वार पर वन्दनमाला लगी रहती। मन्दिर तक पहुंचने का मार्ग पुष्पों से सुसज्जित रहता। मन्दिर के अग्रभाग में चम्पा तथा बाद में अशोक मालती आदि पुष्पों के वृक्ष लगे रहते। मन्दिर के चारों ओर सुन्दर परिक्रमण रहता उसके बाद नयनाभिराम उद्यान बना रहता। उद्यान के एक ओर सरोवर रहता जिसमें से अनेक फुव्वारे निकाले जाते। मन्दिर के गृह भाग में मूर्ति के पीछे भामण्डल, ऊपर तीन छत्र और बाजू में चंवर ढोलती हुई देवी की मूर्तियां रहती। समूचा मन्दिर शिखर पर लगी पताका से शोभायमान रहता। जैन मन्दिर की बनावट अकृत्रिम चैत्यालय जैसी रहती। नित्योत्सवों तथा पक्षोत्सवों की परम्परा निर्विघ्न चालू रखने के लिए उत्तम क्षेत्रादि जैसा आय का साधन भेंट किया जाता। और मन्दिर का स्वामित्व तपस्वियों के लिए दे देते। यहां भट्टारक प्रथा की ओर संकेत स्पष्ट दिखाई देता है।

जैनेतर साधना स्थल का भी वर्णन उपलब्ध होता है। तपोवन में साधु सपरिवार रहते, वृक्षछाल पहनते, कमण्डलु रखते और काषायवस्त्र पहनते। तपोवन में बालक मुंज मेखलायें बिखेरते, कुमारियां वृक्ष क्यारियां भरतीं, साधु व्याघ्र चर्म पर बैठकर ध्यान करते, यहीं तपस्वियों की स्त्रियां नीवार पकाती और पुत्र गीला ईंधन काटकर ले आते। तपोवन में डाभ की शय्या का उपयोग होता था (१.६८)। इसे कवि ने मिथ्या तपस्वी चर्या कहा है (पृ० १०८)।

१३. कृषि और कृषक—

संस्कृत साहित्य का अधिकांश भाग सामंतवादी संस्कृति से ओत-प्रोत रहा है। (उसमें जन संस्कृति उपेक्षित सी नजर आती है,। महाकवि हरिचन्द्र का साहित्य इस कथन का अपवाद नहीं। जो कुछ भी जन-संस्कृति से सम्बन्धित उल्लेख वहां मिलते हैं—वे आनुषंगिक ही कहे जा सकते हैं। कृषि और कृषक के सम्बन्ध में थोड़े से उल्लेख मिलते हैं। उस समय खेत प्रायः नगर से बाहर हुआ करते थे। सारा खेत हल से ही जोता जाता था। कृषक साधारणतः मेघ पर ही आश्रित रहता था, पर आवश्यकता पड़ने पर कुओं और नहरों का भी भरपूर उपयोग किया जाता था। जीवन्धर चम्पू में इस तरह की सिंचाई का वर्णन मिलता है। सिंचाई के बाद खेत हरे भरे हो जाते थे। खेतों की रक्षा किसान स्वयं करता था (१.१२१०)। इस काम में उसकी लड़कियां भी सहयोग करती थी। वे अल्हड़ गीतगाती हुई खेती की रक्षा किया करती थीं। धर्मशर्माभ्युदय, १.५०)। खेत छोड़कर जाने पर कृषक उसमें मानवाकार वस्त्राच्छादन खड़ा कर देता। जिसे अज बिजुअ (क्षेत्ररक्षक) कहा जा सकता है। इसका उद्देश्य

पक्षियों से कृषि की रक्षा करना है (पृ० ५)। हंसिये से पूरी फसल काटकर खलियानों में रखी जाती थी। (पृ० ६) खलियानों में रखे धान्य के ढेर इतने अधिक थे कि कवि को उन पर अनेक कल्पनायें करनी पड़ी (पृ० ५)। इन ऊंचे ढेरों को परेना (ऋतुतोभ) की सहायता से हाथियों और वैलों पर लाद कर घर लाते थे (१.३०)। वाद में यही धान्य गाड़ियों से वाजार में ले जाकर वेचा जाता था।

किसान साधारणतः अशिक्षित रहते थे। निर्धनता से उनकी कमर टूट रही थी। महाकवि ने एक कृषक का वड़ा सुन्दर चित्रण किया है। क्षेमकी से परिणय होने के वाद जीवन्धर स्वामी एक दिन घर से निकल गये और रातों रात वन तय करते रहे। वाद में एकायक एक पथिक से भेंट हो गई। उसके हाथ में परेना था, शरीर पर कम्वल था, कमर में हंसिया और और कंधे पर हल था। उसके सिर पर मैला कुचेला साफा था—

करधत ऋटपु तोभः कम्वलछन्नदेहः
कटितटगतदाभः स्कन्ध सम्बन्ध सीरः।
वनभुवि पथि कश्चिन्नागमत्तस्त्र पार्श्वं,
नियति नियति रूपा प्राणिनां हि प्रवृत्ति ॥७.३

१४. उपवन

उपवन प्रायः नगर के वाहर होते थे। जीवन्धर चम्पू में कुछ ऐसे भी स्थल हैं जहां नगर के वीच भी उपवनों का होना वतलाया गया है। सभी उपवन प्रायः समान होते थे। उपवन के अग्रभाग में तिलक वृक्षों की पंक्ति, वाद में अशोक, मैनर, अक्ष (वहेडे), अम्र आदि की वृक्ष पंक्तियां थी। ये वृक्ष सुसज्जित ढंग से उपवन के चारों ओर लगे रहते थे और उपवन की मध्यवर्ती भूमि विविध पुष्पों से सजायी जाती। इन पुष्पों में लालकमस्त और लकुच के पुष्प प्रमुख थे। ये पुष्प प्रायः क्यारियों में लगाये जाते थे और साथ ही कुछ लतायें भी उन पर आवेष्टित कर दी जाती थीं (२.१३)। उपवन के एक ओर सरोवर या वाटिका रहती थी (पृ० १३०)। बीच में कुछ मैदान होता था जहां वच्चे खेलते कूदते थे (२.६)। उपवन के चारों ओर वाड़ी लगायी जाती थी जिसे उपवन वृत्ति कहते थे। (पृ० १०४)।

१५. आमोद–प्रमोद के साधन

वच्चों के आमोद प्रमोद के साधनों में खिलोने थे। इन खिलौनो में राज हंस और मयूर मुख्य थे (पृ १२)। गेंद का प्रयोग प्रचुरता और रूचिकर था (४.३४)। कुवारियां और युवतियां भी अपने घर के प्रागण में वड़े चाव से कन्दुक क्रीड़ा करती थी।

शुक शावक का पालन भी एक आमोद-प्रमोद का साधन था। उसे दूध और केला खिलाया जाता (पृ० २५)। शुक शावक का उपयोग विरही युवतियां अपने प्रेमी के पास प्रेम पत्र भेजकर भी किया करती थी। ऐसे शुक को "क्रीड़ा शुक" की संज्ञा दी गई है (पृ० ८७.४.३३–३५)। चित्रकला का उपयोग भी प्रेम पत्र में चित्र वना कर किया जाता था। क्रीड़ा शुक का वर्णन प्राचीन साहित्यकारों का एक मनोरंजन विषय था।

१६. जैन सिद्धान्त वर्णन

जीवन्धर चम्पू में दर्शन की अपेक्षा काव्य अधिक मुखरित हुआ है। अनेक स्थल थे जहां पर कवि जैन सिद्धान्तों का वर्णन कर सकता था परन्तु उसने ऐसा नहीं किया। सम्भवतः इसलिए कि कथा में प्रवाह वना रहे। उपदेश की रूक्षता से कथा की गति प्रतिहत आ जाती है। फिर भी कवि ने इस ओर एक दम उपेक्षा नहीं की। अन्यत्र संक्षेप में उन्होंने जैन सिद्धान्तों को समझाने का प्रयत्न किया है।

जैनाचार्यों ने संसार की असारता के विषय में बहुत कुछ कहा है। युद्ध स्थल में जाने के पूर्व सत्यधर ने विजया रानी को इसी आधार पर समझाने का प्रयत्न किया। उन्होंने कहा कि यह सम्पत्ति बिजली के सामान है। शरीर चंचल है, ऐश्वर्य जल के बबूले के समान है और जवानी पहाड़ी नदी के समान है। जहां संयोग है वहां वियोग अवश्य है यह दुख-सागर ज्ञान-पोत से पार किया जा सकता है। (१. ७८-८०)

वन क्रीड़ा करते हुए जीवन्धर ने एक वानर दम्पत्ति को देखा। वानर एक अन्य वानरी के साथ सम्पर्क देख कर वानरी रूष्ट हो गई। उसे प्रसन्न करने के लिए वानर ने एक पका कटहल वानरी को दिया। परन्तु शीघ्र ही वेमलता का भय दिखाकर वनपाल ने उस वानरी से वह फल छीन लिया। जीवन्धर के हृदय में यह घटना चुभ गई। वे संसार की असारता और अपने कर्त्तव्य के विजय में गंभीर चिन्तन करने लगे। काम, राजभोग, परिवार आदि सभी में उन्हें क्षण विनश्वरता दिखाई देने लगी। अन्त में कहते हैं कि जो मनुष्य अविनाशी मोक्ष लक्ष्मी को छोड़कर राज लक्ष्मी प्राप्त करते हैं वे ग्रीष्मकाल में शीतल जल की धारा छोड़ कर मृग-मरीचिका का सेवन करते हैं। अतः आत्महित में प्रमाद करना उचित नहीं (७. २२-२६)।

इसी सप्तम लम्ब में सम्यग्दर्शन, सम्यग्ज्ञान सम्यग-चारित्र के लक्षण बता कर सम्यग्ज्ञान पूर्वक त्यागी-वृन्द के दो भेद किये-सागार और अनागार। एक देशव्रत धारण करना सागार व्यवस्था है। पांच अणुव्रतों का पालन करना तथा मद्य, मांस, मधु का त्याग करना ये अष्ट मूलगढ़। दिग्व्रत, देशव्रत तथा अनर्थदण्डव्रत ये तीन शिक्षाव्रत हैं। आचार्य उमा-स्वामी का प्रभाव यहां दिखाई देता है। चार शिक्षा-व्रतों में सामयिक, प्रोषधोपवास, अतिथि संविभाग और सल्लेखना सम्मिलित है। यहां महाकवि आचार्य कुन्दकुन्द से प्रभावित जान पड़ता है (७. ७.१६)।

उपसंहार—

इस प्रकार जीवन्धर चम्पू के उक्त परिशीलन से स्पष्ट है कि महाकवि हरिचन्द्र की वह एक अप्रतिम कृति है। इसे हम धर्म कथा काव्य की श्रेणी में प्रतिष्ठित कर सकते हैं। महाकवि का अभी तक कोई समग्र अध्ययन सामने नहीं आया। कोई शोधक गंभीरता से इस विषय पर कार्य करे तो कितना अच्छा होगा। श्रद्धेय स्वर्गीय पंडित चैनसुखदासजी ने सन् १९६० में मुझे यह विषय सुझाया था। पर अनेक व्यवधान आ जाने के कारण हम उसे कार्यरूप में परिणीत नहीं कर सके। आज इस लेख के माध्यम से विनम्र श्रद्धांजलि पूर्वक उनकी इच्छा को किसी सीमा तक पूरा करने का प्रयत्न किया है।

२२

महापंडित टोडरमल

□डा० हुकमचन्द भारिल्ल

डा० गौतम के शब्दों में "जैन हिन्दी गद्यकारों में टोडरमलजी का स्थान बहुत ऊंचा है। उन्होंने टीकाओं और स्वतन्त्र ग्रन्थों के रूप में दोनों प्रकार से गद्य-निर्माण का विराट उद्योग किया है। टोडरमलजी की रचनाओं के सूक्ष्मानुशीलन से पता चलता है कि वे अध्यात्म और जैन धर्म के ही वेत्ता न थे, अपितु व्याकरण, दर्शन, साहित्य और सिद्धान्त के ज्ञाता थे। भाषा पर भी इनका अच्छा अधिकार था।[१]

ईसवी की अठारहवीं शदी के अन्तिम दिनों में राजस्थान का गुलावी नगर जयपुर जैनियों की काशी बन रहा था। आचार्यकल्प पंडित टोडरमलजी की अगाध विद्वता और प्रतिभा से प्रभावित होकर संपूर्ण भारतवर्ष के विभिन्न प्रान्तों में संचालित तत्त्वगोष्ठियों और आध्यात्मिक मण्डलियों में चर्चित गूढ़तम शंकायें समाधानार्थ जयपुर भेजी जाती थीं और जयपुर से पंडितजी द्वारा समाधान पाकर तत्त्व-जिज्ञासु समाज अपने को कृतार्थ मानता था। साधर्मी भाई ब्र० रायमल ने अपनी "जीवन-पत्रिका" में तत्कालीन जयपुर की धार्मिक स्थिति का वर्णन इस प्रकार किया है—

"तहां निरन्तर हजारां पुरुष स्त्री देवलोक की सी नांई चैत्याले आय महापुण्य उपारजैं, दीर्घकाल का संच्या पाप ताका क्षय करैं। सो पचास भाई पूजा करने वारे पाईए, सौ पचास भाषा शास्त्र वांचने वारे पाईए, दस वीस संस्कृत वांचने वारे पाईए, सौ पचास जनें चरचा करने वारे पाईए और नित्यान का सभा के शास्त्र वांचने का व्याख्यान विषै पांचसै सात सै पुरुष तीन सै च्यारि सै स्त्रीजन, सब मिली हजार बारा सै पुरुष स्त्री शास्त्र का श्रवण करैं बीस तीस बायां शास्त्राभ्यास करैं, देश देश का प्रश्न इहां आवै तिनका समाधान होय उहां पहुंचे, इत्यादि अद्भूत महिमा चतुर्थकालवत या नग्र विषैं जिनधर्म की प्रवर्ति पाईए है।"[२]

यद्यपि सरस्वती मां के वरद पुत्र का जीवन आध्यात्मिक साधनाओं से ओतप्रोत है, तथापि साहित्यिक व सामाजिक क्षेत्र में भी उनका प्रदेय कम नहीं है। आचार्यकल्प पंडित टोडरमलजी उन दार्शनिक साहित्यकारों एवं क्रान्तिकारियों में से हैं, जिन्होंने आध्यात्मिक क्षेत्र में आई हुई विकृतियों का सार्थक व समर्थ खण्डन ही नहीं किया, वरन्

१. हिन्दी गद्य का विकास : डां० प्रेमप्रकाश गौतम, अनुसंधान प्रकाशन, आचार्यनगर, कानपुर, पृ० १८८

२. पंडित टोडरमल व्यक्तित्व और कर्तत्व, परिशिष्ट, १ प्रकाशक : पंडित टोडरमल स्मारक ट्रस्ट, ए-४ बापूनगर, जयपुर।

उन्हें जड़ से उखाड़ फैंका। उन्होंने तत्कालीन प्रचलित साहित्य भाषा व्रज में दार्शनिक विषयों का विवेचक ऐसा गद्य प्रस्तुत किया जो उनके पूर्व विरल है।

पंडितजी का समय ईसवी का अठारहवीं शदी का मध्यकाल है। वह संक्रान्तिकालीन युग था। उस समय राजनीति में अस्थिरता, सम्प्रदायों में तनाव, साहित्य में शृंगार, धर्म के क्षेत्र में रूढ़िवाद, आर्थिक जीवन में विषमता एवं सामाजिक जीवन में आडम्बर—ये सब अपनी चरम सीमा पर थे। उन सब से पंडितजी को संघर्ष करना था जो उन्होंने डटकर किया और प्रणपों की बाजी लगाकर किया।

पंडित टोडरमलजी गम्भीर प्रकृति के आध्यात्मिक महापुरुष थे। वे स्वभाव से सरल, संसार से उदास, धुन के धनी, निरभिमानी, विवेकी अध्ययनशील, प्रतिभावान, बाह्याडंबर विरोधी, दृढ़ श्रद्धानी, क्रान्तिकारी, सिद्धान्तों की कीमत पर कभी न झुकने वाले, आत्मानुभवी, लोकप्रिय प्रवचनकार, सिद्धान्तग्रन्थों के सफल टीकाकार एवं परोपकारी महामानव थे।

वे विनम्र पर दृढ़श्रद्धानी विद्वान एवं सरल स्वभावी थे। वे प्रामाणिक महापुरुष थे। तत्कालीन आध्यात्मिक समाज में तत्वज्ञान संबन्धी प्रकरणों में उनके कथन प्रमाण के तौर पर प्रस्तुत किए जाते थे। वे लोकप्रिय आध्यात्मिक प्रवक्ता थे। धार्मिक उत्सवों में जनता की अधिक से अधिक उपस्थिति के लिए उनके नाम का प्रयोग आकर्षण के रूप में किया जाता था। गृहस्थ होने हर भी उनकी वृत्ति साधुता की प्रतीक थी।

पंडितजी के पिता का नाम जोगीदासजी एवं माता का नाम रम्भादेवी था। वे जाति से खण्डेलवाल थे और गोत्र था गोदीका, जिसे भोंसा व बड़जात्या भी कहते हैं। उनके वंशज ढोलाका भी कहलाते थे। वे विवाहित थे पर उनकी पत्नि व ससुराल पक्ष वालों का कहीं कोई उल्लेख नहीं मिलता। उसके दो पुत्र थे—हरिचन्द्र और गुमानीराम। गुमानीराम भी उनके समान उच्च कोटि के विद्वान और प्रभावक आध्यात्मिक प्रवक्ता थे। उनके पास बड़े-बड़े विद्वान भी तत्त्व का रहस्य समझने आते थे। पंडित देवीदास गोधा ने "सिद्धान्तसार संग्रह टीका प्रशस्ति" में इसका स्पष्ट उल्लेख किया है। पंडित टोडरमलजी की मृत्यु के उपरान्त वे पंडितजी द्वारा संचालित धार्मिक क्रान्ति के सूत्रधार रहे। उनके नाम से एक पथ भी चला जो 'गुमान पथ' के नाम से जाना जाता है।

पंडित टोडरमलजी की सामान्य शिक्षा जयपुर की एक आध्यात्मिक (तेरापथ) सैली में हुई, जिसका बाद में उन्होंने सफल संचालन भी किया। उनके पूर्व बाबा वंशीधरजी उक्त सैली के संचालक थे। पंडित टोडरमलजी गूढ़तत्वों के तो स्वयंबुद्ध ज्ञाता थे। 'लब्धिसार' व "क्षपणासार" की संदृष्टिया आरम्भ करते हुए वे लिखते हैं "शास्त्रविषै लिख्या नाहीं और बतावने वाला मिल्या नाहीं"।

संस्कृत, प्राकृत, और हिन्दी के अतिरिक्त उन्हें कन्नड़ भाषा का भी ज्ञान था। मूलग्रंथों को वे कन्नड़ लिपि में पढ़-लिख सकते थे। कन्नड़ भाषा और लिपिका ज्ञान एवं अभ्यास भी उन्होंने स्वयं किया। वे कन्नड़ भाषा के ग्रंथों पर व्याख्यान करते थे एवं उन्हें कन्नड़ लिपि में लिख भी लेते थे। ब्र० रायमल ने लिखा है—

२. इन्द्रध्वज विधान महोत्सव पत्रिका,

"दक्षिण देश सूं पांच सात और ग्रन्थ ताड़पत्रां विषै कर्णाटी लिपि में लिख्या इहां पधारे हैं, ताकूं मलजी वांचे है। वाका यथार्थ व्याख्यान करै है वा कर्णाटी लिपि में लिखते हैं।

परम्परागत मान्यतानुसार उनकी आयु कुल २७ वर्ष कही जाती रही, परन्तु उनकी साहित्यक साधना, ज्ञान व प्राप्त उल्लेखों को देखते हुए मेरा यह निश्चित मत है कि वे ४७ वर्ष तक अवश्य जीवित रहे। इस संबन्ध में साधर्मी भाई ब्र० रायमल द्वारा लिखित 'चर्चा संग्रह ग्रन्थ की अलीगंज (एटा उ० प्र०) में प्राप्त हस्तलिखित प्रति के पृष्ठ १७३ का निम्नलिखित उल्लेख विशेष दृष्टव्य है—

"बहुरि बारा हजार त्रिलोकसारजी की टीका का बारा हजार मोक्षमार्ग प्रकाशक ग्रन्थ उनके शास्त्रों के अनुस्वारि अर आत्मानुशासनजी की टीका हजार तीन यां तीनां ग्रन्थां की टीका भी टोडरमलजी सैंतालीस बरस की आयु पूर्ण करि परलोक विषै गमन की।"

उनकी मृत्यु तिथि विक्रम संवत् १८२३-२४ के लगभग निश्चित है, अतः उनका जन्म विक्रम सवत् १७७६-७७ में होना चाहिए।

पंडित बखतराम शाह के अनुसार कुछ मतांध लोगों द्वारा लगाये गए शिवपिण्डी के उखाड़ने के आरोप के संदर्भ में राजा द्वारा सभी श्रावकों को कैद कर लिया गया था और तेरापंथियों के गुरू महान धर्मात्मा, महापुरुष पंडित टोडरमलजी को मृत्यु दण्ड दिया गया था। दुष्टों के भड़काने में आकर राजा ने उन्हें मात्र प्राणदण्ड ही नहीं दिया बल्कि गंदगी में गडवा दिया था।[4] यह भी कहा जाता है कि उन्हें हाथी के पैर के नीचे कुचलवा कर मारा गया था।[5]

पंडित टोडरमलजी अध्यात्मिक साधक थे। उन्होंने जैन दर्शन और सिद्धान्तों का गहन अध्ययन ही नहीं किया अपितु उसे तत्कालीन जनभाषा में लिखा भी है। उसमें उनका मुख्य उद्देश्य अपने दार्शनिक चिन्तन को जन-साधारण तक पहुंचाना था। पंडितजी के प्राचीन जैन ग्रंथों की विस्तृत, गहन परन्तु सुबोध भाषा-टीकाएं लिखीं। इन भाषा-टीकाओं में कई विषयों पर बहुत ही मौलिक विचार मिलते जो उनके स्वतंत्र चिन्तन के परिणाम थे। बाद में इन्हीं विचारों के आधार पर उन्होंने कतिपय मौलिक ग्रंथों की रचना भी की। उनमें से सात तो टीकाग्रंथ हैं और पाच मौलिक रचनाएं। उनकी रचनाओं को दो भागों में बांटा जा सकता है।

(१) मौलिक रचनाएं (२) व्याख्यात्मक रचनाएं।

मौलिक रचनाएं गद्य और पद्य दोनों रूपों में है। गद्य रचनाएं चार शैलियों में मिलती हैः—

(क) वर्णनात्मक शैली (२) पत्रात्मक शैली। (ग) यन्त्र रचनात्मक (चार्ट) शैली (घ) विवेचनात्मक शैली।

वर्णनात्मक शैली में समोसरण आदि का सरल भाषा में सीधा वर्णन है। पंडितजी के पास जिज्ञासु लोग दूर-दूर से अपनी शंकाऐं भेजते थे, उसके समाधान में वह जो कुछ लिखते थे, वह

---

४. बुद्धि विलास : बखतराम साह, छन्द १३०३, १३०४।
५. (क) वीरवाणी : टोडरमलांक पृ० २८५, २८६। (ख) हिन्दी साहित्य, द्वितीय खण्ड पृ० ५००।

लेखन पत्रात्मक शैली के अन्तर्गत आता है। इसमें तर्क और अनुभूति का सुन्दर समन्वय है। इन पत्रों में एक पत्र बहुत महत्वपूर्ण है। सोलह पृष्ठीय यह पत्र ,रहस्यपूर्ण चिट्ठी' के नाम से प्रसिद्ध है। यंत्र रचनात्मक शैली में चार्टों द्वारा विषय को स्पष्ट किया है। अर्थ संदृष्टि अधिकार इसी प्रकार की रचना है। विवेचनात्मक शैली में सैद्धांतिक विषयों को प्रश्नोत्तर पद्धति में विस्तृत विवेचन कर के युक्ति व उदाहरणों से स्पष्ट किया है। मोक्ष मार्ग प्रकाशक इसी श्रेणी में आता है।

पद्यात्मक रचनाऐं दो रूपों में उपलब्ध है :

(१) भक्ति परक (२) प्रशस्ति परक।

भक्ति परक रचनाओं में गोम्मटसार पूजा एवं ग्रन्थों के आदि मध्य और अन्त में मंगलाचरण के रूप में प्राप्त फुटकर पद्यात्मक रचनाऐं हैं। ग्रन्थों के अन्त में लिखी गई परिचयात्मक प्रशस्तियां प्रशस्तिपरक श्रेणी में आती हैं।

पंडित टोडरमलजी की व्याख्यात्मक टीकाएं दो रूपों में पाई जाती हैं :—

१. संस्कृत ग्रन्थों की टीकाएं

२. प्राकृत ग्रन्थों की टीकाएं।

संस्कृत ग्रन्थों की टीकाएं आत्मानुशासन भाषा टीका और पुरुषार्थ सिद्धियुपाय भाषा टीका है। प्राकृत ग्रन्थों में गोम्मटसार, जीवकांड, गोम्मटसार, कर्म कांड, लब्धिसार-क्षपणासार और त्रिलोकसार हैं, जिनकी भाषा-टीकाऐं उन्होंने लिखी हैं।

गोम्मटसार जीवकाण्ड, गोम्मटसार कर्मकान्ड लब्धिसार और क्षपणासार की भाषा टीकाएं पंडित टोडरमलजी ने अलग-अलग बनाई थीं परन्तु उक्त चारों टीकाओं को परस्पर एक दूसरे से सम्बन्धित एवं परस्पर एक का अध्ययन दूसरे के अध्ययन में सहायक जानकर उन्होंने उक्त चारों टीकाओं को मिलाकर एक कर दिया तथा उसका नाम "सम्यग्ज्ञान चन्द्रिका" रख दिया।

सम्यग्ज्ञान चन्द्रिका विवेचनात्मक गद्यशैली में लिखी गई है। प्रारम्भ में इकहत्तर पृष्ठ की पीठिका है। आज नवीन शैली की सम्पादित ग्रन्थों की भूमिका का बड़ा महत्व माना जाता है। शैली के क्षेत्र में दो सौ बीस वर्ष पूर्व लिखी गई सम्यग्ज्ञान चन्द्रिका की पीठिका आधुनिक भूमिका का आरंभिक रूप है। किन्तु भूमिका का आधा रूप होने पर भी उसमें प्रौढ़ता पाई जाती है, उसमें हलकापन कहीं भी देखने को नहीं मिलता है। इसमें पढ़ने में ग्रन्थ का पूरा हार्द खुल जाता है एवं इस ग्रंथ के पढ़ने में आने वाली पाठक की समस्त कठिनाइयां दूर हो जाती है। हिन्दी आत्मकथा-साहित्य में जो महत्व महाकवि बनारसीदास के अर्द्ध कथानक को प्राप्त है, वही महत्व हिन्दी भूमिका साहित्य में सम्यग्ज्ञान चन्द्रिका की पीठिका का है।

मोक्षमार्ग प्रकाशक पंडित टोडरमलजी का एक महत्वपूर्ण ग्रन्थ है। इस ग्रन्थ का आधार कोई एक ग्रन्थ न होकर सम्पूर्ण जैन साहित्य है। यह सम्पूर्ण जैन साहित्य को अपने में समेट लेने का एक सार्थक प्रयत्न पर था, खेद है कि यह ग्रन्थराज पूर्ण न हो सका, अन्यथा यह कहने में संकोच न होता कि यदि सम्पूर्ण जैन वाङ्मय कहीं एक जगह सरल, सुबोध और जनभाषा में देखना हो तो मोक्षमार्ग प्रकाशक को देख लीजिए। अपूर्ण होने पर भी यह अपनी अपूर्णता के लिए प्रसिद्ध है। यह एक अत्यन्त लोकप्रिय ग्रन्थ है जिसके कई संस्करण

निकल चुके हैं[६] एवं खड़ी बोली में इसके अनुवाद भी कई वार प्रकाशित हो चुके हैं।[७] यह उर्दू में भी छप चुका है।[८] मराठी और गुजराती में इसके अनुवाद प्रकाशित हो चुके हैं।[९] अभी तक सब कुल मिलाकर इसकी ५१२०० प्रतियां छप चुकी हैं। इसके अतिरिक्त भारतवर्ष के दिगम्बर जैन मन्दिरों के शास्त्र भण्डारों में इस ग्रन्थराज की हजारों हस्तलिखित प्रतियां पाई जाती हैं। समूचे समाज में यह स्वाध्याय और प्रवचन का लोकप्रिय ग्रन्थ है। आज भी पंडित टोडरमलजी दिगम्बर जैन समाज में सर्वाधिक पढे जाने वाले विद्वान हैं। मोक्षमार्ग प्रकाशक की मूलप्रति भी उपलब्ध हैं।[१०] एवं उसके फोटोप्रिंट करा लिए गए हैं, जो जयपुर[११]– बम्बई[१२]– दिल्ली[१३]– और सोनगढ़[१४] में सुरक्षित हैं। इस पर स्वतंत्र प्रवचनात्मक व्याख्याएं भी मिलती हैं–।[१५]

---

६. (क) बाबू ज्ञानचन्दजी जैन, लाहौर (वि०सं० १९५४.)
(ख) जैन ग्रन्थ रत्नाकर कार्यालय, बम्बई (सन् १९११ ई०)
(ग) बाबू पन्नालाल जी चौधरी, वाराणसी (वी०वि०सं० २४५१)
(घ) अन्तकीर्ति ग्रन्थमाला, बम्बई (वी०नि०सं० २४६३)
(ङ) सस्ती ग्रन्थमाला, दिल्ली ....
(च) „ „ —
(छ) „ „ —
(ज) „ „ —

७. (क) अ०भा० दिगम्बर जैन संघ, मथुरा (वी०नि०सं० २००५)
(ख) श्री दिगम्बर स्वाध्याय मन्दिर ट्रस्ट, सोनगढ़ (वि०सं० २०२३)
(ग) „ „ „ (वि०सं० २०२६)
(घ) „ „ „ (वि०सं० २०३०)

८. दाताराम चेरिटेबिल ट्रस्ट, दरीबाकलां, दिल्ली (वि०सं० २०२७)

९. (क) श्री दिगम्बर जैन स्वाध्याय मन्दिर, ट्रस्ट, सोनगढ़
(ख) महावीर ब्रह्मचर्याश्रम, कारंजा

१०. श्री दिगम्बर जैन मन्दिर, दीवान भदीचन्दजी, घी वालों का रास्ता, जयपुर।

११. वही, जयपुर

१२. श्री दिगम्बर जैन सीमंधर जिनालय, जवेरी बाजार, बम्बई।

१३. श्री दिगम्बर जैन मुमुक्षु मण्डल, श्री दिगम्बर जैन मन्दिर, धर्मपुरा देहली।

१४. श्री दिगम्बर जैन स्वाध्याय मन्दिर ट्रस्ट, सोनगढ़

१५, आध्यात्मिक सत्पुरुष श्री कानजी स्वामी द्वारा किये गये प्रवचन, मोक्षमार्ग प्रकाशक की किरणें नाम से दो भागों में श्री दिगम्बर जैन स्वाध्याय मन्दिर ट्रस्ट, सोनगढ़ से हिन्दी व गुजराती भाषा में कई वार प्रकाशित हो चुके हैं।

यह ग्रन्थ विवेचनात्मक गद्य शैली में लिखा गया है। प्रश्नोत्तरों द्वारा विषय को बहुत गहराई से स्पष्ट किया गया है। इसका प्रतिपाद्य एक गम्भीर विषय है, पर जिस विषय को उठाया गया है उसके सम्बन्ध में उठने वाली प्रत्येक शंका का समाधान प्रस्तुत करने का सफल प्रयास किया गया है। प्रतिपादन शैली में मनोवैज्ञानिकता एवं मौलिकता पाई जाती है। प्रथम शंका के समाधान में द्वितीय शंका की उत्थानिका निहित रहती है। ग्रंथ को पढ़ते समय पाठक के हृदय में जो प्रश्न उपस्थित होता है उसे हम अगली पंक्ति में लिखा पाते हैं। ग्रन्थ पढ़ते समय पाठक को आगे पढ़ने की उत्सुकता बराबर बनी रहती है।

वाक्य रचना संक्षिप्त और विषय प्रतिपादन शैली तार्किक एवं गम्भीर है। व्यर्थ का विस्तार उसमें नहीं है पर विस्तार के संकोच में कोई विषय अस्पष्ट नहीं रहा हैं। लेखक विषय का यथोचित विवेचन करता हुआ आगे बढ़ने के लिए सर्वत्र ही आतुर रहा है। जहां कहीं भी विषय का विस्तार हुआ है वहां उत्तरोत्तर नवीनता आती गई है। वह विषय विस्तार सांगोपांग विषय विवेचना की प्रेरणा से ही हुआ है। जिस विषय को उन्होंने छुआ उसमें "क्यों" का प्रश्नवाचक समाप्त हो गया है। शैली ऐसी अद्भुत है कि एक अपरिचित विषय भी सहज हृदयंगम हो जाता है।

पंडितजी का सबसे बड़ा प्रदेय यह है कि उन्होंने संस्कृत, प्राकृत में निबद्ध आध्यात्मिक तत्वज्ञान को भाषा-गद्य के माध्यम से व्यक्त किया और तत्व विवेचन में एक नई दृष्टि दी। यह नवीनता उनकी क्रान्तिकारी दृष्टि में है।

टीकाकार होते हुए भी पंडितजी ने गद्य शैली का निर्माण किया हैं। डा० गौतम ने उन्हें गद्य निर्माता स्वीकार किया है।[१६] उनकी शैली दृष्टान्तयुक्त प्रश्नोत्तरमयी तथा सुगम है। वे ऐसी शैली अपनाते हैं जो न तो एकदम शास्त्रीय है और न आध्यात्मिक सिद्धियों और चमत्कारों से बोझिल। उनकी इस शैली का सर्वोत्तम निर्वाह मोक्षमार्ग प्रकाशक में है। तत्कालीन स्थिति में गद्य को आध्यात्मिक चिन्तन का माध्यम बनाना बहुत सूझ-बूझ और श्रम का कार्य था। उनकी शैली में उनके चिंतक का चरित्र और तर्क का स्वभाव स्पष्ट झलक है। एक आध्यात्मिक लेखक होते हुए भी उनकी गद्य शैली में व्यक्तित्व का प्रक्षेप उनकी मौलिक विशेषता है।

उपर्युक्त विवेचन से स्पष्ट है कि पंडित टोडरमल न केवल टीकाकार थे बल्कि अध्यात्म के मौलिक विचारक भी थे। उनका यह चिन्तन समाज की तत्कालीन परिस्थितियों और बढ़ते हुए आध्यात्मिक शिथिलाचार के सन्दर्भ में एक दम सटीक है।

लोकभाषा काव्यशैली में 'रामचरित मानस' लिखकर महाकवि तुलसीदास ने जो काम किया, वही काम उनके दो सौ वर्ष बाद गद्य में जिन अध्यात्म को लेकर पंडित टोडरमलजी ने किया।

जगत के सभी भौतिक द्वन्द्वों से दूर रहने वाले एवं निरन्तर आत्मसाधना व साहित्य-साधनारत इस महामानव को जीवन की मध्यवय में ही साम्प्रदायिक विद्वेष का शिकार होकर जीवन से हाथ धोना पड़ा।

---

१६. हिन्दी गद्य का विकास : डा० प्रेमप्रकाश गौतम, अनुसंधान प्रकाशन, आचार्यनगर कानपुर पृ० १८५ व १८८।

इसके व्यक्तित्व और कर्त्तव्य के सम्बन्ध में विशेष जानकारी के लिए लेखक के शोध प्रबन्ध पंडित टोडरमल : व्यक्तित्व और और कतृत्व[१७] का अध्ययन करना चाहिये । इनकी भाषा का नमूना इस प्रकार है :—

"तातै बहुत कहा कहिए" जैसे रागादि मिटावने का श्रद्धान होय सो ही सम्यग्दर्शन है। बहुरि जैसे रागादि मिटवाने का जानना होय सो ही सम्यग्ज्ञान है। बहुरि जैसे रागादि मिटे सो ही सम्यक्चारित्र है। ऐसा ही मोक्षमार्ग मानना योग्य है।[१८]

●●●

अपरिग्रह

धन पाकर तुम गर्व करो मत
नहीं मिले, तो शोक न भारी
अधिक मिले, तो संचय मत कर
परिग्रह वृत्ति नहीं सुखकारी ।।

अर्हत्

---

१७. प्रकाशक: पंडित टोडरमल स्मारक ट्रस्ट, ए-४, बापूनगर, जयपुर-४ ।

१८. मोक्षमार्ग प्रकाशक, पृष्ठ-३१३ ।

तासु पट्टि उदयद्दि दिवायरू ।
गम्भीरतेण रयणायरू ।।
कुणय वायरण पसरअ कायरू ।
दो विह संजम पविहिय आयरू ।।
बुहयण संवोहण णायरू ।
णिम्मलचरिय रयणणिरू आयरू ।।
राय-राय वंदिय चरणुल्लउ ।
संघहु सामिउ सूरि अतुल्लउ ।।
(१।२।६-११)

उक्त भट्टारक जिनचन्द्र वलात्कार गरण की दिल्ली-जयपुर शाखा की परम्परा से सम्वद्ध थे। इनके प्रमुख कार्य मन्दिर निर्माण, मूर्ति प्रतिष्ठा, ग्रन्थ लेखन एवं जीर्ण-शीर्ण ग्रन्थों के प्रतिलिपि कार्य आदि प्रमुख थे। पट्टावली के अनुसार उनकी कुल आयु ६१ वर्ष ८ मास एवं २७ दिन की थी।[1]

आश्रयदाता

महाकवि रइधू मे 'संतिणाह चरिउ' का प्रणयन संघाधिप जुगराज के आश्रय में रहकर किया था। भट्टारक जिनचन्द्र ने कवि को सम्वोधित करते हुए उक्त जुगराज का परिचय देते हुए कहा है कि—हे कवि क्या तुम उस जुगराज को भूल गये जिसने नेमि जिनालय पर अखण्ड स्वर्ण-कलश की स्थापना करके वड़े ही समारोह के साथ उस पर ध्वजारोहण कराई थी। तुमने ही उसकी जलयात्रा कराकर उसे तीर्थंकर गोत्र का वन्ध कराया था।[2] जिस जुगराज ने चतुर्विध संघ का भार-वहन किया था, जिसने एक विशाल शुभ्र-वर्ण के देव-विमान की आकृति वाले जिन मन्दिर का निर्माण कराया था, जिसके कि उत्तुंग शिखराग्र पर लगी हुई ध्वजापताकाएं अपनी फर्रान से शांति का सन्देश प्रसारित करती रहती है जिसने चतुर्विध शाखाओं की रचना तथा चंदोवा से अलंकृत एवं किंकिणियों से मुखरित सुन्दर वेदिकाओं का निर्माण कराया है, जिसने गिरनार पर्वत पर शिखर वनवाकर अगणित जिनमूर्तियों की प्रतिष्ठाएं कराई हैं, जिसने चारों दिशाओं में चतुर्विध संघ की गोष्ठियों के आयोजन किए हैं तथा विद्वत्सम्मेलन कर जिसने विद्वानों को सम्मानित किया है जिसने अपने पंचागमन्त्र से राजा का मनोरंजन किया है और अपने इन्हीं सब कारणों से जिसका यश चारों दिशाओं में विस्तृत हो चुका है। हे कवि रइधू, क्या तुम उस जुगराज को नहीं जानते? वह राज्य कार्य में जिस प्रकार अभिरुचि रखता है, उसी प्रकार शांतिनाथ-चरित के श्रवण एवं स्वाध्याय में भी अभिरुचि रखता है। अतः हे कविवर तु तुम उसी जुगराज के निमित्त शान्तिनाथ-चरित की रचना करो।[3]

---

१. दे० भट्टारक सम्प्रदाय पृ० ६८

२. सिरिणेमिजिणालय सिहरअ डि। सोवण्णकलस सोहा अखंडि।
हाडय धय मणिगरण तुम हरंति। वंधिवि संतुट्ठ उ फरहरंति।।
तुम्ह हजि कराविय जतणेण। तिच्छयरं गोतु अज्जिव खणेण।।
तहु जीगराज संघाहियस्स। करि कव्व णिमित्ति गुण जुयस्स।।

३. जो संघाहिउ पुणु जोगराउ। जसु उवसमि लीण उ णिच्च माउ।।
णिम्मल गुणगण मणि रयण गेहु। णिव्वाहिउ चउहि संघणेहु।।
जिणभवणु करादिउ जिसतेउ। धयपंति णिरुमिय तरणितेउ।।
चउसाल सुवेइहि सिरिरमालु। चंदोवय किंकिणि खमुहालु।।

आश्रयदाता की वंश-परम्परा

कवि रइधू ने संघाधिप जुगराज की वंश-परम्परा का विस्तृत परिचय दिया है। वे कहते हैं कि जुगराज के पितामह लक्ष्मण ने मूलसंघ के परम तपस्वी देवेन्द्र कीर्ति के उपदेश से वि० सं० १४३७ में एक प्रतिष्ठा कराई की। वे परवार जाति के श्रृंगार थे। उनके पुत्र का नाम अर्जुन था जिसकी पत्नी खेमा की कुक्षि से चार पुत्र उत्पन्न हुए—जुगराज, दिवापति, रामू एवं मनसुख। जुगराज की पत्नी का नाम गुणश्री था। पति-पत्नि दोनों ही धर्म की साक्षात प्रतिमूर्ति थे।[४]

समकालीन राजा

कवि ने आश्रयदाता जुगराज को "पंचागमंत्र से राज का मनोरंजन करने वाला[५] कहा है। इसका स्पष्ट अर्थ है कि वह अवश्य ही कोई राज्यमन्त्री रहा होगा। किन्तु किसी राजा का मन्त्री रहा होगा यह स्पष्ट नहीं है। हो सकता है कि कवि ने अन्त्य प्रशस्ति में इसका उल्लेख किया हो किन्तु वह अंश तो अनुपलब्ध है।

सोहम्म विमाणह अणुहरंतु। भव्वयण चित्त तसु अवहरंतु॥
किवण्णमि संति जिणेसरस्सा। णं समवसरणु किउ भवहरस्स॥
वरणयरि गिरिदंहु सिहरिमज्झि सुपइट्ठिय जिणपडिमउ अगण्णि
चाउद्दिसि चउविह संघ गोट्ठि। मेलिवि वि पउरमण जणिय तुट्ठी
दाणें संतोसिय वंदि विंदं। पंचगमंतं रंजिय णरिंदं॥
जसु विच्छरियउ जिजयम्मिजासु। तुहु मोवुह किणउ मुणाहि तासु॥
सो रज्ज कज्ज दीसइ समच्छ। विच्छारइ तुम्हहं विहिउ सच्छु॥

४. पोमण वउदयमाणु। सिरिमूल संघ २ हं पहाणु॥ वइयणक्इत्त आयासणु।
छंदालंकार विट्ट सियंगु। णिण्णासिउ जि अंगहु अणगु॥
दूरिज्झिउ जि दोविहु जि संगु। सिस्साहं पयासिउ णिस सुयंगु॥
आयरिउ अच्छि उवसमहुथत्ति। णामेण पयद्ध देविंद वित्ति॥
तस्सो व एस संजणिय बोह। पाखाडं वंश संदिहिय सोह॥
संघाहिउ लखमणु जाउ आसि। संचिय जें भावें पुण्ण रासि॥
सइती सइ सवंच्छरि पइट्ठ। काराविवि रंजिय सयणइट्ठ॥
घत्ता—तहु णदंणु रोर णिकंदणु संघाहिउ अरगुणु सुजसु।
तासु जिपुणु भामिणि कुलगिहि समामिणि खेमा णामें कय हरिसा
तहु णदंणु दुहियण पयायवंधु। जिणवाणिय धम्मभर दिण्ण खधु॥
सिढिली कउ जिणिय यावबन्धु। आयण्णिउ णिरू सुत्तह पवंधु॥
सुपयासिउ जि णियजसु जयम्मि। अणुरत्तु णिच्च जो साहिय कम्मि॥
णिय कुलकमलायर चन्दरोइ। संघहिउ जोगा पयडु लोइ॥
तहुलहु वंध उ जिणदेव मत्तु। दिवपतिणा में पोसिय सपत्तु॥
तहु अच्छि सहोयरु लहुउ रामु। रामुव्व थयडु णं रूव कामु॥
मण सुक्खयारि पुणु अच्छि अण्णु। मणसुखु णामें वहु लोय मण्णु
जुगराज हु भामिणि पणयलील। गुरुदेव भक्ति पयडण पवीण॥
सीलाहरण हि साहिय णियंग। जिह हरिहु लच्छि ईसरहुगंग॥
गुणसिरि णामेण गुणाण खाणि। सिमु पाउल गइ कलयन्ठि वाणि॥ १।५।१–१०

५. संतिणाह०—१।५।१६

महाकवि रइधू कृत एक नवीन उपलब्ध सचित्र रचना संतिरणाह चरिउ

☐ डा० राजाराम जैन

अपभ्रंश साहित्य के इतिहास में महाकवि रइधू अपना प्रमुख स्थान रखते है। अभी तक की शोध-खोज में उपलव्ध समग्र-साहित्य के तुलनात्मक अध्ययन करने से यह स्पष्ट विदित होता है कि परिमाण एवं विषय-विविधता की दृष्टि से विशाल साहित्य का प्रणयन करने वाला रइधू जैसा अन्य दूसरा लेखक कवि नहीं हुआ। विविध प्रमाणों से विदित होता है कि रइधू ने ३० से भी अधिक ग्रन्थों की रचना की है जिनमें से अभी तक २४ ग्रन्थ उपलव्ध हो चुके है। वर्गीकरण की दृष्टि से उस साहित्य को (१) पौराणिक महाकाव्य (२) पौराणिक खण्डकाव्य (३) सिद्धान्त एवं आचार मूलक गाथा-साहित्य एवं (४) प्रवन्ध-पद्धति पर निर्मित आध्यात्मिक साहित्य रूप चार भागों में विभक्त किया जा सकता है। रइधू ने अपने जीवनकाल में ही स्वनिर्मित साहित्य को झोंपडों से लेकर राजमहलों एवं दरिद्रों से लेकर लक्ष्मीपुत्रों तक के हृदयों में प्रतिष्ठित होते देख लिया था। विभिन्न आधारों पर रइधू का समय वि.स. १४४० से १५३६ तक निर्धारित किया गया है। उनकी रचनाओं एवं अन्य जीवनतथ्यो पर अन्यत्र प्रकाश डाला जा चुका है अतः यहां उनका उल्लेख मात्र एक पुनरावृत्ति ही होगी।

प्रतिपरिचय

महाकवि रइधू की एक अन्य रचना 'संतिणाह चरिउ' (शान्तिनाथ चरित) भी है जो अभी हाल ही में ज्ञात एवं उपलब्ध हुई है। उस पर अभी तक किसी भी प्रकार का अध्ययन प्रस्तुत नहीं किया गया था। इस रचना के अज्ञात रहने का मूल कारण यह है कि रइधू ने इसका उल्लेख अपनी अन्य रचनाओं के समान ही अपनी परवर्ती स्वरचित ग्रन्थ-प्रशस्तियों में नहीं किया। उत्तर-भारत के शास्त्र भण्डारों में उसकी प्रति अनुपलब्ध है। संयोग से इस रचना की एक मात्र प्रति सूरत के एक शास्त्र भण्डार में सुरक्षित है, जिसकी फोटो कापी मुझे उपलब्ध हुई है। यह प्रति अत्यन्त जीर्ण-शीर्ण एव अपूर्ण है। दुर्भाग्य से उसकी केवल प्रथम आठ सन्धिया ही प्राप्त है उसमे भी वीच-वीच में कई पृष्ठ अनुपलव्ब हैं। प्राप्त हुई अपूर्ण प्रति में (१३-१७-२१-१४-१७-२१-६-१६-३) कुल १३४ कडवक हैं।

प्रस्तुत प्रति में अपभ्रंश-शैली के ४८ चित्र हैं। चित्रकार ने ग्रन्थ के पृष्ठों में प्राप्त प्रसंगानुसार ही भगवान शान्तिनाथ के जीवन चरित का चित्रांकन किया है। रइधू-साहित्य के तीन ग्रन्थ सचित्र मिलते हैं—पासणाहचरिउ जसहरचरिउ एवं प्रस्तुत संतिणाह चरिउ। सामान्यतया तीनों ग्रन्थों की चित्रकला एक ही शैली की है किन्तु संतिणाह-चरिउ में त्रैलोक्यरचना, समवशरण रचना, वन-विहार के प्राकृतिक दृश्य वाले चित्र अत्यन्त भव्य हैं। निःसन्देह ही वे जैन चित्रकला की विशेष सम्पत्ति माने जा सकते हैं।

प्रति की विशेषताएं

संतिणाहचरिउ की यह प्रति किस समय एवं कहां लिखी गई इसकी जानकारी प्रति की अपूर्णता के कारण अज्ञात है किन्तु उसकी लिपि को देखने से प्रतीत होता है कि वह रइधूकालीन रही होगी। इसकी लिपि में दो विशेषताएं विशेष रूप से परिलक्षित होती हैं। सर्वप्रथम यह कि इसमें शब्द की पुनरावृत्ति शब्द के माध्यम से नहीं अपितु अंक के माध्यम से व्यक्त की गई है। जैसे विहसंत संत (७।१।१५) में विहसंत के बाद संत शब्द का उल्लेख न कर उसके स्थान पर तदर्थक दो का अंक अंकित किया गया है। ऐसे ही सैकडों उदाहरण इसमें उपलब्ध हैं।

दूसरी विशेषता यह है कि इसमें य के नीचे नियमतः सर्वत्र एक बिन्दु (नुक्ता) अंकित है। इसका कारण समझ में नहीं आता कि ऐसा क्यों किया गया है? बहुत सम्भव है कि थ एवं य में भेद करने के लिए ऐसा किया गया हो। रइधू के अन्य उपलब्ध ग्रन्थों में ये दोनों लिपि-विशेषताएं नहीं मिलती। प्रति की अन्य विशेषताओं में रक=क्ख; ग्ग-ग्र, ख-प (क्वचित कदाचित) में प्रमुख हैं। किन्तु ये विशेषताएं कवि की अन्य प्राचीन प्रतियों में भी उपलब्ध हैं।

ग्रन्थ प्रेरक

रइधू ने संतिणाह चरिउ की यह रचना नन्दि संघ के भट्टारक जिनचन्द्र की प्रेरणा एवं आदेश से की थी। रइधू ने स्वयं लिखा है—मैं अपने गुरु भट्टारक जिनचन्द्र के चरणों में रह कर उन्हीं के आदेश से इस ग्रन्थ की रचना कर रहा हूं। यथा—

णामें सिरि जिणचन्दु भडारउ।
णदंउ सो चिरू दुण्णय हारउ॥
तस्स पाय पोमइ पणलोयहं।
मणु रंजंतउ..............................॥
रइधूणामें बुहु जा णिवसइ।
एक्क दिवसि ता तहु गुरू भासइ॥

घत्ता

भो कइकुल मण्डण दुण्णय खण्डण सुहजस भायण विगयमलु।
हउ भणमि सुपेसणु सुक्ख पयासणु तुव जोगाउ तं सुणिय सयलु॥ (१।२।१२-१६)

भट्टारक जिनचन्द्र का परिचय देते हुए कवि ने उन्हें नन्दि संघ के परमतपस्वी पद्मनन्दिगणि के शिष्य भट्टारक शुभचन्द्र का पट्टवर कहा है तथा धुरन्धर विद्वान कठोर तपस्वी, राजराजेश्वरों द्वारा वन्दित एवं संघ स्वामी के रूप में उनका स्मरण किया है। यथा—

णंदिसंघ कमलयरस सूरो।
पोमणंदिगणिसिवपयसूरो॥
भव्वलोय कइरववरणइन्दो।
तस्स पट्टि मुणिवरू सुहयंदो॥

प्रयास करने पर इस समस्या का समाधान श्री धौपे नामक एक ग्राम के वि० सं० १५०६ के मूर्ति लेख से हो जाता है, जिसमें भट्टारक जिनचन्द्र की गुरु-परम्परा अंकित है एवं उसके साथ ही महाराजाधिराज प्रतापचन्द्र देव का उल्लेख है।[६] इस उल्लेख से यह अनुमान किया जा सकता है कि संघाधिप जुगराज उक्त महाराजाधिराज प्रतापचन्द्र देव का राज्य मन्त्री रहा होगा। यह प्रतापचन्द्र चौहान वंशी नरेश था। उसने वि० सं० १४६९ से १५१२ तक चन्द्रवाड पट्टन पर शासन किया था। असुत्रयस्यरणपईव[७] प्रभृति अपभ्रंश ग्रन्थ प्रशस्तियों से यह विदित ही है कि वह जैन धर्म का परमश्रद्धालु नरेश था। एवं अपनी मन्त्री परिषद् में वह जैनों को प्रमुख स्थान देता था।

रचना स्रोत

भगवान शान्तिनाथ आध्यात्मिक शान्ति के प्रतीक माने गये हैं अतः उसी लक्ष्य को लेकर कवियों ने विविध समयों में एवं विविध भाषाओं में उनके चरित का वर्णन किया है। यतिवृषभ ने तिलोयपण्णत्ति में सर्वप्रथम उनकी चर्चा की है किन्तु वह अति संक्षिप्त है और मात्र जन्म का स्थान, जन्म काल, शरीर की ऊंचाई एवं आयु वर्णन तक ही सीमित है।[८] शान्तिनाथ के सांगोपांग स्वतन्त्र चरित का वर्णन संस्कृत में असग (१० वीं सदी) अजित प्रभ (१३ वीं सदी) माणिक्यचन्द्र (१३ वीं सदी) सकलकीर्ति (१५ वीं सदी) एवं भूषण (वि० सं० १६५९) कृत उपलब्ध है। प्राकृत में देवचन्द्र सूरि (वि० सं० ११६०) एवं मुनिभद्र (वि० सं० १३५३) द्वारा लिखे गये। किन्तु आश्चर्य है कि अपभ्रंश में उक्त विषय पर रइधू के पूर्व कोई स्वतन्त्र रचना उपलब्ध नहीं है। रइधू ने यद्यपि अन्य पूर्व रचनाओं के साथ पुष्पदन्त एवं गुणभद्र के उत्तर पुराणों में वर्णित शान्तिनाथ चरित से प्रेरणा अवश्य ली है। किन्तु उसे अपनी भाव भूमि में एक नवीन अलंकृत रूप प्रदान करके अपभ्रंश भाषा में सर्व प्रथम एक बड़े भारी अभाव को पूरा किया है। इसके लिये अपभ्रंश साहित्य रइधू का चिर ऋणी रहेगा। वि० सं० १५८७ महिंदु नामक एक कवि ने भी रइधू के उक्त काव्य से प्रेरणा लेकर एक स्वतन्त्र 'संतिणाह पुराण' की रचना की है। जिसकी आद्य प्रशस्ति में उसने रइधू का आदर के साथ स्मरण किया है।

वर्ण्य-विषय वर्गीकरण

रइधूकृत संतिणाह चरिउ के उपलब्ध अंश में भगवान शांतिनाथ के ज्ञान कल्याणक तक का वर्णन मिलता है जिससे विदित होता है कि इस ग्रंथ का परिणाम १०-११ सन्धियों तक का होना चाहिए। क्योंकि ज्ञानकल्याणक के बाद समवशरण में तत्त्व चर्चा मोक्षगमन एवं प्रशस्ति प्रभृति प्रकरणों का विस्तार २-३ सन्धियों तक होना सम्भव है। प्राप्त अंश का विषय-वर्गीकरण निम्न प्रकार है—

पहली सन्धि—राजा श्रेणिक का समवशरण में जाना एवं गणधर से शांतिनाथ चरित सम्बन्धी प्रश्न करना।

दूसरी सन्धि—राजा श्री विजय का अभ्युदय वर्णन

तीसरी संधि—श्री विजय एवं अमिततेज के भवान्तर वर्णन

चौथी संधि—बलभद्र एवं अनन्तवीर्य के अभ्युदयों का वर्णन

पांचवीं संधि—राजा मेघरथ वर्णन

छठवीं संधि—शांतिनाथ के गर्भ एवं जन्म कल्याणकों के वर्णन

---

६. दे० भट्टारक पृ० ९९

७. रइधू की रचनाओं का आलोचनात्मक परिशीलन पृ० ११२

८. तिलोयपण्णति गाथा–७१०–९३३

सातवीं संधि—शांतिनाथ का राज्य भोग वर्णन

आठवी संधि—शांतिनाथ के तप एवं ज्ञान कल्याणक वर्णन

कुछ मार्मिक वर्णन प्रसंग

महाकवि रइधू ने प्रस्स्तुत काव्य में कई मार्मिक स्थलों का संयोजन वड़ी ही कुशलता के साथ मर्मस्पशी शैली में किया है। कवि ने एक स्थल पर राजा श्रीविजय के वन विहार के प्रसंग में वताया है कि श्री विजय जव अपनी युवती-पत्नी तारा के साथ सुरम्य-वन में केलियां कर रहा था तव अशनिवेग नामक एक विद्याधर तारा के मोहक-सौन्दर्य पर आकृष्ट हो गया और अपने विद्यावल से श्रीविजय को एक मायावी हिरण के पीछे भेजकर तथा अपने रूप को श्री विजय के समान वनाकर वह तारा का अपहरण कर उसे ले भागा। श्री विजय एवं तारा को जव वास्तविकता का पता चला तव वे विरहावस्था में घोर विलाप करने लगे। श्री विजय के विलाप का का वर्णन करते हुए कवि ने कहा है कि वह तारा-तारा चिल्लाकर बार बार मूर्छित हो जाता है और उसके बिना अपना जीवन निस्सार समझने लगता है। जव वह चन्दन की चिता रचाकर एवं लकड़ियो के परस्पर घर्षण से चिता प्रज्वलित कर उसमें जल मरने की तैयारी करता है, तभी संयोग से दो विद्याधर वहां पहुंचते हैं और तारा का पता वताकर उसकी रक्षा करते है।[६]

प्राचीन साहित्य में नायक द्वारा नायिका के विरह के कारण चिता में जल मरने की तैयारी के कईप्रसंग प्राप्त होते है। अगडदत्त चरियं में भी इसी प्रकार का एक प्रसंग है कि नायिका मदनमंजरी को वन-विहार के समय जव सर्प काट लेता है और उसकी मृत्यु हो जाती है तव नायक- अगडदत्त शोक-विह्वल होकर उसी के साथ चिता में जल मरने की जैसी ही तैयारी करता है वैसे ही वहां दो विद्याधर आते है और नायिका को मन्त्रबल से जीवित कर नायक की रक्षा करते हैं। वसुदेव हिन्डी मे भी इसी प्रकार का एक कथानक आता है। वस्तुतः नायिका की सर्पदंश द्वारा मृत्यु एवं विरहीनायक की चिता में जल मरने की तैयारी का प्रसंग लोक कथा का एक महत्वपूर्ण तत्त्व रहा है जिसका समावेश कथावस्तु को एक नया मोड देकर चमत्कृत करने के लिवे किया गया है। गुणभद्र ने भी उत्तर-पुराण में इस प्रसंग को अंकित किया है। रइधू ने भी उसे आत्मसात कर लिया है।

रइधू का एक अन्य मनोरंजक प्रसंग वह है जिसमें उसने शांतिकुमार को अप्रतिम सौन्दर्य से विह्वल नगर की युवतियों का मनोहारी स्वाभाविक चित्रण मदनावतार छन्द के माध्यम से किया है। युवक शान्तिकुमार अपने सखाओं के साथ नगर-परिभ्रमण-हेतु निकलते है। क्रीड़ा-विनोद एवं वार्तालाप करते हुए वे राजमार्ग में जा रहे है। जव युवतियां उन्हे देखती है, तव उनकी विचित्र स्थिति हो जाती हैं। उन युवतिओं मे से कोई तो अपना कुंडल ग्रीवा में धारण करने लगती है तो कोई अपनी करधनी चोटी में गूंथने लगती है। कोई अपना नेत्राज्जन भालपट्ट पर लगाने लगती है तो कोई घी को ही पानी समझ कर उससे अपने पैर धोने लगती है। कोई दीर्घ निःश्वास छोडने लगती है और कोई अपनी दूती से चिपट कर उससे शांति कुमार को अपने घर ले जाने का आग्रह करने लगती है तो अन्य कोई युवती अपने बच्चे के स्थान में गाय के वछडे को ही गोद में उठाने लगती है। युवक शान्तिकुमार के दर्शन हेतु युवतियों ने घर के सारे काम काज छोड कर दरवाजे को ही अपना एक मात्र बैठने का स्थान वना लिया था। कवि कहता है—

६. संति० ३।५

कवि जुवइ णहु रुविरत्तिय ।
जिणु जिणु भणइ सदइय विरतिय ।।
उण्हसास कवि सुण्ह पमेल्लइ ।
एंति जंति घर दारुण मेल्लइ ।।
कवि दूई गीवहि लग्गंति ।
मणइ आणि जिणु संति तुरंति ।।
कवि तियराय पिसाएं भुत्ती ।
जायगहिल्ली वच्छहिं चत्ती ।।
कवि कुंडलइमगीवहु संघइ ।
कवि कडि कडि मेहला वे णिहि ।
णयण सिंदूरु भालि कविज्जलु ।
करि घिए पयखालइ मण्णिवि जलुप ।
(७।२।१३-१८)

युवतियों की इस प्रकार की विह्वलता का वर्णन अपभ्रंश-साहित्य की अपनी ही विशेषता है । मुनि कनकामर [10] ने भी नगर परिभ्रमण के समय राजा करकंड के मोहक-सौन्दर्य से आकृष्ट होकर विह्वल युवतियों का इसी प्रकार वर्णन किया है । वसुदेव हिण्डी एवं उत्तराध्ययन सूत्र की सुख बोधा टीका में भी वसुदेव भ्रमण के समय युवतियों की इसी प्रकार की विह्वलता जन्य विचित्र परिस्थितियों का वर्णन मिलता है । मेरा जहां तक अध्ययन है संस्कृत-साहित्य में इस प्रकार की कल्पनाएं उपलब्ध नहीं होती । अपभ्रंश-कवियों को इस प्रकार के चित्रणों की प्रेरणा निश्चय ही प्राकृत भाषा निबद्ध वसुदेव हिण्डी (६ वीं सदी) से प्राप्त हुई प्रतीत होती है जो सर्वथा अद्भुत एवं नवीनतम है ।

नीति एवं उपदेश परक तथ्य

कवि रइधू की यह विशेषता है कि वे वर्ण्य विषय के वर्णनों के बीच में प्रसंगवश उपदेश एव नीतिपरक तथ्यों को भी प्रस्तुत करते चलते हैं । इसमे पावन-चरित्त की शिक्षाएं मिलती है । वहीं दूसरी ओर वह व्यावहारिक ज्ञानार्जन भी कर लेता है । अशनिघोष विद्याधर जब तारा का अपहरण कर लेता है, तब श्री विजय आगन्तुक विद्याधर युगल से उसका पता जानकर अशनिघोष पर चढ़ाई करने की तैयारी करता है किन्तु राज्य मन्त्री सर्वप्रथम एक दूत को अशनिघोष के पास भेजने की सलाह देता है । उसी प्रसंग में राज्य मन्त्री दूत से कहता है—

दूवि सारासारु मुणिज्जइ ।
वलहु पमाणु तासु जाणिज्जइ ।।
सामु पढमु राया ममि उत्तउ ।
बीयउ भेउ कम्मु सुपउत्तउ ।।
तीयय अवसरि दाणु विहिज्जइ ।
चउ थइ समइ दंडु णिव किज्जर ।।
(३।६।१२-४)

कवि की दृष्टि में आर्थिक दरिद्रता एवं ससुराल में रह कर समय व्यतीत करना ये दोनों ही जीवन के सबसे बड़े अभिशाप हैं । दरिद्रता के कारण व्यक्ति के सद्गुण भी दुर्गुण समझे जाते हैं तथा बुद्धिमत्ता एवं चतुराई को मूर्खता के कोठे में ढकेल दिया जाता है । सोमशर्मा नामक एक निमित्त ज्ञानी के प्रसंग में कवि ने उसका सुन्दर चित्रण किया है । सोमशर्मा की दरिद्रता से अत्यन्त रुष्ट एवं पीडित पत्नी उससे कहती है कि "जिस प्रकार जल के बिना मेघ मात्र गरजता ही है, वरसता नहीं उसी प्रकार दरिद्र के वचन भी सार्थक एव सुन्दर नहीं होते ।"

दरिद्रतावश सोमशर्मा जब अपनी ससुराल में रहने लगता है और वहां वह निमित्त शास्त्र का

१०. करकंड ३।२

अध्ययन करता है तब उसकी पत्नी पुनः उस पर तीखा व्यंग्य करती है और कहती है कि तेरी आखें क्यों धंसती जा रही है पोथियों के अक्षर बार बार क्या देख रहा है ? तू निश्चय ही अपने मामा (ससुराल) के यहां दरिद्रावस्था में रहता हुआ और इसी प्रकार रट रट कर मर जायगा। कवि के शब्दों में देखिये—

घसंतु काइं रे अच्छिंह । पोथक्खर किं पुणु पुणु पेच्छइ ॥
तुहुं पुणु एम रडंतु मरेसहि ।
विणु दविणि मामहु घरि णिवसहि ॥
२।६।१–२

इसी प्रसंग में कवि द्रव्य के महत्व का वर्णन करता है। वह कहता है कि द्रव्य के होने से मूर्ख भी महापण्डित कहलाने लगता है। द्रव्यवान होने के कारण ही नंगा व्यक्ति भी मणि मण्डित समझा जाता है। द्रव्यवान कुरूप होने पर भी कामदेव के समान समझा जाता है। धनवान व्यक्ति कायर होने पर भी शूरवीर समझा जाता है। द्रव्य के कारण निर्गुणी भी गुणज्ञ माना जाता है तथा द्रव्य के अभाव में व्यक्ति का कुल जाति, सौन्दर्य, कला विज्ञान एवं विद्याएं आदि सभी व्यर्थ हैं। द्रव्याभाव के कारण उन्हें अज्ञात वास भी करना पड़ता है। यथा—

दविणि सहु का मुक्खु वि महपंडिउ ।
दविणिहु णग्गु वि मणिमण्डिउ ॥
दविणि सहु गयरूड वि सरणिहु ।
दविणि सहु गयकुलु पुणु कुलगिहु ॥
दविणि सहु का उरिसु वि सूरिउ ।
दविणि सहु विगुणु वि गुण पूरिउ ॥
तिविणु रूउ कला विण्णाणइ ।
वीरत्तणु कुल जाइ पट्टाणइ ॥
एदे सयलहु वलइ घत्त हि ।
विज्जागिरि विवरंतरि ठिल्लहिं ॥
जिह जल विणु घणु रित्तउ गज्जइ ।
तिह विणु दविणि वयणगुण छज्जइ ॥
२।६।३–८

इसी प्रकार एक अन्य प्रसंग में कवि सच्चे वन्धु की परिभाषा करता हुआ कहता है कि सच्चा वन्धु अर्थात मित्र वही है जो अपने वन्धु को कुमार्ग से हटा कर सुपथगामी बनाता है। जो सदा उसे दुर्गति से बचाता है तथा धर्मकार्यों की ओर प्रवृत कराता है। यथा—

सो बंधउ जो पायडइ धम्मु ।
सो बंधउ जो दंसइ सकम्मु ॥
सो बंधउ जो सामेइ मोहु ।
सो बंधउ जो संजणइ बोहु ॥
सो बंधउ जो वसणावहारि ।
सो बंधउ जो दुग्गइ णिवारि ॥
सो बंधउ जो जिणमग्गि णेइ ।
सो बंधउ जो संजमु मणेइ ॥
४।११।१–४

भाषा

प्रस्तुत 'संतिणाह चरिउ' की भाषा अपभ्रंश है। इसमें कवि ने परिनिष्ठित अपभ्रंश का प्रयोग किया है किन्तु काल एवं परिस्थिति विशेष से उसमें कई ऐसे शब्द भी प्रयुक्त हैं जिनका व्यवहार आज भी आधुनिक भारतीय भाषाओं विशेषतया रइधू के पार्श्ववर्ती प्रदेशों-ब्रज, बुन्देली एवं बघेली में होती है ऐसे शब्दों में कुछ निम्न प्रकार है :– रित्तउ-रीता-खाली (२।६।८), जेठी-वड़ी ३।१६।१३), पठावहु-पठाना-भेजना (४।३।६) चक्की (४।४।१२), वीडा (७।५।१०) चमक्क (७।४।१२) फल-फूल (७।६।८) चप्पइ-चांपना (८।१।१२)

छुट्टइ-छूटना (८।२।४) पलित्त-पलीता (मशाल, ३।१६।१३), धूलि (८।१८।१५) मलेवि-मलकर (६।१।६) धुन (६।१।१०), ठेल ठेलना (२।६।७) थालु (२।६।१०) पखालि-पखारकर-धोकर (२।६।१०) आदि।

कवि रइधू ने प्रस्तुत रचना में कहीं-कहीं ऐसी सरल भाषा का प्रयोग किया है कि उसका बड़ी सरलता के साथ हिन्दी पद्यानुवाद भी किया जा सकता है। जैसे कि एक नायिका अपने अकर्मण्य पति से रूठी हुई है और उस पर व्यंग्यबाण छोड़ रही है उन व्यंग्य बाणों से विह्वल पति भोजन हेतु थाली धोधा कर रखता हुआ उसके मुख की ओर देखता है तब वह कहती है—

अज्जण धरि भोयणु छुह दुह मोयणु खाएसहि रे
काइं भणु।

जं थालु पखालिवि ठिउ उमालिवि पेछहि खल
किं महु वयणु ॥
२।६।६–१०

उसका हिन्दी पद्यानुवाद इस प्रकार हो सकता है—

आज न घर में भोजन क्षुह
दुख मोचन खायगा रे क्या बोल ?
जो थाल पखारा बैठा उन्मन,
देख रहा है खल क्यों मेरा वदन ?

लेकिन कहीं-कही कवि ने बड़ी ही अलंकृत एवं समस्यात भाषा शैली का भी संयोजन किया है। उदाहरणार्थ कवि द्वारा वर्जित सिर पुर नगर का वर्णन देखिये—

इह पढमदीवम्मि जणजणिय हरिसम्मि।
सुरसिहरिदाहिणहिंदिसि भरहवरि सम्मि ॥
णं सेनसा सोह संपत्ति मुहयम्मि।
णिवसंति पामरधणाणि उकण कण कम्मि ॥
जहि कुक्कुड उड्डाणउद्दाम कय काम।
चइ चित्त मय चित्त संगामच्चु गाम ॥
कयसार घणसार साली हि तु होइ।
णं विहि विहाणेण गिरिराय संदोह ॥
जहि सुकइ कव्वुवसल क्खरण महालोय।
सपियालस तिलयसहल दिसया मोहा ॥
जहि ससुय सासोय के लिह कुसुमाल।
णामामहाराम रइव सोमाल ॥
छिंछी वस कुड्डिल मुणिरावस विसाल।
वहंति जहिणइउ संसिद्ध वहुसास ॥
१।७।१–७

अलंकार एवं रस

संतिणाह चरिउ काव्यकला की दृष्टि से उत्कृष्ट कोटि की रचना है। अलंकारों एवं रसों का संयोजन उसमें बड़ी कुशलता के साथ किया गया है। अलंकारों में उपमा, उत्प्रेक्षा अतिशयोक्ति एवं विभावना प्रभृति अलंकारों की बहुलता है। रसों में प्रायः सभी रसों का समावेश है किन्तु शृंगार, वीर, रौद्र एवं शान्त रसों की प्रमुखता है। रौद्र रस का एक उदाहरण दृष्टव्य है। विद्याधर अशनिवेग के सम्मुख राजा श्रीविजय का दूत जाता है तथा वह उससे श्रीविजय की रानी तारा को वापिस कर देने का सन्देश देता है।[1] विद्याधर अशनिघोष दूत के वचन सुनकर तमतमा उठता है और आग-बबूला होकर अपने भटों को उसकी जीभ निकाल लेने का आदेश देता है। वह कहता है—"निकाल लो इस पापी की जीभ और चखादो इस अविवेकी को अविवेक का फल। यह दुष्ट मेरे दरबार में जो भी मन में आता है सो बोलता है—

एयहु पाविहु जीहा छेयहु।
देहु दुवयणह फलु अविवेयहु ॥
जं भावइ तं चवइ सहतरि।.........॥
३।१०।८–६

अशनिघोष का मन्त्री भी अशनिघोष के कथन का समर्थन करता है कि राजन्.... "आपने ठीक ही कहा है, ऐसे दुष्ट दूत को अविवेक फल चखाने में किसी भी प्रकार का राजनैतिक दोष नहीं लगता, क्योंकि दूत वही है जो शंका उत्पन्न होने पर दोनों पक्षों का संयोजन करता है।" इस प्रकार मन्त्री ने श्रीविजय के दूत को अर्धचन्द्र देकर दरवार से निकलवा दिया यथा—

एयहु राय दोसु णउ लग्गइ।
दूवहु गुणु जोइ संकिउवग्गइ॥
णिय सामियहु पक्खु थिरुथप्पइ।
अणहु असरिसवयण समप्पई॥
अणु देव पइ विरुवउ जुंजिउ।
जंपरतिय राएं मणुरंजिउ॥
इय मणे विजिय पहु उपसामिउ।
दूवहु अद्धइंदु देवादिउ॥
३।१०।१०–४

दरवार से दूत अथवा किसी अन्य व्यक्ति को निकालते समय गर्दन पर हाथ रखकर तथा धक्का देकर निकाल देने के लिए रइधू ने अर्धचन्द्र शब्द का सुन्दर प्रयोग किया है। प्रतीत होता है कि रइधू को यह शब्द महाकवि राजशेखर से उपलब्ध हुआ है। राजशेखर कृत कपूरमंजरी सट्टक में विदूषक एवं विचक्षणा के वाक्कलह के प्रसंग में विदूषक ने इसी शब्द का प्रयोग किया है। भोजपुरी में इस प्रक्रिया अथवा भाव को व्यक्त करने के लिए गरदनिया शब्द का प्रयोग मिलता है। यह शब्द भी बड़ा सार्थक एवं भावपूर्ण है।

शान्तिकुमार का दिग्विजय हेतु प्रयाण

युवक शान्तिकुमार जव दिग्विजय हेतु सैन्य सज्जा के साथ प्रयाण करते हैं उस समय का कवि ने वड़ा ओजस्वी वर्णन किया है यथा :—

ता णरयम्मि पवट्टिउ कलयलु।
सज्जहु सज्जहु अइरें महबुल॥
वज्जिय तूरलक्ख अरि कंपिय।
किं किं कि अप्पू पर जंपिय॥
पल्लाणियइं तुरंगम कोडिउ।
अठारस तेवियलिय खोडिउ।
चउरासी लक्खइं गय सज्जियातेत्तिया
इं रह रणहिं अभज्जिय॥
चउरासी कोडिउ पाइक्क।
जमदूवरण महिल्लक्कइ॥
भड पण्णज्झिय मणि रह सुल्लिय।
मरण भरण कहवणों डोल्लिय॥
इम मज्जि वि वलु जावहिणिमय।
तो कंपियइं असेसइं दिग्गय॥
सासरुद्ध फणिवइ फणचूरिउ।
सेणपयमारें भुसु पूरिउ॥
हणियणि साण चक्कि जा चल्लइ।
ता तियसेसहुं आसणु डोल्लइ॥
७।४।३–१२

छन्द-योजना

प्रस्तुत रचना में कवि ने विविध छन्द योजना की है। इन छन्दों को दो भागों में वांटा जा सकता है। अपभ्रंश-छन्द एवं संस्कृत-छन्द। कवि ने संस्कृत छन्दों का प्रयोग ग्रन्थ की कुछ सन्धियों के अन्त में आश्रयदाता जुगराज को आशीर्वाद देने हेतु किया है इस प्रसंग में कवि ने मन्दाक्रान्ता, मलिनी एवं शिखरिणी छन्दों के प्रयोग किये हैं।

अपभ्रंश-छन्दों में अल्लिल्लह, पादाकुलक, समानिका, मदनावतार, तुणक, भुंजप्रण्यात एवं घत्ता छन्दों के प्रयोग मिलते हैं।

सिद्धान्त एवं आचार

संतिणाहचरिउ 'एक चरित काव्य है। अतः सिद्धान्त एवं आचार वर्णन उसके प्रमुख विषय नहीं है, किन्तु प्रसंगवश मुनिसमागम, समवशरण आगमन आदि प्रसंगों पर कवि ने सिद्धान्त एवं आचार वर्णन का पर्याप्त अवसर निकाल लिया है। कवि ने इन अवसरों पर सप्ततत्त्वों, नवपदार्थ, अष्टांग दर्शन द्वादशव्रत एवं द्वादशानु प्रेक्षाओं का सुन्दर एवं हृदयग्राह्य विवेचन किया है। इस विवेचन में कुन्दकुन्द स्वामिकार्त्तिकेय भी एवं पूज्यपाद का प्रभाव स्पष्ट लक्षित होता है।

उक्त तथ्यों के आधार पर विचार करने से संतिणाहचरीउ एक महत्वपूर्ण रचना सिद्ध होती है। यह यथार्थ ही दुर्भाग्य की बात है कि वह अभी अपूर्ण रूप में ही उपलब्ध हुई है। पूर्ण प्रति की उपलब्ध से मुझे ऐसा विश्वास है कि इसकी अन्त्य प्रशस्ति में कई सामाजिक इतिहास की समस्याओं का हल निहित हैं। इसकी चित्रकला जैनचित्र कला का विशिष्ट अध्ययन तैयार करने में सक्षम सिद्ध होगा एवं उससे नन्दिसंघ की दिल्ली जयपुर शाखा की भट्टारक परम्परा पर भी नया आलोक पडेगा।

●●●

आत्मा

आत्मा ही सुख-दुखों की,
भोक्ता है और कर्त्ता।
पुण्य कर्मी आत्मा है मित्र जैसी,
और जो दुष्कर्म-रत, वह शत्रु॥

—अर्हत्

२४

दोहा छन्द और उसका महत्त्व

☐ प्रेमचन्द रांवका, एम० ए०, शि० शास्त्री

दोहा जिसे राजस्थानी में दूहा कहते हैं, संस्कृत 'के दोधक' शब्द से उत्पन्न माना जाता है। यह अपभ्रंश काल का सर्वाधिक लोकप्रिय छन्द है। यद्यपि यह छन्द गुजराती, व्रज, राजस्थानी और हिन्दी आदि भाषाओं में बहुतायत से मिलता है, तथापि अपभ्रंश की ज्येष्ठा पुत्री होने के कारण राजस्थानी में इस दोहे छन्द का रुधिर शुद्ध रूप में पाया जाता है। राजस्थानी में इस दोहे को दूहो, दूहा और दोहरा आदि नामों से पुकारा जाता है।

दोहे शब्द की व्युत्पति के विषय में विद्वानों में एकमत नहीं है। कतिपय विद्वान इसे संस्कृत के दोधक या दोग्धक' से उत्पन्न मानते हैं। जबकि कुछ अन्य विद्वान् 'स्वयंभू-छन्द' को इस का आधार बताते हैं। उनके अनुसार अपभ्रंश काव्य-शास्त्र में इस छन्द को 'दुवहअ' कहा गया है जो द्विपदक' से द्विवथक-द्विवपथा-दुवहअ होता हुआ कालान्तर में दोहा हो गया।

अपभ्रंश काल में इस छन्द ने बहुत लोकप्रियता प्राप्त करली थी। जिस प्रकार प्राकृत-साहित्य में गाहा या गाथा छन्द का अत्यधिक प्रयोग किया जाता था। ठीक उसी प्रकार अपभ्रंश काल में दोहा प्रिय छन्द बन बैठा और कालान्तर में भी इस छन्द ने पर्याप्त ख्याति प्राप्त की। डा० हजारी प्रसाद द्विवेदी के अनुसार जैसे श्लोक संस्कृत का और गाथा प्राकृत की प्रतीक हो गयी, उसी प्रकार दोहा अपभ्रंश का'। डा० जेकोबी और आल्स डोर्फ का मत है कि दोहा अपभ्रंश गीति-काव्य का अति प्रचलित छन्द है और प्राकृत गाथा का अपभ्रंश प्रतिरूप है–इससे इसकी वास्तविक स्थिति समझी जा सकती है।

दोहे की प्राचीनता के सम्बन्ध में भी विद्वानों में मतभेद है। पुरातत्वविद् मुनि श्री जिन विजयजी दोहे की प्राचीनता तीसरी या चौथी शताब्दी तक मानते हैं परन्तु राजस्थानी भाषा और साहित्य के विद्वान प्रो० शम्भुसिह मनोहर का कहना है कि मुनिजी की मान्यता की पुष्टि में कोई प्रमाण नहीं मिलता।[२] फिर भी इसमें कोई सन्देह नहीं कि 'दूहा या दोहा' अपभ्रंश साहित्य का लाड़ला छन्द है। इस आधार पर यह छन्द प्राचीनता की दृष्टि से ९–१० वीं शताब्दी तक पहुंचता है। अपभ्रंश को 'दूहा-विद्या' कहा गया है। योगेन्द्र के परमात्म प्रकाश में दोहों को ७वीं शताब्दी का बताया गया है जबकि डा० हजारी प्रसाद द्विवेदी

---

१. हिन्दी साहित्य का आदिकाल : डा० हजारी प्रसाद द्विवेदी

२. ढोला मारू रा दूहा : प्रो० शम्भूसिह मनोहर

की मान्यता है कि दोहे नवीं दसवीं शताब्दी से पूर्व के नहीं हो सकते[3] वैसे प्रारम्भ में दोहा अपभ्रंश का प्रतीक था। बौद्धों और जैनों के कई ग्रन्थ दोहा बद्ध अपभ्रंश काव्य रूप में मिलते हैं जिस प्रकार गाथा को बहुत बाद साहित्यकारों का करावलम्ब मिला, उसी प्रकार दोहा को भी मिला होगा। गाथा प्राकृत भाषा की प्रकृति के अनुसार दीर्घान्त छन्द में और दोहा अपभ्रंश भाषा की प्रकृति के अनुसार ह्रस्वान्त छन्द के रूप में है। यह दोहा छन्द डा० हजारी प्रसाद द्विवेदी के अनुसार ९-१० वी शताब्दी में बहुत लोकप्रिय हो गया था। इस छन्द में तुक मिलाये जाते थे। संस्कृत, प्राकृत में तुक मिलाने की प्रथा नहीं थी। दोहा वह पहलाछन्द है जिसमें तुक मिलाने का प्रयत्न हुआ और आगे चल कर एक भी ऐसी कविता नहीं लिखी गई जिसमें तुक मिलाने की प्रथा न हो। इस प्रकार अपभ्रंश भाषा नवीन छन्द के साथ-साथ नवीन साहित्यिक कारीगरी होकर भी आविर्भूत हुई।

वस्तुतः भारतीय साहित्य में दूहे या दोहे के दर्शन हमें ७वीं शताब्दी से होते है। सातवीं आठवीं शताब्दी में इसने शृंगार को, वीर को, धर्म को और नीति को लोकचित्त में प्रवेश कराने का व्रत लिया। हेमचन्द्र के व्याकरण, प्रबन्ध चिन्तामणि, सन्देश रासक व ढोला-मारू के दोहों में इस छन्द की भाव-वहन योग्यता अद्‌भुत रूप में प्रमाणित हो चुकी थी। ऐसे छन्द को तुलसी, कबीर, बिहारी व अन्य परवर्ती कवि कब छोड़ने वाले थे।

इस प्रसंग में राजस्थानी भाषा के प्रसिद्ध विद्वान नरोत्तमस्वामी का कथन भी उल्लेखनीय है:—दूहा उत्तरकालीन अपभ्रंश का प्रभावशाली छन्द था। उस का प्रयोग समस्त देश के तत्कालीन साहित्य में पाया जाता है। इस छन्द का सम्बन्ध आरम्भ में लोक कविता से था—ऐसा जान पड़ता है, क्योंकि पुराने अपभ्रंश साहित्य में इसका प्रयोग नहीं मिलता। जनता में प्रचार पाने के बाद इसमें साहित्य में प्रवेश किया। लिखित साहित्य में इस छन्द का प्रयोग करने वाले सबसे प्रथम चौरासी सिद्धों के आदि सिद्ध सुरहपा हुए। राजस्थान, गुजराती और हिन्दी में अपभ्रंश को बपौती रूप से स्वीकार किया। इन तीनों भाषाओं में सबसे अधिक प्रयोग इसी छन्द का हुआ। इसके बाद १०वीं शताब्दी के अन्त में देवसेन सूरि ने सावय धम्म दोहा नामक छोटी सी पुस्तक इसी में लिखी। १२ वीं शताब्दी के अन्त में हेमचन्द्र ने अपने सुप्रसिद्ध हेम 'शब्दानुशासन ग्रन्थ में जो संस्कृत प्राकृत एवं अपभ्रंश का व्याकरण ग्रन्थ है, अपभ्रंश के दूहों को उदाहरण के रूप में उद्‌धृत किया। फिर कालान्तर में तो इस छन्द का प्रयोग अधिकाधिक होने लगा।

जहां तक राजस्थानी दूहे की प्राचीनता का सम्बन्ध है—प्रो० शम्भुसिंह मनोहर इनका आदि-काल ढोला मारूरा दूहा से मानते हैं।[4] इससे पूर्व उपलब्ध दोहों को वे अपभ्रंश की छाया से पूर्णतः आच्छन्न मानते हैं। वे राजस्थानी नहीं कहला सकते। अपनी मान्यता के प्रमाण-स्वरूप प्रो० मनोहर देवसेन कृत सावय धम्म दोहा का निम्न दोहा प्रस्तुत करते है :

ढिल्लउ होहि म इंदियउ,
पंचह विण्णि णिवारि।
इक्क णिवारहि जीहडीं, अण्ण पराई णारि॥

राजस्थानी दोहे चार प्रकार के मिलते है—

१। दूहो,

२। सोरठे,

३. हिन्दी साहित्य का आदिकाल : डा० हजारी प्रसाद द्विवेदी

४. ढोलामारू रा दूहा ; प्रो० शम्भूसिंह मनो

३। वड़ो दूहो या अन्तर्मेल दूहो,

४। तूवेरी या मध्य मेल दूहो।

दूहा राजस्थानी साहित्य एवं जनता का अत्यन्य प्रिय छन्द है। अब भी सैंकड़ों दूहे राजस्थानी की जिह्वा पर मिलते है। मुक्तक काव्य धारा होते हुए भी ये दूहे प्रवन्ध कथा का सा आनन्द प्रदान करते हैं। मुक्तक दूहे नीति, उपदेश, भक्ति शृंगार व कहावतों के रूप में प्रयुक्त हुए हैं। राजस्थानी के कहानीकार भावपूर्ण स्थलों पर दूहों का प्रयोग करते है।

राजस्थानी को दूहा छन्द अपभ्रंश से वपोती रूप में मिला है। उत्तर अपभ्रंश काल में दूहा साधारण जनता एवं विद्वत् समाज दोनों द्वारा समादृत था। राजस्थानी में भी उसकी लोकप्रियता और उसका समादर ज्यों के त्यों कायम रहे। अपभ्रश काल के वहुत से दूहे, जो लोगों में सर्वप्रिय थे, निर्विघ्न रूप से आगे भी चलते रहे। समय के साथ उनकी भापा का स्वरूप भी वदलता गया। ऐसे कुछ दोहे आज भी लोगों की जवान पर मिलेंगे। वहुत से विस्मृति के सागर में विलीन हो गये और कुछ थोड़े से उत्साही व्यक्तियों द्वारा समय-समय पर लिपिवद्ध कर लिये जाने से सुरक्षित भी रह गये हैं। हेमचन्द्र की व्याकरण का निम्न दोहा और वर्तमान में उसका परिवर्तित रूप यहां उल्लेनीय हैं—

> वायसू उड्डावंति अ अँ, पिउ दिड्ढड सहसन्ति।
> अद्धा वलया महिहिगय, अद्धा फूट तडति ॥८।४।३५२।

पर आज यह दूहा निम्न रूप में प्रचलित है :

> काग उडावण घण खड़ी, आयो पीव सडक्क।
> आधी चूड़ी काग गल, आधी गयी तडक्क ॥

ऐसे ही अन्य और दोहे–जो हेमचन्द्र के हैं, प्रस्तुत किये जा सकते है। "प्रवन्ध चिंतामणि में अपभ्रंश का निम्न दोहा :

> जइ यहु रावणु जाइउ दह मुड्ड इक्क सरीरू।
> जणणि वियंमि चिंतवइ, कवणु पियावउ खीरू ॥

इसका राजस्थानी में निम्न रूप हो गया—

> राजा रावण जन मियो, दस मुख एक सरीरर
> जननी नैं सांसो भयो, किण सम मुख घालूं खीर ॥

व्यापकता की दृष्टि से दोहा छन्द अपनी सानी नहीं रखता। ऐसा कोई विषय नहीं; जिसमें इसकी गति न हो, सच तो यह है कि लोक-भाषा के काव्य रसिकों ने व्रह्मानन्द सरोदर को सर्व प्रथम दोहे में ही संकलित किया। विविधता की दृष्टि से जैन साधुओं एवं जैन विद्वानों ने दोहे को वहुत अपनाया। जैन कवियों की रास-रचना में भी दोहे को पर्याप्त वल प्रदान किया। प्राकृत की गाथा और अपभ्रंश दोहों पर जैन विद्वानों का अपना अधिकार हो गया था। दोहा साहित्य के उद्भव एवं विकास में इन विद्वानों का योगदान अभिशंसनीय एवं स्मरणीय रहेगा। विषय की दृष्टि से भी दोहा छन्द साहित्य विजयी रहा। प्रतीकों को अपनाने में जितना समर्थ दोहा छन्द रहा है, उतना ही वह रूपक अलंकार के सौन्दर्य प्रदर्शन में भी वली रहा है। १८वीं शताब्दी के प्रसिद्ध जैन कवि दौलतराम का विवेक-विलास पूरा का पूरा दोहा छन्द वद्ध है। हिन्दी दोहा–साहित्य में यह एक अनुपम कृत्ति हैं।

जो स्थान संस्कृत में अनुष्टुप श्लोक तथा प्राकृत में गाथा का है, वही स्थान वस्तुत: उत्तर-कालीन अपभ्रंश (लोकभापा), राजस्थानी, गुजराती तथा हिन्दी में 'दूहे' का है। अल्पकाय होने से यह

सरलता से याद किया जा सकता है। यही इसकी लोकप्रियता होने का प्रमुख कारण है। किसी बात को संक्षेप में एवं प्रभावी ढंग से कहने के लिए दूहा बहुत ही उपयुक्त छंद है। इसी कारण यह छंद अपभ्रंश से लेकर अब तक के साहित्याकाश का भावाभिव्यक्ति एवं कलात्मकता का उत्कृष्ट आदर्श है। मुक्तक एवं प्रबंध दोनों का वाहन स्वरूप यह दोहा छंद रहा है। अधिकांश लौकिक साहित्य की रचना इसी छंद में हुई। राजस्थानी जनता की सर्व प्रिय राग मांड का माधुर्य और आकर्षण भी उसके दूहों पर ही निर्भर है। एक विद्वान के शब्दो में "इन छोटे से वृत्तों के बदौलत ही हमारी संस्कृति एवं साहित्य कीर्ति का शेष प्रमाण है।

दर्शन-अध्याय

विश्व का हर तत्व प्रतिक्षण
जन्म लेता नष्ठ होता
नित्य भी रहता निरन्तर
शाश्वत है चिर सनातन
अणु-परमाणु बराबर भी इस निखिल
विश्व में
देश-प्रदेश नहीं है कोई,
ऐसी कोई नहीं धरा है—
जहाँ न जन्मा जीत,
जहाँ पर नहीं मरा है।

—अर्हत्

२५

अभयचंद्र नाम के गुरू

□ सत्यनारायण तिवारी

एक ही नाम के अनेक व्यक्ति सदा से होते आये हैं। इतिहास में ऐसे व्यक्तियों का समीकरण या पहिचान एक कठिन काम होता है। इसके लिए कभी-कभी अत्यधिक सूक्ष्म और व्यापक अध्ययन की जरूरत पड़ती है। फिर भी यह काम इतना जरूरी है कि इसके विना इतिहास अधूरा रहेगा। इस लघु निवंध में मैंने ऐसा ही एक तुच्छ प्रयास किया है।[1] मैं अभयचन्द्र नाम के या उससे मिलते जुलते नाम वाले कुछ गुरुओं के तीस संदर्भ प्रस्तुत कर रहा हूं। विश्वास है शोध जगत् के सदस्यों को यह कार्य उपयोगी सिद्ध होगा।

संदर्भ–

(१) प्रथम अभयचन्द्राचार्य प्रक्रिया-संग्रह के कर्त्ता हैं।[2] इनका समय ७३२ ई. (पूर्वावधि) है। प्रक्रिया-संग्रह पाणिनि की सिद्धांत कौमुदी के ढंग की प्रक्रिया-टीका है।[3]

(२) दूसरे अभयचन्द्र वे हैं जिनको नेमिचन्द्र जी ने द्विसंधान काव्य की टीका में अपना गुरु वतलाया है।[4] इन अभयचन्द्र का समय ईसा की ९ वीं शताब्दी (पूर्वावधि) है।

(३) तोललु (मैसूर) लेख में होयिसल राजा विनयादित्य द्वारा सन् १०६२ में उत्तरायण संक्रमण के अवसर पर मूल संघ के पण्डित अभयचन्द्र को कुछ भूमिदान दिये जाने का उल्लेख है। इससे स्पष्ट है कि इनका समय सन् १०६२ ई. है। अभयचन्द्र की पूर्व परम्परा में गौतम स्वामी, भद्रबाहु स्वामी, पुष्पदंत भट्टारक तथा मेघचन्द्र का उल्लेख किया गया है।[5]

---

१. इसके लिए मुझे प्रेरणा डॉ. ज्योतिप्रसाद जैन के इसी तरह के निवंधों से और निर्देश पं गोपीलाल 'अमर' से प्राप्त हुआ है। इन दोनों विद्वानों का हृदय से आभारी हूं।

२. देखिए 'जैन साहित्य और इतिहास' लेखक पं नाथूराम 'प्रेमी'; प्रकाशक–हेमचन्द्र मोदी हिन्दी ग्रन्थ रत्नाकर कार्यालय, हीरावाग, गिरगांव, वम्बई; पृ० १५५

३, प्रकाशित हो चुकी है।

४. देखिए 'प्रशस्ति संग्रह (आरा)'; संपादक–के भुजवली शास्त्री; प्रकाशक–निर्मलकुमार जैन, मन्त्री जैन सिद्धान्त भवन आरा, पृ० १०१.

५. देखिए 'जैन शिलालेख संग्रह (भाग ४); सँ. डा. विद्याधर जोहरापुरकर; प्रकाशक–भारतीय ज्ञानपीठ काशी; पृ० ९६,

(४) अभयचन्द्र त्रैविद्यचक्रवर्ती को गोम्मटसारवृत्ति के कर्त्ता के रूप में उल्लिखित किया गया है।[६] इनका समय सन् १०७० के आसपास है।

(५) ये वे अभयचन्द्र हैं जिन्होंने सिद्धांत विषय में संस्कृत भाषा की पचसंग्रहवृत्ति की रचना की।[७] इनका समय सन् ११५१ के आसपास है।

(६) अभयचन्द्र सिद्धंतिदेव वे है जिन्हे मुरारिदेव के दान के प्रतिपालक वंश में उत्पन्न और चारुकीर्त्ति पण्डितदेव के गुरु के रूप में उल्लिखित किया गया है। इनका समय १२०० ई. (उत्तरावधि) है।

(७) नित्तूर (गब्बि परगना) में आदीश्वर वस्ती की उत्तरीय दीवाल में एक पाषाण पर श्री मूलसंघ, देशियगण, पुस्तकगच्छ और कोण्डकुन्दान्वय के अभयचन्द्रसिद्धांतचक्रवर्ती को वालचन्द्र पंडित देव के गुरु के रूप में उल्लिखित किया गया है।[८] इनका समय लगभग १२०० ई. (उत्तरावधि) है।

(८) अभयसूरि सैद्धांतिक वे हैं जो श्रुतमुनि के शास्त्रगुरु थे और जिन्हें श्रुतमुनि के 'भावसग्रह' की प्रशस्ति में शब्दागम, परमागम और तर्कागम के पूर्ण जानकार लिखा गया है।[१०] इनका समय सन् १२७३ ई. है। इसी समय (१२७३ ई. में) श्रुतमुनि के अणुव्रत गुरु और गुरुभाई वालचन्द्र मुनि ने 'द्रव्यसंग्रह' सूत्र एक टीका लिखी हैं।

(९) अभयचन्द्र सैद्धांतिक वे हैं जो श्रुतमुनि के दीक्षागुरु थे और जिन्हें श्रवण वेलगौल के शिलालेख नं. ४१ और १०५ मे माघनन्दी का शिष्य लिखा गया है।[११] इनका समय ईसा की तेरहवीं शताब्दी है।

---

६. देखिए 'प्रशस्ति संग्रह (आरा)'; सं. के. भुजवली शास्त्री; पृ० ६५

७. देखिए 'राजस्थान के जैन शास्त्र भण्डारों की ग्रन्थ सूची (भाग ३)'; सं. डा. कस्तूरचन्द कासलीवाल एम.ए., पं अनूपचन्द न्यायतीर्थ, साहित्यरत्न; प्रकाशक—केशरलाल बख्शी, मन्त्री—प्रबन्धकारिणी कमेटी श्री दि. जैन अतिशय क्षेत्र महावीरजी जयपुर; पृ० ३९.

८. (पश्चिम-मुख) स्वस्ति श्री मनु अभयचन्द्र-सिद्धांति देवरुगल शिष्यरु........... ....वक्रन अदर मुरारिदेव दान प्रतिपालक वशोद्भवरु चारुकीर्त्ति पंडित देवरू हिरिय महलिगेय पंच वस्तिय जीर्णोद्धार माडिदरू ।
देखिए 'जैन शि. स. (भाग ३); सं. पृ० ४३८ पं. सं. विजयमूर्ति एम ए. प्रकाशिक—श्री मणिकचन्द्र दिगम्बर जैन ग्रन्थमाला समिति।

९. देखिए 'जैन शि. सं. (भाग ३); पृ० ४३९।

१०. सद्दागम परमागम तक्कागम-णिखसेसवेदी हू।
विजिद सयलण्ण वादी जयउ चिदं अभयसूरि सिद्धन्ति ।।
देखिए 'प्रशस्ति सं. (भाग १)'; सं. जुगलकिशोर मुख्तार; प्रकाशक—वीर सेवा मन्दिर दरियागंज दिल्ली; प्रशस्ति १२८ अन्तिम भाग।

११. देखिए 'जैन शि.सं. (भाग ३)'; पृ० ५१४, ५२४

(१०) सिद्धर वस्ती के उत्तर की ओर एक स्तंभ पर सन् १३९८ का एक ६६ पद्यों का अभिलेख है जिसमें एक लंबी आचार्य परम्परा दी गई है। इस परम्परा में वादिसिंह के शिष्य और श्रुतमुनि के गुरु के रूप में अभयचन्द्रदेव का अनेक विशेषणों सहित २ श्लोकों (३३-३४)[१२] में उल्लेख हुआ है। इससे स्पष्ट है कि इनका समय सन् १३९८ ई. है।

(११) शाकटायन व्याकरण के 'उज्ञाते' सूत्र के टीकाकार श्री अभयचन्द्रसूरि हैं।[१३] ये वे ही अभयचन्द्र सिद्धांत चक्रवर्ती मालूम होते है जो केशववर्णी के गुरु तथा गोम्मटसार की 'मंद–प्रबोधिका' टीका के कर्त्ता थे और 'लघीयस्त्रय' के टीकाकार भी ये ही जान पड़ते है। इन तीनों टीकाओं की मंगलाचरण की शैली प्राय: एक है–-प्रत्येक में अपने गुरु के सिवाय मूलग्रंथकर्त्ता तथा जिनेश्वर को भी नमस्कार किया गया है। इससे ये तीनों टीकाकार एक ही जान पड़ते हैं और मुनिचन्द्र के शिष्य मालूम होते हैं। ये अभवचन्द्र सूरि ईसा की १३वीं–१४वीं शताब्दी के विद्वान मालूम होते हैं।

(१२) कत्तले वस्ती के गर्भगृह के दक्षिण की ओर दो सुन्दर पूर्वमुख चतुस्तंभ मण्डप बने हुए है। उनमें एक महानवमी मण्डप भी है जिसमें सन् १४१३ ई. का १९ श्लोकों में अभिलेख है।[१४] इसमें माघनन्दी व्रती के शिष्य और बालचन्द्र के गुरु अभयचन्द्र (अभयशशी) का उल्लेख है। उपर्युक्त अभिलेख से इनका समय सन् १४१३ ई. (उत्तरावधि) प्रतीत होता है।

(१३) भारंगी में कल्लेश्वर वस्ती के पाषाण पर सन् १४१५ ई. में अभयचन्द्र सिद्धांत देवर का उल्लेख हुआ हैं।[१५] इनकी उत्तरावधि सन् १४१५ ई. है।

(१४) ये वे अभयचन्द्र सूरि हैं जो संस्कृत भाषा के 'पंचदंडछभवश्र' के रचयिता हैं।[१६] इसकी रचना सन् १४३३ ई. में माघ सुदी १४ को की गई। अतः इनका समय १४३३ है।

---

१२. तुंगे तदीये घृत वादिसिंहे गुरुप्रवाहोन्नत वन्श गोत्रे।
अधोदितो मूघ्निजपादसेवा प्रमोदिलोको ऽ भयचन्द्रदेवः ।।३३।।
जयति जिततमोरिस्त्यक्त दोषानुषंगः
पदमखिलकालानां पात्र मम्भोरुहायाः।
अनुगतजयपक्ष श्रत्तमिवानुकूल्य—
स्सतमभयचन्द्रस्सत्स भारत्नदीपः ।।३४।।
देखिए 'जैनशि.सं. (भाग १)'; सं. पं. हीरालाल जैन, प्रकाशिका श्री मणिकचन्द्र दि० जैन ग्रन्थमाला समिति; पृ० १०५.

१३. देखिए 'जैन साहित्य और इतिहास'; लेखक पं नाथूराम प्रेमी; प्रकाशक–हेमचन्द्र मोदी, हिन्दी ग्रन्थ रत्नाकर कार्यालय, हीराबाग, गिरगाव बम्बई; पृ० २८०, २८१.

१४. देखिए जैन शि. सं. (भाग १)'; पृ० ३२.

१५. देखिए 'जैन शि, सं. (भाग ३); पृ० ४५१.

१६. देखिए 'राजस्थान के जैन शास्त्र भण्डारों की ग्रन्थ सूची (भाग ३)'; पृ० १२९१.

(१५) भारंगी में कल्लेश्वर वस्ती के दूसरे पाषाण पर देवचन्द्र मुनि के शिष्य के रूप में अभयचन्द्र का उल्लेख है।[१७] इनका समय सन १४६६ ई० (उत्तरावधि) है।

(१६) ईस्वी सन १४६६ और १४६३ के मध्य लक्ष्मीचन्द्र के शिष्य अभयचन्द्र (प्रथम) हुए जिन्होंने एक स्वतन्त्र भट्टारक संस्था को जन्म दिया।[१८]

(१७) आचार्य ब्रह्मधर्मरुचि और ब्रह्मगुण-सागर के गुरू अभयचन्द्र भट्टारक थे।[१९] इनका समय सन १५०१ ई० है।

१८. श्री दि० जैन मन्दिर बड़ा तेरह पंथियों [जयपुर] के शास्त्र-भण्डार के वेष्टन नं० ३३७ में जो प्रति नं० १२ है उसके टीकाकार अभयचन्द्र सूरि है।[२०] इनका समय सन १५१६ ई० [उत्तरावधि है।

१६ जैन सिद्धान्त भवन आरा में दशभक्त्यादि महाशास्त्र [२५३ ख) की एक पाण्डुलिपि हैं जिसके ५६ वें पत्र के पूर्व भाग में किसी की कुछ कृत्तियों के उल्लेख के साथ अनेक आचार्यों के नाम दिये गये हैं। इनमें माघवचन्द्र और जयकीर्ति के मध्य (केशवार्य्य स्तुत्य) अभयचन्द्र का नाम भी है।[२१] इनका समय १५४१ ई० [उत्तरावधि) है।

२०. उपर्युक्त पाण्डुलिपि में ही ११२ वें पत्र के पूर्व भाग से ११५ वें पत्र के पूर्व भाग तक किसी की कुछ कृत्तियों के उल्लेख के साथ अनेक आचार्यों के नाम दिये गये हैं। इनमें आशाधर और देवचन्द्र के मध्य अभयचन्द्र का नाम भी है जिन्हें सर्वोवि-वतिपूजितांघ्रियुगल लिखा गया है।[२२] इनका समय भी १५४१ ई० (उत्तरावधि] है।

२१. उपर्युक्त पाण्डुलिपि में ही ११२ वे पत्र के पूर्व भाग से ११५वें पत्र के पूर्व भाग तक किसी की कुछ कृत्तियों के उल्लेख के साथ अनेक आचार्यों के नाम दिये गये हैं। इनमें धर्मशेखर और आदि नाथ के मध्य अभयचन्द्रसूरि [कल्याणनाथतनय, साल्वेन्द्र नृपास्थान प्रातिष्कृत महोदय] का नाम भी है।[२३] इनका समय भी १५४१ ई० (उत्तरा-वधि) है।

२२. लक्ष्मीचन्द्र के शिष्य अभयचन्द्र की पर-म्परा में कुमुन्दचन्द्र के शिष्य अभयचन्द्र हुए।[२४] इनका जन्म सम्वत १६४० में 'हूवड' वंश में हुआ था। वचपन से ही वालक अभयचन्द्र साधु मण्डलियों में वैठा करते थे। हेमजी कुंवर जो सम्पन्न घराने के थे इनके भाई थे। युवावस्था के पहले ही इन्होंने पांचों महाव्रतों का पालन आरम्भ किया था। इसी के साथ इन्होंने संस्कृत, प्राकृत के ग्रन्थों का उच्चाध्ययन किया। न्यायशास्त्र में पांरगतता प्राप्त

१७. देखिए ,जैन शि. संग्रह (भाग ३)'; पृ० ४६२.
१८. देखिए 'राजस्यान के जैन सन्त'; ले. डा. कस्तूरचन्द कासलीवाल; प्रकाशक-गेंदीलाल शाह एडवोकेट, मन्त्री श्री दि. जैन अ. क्षेत्र महावीर जी जयपुर; पृ० १४८
१६. देखिए 'जैन शिला संग्रह [भाग १]'; पृ० १६१ मू.
२०. देखिए 'राजस्थान के जैन शास्त्र भं. की ग्रन्थ सूची'; पृ० ५०
२१. देखिए 'प्रशस्ति संग्रह [आरा]'; पृ० १२४
२२. देखिए 'प्रशस्ति संग्रह [आरा]'; पृ० १३४
२३. देखिए 'प्रशस्ति संग्रह [आरा]'; पृ० १४८
२४. देखिए 'राजस्थान के जैन संत'; पृ० १४८

की तथा अलंकारशास्त्र एवं नाटकों का गहरा अध्ययन किया। अच्छे वक्ता तो ये प्रारम्भ से ही थे किन्तु विद्वत्ता होने से सोने-सुगन्ध का सा सुन्दर समन्वय हो गया।[२५]

२३. अभयचन्द्रगणि ने प्राकृत भाषा की ऋणसम्बन्ध कथा की रचना की। इसकी प्रतिलिपि सन १६३५ में की गई।[२६] अतः इनका समय सन १६३५ ई० [उत्तरावधि) होना चाहिए।

२४. अभयचन्द्र सूरि वे हैं जिन्होंने कथा विषय की हिन्दी भाषा की विक्रम चौवोलीचौपाई की रचना की।[२७] इसकी रचना सन १६६७ ई० में आषाढ वदी १० को की गई। अतः इनका समय सन १६६७ ई० ज्ञात होता है।

२५. अभयचन्द्र हिन्दी भाषा की पार्श्वनाथ पूजा के रचियता हैं।[२८] इनका समय सन १७८० ई० [पूर्वावधि] है।

२६. अभयचन्द्र संस्कृत की क्षीरोदानी पूजा के रचियता हैं।[२९] इनका समय सन १७९१ ई० [उत्तरावधि] है।

२७. श्री दि० जैन मन्दिर बड़ा तेरहपंथियों (जयपुर) के शास्त्र भण्डार के वे० नं० ३२७ में जो प्रति नं ९ है। उसके टीकाकार अभयचन्द्रसूरि हैं।[३०]

२८. हिन्दी भाषा में पूजाष्टक के रचियता श्री अभयचन्द्र है।[३१]

२९. कम्मनहल्लि [मैसूर] लेख में मूलसंघ देशीगण के अभयचन्द्र आचार्य का उल्लेख है।[३२]

३०. तोललु (मैसूर] लेख में उल्लिखित आचार्य अभयचन्द्र की शिष्या पद्मावती यक्का के द्वारा एक अधूरे जिनमन्दिर को पूर्ण करने का उल्लेख हुआ है।[३३]

उपसंहार

मैं चाहता था कि इन सभी विद्वानों का यथा-सम्भव समीकरण भी करता किन्तु पर्याप्त साधनों के अभाव में मुझे यह कार्य फिलहाल स्थगित करना पड़ रहा है। कोई विद्वान महोदय सम्पन्न करेंगे तो मुझे हार्दिक प्रसन्नता होगी।

---

२५. इनके विस्तृत परिचय के लिए देखिए डा० कस्तूरचन्द कासलीवाल द्वारा लिखित 'राजस्थान के जैन सन्त में 'मुनि अभयचन्द्र' नामक निबन्ध; पृ० १४८-१५२.
२६. देखिए 'राजस्थान के जैन शा. भं. की ग्रन्थ सूची [भाग ४]'; पृ० २१८.
२७. देखिए 'राजस्थान के जैन शा. भं. की ग्र. सू. [भाग ४]'; पृ० २४०.
२८. देखिए 'राजस्थान के जैन शा. भं. की ग्रन्थ सूची [भाग २]'; पृ० ६८.
२९. देखिए 'राजस्थान के जैन शास्त्र भं. की ग्रन्थ सूची [भाग २]'; पृ० ७९३.
३०. देखिए 'राजस्थान के जैस शा. भं की ग्रन्थ मूची [भाग २]'; पृ० ४७
३१. देखिए 'राज. के जैन शा. भं. की ग्रन्थ सूची (भाग ४]'; पृ० ५१२
३२, देखिए जैन शि. संग्रह [भाग ४]'; पृ० ३५९
३३. देखिए 'जैन शि. संग्रह [भाग ४]'; पृ० ३६२

२६

आयुर्वेद-जगत् को राजस्थान के जैन विद्वानों की देन

□ राजेन्द्रप्रकाश आ० भटनागर एम. ए., भिषगाचार्य आयुर्वेदाचार्य, एच. पी. ए. साहित्य रत्न

राजस्थान में जैन संस्कृति का प्रचार-प्रसार बहुत प्राचीनकाल में ही हो चुका था। मौर्य-युग और उससे पूर्व यहां जैन संस्कृति के अवशेष प्राप्त हुए हैं। अजमेर से सात मील दूरी पर स्थित बडली नामक ग्राम से एक स्तंभ-खण्ड मिला है जिसे वहां के भैरोंजी के मन्दिर का पुजारी तमाखू कूटनें के काम में लाया करता था। इस पर १३×१०½ इंच स्थान में एक लेख खुदा हुआ है। इसकी लिपि अशोक से पूर्व कालीन मानी गई है। इस लेख से भगवान महावीर के ८४ वें वर्ष में मध्यमिका में कुछ निर्माण किये जाने का संकेत मिलता है। इससे स्पष्ट ज्ञात होता है कि महावीर निर्वाण से ८४ वर्ष पश्चात् (ई० पू० ४४३) में दक्षिण-पूर्व राजस्थान की प्राचीन नगरी 'मध्यमिका' नगरी में कोई मंडप या चैत्यालय बनवाया गया था।

जैन साधुओं और श्रमणों ने भारतीय ज्ञान, विज्ञान कला और शिक्षा को अपूर्व योगदान प्रदान किया है। इसमें कोई संदेह नहीं, कि राजस्थान की परम्परा में शिक्षा और चिकित्सा के प्रधान केन्द्र जैन यतिमुनियों के 'उपाश्रय' ही थे। लगभग पच्चीस-पचास वर्ष पूर्व तक राजस्थान के सभी प्रमुख नगरों एवं ग्रामों में उपाश्रय विद्यमान थे, जहां जैन साधु न केवल धार्मिक उपदेश, अपितु ज्ञान-विज्ञान की विविध शाखाओं पर शिक्षा और चिकित्सा कार्य द्वारा सामान्य जनसमाज को अनुप्राणित किया करते थे। नवीन शिक्षाप्रणाली और पाश्चात्य संस्कृति के प्रचार-प्रसार ने उस मौलिक और ठोस परम्परा पर कुठाराघात किया है। और आज अनेक 'उपासरे' बंद हो चुके हैं।

जैन आगम साहित्य के बारहवें अंग 'दृष्टि-वाद' के अंतर्गत 'प्राणावाय' संज्ञक 'पूर्व' में आयुर्वेद और उसके आठ अंगों का समावेश होता है। अतः जैन-आयुर्वेद को 'प्राणावाय' कहा जाता है। इसका मूल उपदेश भगवान् महावीर ने गौतम को दिया था। इसका एकमात्र प्रयोजन यही है कि शारीरिक क्षमता की वृद्धि और स्थिरता करते हुए आभ्यंतर साधना और संयम के तत्व की प्रकृष्टता के साथ मोक्ष पद प्राप्त करने का प्रयत्न किया जाय।

यही कारण रहा, कि जैन आचार्यो द्वारा अनेक वैद्यक ग्रंथों का प्रणयन होता रहा है। यहां उन सब कृत्तियों और उनके कर्त्ताओं का ऐतिहासिक मूल्यांकन करने का अवकाश नहीं है, जो भारत के विभिन्न क्षेत्रों में हुए, परन्तु यहां तो केवल राजस्थान के जैन आचार्यों की आयुर्वेद सेवा पर प्रकाश डालने का प्रयत्न किया जायेगा।

राजस्थान का उपलब्ध जैन-आयुर्वेद साहित्य अधिकांश में मध्य युग में रचा गया था। इसका प्रणयन मुख्यतया निम्न तीन स्तरों पर हुआ है—

प्रथम जैन यति-मुनियों द्वारा ऐच्छिक और परम्परा रूप से ग्रंथ-प्रणयन।

द्वितीय, जैन-मुनियों द्वारा किसी राजा अथवा समाज के प्रतिष्ठित और धनी व्यक्ति की प्रेरणा से या आज्ञा से ग्रंथ-प्रणयन।

तृतीय स्वतंत्र जैन विद्वानों और वैद्यों द्वारा ग्रंथ-प्रणयन।

मैं हस्तलिखित वैद्यक-ग्रंथों के अपने सर्वेक्षण में इस निष्कर्ष पर पहुंचा हूँ कि मध्ययुगीन अधिकांश वैद्यकसाहित्य राजस्थान और गुजरात में निर्मित हुआ, उसमें भी सर्वाधिक योगदान जैनाचार्यों का रहा है। यह जैन-वैद्यक-साहित्य प्रायः देशीय भाषा-राजस्थानी, प्राचीन हिन्दी या गुजराती में उपलब्ध है, परन्तु संस्कृत के ग्रंथ भी अनेक हैं। इनमें उल्लेखित औषधियां और योग स्वानुभूत एवं प्रायोगिक प्रात्यक्षिक ज्ञान पर आधारित हैं। इनमें मद्य, मांस और मधु का प्रयोग नहींवत् है। इनमें वानस्पतिक और खनिज द्रव्यों से निर्मित योग ही बताये गये हैं। वस्तुतः जैन-सिद्धांतानुसार इन आचार्यों ने वैद्यक-क्षेत्र में भी अहिंसा-तत्व का दृढ़ता से पालन किया है।

एक अन्य उल्लेखनीय तथ्य यह है कि जैन वैद्यक साहित्य में प्राचीन चरक, सुश्रुत आदि से योगसंग्रह, शार्ङ्गधर, भावप्रकाश, माधवनिदान आदि ग्रंथों का पद्य या गद्य में भाषानुवाद, स्वतंत्र रोग निदान व चिकित्सा के ग्रंथ और प्राचीन ग्रंथों पर टीका-व्याख्या-ग्रंथ उपलब्ध होते हैं; परन्तु इनके अतिरिक्त 'आम्नाय ग्रंथ' भी प्रचुर मात्रा में मिलते हैं, जिनमें वैद्यों, गुरुओं और अन्य व्यक्तियों से प्राप्त तथा स्वयं द्वारा अनुभव किये गये योग-प्रयोगों का आकलन किया गया है। ऐसे ग्रंथ 'गुटकों' के रूप में जैन ग्रंथागारों में भरे पड़े हैं। वास्तव में ऐसे ग्रंथों का प्रकाशन न केवल अनुभव-सिद्ध चिकित्सा प्रणाली को प्रस्तुत करने में उपयोगी होगा, अपितु इससे राजस्थान के लोकायुर्वेद (लोक-जीवन में व्याप्त घरेलू प्रयोगों व उनके उपयोग) के संबंध में सर्व-सुलभ जानकारी प्राप्त हो सकती है। ये प्रयोग ऐसे हैं, जिनके लिए औषधियां राजस्थान के हर ग्राम व नगर में सुगमता से उपलब्ध हो जाती हैं। इस संदर्भ में आयुर्वेद की यह सर्वमान्य सिद्धांत व उक्ति चरितार्थ होती है—

"यस्य देशस्य यो जन्तुस्तज्जं तस्यौषधिर्हितम्।" अर्थात् जो प्राणी जिस प्रदेश में उत्पन्न हुआ है, उसके लिए उस प्रदेश-विशेष में उत्पन्न औषधियां वनस्पतियां हितकर होती हैं। अस्तु।

सांस्कृतिक दृष्टि से जैन विद्वानों व यति मुनियों ने चिकित्साकार्य और वैद्यक ग्रंथ-प्रणयन द्वारा तथा अनेक उदारमना जैन श्रेष्ठियों ने धर्मार्थ चिकित्सालय, औषधालय, पुण्यशालाएं व आयुर्वेद महाविद्यालय स्थापित कर भारतीय समाज को सहयोग प्रदान किया है। निश्चित ही, यह देन महत्वपूर्ण कही जा सकती है।

अनेक जैन-आचार्य प्रसिद्ध चिकित्सक हुए हैं और अनेक जैन-आचार्यों द्वारा विरचित वैद्यकग्रंथ भी उपलब्ध है। इनमें से कुछ काल-कवलित और कीट-ग्रास भी हो चुके हैं। जिन जैन आयुर्वेदज्ञों का परिचय और उनकी कृत्तियां प्राप्त हैं, उनका ऐतिहासिक मूल्यांकन निम्न पंक्तियों में प्रस्तुत करेंगे।

आशाधर (१२४०ई.)—

जैन साहित्य में यह अपने समय के दिगम्बर सम्प्रदाय के बहुश्रुत, प्रतिभासंपन्न और महान् ग्रंथ-कर्त्ता के रूप में प्रकट हुए हैं। धर्म और साहित्य के अतिरिक्त न्याय, व्याकरण, काव्य, अलंकार,

योग, वैद्यक आदि अनेक विषयों पर इनका अधिकार था और इन विषयों पर इनका विशाल साहित्य भी मिलता है।

यह व्याघ्रेरवाल या बघेरवाल नामक वैश्य जाति के राजस्थान के निवासी थे। इनके पिता का नाम सल्लक्षण, माता का नाम रतनी, पत्नी का नाम सरस्वती और पुत्र का नाम छाहड़ था। आशाधर मूलतः 'सपादलक्ष'[1] (नागौर जोधपुर के आसपास का प्रदेश, 'सवालख' के नाम से प्रसिद्ध) के राज्य के निवासी थे। यहां पहले चौहान राजाओं का राज्य था। जब साम्भर और अजमेर पर भी चौहानों का अधिकार हो गया तो उनके 'सपादलक्षीय' के उपनाम के कारण यह सारा प्रदेश 'सपादलक्ष' राज्य कहलाने लगा। इस प्रदेश में 'मण्डलकर दुर्ग' (वर्तमान में मांडलगढ़ का किला) में आशाधर रहते थे। मांडलगढ़ पहले चौहानों के राज्य में था। जब गजनी के शासक शाहबुद्दीन गौरी ने वि. सं. १२४६ (ई. ११९२) में पृथ्वीराज चौहान को परास्त कर दिल्ली पर अधिकार कर लिया था, तो उसी वर्ष अजमेर के क्षेत्र पर उसने अपना सूबेदार नियुक्त किया इसलिए मुसलमानों के अत्याचार सपादलक्ष में होने लगे। मुसलमानों के आक्रमणों से अपने चरित्र की रक्षा करने के लिए आशाधर अनेक परिवारों के साथ मालवा की राजधानी में आकर बस गये। उस समय मालवा का शासक विंध्यवर्मा था। विंध्यवर्मा का पौत्र अर्जुनवर्मा हुआ। इसके राज्यकाल में जैनधर्म के उदय के लिए धारानगरी को छोड़कर नलकच्छपुर (नालछा) में आकर रहने लगे। वहां विशाल जिनालय स्थापित कर आजीवन अध्ययन-अध्यापन करते रहे।[1A]

---

१. डॉ. गौरीशंकर हीराचंद ओझा, ओझानिबंधसंग्रह, १, पृ. २०-२१

१A. आशाधर ने अपने ग्रंथों 'त्रिषष्टिस्मृति, जिनयज्ञकल्प आदि में अपने स्थान व वंश के संबंध में निम्न प्रशस्ति में परिचय दिया है—

श्रीमानस्ति सपादलक्षविषयः शाकम्भरीभूषण—
स्तत्र श्रीरतिधाम मण्डलकरं नामास्ति दुर्गं महत्।
श्रीरत्न्यामुदपादि तत्र विमलव्याघ्रेरवालान्वया—
च्छ्रीसल्लक्षणतो जिनेन्द्र समय श्रद्धालुराशाधरः ॥ १ ॥
सरस्वत्यामिवात्मानं सरस्वत्यामजीजनद्।
यः पुत्रं छाहडं गुण्यं रंजितार्जुनभूपतिम् ॥ २ ॥
व्याघ्रेरवालवंश सरोज हंसः काव्यामृत्तोघरसपानसुतृप्तगात्रः।
सल्लक्षणस्य तनयो नयविश्वचक्षुराशाधरो विजयतां कवि कालिदासः ॥ ३ ॥
'प्रज्ञापुंजोऽसी' तिच योऽभिहितो मदनकीर्तियतिपतिना।
इत्युदयसेनमुनिना कविसुहृदा योऽभिनंदितः प्रीत्या ॥ ४ ॥
म्लेच्छेशेन सपादलक्षविषये व्याप्ते सुवृत्तक्षति—
त्रासाद विन्ध्यनरेन्द्र दोः परिमलस्फूर्जत त्रिवर्गोजसि।
प्राप्तो मालवमंडले बहु परीवारः पुरीभावसन्
यो धारायपठाज्जिन प्रमितिवाक्शास्त्रे महावीरतः ॥ ५ ॥
"म्लेच्छेशेन साहिबुद्दीनतुरुष्कराजेन" (कप्यकुमुदचंद्रिका टीका)।

आशाधर के ग्रंथों में लिखी हुई प्रशस्तियों के उनके सब ग्रंथ वि. सं. १२६० से १३०० के बीच के लिखे हुए हैं। इनके २० से अधिक ग्रंथ मिलते हैं।

वैद्यकग्रन्थ—वाग्भट के प्रसिद्ध ग्रंथ 'अष्टांग-हृदय' पर आशाधर ने 'उद्योतिनी' या 'अष्टांग-हृदयोद्योतिनी' नामक टीका लिखी थी।[2] यह ग्रंथ अब अप्राप्य है। इसका उल्लेख हरिशास्त्री पराड़कर[3] और पी. के. गौड़[4] ने किया है। यह टीका बहुत विद्वत्ता पूर्ण थी। पीटर्सन ने इसकी किसी हस्तलिखित प्रति का उल्लेख नहीं किया है,[5] परन्तु यदि इसकी कहीं कोई प्रति मिल जाय तो अष्टांगहृदय के व्याख्यासाहित्य में उससे महत्वपूर्ण वृद्धि होगी।

हंसराज मुनि (ई० १७ वीं शताब्दी)—

यह खरतरगच्छ के वर्द्धमानसूरि के शिष्य थे। इनका काल सत्रहवीं शती ज्ञात होता हैं।

इन्होंने नेमिचन्द्र कृत प्राकृत 'द्रव्यसंग्रह' पर 'बालावबोध' लिखा था।

"द्रव्यसंग्रह शास्त्रस्य बालबोधो यथामतिः।
हंसराजेन मुनिना परोपकृतये कृतः ॥१॥"

इनकी अन्य रचना 'ज्ञानद्विपंचशिका—ज्ञान-बावनी' भी मिलती है। इसकी प्राप्त एक ह० लि० प्रति का लिपिकाल सं० १७०६ है।

भिषक्चक्रचित्तोत्सव—

इसे 'हंसराजनिदानम्' भी कहते हैं। यह चिकित्सा विषयक ग्रन्थ है। ग्रन्थारम्भ में "श्री पार्श्वनाथायनमः' लिखकर सरस्वती प्रभृति और धन्वन्तरि की वन्दना है। लेखक ने लिखा है—

"भिषक्चक्रचित्तोत्सवं जाड्यनाशं करिष्याम्यहं बालबोधाय शास्त्रम्।
नमस्कृत्य धन्वन्तरिं वैद्यराजं जगद्रोगविध्वंसकं स्वेन नाम्ना ॥५॥

तथा—

"देशं बलं वयः कालः गुर्विणी गदमौषधम्।
वृद्धवैद्यमतं ज्ञात्वा चिकित्सासारमेतत्ततः ॥१०॥'

ग्रन्थ के अन्त में लिखा है—

भिषक्चक्रचित्तोत्सवं वैद्यशास्त्रे कृतं हंसराजेन पद्यैर्मनोज्ञैः।
सुहृदै (हृद्यै) रदोषैरुरो ध्यान्तनाशं हरेरंघ्रिसंज्ञो-विना नन्दमूर्तः ॥१॥

यह ग्रन्थ हंसराजकृत भाषाटीका सहित वेंक-टेश्वर प्रेस, बम्बई से प्रकाशित हो चुका है।

जिन समुद्रसूरि (१७-१८ वीं शती)-

यह श्वेताम्बरी वेगड़ गच्छ शाखा के आचार्य थे। इनका जन्म श्रीमाल जातीय शाह हरराज की पत्नी लखमादेवी के गर्भ से हुआ था। इनका

---

२. आयुर्वेदविदामिष्टं व्यक्तुं वाग्भटसंहिताम्।
अष्टांगहृदयोद्योतं निबन्धमसृजच्च यः ॥" (आशाधर की ग्रंथप्रशस्ति में)

३. हरिशास्त्री पराडकर, अष्टांगहृदय (निर्णयसागर प्रेस, बम्बई), उपोद्घात, पृ. २६

४. पी. के. गोडे, अष्टांगहृदय, इंट्रोडक्शन, पृ. ६.

५. आफ्रेक्ट, कैटेलॉगस कैटेलोगोरम, भाग १, पृ. ३६.

जन्म स्थान और जन्म सम्वत अज्ञात है। सम्भवत; इनका जन्म बीकानेर, जोधपुर या जैसलमेर राज्य में कहीं हुआ था और जन्मकाल सम्वत १६७० के आसपास अनुमान होता है। इनकी दीक्षा सं० १६८२ में हुई थी। इनके गुरु जिनचन्द्रसूरि थे और इनकी साधु-अवस्था का नाम महिमसमुद्र था जो इनकी अनेक रचनाओं में पाया जाता है। इनको सं० १७१३ में जिनचन्द्रसूरि के स्वर्गवास के बाद वेगडगच्छ का आचार्य पद प्राप्त हुआ। सं० १७४१ की कार्तिक सुदी १५ को वर्द्धमपुर में इनका ७० वर्ष की आयु में स्वर्गवास हुआ था।

जैसलमर के रावल अमरसिंह ने इनको मान-पंटोली और उपाश्रय प्रदान किया था।

इनका विशाल साहित्य इनकी विद्वत्ता प्रतिभा और कवित्व शक्ति का अच्छा परिचायक है। इनका ग्रन्थनिर्माण काल संवत १६९७ से सं० १७४० तक माना जाता है। इनके लगभग ३५ ग्रन्थों का पता चलता है जिनकी हस्तलिखित प्रतिलिपियां जैसलमेर के ग्रन्थभण्डारों में मिलती हैं। जिनसमुद्र-सूरि के साधुसंप्रदाय की मुख्य गद्दी जैसलमेर में है और इनके शिष्य-प्रशिष्य इसी क्षेत्र में विहार करते हैं। इनकी समस्त रचनाएं राजस्थानी और अप-भ्रंश भाषा में मिलती हैं। इन्होंने मरुभाषा में लगभग १।।लाख पद्य लिखे थे। कुछ फारसी में भी स्तवन मिलते हैं। वैद्यक पर इनका 'वैद्यचिन्ता-मणि' नामक ग्रन्थ मिलता है। इसका अन्य नाम 'वैद्यकसारोद्धार' और 'समुद्रसिद्धान्त' या 'समुद्र-प्रकाशसिद्धान्त' भी मिलते हैं। यह एक सग्रह ग्रन्थ है। इसमें रोगों के निदान और चिकित्सा का पद्य-बद्ध विवेचन किया गया है। इसमें सर्वप्रथम तीन प्रकार के देशों का वर्णन किया है।

ग्रन्थ परिचय देते हुए लेखक ने प्रारम्भ में निम्न पद्य लिखे है—

"यति उपकार तणी रिदै, धरी आण चित चूंप।
रची वैद्य के काज कों, वैद्यक ग्रन्थ अनूप ।।६।।
वैद्य ग्रन्थ पहिला वहुत, हैं पिण संस्कृत वाणि।
तातइं मुगध प्रबोधउं, भाषा ग्रन्थ वखाणि ।।७।।
वाग्भट सुश्रुत चरक, फुनि सारंगधर आत्रेय।
योगशतक आदिक वली, वैद्यक ग्रन्थ अभेय ।।८।।
तिंन संविहु नें को मथन करि, दधि तैं ज्युं घृतसार
त्यों रचिहुं सम शास्त्र तें, वैद्यकसारोद्धार ।।९।।
परिपाटी संबि वैद्य की, आमनाय सशुद्धि।
वैद्यचिंतामणिं चौपई, रचहूं शास्त्र की बुद्धि ।१०।
रोगनिदानचिकिच्छका, पद्य क्रियाविक त्तत।
नाम धारयो इन ग्रन्थ को, श्री समुद्रसिद्धांत ।।११।

ग्रन्थ के अन्त में लिखा है—

'इति श्री समुद्रप्रकाससिद्धान्ते विद्याविलास चतुष्यदिकायां दर्पा रि० समाप्तमिति।"

इसके बाद कण्ठरोग, तालुरोग आदि का वर्णन है।

महेन्द्र जैन— (सं०१७०९)

इनके पिता का नाम कृष्ण वैद्य था। इनका "द्रव्यावली समुच्चय" नामक वैद्यक ग्रन्थ मिलता है। यह एक निघण्टु ग्रन्थ है।

जिसमें द्रव्यों का परिचय और गुणधर्म दिये हैं। यह धन्वन्तरि निघण्टु नामक ग्रन्थ के आधार पर लिखा गया है। इसकी रचना उदयपुर में हुई थी।

राजस्थान प्राच्यविद्या प्रतिष्ठान जोधपुर में इस ग्रन्थ की सं० १७०९ की ह० प्र० वर्तमान है, अतः ग्रन्थ का रचनाकाल इससे पूर्व का ही होना चाहिए।

जिनदासवैद्य (सं० १७१५)

यह जयपुर के निवासी थे। जयपुर के पाटोदीजी के मन्दिर में (गठरी नं. ६ नं. १ पत्र ५६ श्लोक ८४३) पर 'जिनदासवैद्य' का 'होलीरेणुकाचरित्र' नामक ग्रन्थ विद्यमान है। इसकी प्रशास्ति में जिनदास वैद्य की विस्तृत कुल परम्परा दी हुई है। उसमें जिनदास के पूर्वज पं० हरपति, पद्म, श्रीह और विझ की प्रशंसा की गई हैं और वताया गया है कि उनको फिरोजशाह, गयासुद्दीन और नादिरशाह आदि द्वारा सम्मान प्राप्त हुआ था। विझ के पुत्र धर्मदास भी अच्छे वैद्य थे।

मो० द० देसाई ने जिनदास का काल सं० १७१९ के लगभग माना है। (द्र० जैन साहित्यनो इतिहास, पृ० ६६४)।

धर्मसी (धर्मवर्द्धन) (सं० १७१७ से १७५०)

इनका वास्तविक नाम धर्मसिंह या धर्मवर्द्धन था। यह खरतर गच्छीय वाचक विजयहर्षजी के शिष्य थे। इन्हें राज्य सम्मान भी प्राप्त था। इनकी गुरु परम्परा इस प्रकार मिलती है—

खरतरगच्छीय जिनभद्रसूरि की शाखा में—साधुकीर्ति—साधुसुन्दर— विमलकीर्ति—विजयहर्ष धर्मसी।

इनका भ्रमणक्षेत्र मारवाड़ और उत्तरी गुजरात रहा। यह मूलतः मारवाड़ के रहने वाले थे।

इनकी संस्कृत और राजस्थानी में रचनाएं मिलती हैं। इनका ग्रन्थ रचनाकाल सं० १७१७ से १७५७ तक माना जाता है। (देखिये मो० द० देसाई, जैन साहित्यनों इतिहासं, पृ० ६६४)।

धर्मसी का संस्कृत में "श्रीभक्त्यामरस्तोत–समस्यारूप श्रीवीरजिनस्तवन" ग्रन्थ ४४ वसंततिलकाओं में मिलता है। यह ग्रन्थ सं० १७३६ में रचा गया था। राजस्थानी भाषा में ये ग्रन्थ मिलते हैं—

अमरसेन वैरसेन चौपई, शनिश्चर विक्रम चौपई (राधनपुर में),

सुर सुन्दरीनोरास (सं० १७३६, श्रा० सु० १५ वेनातटपुर में), दशार्णभद्र चौ० (१७५७ मेडता में), २८ लब्धिस्तवन (सं० १७२२ लूणकरणसर में), १४ गुणस्थानस्तवन (सं० १७२९ श्रा० वद ११ वाड़ठमेर में), अढीद्वीपवीसविहरमानस्तवन (सं० १७२९ जैसलमेर में,) जैसमवरन विचार गर्भितस्त०, आलोपणस्त० (सं० १७५४ फलोधी में)। (इन ग्रन्थों के विवरण हेतु देखिए मो० द० देसाई, जैन-गुर्जर कविओ, भाग २, पृ० ३३९–३४६)।

वैद्यक पर इनकी एक ही रचना मिलती है—"डंभक्रिया"। डंभक्रिया का अर्थ है, अग्निदाहकर्म की प्रक्रिया। यह २१ पद्यों में छोटी सी रचना है। इसका रचनाकाल संम्वत १७४० विजयादशमी दिया गया है।

"सतरसो चालीसे विजयदशमीदिने,
गच्छखरतरजगजीत सर्व विद्या जिनैं।
विजयहर्ष विद्यमान शिष्य तिनके सही,
कवि-धर्मसी उपगारे, डंभक्रिया कही।२१।

लक्ष्मीवल्लभ (सं० १७२०–१७५०)–

इनके जन्मस्थान, जन्मसम्वत, वंश, माता-पिता और गृहस्थ जीवन के सम्बन्ध में विशेष परिचय नहीं मिलता और इनके ग्रन्थों में भी कोई प्रशस्ति प्राप्त नहीं होती। इनका जन्म नाम हेमराज था। इनका जन्म सम्वत १६९० और १७०३ के बीच होना ज्ञात होता है। इन्होंने सं० १७०७ के लगभग दीक्षा ली थी। इनकी गुरुपरम्परा इस प्रकार

ज्ञात होती है—१४ वीं शती में खरतरगच्छ के अत्यन्त प्रभावशाली और प्रतिभा सम्पन्न जिनकुशलसूरि आचार्य हुए। इनके शिष्य प्रशिष्य इस प्रकार हुए। जिनकुशलसूरि उपाध्याय विनयप्रभ-उपाध्याय विजयतिलक—वाचकक्षेमकीर्ति-उपाध्याय तपोरत्न वाचक भुवनकीर्ति —वांचक हर्षकुंजर—वाचक लब्धिमण्डन—उपाध्याय लक्ष्मीकीर्ति — लक्ष्मी-वल्लभ। जिनराजसूरि या जिनरत्नसूरि आचार्य ने दीक्षित कर इनको लक्ष्मीकीर्ति का शिष्य बनाया था।

लक्ष्मीवल्लभ इनका दीक्षा नाम था। यह समवतः बीकानेर क्षेत्र के निवासी थे। (देखिये—'रात्रिभोज चौपई' का अन्त)। यह अठारहवीं शती के द्वितीय पाद में मौजूद थे। इनकी अधिकांश रचनाएं वि० सं० १७२० से १७५० के बीच में लिखी गई थीं।

इनकी वैद्यक पर दो कृतियां मिलती हैं काल-ज्ञान और मूत्रपरीक्षा।

कालज्ञान [कालग्यान]-यह शम्भुनाथकृत संस्कृत के 'कालज्ञानम्' का पद्यबद्ध भाषानुवाद है।

'भाषित शम्भुनाथ को, जानत कालग्यान।
जानै आउ छ मास थे, धुरतै वैद्यसुजान ॥२॥

इसका रचनाकाल भाद्रपद सु० १५ सं० १७४१ है।

'चन्द्र[1] वेद[4] मुनि भू[1] प्रमित, संवत्सर नभ मास।
पूनिम दिन गुरवार युत, सिद्धयोग सविलास ॥७०॥

ग्रन्थमें कुल पांच समुद्देश [अध्ययन] और कुल १७८ पद्य हैं। लेखक ने वैद्यकविद्या की प्रशस्ति निम्न पद्य में लिखी है—

'जग वैद्यक विद्या जिसी, नहीं न विद्या और।
फलदायक परतखि प्रगट, सब विद्या को मौर
॥१६६॥

अंतिम पुष्पिका को देखिए—

"इति कालग्याने भाषाप्रवन्धे उपाध्याय श्री लक्ष्मी वल्लभ विरचिते पंचम समुद्देस ॥"

२. **मूत्रपरीक्षा**—यह लेखक की अतिसंक्षिप्त कृति है। [पत्र १]। कुल पद्य ३७ में बनायी गई है। प्राप्त हस्तलिखित प्रति का लेखनकाल सं. १७५१ है। ('सं. १७५१ वर्ष कार्तिक वदि ६ दिने बीकानेरमध्ये')। अतः इसका रचनाकाल इससे कुछ पूर्व का ही प्रमाणित होता है।

सम्भवतः यह ग्रन्थ भी किसी संस्कृत का भाषा-नुवाद है। ग्रन्थ का अन्तिम पद्य देखिए—

"मूत्र परीक्षा यह कही, लच्छिवल्लभ कविराज।
भाषा बन्ध सु अति सुगम, बालबोध के काज
॥३७॥

विशेष—लक्ष्मीवल्लभ का काव्य कृत्तियों में अन्य नाम 'राजकवि' भी मिलता है। यह १८ वीं शताब्दी के प्रसिद्ध साहित्यकार थे। इनका राज-स्थानी, हिन्दी और संस्कृत पर सामान्यरूप से अधिकार था। तीनों ही भाषाओं में इनकी रच-

---

१. 'कालज्ञान' के प्रारम्भ में लेखक ने गुरुपरम्परा का उल्लेख किया है—
"श्रीजिनकुशलसूरिस गुरु, भए खरतर प्रभु मुख्य। खेमकीर्ति वाचक भए, तासु परम्पर शिष्य ॥७१॥
ता साखा में दीपते, भए अधिक परसिद्ध। श्रीलक्ष्मीकीर्ति तिहां, उपाध्याय बहु बुद्धि ॥७२॥
श्रीलक्ष्मीवल्लभ हुए, पाठक ताके शिष्य। कालज्ञान भाषा रच्यो, प्रगट अरथ परतक्ष ॥७३॥

नाएं मिलती हैं। सींधी में भी तीन सावन मिलते हैं। इनका साहित्य बहुत विशाल और विविध है, जो इनकी बहुमुखी प्रतिभा का परिचायक है। इनकी छोटी-बड़ी लगभग पचास से भी अधिक कृत्तियां मिलती हैं।

रामचन्द्र [वि. सं. १७२०-१७५०]—

यह खरतगच्छीय यति थे। इनके गुरु का नाम पद्मरंगगणि था। पद्मणं के गुरू पद्मकीर्ति हुए और पद्मकीर्ति के गुरू जिनसिंह सूरिराज हुए। जिनसिंह सूरि दिल्ली के बादशाह शाहसलेम (सलीमशाहसूर) के काल में विद्यमान थे और अपने उपदेशों से बादशाह को उन्होंने दयावान बना दिया था। उनको मुगल सम्राट अकबर और सलीम द्वारा भी सम्मान प्राप्त हुआ था। रामचन्द्रयति औरंगजेब के शासनकाल में मौजूद थे। अपनी गुरुशिष्य परम्परा को लेखक ने निम्न पंक्तियों में स्पष्ट किया है—

"युगवर श्री, जिनसिंहजी खरतरगच्छ राजान।
शिष्य भए ताके भले, पदमकीर्ति परधान।।
ताके शष्य वणारसी, पद्मरंग गुणराज।
रामचन्द्र गुरूदेव कों, नीकैं प्रणयें आज।।

[कविविनोद, ग्रन्थारम्भ में]।

वैद्यक और ज्योतिष पर इनका अच्छा अधिकार था। इनके पूर्व गुरू भी वैद्यक में निण्णात थे। वैद्यक पर 'रामविनोद' और 'वैद्यविनोद 'नाडीं-परीक्षा' 'मानपरिमाण' ग्रन्थ तथा ज्योतषि पर सामुद्रायिक भापा नामक ग्रन्थ की रचना की थी। इनके काव्य सम्बन्धी चार ग्रन्थ भी मिलते हैं—'समेदशिखरस्तवन' [सं १७५०'] 'बीकानेर आदिनाथस्तवन' [सं. १७३०], 'दश पच्चक्खाण स्तवच' [सं. १७२१], 'मूलदेव चौपाई [सं. १७११]। ये सब ग्रन्थ राजस्थानी हिन्दी में और पद्यमय हैं। कुछ फुटकर भक्तिपरक पद्य भी मिलते हैं।

यद्यपि इनके ग्रन्थों में इनके निवासस्थान का कोई स्पष्ट उल्लेख नहीं मिलता, तथापि इनके ग्रन्थों की उपलब्धि विशेषरूप से राजस्थान में होने से तथा भाषा राजस्थानी होने से इनका राजस्थानी होना स्पष्ट होता है। सम्भवतः यह बीकानेर क्षेत्र के निवासी थे।

१. **रामविनोद**—[वि. सं. १७२०]–यह चिकित्साविषयक ग्रन्थ है। इसका रचनाकाल मिगसर सुदी १३, बुधवार सं. १७२० है। यह कृति सक्कीनगर [सिन्ध प्रांत] में बनायी गई थी।

२. **वैद्य विनोद**—इस ग्रन्थ की रचना-समाप्ति सं. १७२६ वसन्त ऋतु वैशाख पूर्णिमा को हुई थी। उस समय औरंगजेब का शासनकाल था।

'रस[६] द्दग[२] सागर[७] शशि[१] भयौ,
रित वसन्त वैसाख।
पूर्णिमा शुभ तिथि भली,
ग्रन्थ समाप्ति इह भाख।।
साहिन साहिपति राजतौ, औरंगजेब नरिंद।
तास राज में ए रच्यौ, भलोग्रन्थ सुखकन्द।।

[ग्रन्थात ६१-७०]

यह ग्रन्थ मरोटकोट [बीकानेर राज्य] में रचा गया था।

'मरोटकोट शुभ थान है, वशै लोक सुखकार।
ए रचना तिहां किन रची, सबही कुं हितकर।।"

(७२)

'वैद्यविनोद' की रचना से पूर्व रामचन्द्र ने 'रामविनोद' नामक वैद्यक ग्रन्थ बनाया था।

'पहिली कीनौ रामविनोद,
व्याधिनिकंदनकरण प्रमोद ।
वैद्यविनोद इह दूजा कीया,
सज्जन देखि खुसी होई रहीया ।।

यह ग्रन्थ शार्ङ्गधरसंहिता का पद्यमय भाषानुवाद है । इसमें कुल २५२५ पद्य हैं । यह ग्रन्थ तीन खण्डों में विभक्त है; उनकी पद्य संख्या क्रमश: ४५६,१२९२,७७७ कुल २५२५ है । सामान्य जनता के सुखबोध के लिए लेखक ने इसकी रचना की थी-जैसा कि ग्रन्थारंभ में लिखा है—

"सारंगधर अति कठिन है, बाल न पावै भेद ।
ता कारण भाषा कहूं, उपजै ज्ञान उमेद ।।५।।
पहिली गुरुमुख सांभली, भावभेद परिज्ञान ।
ता पाछै भाषा करी, मेटन सकल अज्ञान ।।६।।

+ + +

विविध चिकित्सा रोग की,
करी सुगम हित आणि ।
वैद्यविनोद इण नाम धरि,
यां मैं कीयौ वखाण ।।१०।।

३. नाडीपरीक्षा और ४. मानपरिमाण—रामचन्द्र-यति की ये दोनों लघुकृतियां पृथक् से भी मिलती है । किन्तु रामविनोद की किसी–किसी प्रति में मानपरिमाण के पद्य उसी में सम्मिलित मिलते हैं । अतः ये दोनों रचनाएं स्वतन्त्र न होकर 'रामविनोद' के ही अंश या पृथक्–पृथक् अध्याय हैं ।

नाडीपरीक्षा में कुल ४५ पद्य हैं । अंतिम पद्य इस प्रकार है—
"सौम्य दृष्टि स प्रसन्न सदाई भालीयै,
प्रकृति चित्त इहु दुख सहू ही रालीयै ।
शीघ्र शांति होइ रोग सदा सुख संदही,
नाडीपरीक्षा एह कही रामचन्द ही ।।"

मानपरिमाण में केवल १३ पद्य हैं ।

५ सामुद्रिकभाषा—यह सं. १७२२ मात्र कृष्ण ६ की रचना है । इसमें कुल २११ पद्य हैं । इसमें राजस्थानी भाषा में सामुद्रिक शास्त्र के अनुसार स्त्री और पुरुष के लक्षणों का वर्णन किया गया है । इस ग्रन्थ में दो प्रकाश हैं–प्रथम प्रकाश में ११७ पद्यों में नर लक्षण और द्वितीय प्रकाश में ९४ पद्यों में नारी लक्षण बताये गये हैं । यह ग्रन्थ मेहरा नामक स्थान पर रचा गया था ।

मुनिमान या मान मुनि (सं. १७४५)—

यह खरतरगच्छीय भट्टारक जिनचन्द के शिष्य वाचक सुमतिसुमेर के शिष्य थे । यह बीकानेर के रहने वाले थे । निम्न पद्यों में इन्होंने अपना परिचय लिखा है—
"भट्टारक जिनचंद गुरू, सब गच्छ के सिरदार ।
खरतरगच्छ महिमानिलो, सब जन को सुखकार ।।११।।
जाको गच्छवासी प्रगट, वाचक सुमतिसुमेर ।
ताको शिष्य मुनिमानजी, वासी बीकानेर ।।१२।।
(कविविनोद)

इसकी अन्य रचना 'कविप्रमोद' में इन्होंने अपने को सुमतिसुमेर के भ्राता विनयमेरू का शिष्य लिखा है—

"इति श्री खरतरगच्छीय वाचक श्री सुमतिसुमेरूगणित दाभ्तृपाठक–श्री विनैमेरूगणिशिष्य मानजी विरचिते भाषा कवि प्रमोद रसग्रन्थे पंचकर्मस्नेह वृन्तादि ज्वरचिकित्सा कवित्त बंध चौपई दोधक वर्णनों नाम नवमोद्देसः ।।९।।"
[कविप्रमोद] ।

राजस्थानी साहित्य में 'मान' नाम के अनेक व्यक्तियों का परिचय मिलता है । किन्तु इनसे भिन्न

आयुर्वेदज्ञ मान मुनि थे। इनके नाम के साथ कवि और 'मुनि' विशेषणों का व्यवहार हुआ है।

श्री अगरचन्द नाहटा ने प्रसिद्ध शृंगारग्रंथ 'संयोगद्वात्रिशंका'[1] जिसे अमरचन्द मुनि के अनुरोध पर सं. १७३१ में लिखा था, के कर्त्ता को मानमुनि माना है किन्तु जो भाषाविषयक प्रौढत्व 'सँयोगद्वात्रिशंका' में है, वैसा आयुर्वेद विषयक रचनाओं में देखने को नहीं मिलता।

वैद्यक पर इनकी दो रचनाएं प्रसिद्ध हैं—कविविनोद और कवि प्रमोद। इनकी अन्य रचना 'वैद्यकसारसंग्रह' भी बतायी जाती है। नागरणी प्रचारिणी सभा के १४ वें खोजविवरण पृष्ठ ६१७ पर इस कृत्ति का उल्लेख है तथा १५ वें खोजविवरण के पृ. ४७ पर लिखा है—"इसी विषय का दूसरा ग्रन्थ 'वैद्यकसारसंग्रह' और मिला है, जो इन्हीं का रचा जान पड़ता है।

१. कवि विनोद—यह ग्रन्थ रोगों के निदान और औषधि के सम्बन्ध में लिखा गया है। इसमें दो खंड हैं। प्रथम में कल्पनाएं हैं तथा दूसरे में चिकित्सा दी गई है—

"गुरू प्रसाद भाषा करू, समझ सकै सब कोई।
औषद रोग निदान कछु, कवि विनोद यह होई ॥५॥"

यह राजस्थानी भाषा में पद्यमय रचना है। इसकी रचना लाहौर में ("कीयो ग्रन्थ लाहोर मइ") सं० १७४५ में की गयी थी—

"संवत सतरहसइ समई, पैंतालै वैशाख।
शुक्ल पक्ष पंचम दिनइ, सोमवार यह भाख ॥६॥
और ग्रन्थ सब मथन करि, भाषा कही बखान।
काढ़ा औषधि, चूर्ण, गुटी, करै प्रगट मतिमान ।१०।

२ कवि प्रमोद—यह मुनिमान का दूसरा वैद्यक ग्रन्थ है। यह बहुत बड़ी कृत्ति है। (कुल पद्य संख्या २६४४)। इसमें नौ उद्देश (अध्याय) हैं।

इस ग्रन्थ का रचनाकाल सं० १७४६ है—
"संवत सतर छ्यालशुभ, कातिक सुदि तिथि दोज।
कविप्रमोद रस नाम यह, सर्व ग्रंथनि कौ खोज ॥१२॥"

यह स्वयं कवि द्वारा इसी नाम से संस्कृत में प्रणीत ग्रन्थ का पद्यमय भाषानुवाद है—

"संस्कृत वानी कविनि की, मूढ न समझै कोई।
तातै भाषा सुगमकरि, रसना सुललित होइ ॥१३॥"

यह एक संग्रह ग्रन्थ है। वाग्भट, सुश्रुत, चरक, आत्रेय, खरनाद, भेड के ग्रन्थों का सार लेकर

१. इस ग्रंथ के अंत में लिखा है—
"संवत चंद[1] समुद्र[7] सिवाक्ष[3] शशी[1] युन वर्ष विचारई लिसी।
चैत सिता तसु छट्टि गिरापति मांन रचियुं संयोगवत्तीसी ॥ ३२ ॥
अमरचंद मुनि आग्रहै समर हुइ सरसति।
संयम वत्तीसी रची आछी आंनि उकति ॥ ४२ ॥
–इति श्रीमान् मांनमुनिना विरचितायां चतुर्थोन्माद संवत् १७६३ वर्षे मति द्वितीय आसाढ सुदि २ दिने वारे शनिस्यरे (वि. ध.)।

इसका प्रणयन किया गया था। यह कवित और दोहों में बनाया गया है।

जोगीदास (सं० १६६२)—

यह बीकानेर के निवासी थे तथा बीकानेर के महाराजा अनूपसिंह और सुजानसिंह द्वारा राज्याश्रित व सम्मानित श्वेतांबर जैन जोसीराय मथेन के पुत्र थे। जोसीराय को सुजानसिंह के शासनकाल में वर्षासन, सामरणदान और शिरोपांव देकर सम्मानित किया गया था। स्वयं जोगीदास का अन्य नाम 'दासकवि' भी मिलता है।

"जिनकै नामै ग्रन्थ यहु, कर्यो दास कवि जान।
राजकुंवर की रीझ को, अब कवि करै बखान ॥८०॥"

लेखक ने अपना परिचय इस प्रकार दिया है—

बीकानेरववासी विसद, धर्मकथा जिह धांम।
श्वेताम्बर लेखक सरस, जोसी जिनको नाम ॥७२॥
अधिपति भूप अनूप जिहि, तिनसौं करि सुभ भाय।
दीय दुसाली कवि करै, कह्यौ जुजोंसीराय ॥७३॥
जिनि वह जोसीराय सुत, जानहुं जोगीदास।
संस्कृत भाषा भनि सुनत, भौ भारती प्रकाश ॥७४॥"

(वैद्यकसा, ग्रन्थांत में)

वैद्यकसार—इसकी रचना जोगीदास (दास कवि) ने बीकानेर के महाराजा जोरावसिंह की आज्ञा से संम्वत १७६२ मे बीकानेर में की थी।

'जन महाराज सुजान कै. जोरों कुंवर सुजान।
कलि में दाता कर्ण सो सूरज तेज समान ॥७६॥
जिनकै नामै ग्रन्थ यहु कर्यो दासकवि जान।
राजकुंवर की रीझ को, अब कवि करै वखान ॥८०॥

अन्त में,

"नयन[२] खण्ड[६] सागर[७] अवनि[१], उजल आश्विन मास।
दसम द्यौंस कवि दास कहि, पूरन भयो प्रकाश ॥"

अत: कवि ने जोरावरसिंह के नाम से यह ग्रन्थ रचा था—

"इति श्रीमन्महाराज कुंवर जोंरावरसिंह-चितायां वैद्यकसारे। सप्तमों अध्याय: ॥७॥ शुभं भवतु।" (अन्तिम पुष्पिका)।

'तिन महाराज कुंवर की, उपज लखी कविराय।
अपने मन उछाह सौं, भाषा करि बनाय ॥'

समरथ (सं० १७५५)—

यह श्वेतांबर खरतरगच्छ के सागरचन्द्रसूरि की परम्परा के मणिरत्न के शिष्य थे। दीक्षितावस्था क्षेत्र के निवासी थे।

इनके अनेक ग्रन्थ मिलते हैं। केशवदास की ब्रजभाषा में रचित 'रसिकप्रिया' पर संस्कृत में टीका' (सं० १७५५), 'बावनीगाथा', 'मल्लिनाथ पंचकल्याणकस्तवन' आदि। वैद्यक पर 'रसमंजरी भाषा टीका' मिलती है।

रसमंजरी भाषाटीका यह ब्राह्मण वैद्यनाथ के पुत्र शालिनाथ द्वारा प्रणीत संस्कृत के 'रसमंजरी' ग्रंथ की पद्यमय भाषाटीका है। सुगम और सरल करने के लिए श्वेताम्बरी समरथ ने इसका यह अनुवाद किया था।

"किये शालिनाथ रसमंजरी, संस्कृत भाषा मांहि।
समझि न सकति मूढ की, व्याकुल होत है आहि ॥८॥

ताते भाषा करत है, श्वेतांवर समरथ।
सुगम अरथ सरलता, मूरख जन के अरथ ॥६॥

ग्रन्थ के अन्त में समरथ ने अपने गुरु का नाम मतिरत्न लिखा है—

"श्रीमतिरतन गुरु परसाद, भाषा सरस करी अति साद।"

इस ग्रन्थ का रचनाकाल सं० १७६४ है—

"संवत सतरेसय चौसठि समै, १७६७ (?)
फागुन मास सव जन कौ रमै।
पांचमि तिथि अरु आदित्यवर, रच्यौ ग्रन्थ दरै मझारि ॥"

ग्रन्थ का प्रणयन देरा नामक स्थान पर किया गया था।

ग्रन्थ के प्रारम्भ में उमासहित शंकर की वन्दना की गई है। यह रसविद्या सम्वन्धी ग्रन्थ है।

"रसविद्यां मे निपुण जु होइ, जस कीरति पाये वहु लोइ।
जहां तहां सुख पावै सही, सो रसविद्या प्रगटावै सही ॥४४॥"

इस ग्रन्थ में कुल १० अध्याय हैं जिनके नाम और उनकी पद्य संख्या इस प्रकार हैं—

१.	रसशोधन कथन	प्रथमोऽध्यायः	पद्य ३७
२.	रसजारणमारणादि कथन	द्वितीयऽध्यायः	„ ६८
३.	उपरसशोधनमारणसत्वनिपातमाणिक्य सोधन मारणकथन	तृतीयोऽध्याय	„ १०
४.	विषलक्षण, विषसेवन, विपपरिहार कथन	चतुर्थोऽध्यायः	„ ३२
५.	स्वर्णादि धातुशोधनमारण कथन	पंचमोऽध्यायः	„ ८४
६.	रसमारण कथन	पष्ठोऽध्यायः	„ २६४
७.	वीर्यरोधनाधिकारः	सप्तमोऽध्यायः	„ २२
८.	? नाम	अध्यायः	(अप्राप्य)
९.	मिश्रकाध्यायः	नवमः	पद्य ७९
१०.	छायापुरुष लक्षणकथन	दशमोऽध्यायः	„ ४४

विनयमेरुगणि (१८ वीं शती)—

यह खरतरगच्छीय जिनचन्द की परम्परा में वाचक सुमतिसुमेरु के भ्रातृ-पाठक थे। इनका काल वि० १८ वीं शती प्रमाणित होता है। इनके शिष्य मुनिमानजी के राजस्थानी भाषा में लिखे हुए कई वैद्यकग्रन्थ (कविप्रमोद, कविविनोद आदि) मिलते हैं (जिनका उल्लेख पूर्व किया जा चुका है)। ये वीकानेर क्षेत्र के निवासी थे।

इनका एक वैद्यक ग्रन्थ "विद्वन्मुखमण्डनसार-संग्रह" मिलता है। यह योगसंग्रह है। ग्रन्थ की प्रति अपूर्ण रूप में प्राप्त हुई है। जिसमें मस्तकरोगाविकार तक ही रोगों की चिकित्सा दी गई है। रोगों की चिकित्सा इसका प्रतिपाद्य विपय है। यह ग्रन्थ संस्कृत में है।

रामलाल महोपाध्याय (१८ वीं शती)—

यह बीकानेर के निवासी तवा धर्मशील के शिष्य थे। ग्रन्थारंभ में जिनदत्तसूरि के नाम स्मरण किये हैं।

इनका एक वैद्यक ग्रन्थ 'रामनिदानम्' मिलता है। इस ग्रंथ का अन्य नाम 'रामऋद्धिसार' है। इस ग्रन्थ में संक्षिप्त रूप से सब रोगों के निदान का वर्णन किया गया है। इसमें कुल श्लोक संख्या ७१२ है। ग्रन्थ संस्कृत में है।

ग्रन्थ का प्रारंभ इस प्रकार है—

अथ रामनिदानं लिख्यते—

श्रियं स दद्यात् भवतां जिनेन्द्र यदाप्तस्तस्याद्वादसुधा समुद्र।
येन निर्दिष्टभवा रूजापहृत्, सिद्धौषधं पथ्यनिमित्त कारणान् ॥१॥
श्रीजिनदत्तसूरीशं सूरिः कुशलसंत्रकम्।
सद्गुरुं धर्मशीलं च, वाग्देवीं प्रणमाम्यहमम् ॥२॥
निदानं सर्वरोगाणां आचक्षेऽहं समासतः।
वालानां सुखबोधाय निदानं रामसंज्ञकम ॥३॥
आत्रेय निजपुत्राय नाभेव निजपुंगवम्।
शिक्षितमायुर्ज्ञानार्थ तत्सारं अत्र संग्रहम् ॥४॥

अन्त का पद्य देखिए—

शिरा-छेदात् शुक्राघात् जन्मात् क्लैव्यं च शमवा।
शिराछेदी जन्मक्लैव्यः असाध्यो पंच कष्टकृत् ॥१२॥ (६१२)

दीपकचन्द्र वाचक[1] (१८ वीं शती)—

यह खरतरगच्छीय आचार्य जिनदत्तसूरि की परंपरा में हुए थे। यह मुनि वाचक थे। संभवतः इनको जयपुर के महाराजा जयसिंह द्वारा राज सम्मान प्राप्त हुआ था। इनका निवास स्थान भी जयपुर ही रहा। इनके गुरु का नाम 'दयातिलक' था। उपाध्याय दयातिलक स्वयं कवि और संयमी साधु थे।

इनके दो वैद्यक ग्रन्थ मिलते हैं। एक, संस्कृत में 'पथ्यलंघननिर्णयः' तथा द्वितीय, राजस्थानी में 'बालतन्त्र भापावचनिका' नामक 'बालतन्त्र' पर भाषा टीका है। इनकी अन्य रचनाएं १८ वीं शती के द्वितीय चरण की मिलती हैं।

(१) पथ्यलंघननिर्णय[2] (पथ्यापथ्यनिर्णय, लंघनपथ्यनिर्णय, लघन पथ्यविचार)—यह दीपचन्द्र वाचक की प्रसिद्ध कृत्ति है। ग्रन्थारम्भ में गुरु का नाम) 'दयातिलक' लिखा है—

महोपाध्यायतिलकान् श्रीदयातिलकाभिधान्।
सद्गुरून ज्ञानदान् विज्ञान् प्रणमामि मुहुर्मुहुः ॥३॥"

---

१. मुनि कांतिसागर ने इनका नाम "लक्ष्मीनाथ वाचक" लिखा है (द्र० अज्ञात आयुर्वेदिक साहित्य उदयाभिनन्दन ग्रंथ, पृ० ६२१)। परन्तु यह नाम मेरे द्वारा देखी गई इस ग्रन्थ की छः प्रतियों में नहीं मिला।

२. "जैनसिद्धांतभास्कर" भाग ५, किरण २, पृ० १५५ पर 'लंघनयथ्यविचार' नामक कृत्ति का उल्लेख है। इसका प्रणयन काल भी सं० १७६२ है और रचियता का नाम भी 'दीपचन्द' दिया हुआ है।

आत्रेय, धन्वन्तरि, सुश्रुत, नासत्य (अश्विनी कुमार), हारीत, माधव, सुषेण, दामोदर, वाग्भट, दस्त्र, (?), स्वयम्भू, चरक आदि के ग्रन्थों का अवलोकन कर यह ग्रन्थ रचा गया था।

इसका निर्माण जयपुर में किया गया था। उस समय वहां महाराजा जयसिंह का शासन था—

"श्रीजयपुरवरे रम्ये राज्ये जयसिंहभूपतेः।
संपूर्णो हि कृतो ग्रन्थः पथ्यलंघननिर्णयः॥"

ग्रन्थ का रचनाकाल सं० १७६२ माघसुदी १ वृहस्पतिवार को लिखा है

द्विनन्दमुनिभूवर्षे माघमासे शुभे दले।
२ ६ ७ १
शुक्ले प्रतिपदायां च भृगोश्चैव तु वासरे॥१०॥"

पुनः इस ग्रन्थ का संशोधन शंकर नामक ब्राह्मण ने सं १८८५ में किया था—

५ ८ १ ८
शरभे भेन्दुभागवर्षे भाद्रे मास्यमिते दले।
शंकरस्य तिथौ चन्द्रे पथ्यलंघननिर्णयः॥

शंकराख्येण विप्रेण शोधितो बुध्यतां बुधैः।
यह लंघन और पथ्यापथ्य सम्बन्धी ग्रन्थ है। अर्थात् किस किस रोगों में कितने दिनों तक लंघन (अनाहार) किया जाय और किन-किन रोगों में क्या पथ्य और अपथ्य होता है। ये पथ्य भी देशज हैं। इसमें विशेपतः मारू (मारवाड़) और जांगल आदि राजस्थान के पश्चिमी भागों की जलवायु को ध्यान में रखते हुए पथ्य की व्यवस्था कही गई है। आयुर्वेदीय चिकित्सा में पथ्य एवं लंघन का महत्व औषधि से भी अधिक स्वीकार किया गया है।

इस ग्रन्थ से लेखक का अच्छे संस्कृत ज्ञान का परिचय मिलता है।

२. **बालतन्त्र भाषावचनिका**—यह लेखक की राजस्थानी गद्य में लिखी हुई रचना है। अहिच्छत्रानगर (वर्तमान नागौर) के निवासी, रामचन्द्र के पौत्र और महिधर के पुत्र कल्याणदास ने संस्कृत में 'बालतन्त्र' की रचना की थी। इसकी भापाटीका दीपचन्द्र वाचक ने की थी—

"तिसकी भापा खरतरगच्छ मांहि जनि वाचक पदवीधारक दीपचन्द इसै नामै।"

इस टीका का नाम लेखक ने 'बालतंत्र' भाषा-वार्चनिका' लिखा है। इसमें बाल चिकित्सा का वर्णन कुल १५ पटलों में हुआ है।

पीताम्बर सं० (१७५६)—

यह विजयगच्छीय आचार्य विनय सागर सूरि का शिष्य थे। विनयसागर सूरि अच्छे उपदेशक और रससिद्ध कवि थे। महाराणा राजसिंह के समय विद्यमान थे। इनका विशेष परिचय नहीं मिलता। इनके अनेक प्रयोग मिलते हैं और इनके लिए "वैद्यविद्याविशारद" के विरूद्ध प्रयुक्त हुए हैं। इससे इनका अच्छा चिकित्सक होना ज्ञात होता है। महाराणा राजसिंह का काल मेवाड़ के सांस्कृतिक इतिहास में स्वर्णकार माना जाता है और इसमें साहित्य, संगीत, शिल्प, और चित्रकला का विशिष्ट विकास हुआ। सं. १७२५ में जब औरंगजेब ने मेवाड़ पर आक्रमण किया तो मेवाड़ को दुर्दिन देखने पड़े।

पीताम्बर का एक गुटका मिलता है, जिसका नाम 'आयुर्वेदसारसंग्रह' है। परीक्षित प्रयोगों को लौकिक भापा में प्रस्तुत करना इस संकलन का प्रयोजन है। यह ग्रन्थ रोगानुसार चिकित्साप्रयोगों का संकलन है। इसमें शताब्दियों से अनेक कुशल अनुभवी आचार्यो द्वारा अनुभूत प्रयोगों का संग्रह किया गया

है । सम्पूर्ण प्रयोग वानस्पतिक है और सरलता से प्राय: सर्वत्र उपलब्ध हो जाते हैं । कुछ रस-प्रयोग (रस व धातुओं से निर्मित योग) भी दिये गये हैं । जिन विशिष्ट विद्वानों से योग प्राप्त हुए थे, उनके नाम भी संकलन कर्त्ता ने उल्लेखित किये हैं, जैसे खीमसी, जोशी भगवानदास, ठाकुरशी नाणावाल, बालगिरि आदि ।

इसमें मेवाड़ के राजपरिवार में प्रयुक्त होने वाले योग भी संगृहीत किये गये हैं । ठाकरसी नाणावाल और जोशी भगवानदास-ये दोनों उस-काल में उदयपुर के प्रसिद्ध चिकित्सक और रसायन शास्त्री थे । ये दोनों ही गुंसाई भारती के शिष्य और राजवैद्य थे ।

यह ग्रन्थ उदयपुर में रचा गया था, अतः इसमें विशेषरूप से मेवाड़ में प्राप्त होने वाली वनस्पतियों का प्रचुर उपयोग प्रदर्शित हुआ है । जैसे, गांठिया-भड़' यह इस प्रदेश में वातनाशक औषधि के रूप में प्रयुक्त होती है और आस्थिसंधान का कार्य भी करती है । एक लिंगजी के समीप राजसेना-राठासेन जी की पहाड़ी में यह वनस्पति खूब मिलती है । किसी भी पशु या मनुष्य का अस्थिभंग होने पर इस औषधि को पीसकर तीन दिन तक पीने से अस्थिसंधान हो जाता है ।

लेखक ने धातुस्तंभन प्रयोगों में सिंहवाहनी गुटिका' का प्रयोग लिखा है—जिसे महाराणाकुंभा सेवन करते थे । यद्यपि द्रव्यगुणविज्ञान की द्रष्टि से इसमें साधारण द्रव्य ही पड़ते हैं, परन्तु गुण की दृष्टि से गुटिका अत्यन्त प्रभावकारी सिद्ध हुई है । इसी प्रकार राजा जगन्नाथ की 'कामेश्वर गुटिका' भी वर्णित है । विषप्रयोगों के अन्तर्गत विशेषरूप से 'वाद्यवालविषनाश' के प्रयोग उल्लेखनीय है ।

आयुर्वेदीय प्रचलित मानों का भी इसमें दिग्द-दर्शन होता है । लेखक ने सामयिक महाराणा राजसिंह और उसके पीछे तक मेवाड़ में शेरशाह-सूरी के ही सिक्कों का प्रचलन रहा । इसी प्रकार 'द्रम्म' आदि सिक्के भी चल रहे थे ।

इस संकलन से तत्कालीन मेवाड़ी गद्य और भाषा का अच्छा नमूना भी प्राप्त होता हैं ।

इस गुटके का नाम स्वयं लेखक ने 'आयुर्वेद-सारसंग्रह' रखा है । इसका रचनाकाल सं. १७५९ है, जैसा कि ग्रन्थ की प्रशस्ति से ज्ञात होता हैं ।

"सं. १७५९ वर्षे श्री श्रीविधे पक्षे [विजयगच्छेय] श्री भट्टारक श्रीमद् १०८ विनयसागरसूरिजी-तिथौ शुक्रवासरे, लिपिकृतं पीताम्वरजी उदयपुरनगरे राजाधिराज' राज्ये आयुर्वेदसारसंग्रह सम्पूर्णम् ।"

इस ग्रन्थ को गुजराती में भाषांतरकार श्री मुनि कांतिसागर ने ई० १९६८ में पालीताणा [गुजरात] से प्रकाशित कराया है ।

ज्ञानसार [सं. १८०१ से १८९९]—

यह खरतर जिनलाभसूरि के शिष्य थे । इनका जन्म सं. १८०१ में बीकानेर राज्य के जांगूल के पास जैंगलेवास नामक ग्राम में हुआ था । इनके पिता का नाम उदयचन्द्र जी सांड और माता का नाम जीवनदे था । इनकी दीक्षा सं. १८१२ में खरतर जिनलाभसूरि के शिष्य रायचन्द्र [रत्नराज-गणि] के पास हुई थी । इन्होंने अपने अनुभव से शास्त्राभ्यास किया । यह मस्तयोगी, कवि और अध्यात्मी थे । बीकानेर के राजा सूरतसिंह, जयपुर नरेश प्रतापसिंह, जैसलमेर के रावल गजसिंह और प्रधान जोरावरसिंह उनके भक्त और अनुरागी थे ।

इन्होंने अपनी रचनाएं प्राय: हिन्दी में और क्वचित् राजस्थानी व गुजराती मिश्रित हिन्दी में

लिखी हैं। सं. १८९९ के लगभग इनका स्वर्गवास हुआ था। इनकी पादुका सं. १९०२ में स्थापित की गई बीकानेर में विद्यमान है। इनका प्रसिद्ध नाम 'नारायणजी बाबा' था। सदासुख, हरसुख आदि इनके शिष्य थे।

इनका कामशास्त्र विषयक—"कामोद्दीपनग्रन्थ' मिलता है। यह राजस्थानी में पद्यबद्ध है। इसका रचनाकाल सं. १८५६ वैशाख शुक्ल ३, जयपुर है। उस समय जयपुर में माधवसिंह का राज्य-काल था।

ग्रन्थ के अन्त में लिखा है।

"प्रतिपो श्री परताप हरि, माधवेस नृपनन्द।
घर जवू फुनि मेरू गिर, धूतारी रविचन्द ।।१७२
रस सेर अरु गज इंदु फुनि, माधव मास उदार।
शुकल तीज तिथ दिन, जयपुर नगर मझार ।।१७३
बड़ खरतर जिनलाभ के, शिष्य रत्न गणि राज।
ज्ञानसार मुनि मंदमति, आग्रह प्रेरण काज
।।१७४।।
ग्रन्थ करौ वह रस भरौं, वरनन मदन अखंड।
जसु माधुरि तातैं जगति, खंड खंड भई खंड
।।९७५।।
सुघरनि जन मत रस दियैं, रस भोगनि सहकार
मदन उदीपन ग्रन्थ यह, रच्यौ रुच्यौ श्रीकार
।।९७६
जग करतार है, यह कवि वचन विलास।
पैया मति को खंड है, है हम ताके दास ।।१७७

इससे प्रगट है कि माधवसिंह के पुत्र प्रतापसिंह राजा थे और उन पर इनका अच्छा प्रभाव था।

इनके राजस्थानी में अनेक काव्य ग्रन्थ, स्तवन आदि मिलते है। इनके लिए देखिए मो० द० देसाई कृत 'जैन गुर्जर कविओं, भाग ३, खंड १, पृ० २९०-२७४]।

चैनसुखयति—(सं. १८२०)

यह खरतरगच्छीय जिनदत्तसूरि शाखा के लाभनिधान के शिष्य थे। इनका निवासस्थान फतहपुर (सीकर) था। इनके शिष्य चिमनीरामजी ने फतहपुर में सं. १८६८ में इनकी छतरी (समाधि) बनाई थी। फतहपुर (शेखावाटी) में इनकी परम्परा के यति आज भी विद्यमान हैं। ये अच्छे वैद्य थे।

इनके वैद्यक पर दो ग्रंथ राजस्थानी में निम्न हैं—'सतश्लोकी भाषा टीका' और 'वैद्य जीवन टना'।

सतश्लोकी भाषा टीका यह बोपदेवकृत 'शत-श्लोकी' की गद्य (राजस्थानी) में भाषा टीका है। यह रचना महेश की आज्ञा से चैनसुख यति ने रतनचंद्र के लिए किया था। इसका रचनाकाल सं. १८२० भाद्रपद कृष्णा १२ शनिवार है, जैसाकि अंतिम पद्यों से ज्ञात होता है—

"संवत अठारे वीस के,
मास भाद्रपद जाण।
कृष्णपक्ष तिथ द्वादशी,
वार शनिश्चर मान ।। १ ।।
टीका करी सुधारि कै,
चैनसुख कविराय।
आज्ञा पाय महेस की,
रतनचंद के भाय ।। २ ।।
(सतश्लोकी भाषा टीका)।

मलूकचंद (१६ वीं शती)—

यह जैन श्रावक थे। संभवतः इनका बीकानेर क्षेत्र निवास स्थान था। श्री अगरचंद नाहटा ने इनका काल १६ वीं शती माना है।

एक स्थान पर श्री नाहटा लिखते हैं—

"मलूकचंद रचित पारसी वैद्यक ग्रंथ तिव्व सहावी का हिन्दी पद्यानुवाद 'वैद्यहुलास' नाम से प्राप्त है। कवि ने विशेष परिचय या रचनाकालादि नहीं दिए, पर इसकी कई हस्तलिखित प्रतियाँ खतरतरगच्छ के ज्ञानभंडारों में देखने में आई। अतः इसके खरतरगच्छीय होने की संभावना है।"

(अगरचंद नाहटा) खरतरगच्छ के साहित्यसर्जक श्रावकगण, जिनचंद्रसूरि अष्टमशताब्दी स्मृतिग्रंथ, पृ. १७२)।

इनकी 'वैद्यहुलास' नामक वैद्यककृति मिलती है। यह यूनानी चिकित्सा शास्त्र के प्रसिद्ध ग्रंथ 'तिव्व सहावी' का भाषा में पद्यमय अनुवाद है। इसमें कुल ५१८ पद्य हैं।

"वैद्यहुलास जो नाम धरि,
कीयो ग्रंथ अभीकन्द।
श्रावकधर्म कुलपक्ष (जन्म) को,
मा [म] लूकचन्द सु (सौ) चंद॥'
(ग्रंथारंभ में)।

लक्ष्मीचंद जैन (सं १६३७)—

यह पचारी नगर (?) के निवासी थे। इन्होंने अपनी गुरुपरम्परा के विषय में कृति के अन्त में निम्न पंक्तियों में लिखा है—

"शहर पचारी शुभ वसो
जैनि को वास।
ता विच मंदिर जैन को,
भगवत को निज दास॥
निज सेवक हैं भक्तजन,
बुध कुशाल अरु चंद।
ता कुल को अरूमान है,
ताकै शिष्य नैनचन्द॥
ताकइ शिष्य मोतीराम है,
ताकै शिष्य श्रीलाल।
ताकै शिष्य लक्ष्मीचंद है,
ताकै शिष्य महिलाल॥
बुध लक्ष्मीचंद कीजियै,
ग्रंथ पढनौ नहीं चंद।
ता गुन वर्धन कारणे
हित मिट करि आनन्द॥"

इनका एक वैद्यक ग्रंथ मिलता है—'लक्ष्मी-प्रकाश'। इसका रचनाकाल सं. १६३७ है—

"संवत उगणीसे अधिक,
वर्ष ऊपरि सैंतीस।
वदि वैशाख एकादशी
बुधदिन प्रगटीस॥
सिघ लग्न मैं पूर्ण है
लक्ष्मीग्रंथ प्रकाश।
अल्पबुद्धि करि कीजिये
ग्रंथ वरण को भाव॥"

इस कृति की यह विशेषता है कि इसमें प्रयुक्त लगभग सभी योग स्वानुभवमूलक हैं; जिसकी सूचना लेखक ने स्थान-स्थान पर दी है। इसमें प्रथम रोग का निदान, पूर्वरूप, लक्षण का और फिर शास्त्रीय चिकित्सा का वर्णन है। जिन व्यक्तियों से लेखक को योग प्राप्त हुए हैं, उनका भी

उल्लेख लेखक ने किया है । वाग्भट, माधव निदान भावप्रकाश, योगचिंतामणि आदि ग्रंथों की सहायता ली गई है । ग्रंथ के अन्त में लिखा है—

"रोगी रोग निदान करि,
पीछे औषध देय ।
वाकी निकई जातिकै
ताकी विधि करैय ।।
जाति चिकित्सा रोग की
वात पित कफ़ आदि ।
उलटि लपटि करि जांनियैं,
सर्व रोग की लावी ।।
लक्ष्मीप्रकाशज ग्रंथ है
पूर्व ग्रंथ की साख ।
माधवग्रंथ निदान कृत
भावप्रकाश की साख ।।
योगचितामणि उपाय करि,
चरक वागमट जान ।
शारंगधर इत्यादि सव
एही उपाय वखान ।।
साको अठारा में कह्यौ
उपरि दोय वधाय (शके १८०२)
ता दिन में वौ ग्रंथ है
इहविधि कही ज़िताय ।।"

उपसंहार

राजस्थान में आयुर्वेदीय हस्तलिखित ग्रंथों के सर्वेक्षण से मैं इस निष्कर्ष पर पहुंचा हूँ कि मध्ययुग में आयुर्वेद विषयक ग्रंथों की रचना सबसे अधिक, अन्य प्रांतों की अपेक्षा, राजस्थान में हुई । उसमें भी राजस्थान के जैन यति-मुनियों का योगदान सर्वाधिक हैं । सैकड़ों-सहस्त्रों हस्तलिखित वैद्यक ग्रंथ जैन ज्ञान भंडारों में भरे पड़े है । अधिकांश तो अज्ञात, अप्रकाशित और सर्वथा नवीन हैं । उनका विस्तृत खोज विवरण तैयार करने का प्रयास किया जा रहा है । इन ग्रंथों का प्रकाशन भी आवश्यक है । प्रस्तुत शोध निवंध में कतिपय जैन ग्रंथकारों और उनकी वैद्यकक्रृत्तियों का परिचय दिया गया है ।

सत्रहवीं शताब्दी की एक महत्वपूर्ण रचना :- भविसदत्त चरित- कवि श्री बनवारीलाल

□ डा० गदाधरसिंह, एम. ए., पी-एच. डी.

श्री वनवारी लाल कृत 'भविसदत्त चरित' की हस्तलिखित प्रति बाढ़ (पटना) के जैन मन्दिर में विद्यमान है। प्रति हाथ के मोटे कागज पर लाल और काली स्याही में अंकित है। इसे झींगुरों ने चाटना प्रारम्भ कर दिया है। इसमें कुल १२४ पत्र हैं। इसमें न तो लिपिकार का नाम अंकित है और न लिपिकाल ही लिखा गया है।

रचनाकार का परिचय—

इस ग्रन्थ के अन्तःसाक्ष्य से मात्र इतना ही विदित होता है कि वनवारी लाल खतौली के अंतर्गत माखनपुर ग्राम के रहने वाले थे। यह स्थान आज-कल उत्तर प्रदेश के जिला मुजफ्फर नगर में पड़ता है। इनके भाई का नाम प्रगहमल था। इस ग्रन्थ की रचना कवि ने जिन-चैत्यालय में बैठकर सं० १६६७ फाल्गुन सुदी नौमी, शुक्रवार को की थी। इस रचनाकाल से ज्ञात होता है कि कवि का समय सत्रहवीं शताब्दी का मध्यकाल है।[1]

ग्रन्थ परिमाण

'भविसदत्त चरित' की रचना कुल २२ संधियों में पूर्ण हुई है। सम्पूर्ण ग्रन्थ में कुल मिलाकर सत्रह सौ से ऊपर छन्द हैं।

---

१. वनवारी भाषै धरि ध्यान। जिन चैत्यालै खतौली सुध्यान ।।
माखनपुर जु वसै सुखवास। ठई चौपई मन धरि उल्लास ।।
मन में ऐसी चितवन भई। तो यहु सुगम चौपई ठई ।।
भाई प्रगहमल गु पियार। जैं हूं भूल्या लेहु सुधार ।।
संवत सोला सै हो गये। छ्यासठ अधिक जु ऊपर भये ।।
शुभ फ़ागुरण नौमी तिथि जान। स्वाति नक्षत्र भृगु शुभ मान ।।
माखनपुर वसई सुखवास। ठई चौपई मन उल्लास ।।

—छन्द संख्या १६६८-१७०२

कथासार

पंचपरमेष्ठी, सरस्वती तथा जिनेन्द्रों की वन्दना कर राजा श्रेणिक और गणधार गौतम के माध्यम से 'श्रुत पंचमी व्रत' के माहात्म्य-कथन के द्वारा कवि ने भविष्यदत्त का उपाख्यान वर्णित किया है।

धनपति नामक नगर सेठ की पत्नी कमलश्री से भविष्यदत्त नामक पुत्र उत्पन्न हुआ। पूर्वभव के दोषवश उसका प्रेम कमलश्री से हठ गया और उसने एक दूसरी स्त्री सरूपा से विवाह कर लिया। इसी नयी पत्नी से सेठ को वन्धुदत्त नामक पुत्र हुआ। तरुण होने पर वन्धुदत्त व्यवसाय के लिए द्वीपान्तर जाने को जब उद्यत हुआ तब माता के मना करने पर भी भाई पर विश्वास कर भष्यिदत्त उसके साथ लग गया। नौकाएँ तिलक द्वीप में जा लगीं। तट-प्रदेश की रमणीयता देखने के लिए भविष्यदत्त जब नौका से उतर कर कुछ देर के लिए वाहर गया तब वन्धुदत्त ने नौकाएं खोल दीं और वेचारा भविष्यदत्त उस द्वीप में अकेले पड़ गया। उस द्वीप में उसे एक जनशून्य नगरी मिली। वहां के विशाल प्रासादों में सुन्दर-सुन्दर पर्यंक विछे थे किन्तु उन पर सोने वाला कोई नहीं था। गवाक्ष खुले थे किन्तु किसी का पता नहीं था। वहां उसे सौन्दर्य की प्रभा विकीर्ण करती हुई एक कन्या मिली जो असनवेग नामक दानवराज की पालिता कन्या थी। दानवराज ने पूर्भभव के स्नेहवश भविष्यदत्त के साथ उस कन्या का विवाह कर दिया। भविष्यदत्त जव घर लौटने लगा तव समुद्रतट पर उसे वन्धुदत्त मिला जिसकी सारी सम्पत्ति समुद्री दस्युओं ने लूट ली थी। वन्धुदत्त उसके पैरों पर गिर पड़ा और अपने कृत्यों के लिए उससे क्षमा मांगी। उदार हृदय भविष्यदत्त ने उसे क्षमा कर दिया। अचानक भविष्यदत्त की पत्नी को स्मरण हुआ कि उसकी नागमुद्रिका घर पर ही छूट गयी है। भविष्यदत्त शीघ्रता से उसे लाने चला। वन्धुदत्त के हृदय का का वैर-भाव पुनः जग पड़ा और वह उसकी पत्नी और सम्पत्ति को लेकर भाग खड़ा हुआ। उसने उसकी पत्नी के शील को भी खण्डित करना चाहा किन्तु जलदेवी की कृपा से उसके शील की रक्षा हुई। घर आकर वन्धुदत्त ने उसे अपनी पत्नी वताया और उसके साथ अपने विवाह का आयोजन करने लगा। इस बीच भविष्यदत्त की माता द्वारा संपन्न श्रुतपंचमीं व्रत के माहात्म्य के कारण एक देव प्रगट हुआ जो पूर्वजन्म में भविष्यदत्त का मित्र था। उसने भविष्यदत्त को उसके घर पहुंचा दिया। भविष्यदत्त द्वारा जब सारे रहस्यों का उद्घाटन हुआ तो राजा ने वन्धुदत्त को राज्य से निष्कासित कर दिया और उसके गुणों से प्रसन्न होकर अपनी दो पुत्रियों का विवाह भी उससे कर देने की घोषणा की। राज्य से निष्कासित हो वन्धुदत्त ने पोदनपुर के राजा को यह कहकर आक्रमण के लिए उकसाया कि तिलकद्वीप की कन्या राजाओं के उपयुक्त है, वणिक-पुत्र के योग्य नहीं। युद्ध में भविष्यदत्त द्वारा पोदनपुर का राजा वन्दी बना लिया गया। उसके अपने राजा ने उसके प्रति कृतज्ञता व्यंजित की और उसे आधा राज्य दे दिया।

कथा के दूसरे खण्ड में भविष्यदत्त के पूर्वभव का वृतान्त प्रस्तुत किया गया है। अपने पूर्वजन्म की वातें जानकर भविष्यदत्त के हृदय में वैराग्य उत्पन्न हो जाता है और वह दुष्कर पंचमहाव्रतों का अनुष्ठान कर अन्त में केवल ज्ञान प्राप्त करता है।

कथास्रोत एवं कथानक-संघटन—

कवि वनवारी लाल के "भदिसदत्त चरित" का मूलाधार धनपाल का "भविसदत्त कहा" नामक

बहुत दिनों के गए वणिकों के स्वदेश आगमन पर उनके स्वजनों के मिलन का जो रूप कवि ने उपस्थित किया है उसकी तुलना अपभ्रंश-काव्य 'करकुण्ड चरिउ' के उस अंश से की जा सकती है जब करकुण्ड को देखने के लिए नगर का समस्त जन-समुदाय अपने गृह कार्य को ज्यों-त्यों छोड़कर उमड़ पड़ता है।

कूवे भरण गई जे नार।
कुंभहु छोड़ चली पनहार ॥
कोई यक भोजन करती बाल।
भोजन छोड़ चली तत्काल ॥
केई सोवत नींद में चली।
कोई यक वस्तर पहरत भली ॥
कोई अंको भरभर लेय।
सीस चूंबना कोई करेय ॥
मिलतैं गह भरि आये नैन।
पूछैं कुसल कुसल सब छेम। ८।५२३-५२६

वियोग-शृंगार-वर्णन

'भविसदत्त चरित' में वियोग-पक्ष का उद्घाटन संयोग-पक्ष की तुलना में अधिक सफलतापूर्वक हुआ है। इसके कवि को वियोग की अनुभूति अधिक गहरी और तीव्र है। पति वियुक्ता भविसगरूपा के विरह का जैसा मर्मांतक चित्र कवि ने उपस्थित किया है वह अन्यत्र दुर्लभ है—

"नाह नाह जंपै विललंतु,
कारणं करै सु रुदन वहंतु ॥
आंधानी जिम लाकड़ी,
तिम आधार तुमारि।
तुज्झ समान वी जानहीं,
विन अवगुण को विसारि ॥

अति प्रीतम जो विछुड्इ,
तउ न मरणउ जाइ।
हियरा सावर सिह जऊ,
दिन दिन निट्ठर थाइ ॥ ७।४८४-८६

विरह की चरम परिणति में विरहिणी के हृदय में पर दुःख कातरता का भाव है। यदि विधाता उसे मिल जाय तो वह उससे यही निवेदन करेगी कि वियोग की वेदना किसी को न हो।

अरे दैव निरदय पापी रे,
तू पर दुख ना जाणै रे।
तुज्झ विरहा दुख जो पड़ई रे,
तब तइ सांच मानइ रे ॥
करव तणी करतार, जे सिर मेल्हों ता हूरै।
तो तू जाणै सार, वेदन विछोहा तणीं ॥
जो भेदउ करतार, करउ वीनती आपणी।
अइहा है सिरजणहार, इह दुख किम ना आइसी ॥
७।४९०।९२

साहित्य की चेतना एकांगी नहीं होती। यदि स्त्री पुरुष के वियोग में व्यग्र है तो पुरुष को भी स्त्री के वियोग में प्राण देने को प्रस्तुत रहना है। तिलकद्वीप में छोड़े जाने पर जब भविष्यदत्त को स्वदेश, एवं माता की करुण मूर्ति का स्मरण होता है तो वह व्यग्र हो उठता है। पत्नी के स्मरण में कामजन्य, सुखानुभूतियों की मधुर स्मृति भी मिली है—

नाग मुद्रिका देखै सोय,
हिरदे सेती लावै सोय।
मुदरी देखि हिया गहभरै,
काम वाण शल हिरदै दहै ॥७।४९५

वीर रसः— 'भविसदत्त चरित' में सेना।प्रयाण का बड़ा रोमांचकारी रूप अंकित हुआ है। इसकी भावानुकूल शब्द-योजना द्रष्टव्य है।

करिवि पयाणउ अनंत महाभट्ट चलिउ ॥
समु हुज्झ पड् वालि भगु लाज्झ लियउ ॥
फटो जलहर कुंभधार तृणि दीयं ॥
ले आइ तहं अग्नि धूम संजुगतिडयं ॥

१३।१०३८

सेना प्रयाण के बाद युद्ध की वास्तविक स्थिति आती है। युद्ध भी दो प्रकार के होते हैं:—

एक सामूहिक और दूसरा व्यक्तिगत। सामूहिक युद्ध-वर्णन में समास शैली का आश्रय लेना पड़ता है। इसके लिए भाषा में प्रवाह-शक्ति भी अपेक्षित होती है क्योंकि युद्ध बड़ी त्वरित गति से घटित होता है। क्षिप्रगति से घटने वाली घटनाओं के लिए जबतक वैसे ही बहते शब्द नहीं दिये जाते, तब तक युद्ध का चित्र नहीं खींचा जा सकता। बनवारी लाल के युद्ध-वर्णन में रासो ग्रन्थों की ताजगी है—

तब सुभटो काढे करवाल,
बरसे बाण मेघ अस राल ॥
भिडहि वार कर असिवर लेंय,
चढे तुरंग मदान जु देंय ॥
सेना जूझ पलाई सोय,
रण की भूमि भयानक होय ॥
दीनों दल सो खरे पखान,
दीनों करैं सिंह उठान ॥

१४।११०३-५

व्यक्तिगत युद्ध से दो योद्धाओं, विशेषकर नायक-प्रतिनायक के युद्ध का वर्णन कवि करता है। नायक और प्रतिनायक शक्ति में जितना ही अधिक तुल्य होते हैं, रस-संचार में उतनी ही अधिक तीव्रता आती है। इसी प्रसंग में गर्वोक्तियां भी आती हैं, जो वीर-भाव को उत्तेजना देती हैं। भविष्यदत्त और प्रतिद्वन्द्वी राजा के व्यक्तिगत युद्ध का दृश्य बड़ा लोमहर्षक है—

दोनों मुहु मिल हये जु कुमार,
दीनों दंती लड़ै इकसार ॥
उछल गयंद तैं भवसि कुमार,
छती अम्बारी बैठा सार ॥
जहं बैठा पोदनपुर राय,
भविसदत्त बांधा गल पाय ॥
हाहाकार मचा रणहिं मंझार,
सुभटन डारि दिए हथियार ॥ ८।११२३-२५

शान्तरस

शान्तरस का स्थायी भाव 'निर्वेद' अथवा 'शम' है। "काव्य प्रकाश" के अनुसार तत्वज्ञान से जो निर्वेद उत्पन्न होता है, वही शान्त का स्थायी भाव है। इष्ट नाश या अनिष्ट की प्राप्ति के कारण 'निर्वेद' होने पर वह संचारी भाव होगा, स्थायी नहीं।[४] 'भविसदत्त चरित' में नायक को जो निर्वेद उत्पन्न हुआ है, वह तत्वज्ञान की उत्पत्ति के कारण। अतः इसमें शान्तरस की पूर्ण स्थिति है। भविष्यदत्त की अनुभूति है:—

भवसमुद्र अतंहि नहि होय, ग्यान दृष्टि जो देखै जोय ॥
आवै जाय बहुत दुःख सहै, जनम मरण तनैं दुख लहै ॥
किनहि पुत्र किनहि घरवास, किसका स्वामी किसका दास ॥
दिवस चार का मेला होय, छोड़े जीव जाय पर लोय ॥

२१।१५३६–१५३८

---

४. निर्वेदस्थायिभावोऽस्तिशान्तोऽपि नवमो रसः ॥४।३५।

ग्रन्थ है। महेश्वरसूरि चरित "णाण पंचमी कहा"[२] में भी भविष्यदत्त की कथा प्राकृत भाषा में पद्यबद्ध आयी है। संस्कृत में मल्लिषेणसूरि ने "नागकुमार पंचमी कथा" और अपभ्रंश में श्रीधर ने "भविसदत्त चरिय" के रूप में इस कथा का प्रणयन किया है। हिन्दी में ब्रह्मरायमल्ल ने "भविष्यदत्त चरित्र' (सं० १६१६ वि०) का निर्माण कर इस परम्परा को आगे बढ़ाया है।

कवि बनवारीलाल की कृति पर सबसे अधिक प्रभाव धनपाल के महत्वपूर्ण अपभ्रंश ग्रन्थ "भविसयत्त कहा" का है। यद्यपि बनवारीलाल ने किसी ग्रन्थ के अनुकरण का संकेत नहीं दिया है फिर भी उसकी कथावस्तु धनपाल की कथा के समान ही है। धनपाल की कृति की प्रत्येक संधि में जितनी कथावस्तु अंकित है उतनी ही बनवारीलाल की रचना में वर्तमान है। अवश्य बनवारीलाल ने अपने चरित्रों को महाकाव्योचित बनाने की पूर्ण चेष्टा की है। इसमें भ्रमण-वृतान्तों को मौलिक रूप प्रदान करने का आद्यन्त प्रयास किया गया है।

ऐसा ज्ञात होता है कि कवि ने "पद्मावत" से भी बहुत कुछ ग्रहण किया है। जिस प्रकार का प्रेम-चित्रण 'पद्मावत' में हैं, ठीक उसी प्रकार का प्रेम-चित्रण 'भविसदत्त चरित' में भी है। रत्नसेन की रानी पद्मावती के अपहरण का प्रयास अलाउद्दीन द्वारा होता है, भविष्यदत्त की स्त्री का अपहरण उसके भाई बन्धुदत्त के द्वारा। एक में सिंहल द्वीप का उल्लेख आया है, दूसरे में तिलक-द्वीप का। अवश्य, जायसी में अलौकिक संकेत हैं किन्तु उनका लक्ष्य भी धार्मिक है। 'भविसदत्त चरित्र' को भी एक धर्म कथा का रूप दिया गया है। युद्ध का वर्णन दोनों में है। 'भविसदत्त चरित' की तरह 'पद्मावत' का अन्त भी शान्तरस पर हुआ है।

कहां सो रतनसेन अस राजा।
कहां सुवा असि बुधि उपराजा॥
कहां सुरूप पद्मावती रानी।
कोई न रहा जग रही कहानी॥[३]

वस्तुतः, भविष्यदत्त की कथा लोक कथा है। सौतेली माता एवं भाइयों द्वारा किया गया षड्यंत्र, समुद्र यात्रा, नौका-भंग, सूनसान नगरी से प्रवेश, दैत्य से मुकाबला, उसकी कन्या से परिणय आदि घटनाएं लोक कथानक-रूढ़ियां हैं जिन्हें इन कवियों ने स्वीकार कर धर्मकथा का रूप दे दिया है।

'भविसदत्त चरित्र' की कथावस्तु का गठन लक्षण-ग्रन्थों में वर्णित महाकाव्य के लक्षणों के आधार पर हुआ है। कथा का आदि, मध्य और अन्त भाग महाकाव्य के वातावरण में घटित हुआ है। कवि की दृष्टि मात्र कथा के विकास पर ही नहीं है अपितु उसका लक्ष्य वर्णन-संदर्भों द्वारा कथानक एवं घटनाओं में काव्यत्व का नियोजन करना भी है।

वस्तु-वर्णन—

महाकाव्य वस्तुनिष्ठ होता है। इसमें कवि की दृष्टि वस्तुओं के भव्य चित्रण के द्वारा कथा को पाठक के हृदय में बिठा देने की ओर अधिक

---

२. महेश्वर सूरि रचित "णाण पंचमी कहा" सिंघी जैन ग्रंथमाला द्वारा प्रकाशित है।
३. जायसी : पद्मावत—व्याख्याकार श्री वासुदेवशरण अग्रवाल, प्रका० साहित्य सदन चिरगांव, झांसी, प्रथमावृत्ति, पृ० ७१३

रहती है। यही कारण है कि प्रायः सभी आचार्यों ने महाकाव्य में वस्तु वर्णन के महत्व का निर्घोष किया है। 'भविसदत्त चरित' एक महाकाव्य का परिवेश धारण किए हुए हैं। अतः यह स्वाभाविक है कि इसमें नगर, वन, पर्वत, सरिता तथा प्रकृति के अन्य दृश्यों का समावेश हो। ग्रन्थ के प्रारम्भ में ही कवि ने भगवान महावीर के समवशरण क्षेत्र का भव्य चित्रण किया है। समुद्र-संतरण के प्रसंग में समुद्र का जो स्वभावोक्ति पूर्ण चित्रण है उसमें समुद्र की विस्तीर्णता, लहरों की उच्छृंखलता तथा समुद्र में निवास करने वाले प्राणियों की भयावहता मूर्त्तिमान हो उठी है। इसी प्रकार तिलक द्वीप के भयावह वन-प्रदेश में एकाकी घूमते हुए भविष्यदत्त की मानसिक विक्षिप्तावस्था का बड़ा कारुणिक वर्णन कवि ने किया है। इसी प्रसंग में उसने वन की भयंकरता का भी बड़ा रोमांचकारी रूप उपस्थित किया है—

देखा वन अति गहर गम्भीर।
तिसका कोई न पावै तीर॥
भरमैं चित्त भयावण होय।
तहं मानुस दीसैं नहि कोय॥
गज-हस्ती के जूह फिरंत।
माते मद जु कपोल वहंत॥
संध्या सूर्य जब रजनी भई।
दृष्टि न पसरै चिंता थई॥
अंजनगिरि अन्धियार।
ऐसा देखा वनहिं मझार॥
हाथों हाथ न दीसै कोय।
वन में कुमर भयाणक होय॥
तितवै कुमर डरै मन माहीं।
मरणा आया इस वन माहीं॥
चतुर्थ संधि, छन्द संख्या २३४—२३५

तिलक द्वीप के जनशून्य नगर का वर्णन पढ़ने पर ऐसा लगता है मानो पाठक लोक-कथाओं की उस नगरी में पहुंच गया हो जहां दानव के भय से कोई नहीं रहता—

सुपना रयण जो देखे कोय।
ऐसा परगट देखा सोय॥
ठौर ठौर सो भरे भण्डार।
कहाँ गये सो विलसणहार॥४।२६१

रस-भाव-चित्रण –

महाकाव्य मात्र काव्य रूप नहीं है अपितु वह जीवन का प्रतिविम्ब है। जीवन जितने ही महत्तम एवं विस्तृत रूप में महाकाव्य का आधार बनता है उसका प्रासाद उतना ही भव्य और दृढ़ होता है। रस-भाव योजना महाकवि की चेतना के इसी फलक का मूर्त्त रूप है।

शृंगार रस—

कवि बनवारीलाल ने प्रेम के विस्तृत पट पर संवेग एवं वियोग के मार्मिक चित्रों का अंकन किया है। कमलश्री और धनपाल के शारीरिक मिलन का मूर्त्तरूप उपस्थित करते हुए कवि कहता है—

सुन्दरि उठाय उछंगतु लई।
कस्तूरि परिमल अंग सु दई॥
मधुर वचन कर सींचीवाल।
सेज आरूढ़ा कुवर विसाल॥
भोगै भोग रहै जु आवास।
रति मन्दिर सो करै विलास॥
बहुतै दिन की बीछुरी, सुन्दरि लही कुमार।
अति हर्षित मन ऊपजा, बाढी रति जु अपार॥
१।२।८७३-७५

इस प्रकार कविवर वनवारीलाल का 'भविष दत्त चरित' रस की दृष्टि से बड़ा उत्तम काव्य है।

अलंकार-छंद-योजना

प्रत्येक कवि उक्ति की वक्रता,, वाणी की भंगिमा, लालित्य आदि अलंकार–नियोजन से ही सम्भव करता है। कवि वनवारीलाल ने अपनी इस कृत्ति में स्वाभाविक रूप से अलंकारों की योजना की है। उसका प्रवान कारण परम्परित कथा को वर्णनों के माध्यम से प्रस्तुत करना है। अत: उसने यथासम्भव स्वाभाविक रूप से आने वाले अलंकारों को ही स्वीकार किया है और गुण, क्रिया तथा वस्तु के आधार पर अलकारों का नियोजन किया है। इसके लिए उसने अनुप्रास, यमक, उपमा, प्रतीक, उत्प्रेक्षा, अर्थान्तिरन्यास. अतिशयोक्ति, रूपक, परिसंख्या, उदाहरण आदि अलंकारों की योजना द्वारा अपनी कृत्ति को चमत्कार पूर्ण वनाने का प्रयास किया है। यमक के इस प्रयोग द्वारा कवि ने अपने भावों को विम्वित करने का प्रयत्न किया है:—

जग जीवन काँसी सवद, काँसी माँहि समाय। यहां प्रथम 'काँसी' का अर्थ काँसा धातु विशेष है और दूसरे 'काँसी का अर्थ आकाश है।

इसी प्रकार अंधकार की उपमा काले पर्वत से देकर कवि ने वस्तु के रूप को उत्तेजना प्रदान की है :—

अंजनगिरि जैसा अंधियार, ऐसा देखा वर्नाहि मंझार ।।छंद २३७।। समग्रग्रन्थ को कवि ने 'दोहा–चौपाई-वन्ध में लिखा है। पन्द्रह मात्रा की चौपाई का ही सर्वत्र प्रयोग है। सन्धि की समाप्ति में प्राय: दोहा छंद प्रयुक्त हुआ है। वीच-वीच में तेईस और इकतीसा सवैया का प्रयोग है। यत्र-तत्र संस्कृत के श्लोक तथा प्राकृत की गाथाएं भी निवद्ध हैं। सोरठा प्राय: कथा की गति को वढ़ाने के लिए प्रयुक्त हुआ है। दो-तीन स्थानों पर गद्य का प्रयोग है जिनकी भापा प्रौढ़ है। इस कृत्ति में भावों के के अनुरूप छंद-विशेप का प्रयोग किया गया है। जैसे वस्तुछंद (२४९-५०) का प्रयोग किसी तथ्य अथवा किसी सिद्धान्त पर जोर देने के लिए और रोडक (छंद संख्या १०३८) का प्रयोग कठोर भावों की अभिव्यज्जना के लिए किया गया है। इनके अतिरिक्त १० मात्रिक तुकछंद (छंद १७४) और शंकरा छंद (१८७) का भी प्रयोग है जिनका लक्ष्य नाद-सौन्दर्य उत्पन्न करना है। इस प्रकार छंदों के विविध प्रयोग का इसमें अभाव है किन्तु भावों के अनुकूल छंद-योजना कर कवि ने अपनी गहरी काव्य दृष्टि का परिचय दिया है।

भाषा—इस काव्य की भापा ब्रजभापा और राजस्थानी का मिश्रित रूप है। अपभ्रंश की शव्दावली का भी यथेष्ट प्रयोग किया गया। भाषा वैज्ञानिक दृष्टि से इसमें स्वरभक्ति के उदाहरण सर्वाधिक उपलव्ध होते हैं। संयक्ताक्षरों को तोड़कर सारल्य के लिए कवि किसी स्वर विशेष का आगम कर लेता है जिससे सरलता और सहजता के अतिरिक्त अनुप्रास-योजना भी सहज में हो जाती है। जैसे—

हिरदय = हृदय (पद्य २), परसाद = प्रसाद (६), परमाण = प्रमाण(४८);परगट = प्रकट(५६); पंकति = पक्ति (२९१); परतीहार = प्रतिहार।

रेफ का लोप और अपभ्रंश की प्रवृत्ति के समान उकार वहुलत्व के उदाहरण निम्नलिखित हैं:—

मुनीन्दु = मुनीन्द्र (४६), इन्दु = इन्द्र (२४), नरिन्दु = नरेन्द्र (२४)

अपभ्ंश की घ, थ, घ, फ और भ के स्थान पर "ह" आदेश होने की प्रवृत्ति भी उपलब्ध है:—
सारण—सावन (६३), गहीर—गम्भीर (६८), विषहर-विषधर (१८८)

'ण' कार की प्रवृत्ति का बाहुल्य इसमें है जो अपभ्ंश के अस्तित्व का सूचक है:—

सुण्या, भण्या (२०), जणाई (२४,२७), जम्फाण (३०), सुणहु (४६), विणा (६६) परणाई (६६), पठण (८१), पढण (१२३), होणा(३४५), आपणि (५६)

मध्य और अन्त्य क,त,च,द का लोप उनके स्थान पर स्वर शेष तथा य श्रुति प्राप्त होने के निम्नलिखित उदाहरण उपलब्ध होते है:—

रयण—रत्न (३४); सुरयण—सुरल (५१). आयसु—आदेश (१३०), परियण—परिजन (३२०), गयंदु—गजेन्द्र (११२४)

कुछ शब्द अपभ्रंश के ज्यों के त्यों पाये जाते है लेकिन इनमें 'उकार' प्रवृत्ति का प्रयोग नहीं है:—

पुव्व—पूर्व (२८८), समप्पर—समर्पय (५४६), सुक्क—सुख (७०), वसन्दर—वैश्वानर (८८) छमच्छर—संवत्सर (१२२)

व्रजभाषा के ठेठ शब्द भी इसमें उपलब्ध होते है, यद्यपि इन पर राजस्थानी का भी प्रभाव है। जैसे;—

विगसन्त (२६), फुनि (८४), सगले (२०८),वाखरू (१६०), फिराई (२२६), वेढो (४६) तद्भव शब्दों का बाहुल्य भी इसमें हैं:—

थणहर (७८), लच्छी (१३२), समुद्र (१६६), गांठ (१६१), अच्छै—आसीत (१५७), जोबन (२३०) आदि।

संस्कृत के तत्सम शब्दों का प्रयोग भी इसमें यथेष्ट हुआ है:—

कंचन (१६६६), ज्ञान (१६६७), इन्द्र (१६१२), कुण्डल (१६०२), सम्पत्ति(१४६१), तिर्यंच(१४५३)

इस प्रकार भाषा विज्ञान का दृष्टि से इस चरित ग्रन्थ का विशेष महत्व है।

२८

हिन्दी के मध्ययुगीन निर्गुण मार्गी ज्ञानाश्रयी कवियों में जैनत्व की झलक

☐ डा० राजमल सराफ

उच्चतम भूमिका पर काव्य रसात्मक वस्तु है और इसके भीतर रचयिता के भावोन्मेष और आनन्द के तत्त्व अनिवार्य रूप से सन्निहित रहते हैं। इस भूमिका पर काव्य व्यक्तिगत अनुभूति और अभिव्यक्ति का विषय है। उसमें कवि लोकोत्तर आनन्द के सृष्टा के रूप में सामने आता है। भारतीय काव्य परम्परा के अनुसार आनन्द से ही काव्य की सृष्टि होती है और कवि की समर्थ अभिव्यंजना उसके आनन्द को पाठक अथवा श्रोता तक पहुंचाने में पूर्णतः समर्थ होती है। यहां पर सामाजिक और सांस्कृतिक प्रयोजनों का प्रश्न ही नहीं उठता परन्तु यह काव्य की सर्वोच्च भूमिका है। उससे नीचे उतरकर हम सामाजिक और सांस्कृतिक प्रयोजनों के काव्य की ओर आते हैं। यहां कवि सामाजिक और सांस्कृतिक प्राणी के रूप में अपने काव्य कौशल के द्वारा समाज और संस्कृति से अपना सम्बन्ध स्थापित करता है और युग चेतना को वाणी-प्रदान करता है। अन्य मनुष्यों की तरह कवि भी सामजिक प्राणी है। यह दूसरी बात है कि वह सामान्य मनुष्यों से कहीं अधिक संवेदनशील है। वह समाज में ही जन्म लेता है और उसी के आदर्शों में उसका पालन-पोषण होता है। इसके साथ ही वह परम्पराबद्ध प्राणी भी है क्योंकि वह अपनी विशिष्ट राष्ट्रीय संस्कृति में भी जीता है। कोई भी समाज अपने अतीत से मुक्त नहीं हो सकता। वह आचार-विचार, रीति-रिवाज, और 'क्लासिक्स, रचनाओं के अध्ययन से अनिवार्यतः अपने सांस्कृतिक विकास को साथ लेकर चलता है। ये तत्व जातीय अवचेतन के रूप में उसकी कल्पना को अनुशासित करते हैं। उनमें शाश्वत् जीवनादर्शों की सिद्धि भले ही न हो, राष्ट्र जाति समाज के विकास के अनेक आयाम सुन्दरता से स्वीकृत हो जाते हैं। निर्गुणमार्गी संतों के काव्य में हमें काव्य का यह दूसरा स्वरूप ही मिलता है। उन्होंने अपने व्यक्तिगत जीवन के हर्ष-विषाद, सुख-दुख और आमोद प्रमोद को वाणी नहीं दी। लौकिक जीवन की ओर से स्पृहावान् नहीं रहे हैं, वे मूलतः आध्यात्मिक युग पुरुष हैं और उनका काव्य उनकी अध्यात्म साधना से ही अनुप्राणित है। उन्होंने केवल आध्यात्मिक और धार्मिक प्रयोजनों को ही महत्ता दी है। उन्होंने मानवमात्र की समानता और बन्धुत्व का सन्देश अवश्य प्रस्तुत किया है, परन्तु उसके मूल में आध्यात्मिक जीवन दृष्टि है। उन्होंने निर्गुण ब्रह्म की उपासना अवश्य की है, पर उसके माध्यम से उन्होंने दया, करुणा, क्षमा, सत्य, अहिंसा प्रेम, न्याय आदि गुणों को प्रधानता दी है।

निर्गुण ज्ञानाश्रयी कवियों से हमारा तात्पर्य उन कवियों से है जो मध्ययुगीन काव्य की सन्त

परम्परा का निर्माण करते हैं। ये कवि मूलरूप से भक्त कवि हैं और भारतीय चेतना में वैष्णवभक्ति आन्दोलन के साथ उनका सम्पर्क बना हुआ है परन्तु ऐतिहासिक भूमिका पर उनकी एक स्वतन्त्र सामाजिक और सांस्कृतिक स्थिति है। रामानन्द के बाद कबीर, दादू, नानक, सुन्दरदास, रैदास, धर्मदास, चरणदास, मलूकदास, सहजोबाई, दयाबाई आदि निर्गुणमार्गी सन्तों की एक शृंखलाबद्ध परम्परा पाते हैं।

भारतीय संस्कृति की परम्परा की अति प्राचीनता का बड़ा भारी प्रमाण इसी बात में है कि उसमें दार्शनिक दृष्टि की परम्परा अति प्राचीन काल से ही दिखलाई पड़ती है। वास्तव में उसका प्रारम्भ कब हुआ इसका काल निर्धारण करना अत्यन्त कठिन है। स्व. पं. महेन्द्रकुमार न्यायाचार्य द्वारा रचित जैन दर्शन नामक ग्रन्थ की भूमिका में डा. मंगलदेव शास्त्री ने अपना मत व्यक्त किया है कि जैन दर्शन की सारी दार्शनिक दृष्टि, वैदिक दार्शनिक दृष्टि से स्वतन्त्र ही नहीं भिन्न भी है, इसमें किसी को संदेह नहीं हो सकता। उसका विकास प्राग्वैदिक परम्परा से स्वतन्त्र रूप से हुआ है। उसकी सादी दृष्टि से तथा उसके कुछ पुद्गल जैसे विशिष्ट पारिभाषिक शब्दों से इस बात की पुष्टि होती है। इसी प्रकार सुप्रसिद्ध दार्शनिक डा. राधाकृष्णन ने भी जैन धर्म की प्राचीनता स्वीकार की है। निर्गुण मार्गी-ज्ञानाश्रयी कवियों की दार्शनिक और धार्मिक मान्यताओं के ऊपर भारतीय परम्परा का प्रभाव स्पष्ट रूप से परिलक्षित होता है। जहां एक ओर निर्गुण मार्ग की मान्यता में उपनिषदों की निर्गुण ब्रह्म सम्बन्धी मान्यता का स्पष्ट निर्देश है तो दूसरी ओर सन्तों की साखियों के अंगों के वर्णन में कई जगह जैनधर्म की झलक भी बोधगम्य है। सन्त सत्संगी थे तथा उनकी दृष्टि अहिंसा मूलक थी। हो सकता है कि इस कारण से कि उन्होंने जैन साधु-सन्तों की सत्संगति का लाभ लिया हो। सन्त सत्यान्वेषी थे, इसलिए वे जीवन भर सत्य की खोज तथा असत्य के खंडन में लगे रहे। सन्तों का ब्राह्मरूप सामाजिक मिथ्याडम्बरों के प्रति जितना कठोर था, अन्दर से उनका भक्त हृदय उतना ही कोमल तथा प्राणिमात्र के प्रति दयावान था। उनमें सारग्राही प्रवृत्ति थी, इसलिए उन्होंने सभी मतों के सार को ग्रहण किया उन्होंने अपने व्यक्तिगतजीवन में धर्म को जीवन से पृथक् नहीं माना। अत्र हम सन्तों की वाणियों की कुछ उन प्रमुख बातों को लेकर चलेंगे जिन पर कि जैनत्व का प्रभाव पड़ा है।

चितावणी—

चितावणी शब्द में पर कल्याण का भाव निहित है इसलिए प्रत्येक सन्त ने कुछ न कुछ चेतावनी अवगय दी है। उन्होंने सांसारिक आकर्षण तथा क्षण भंगुरता से सतर्क रहने का उपदेश दिया है। कबीर कहते हैं कि थोड़े से जीवन के लिए बड़े साज-बाज जुटाये जाते हैं किन्तु कठोर काल के द्वारा क्षण भर में नष्ट कर दिये जाते हैं। काल, राजा-रंक का भेद नहीं करता। सौन्दर्य का गर्व करना भी व्यर्थ है—

कबीर थोड़ा जीवणा,
माड़े बहुत मण्डाण।
सबही ऊभामेल्हि गया,
राव-रंक सुल्तान॥
कबीर कहा गरवियो,
देहा देखि सुरंग।
बीछड़ियां मिलिबो नहीं,
ज्यु कांचली भुवंग॥
(कबीर ग्रन्थावली, पृ० २१)

सुन्दर दास तो बिल्कुल ही स्पष्ट भाषा में चेतावनी देते हैं कि यह मनुष्य पन्चेन्द्रियों के वशीभूत होकर के विभिन्न प्रकार के प्रपंचात्मक कार्य किया करता है। पर दारा से नेह लगाकर के भी उसमें कोई बुराई नहीं मानता। परधन का हरण करता है और परजीवों की घात भी करता है। मद्य-मांस का भक्षण करता है तथा रंच मात्र भी भलाई के कार्य नहीं करता है—

करत प्रपन्च इन पंचनि के वस परयो,
परदार रत भय न मानता बुराई को।
परधन हरै पर जीव की करत घात,
मद्य-मांस खाय, लवलेस न भलाई को॥
(सुन्दर विलास, पृष्ठ २०)

दरिया साहब बिहार वाले कहते हैं कि यह मन बहुत लालची है जो कि अपने को कनक कामनि के फंदे में फंसा देता है और इस प्रकार अन्त समय बड़े ही कष्ट में प्राण निकलते हैं तथा यह मनुष्य-जन्म व्यर्थ चला जाता है—

कनककामिनी के फंदे में,
ललचो मन लपटाय।
कलपि कलपि जिव जाइ है,
विर्था जनम गंवाइ॥
(सन्तवाणी संग्रह १, पृष्ठ १२०)

बाबा मलूक दास ने देह और जीवन के गर्व करने वालों पर कितना तीखा प्रहार किया है—

इस जीने का गर्व क्या,
कहां देह की प्रीत।
बात कहत ढह जात है,
ज्यों बारू की भीत॥
(वही, पृष्ठ. १०१)

ज्ञान विरह—

अज्ञानी जीव दो प्रकार के कहे जा सकते हैं। प्रथम श्रेणी में उन्हें लिया जा सकता है जो कि ज्ञान से रहित होते हैं तथा द्वितीय श्रेणी में वे प्राणी लिए जा सकते हैं जिनमें ज्ञान तो रहता है पर वह मिथ्याज्ञान ही रहता है क्योंकि वे मोह, भ्रांति तथा वासना आदि के वशीभूत होकर शरीरादिक की सेवा करने में लिप्त रहते हैं। वे तो भौतिक पदार्थ के ज्ञान के आधार पर ही अपने को सर्वोपरि समझते हैं जो कि वास्तव में उनकी भ्रान्ति ही है क्योंकि दृश्य जगत के भौतिक पदार्थ तो नाशवान् हैं, उन्हें अपने आत्म तत्व की अनुभूति नहीं रहती। इसीलिए ही वे अपने चर्मचक्षु-ज्ञान पर आधारित ज्ञान को ही सब कुछ मानते हैं। आत्म ज्ञान का बोध होने पर जीवात्मा विरहाग्नि में जलता है तथा अपने सद्ज्ञान के द्वारा आत्मोन्नति में लग जाता है गुरु के द्वारा सद्ज्ञान की उपलब्धि होती है और भ्रम का नाश होता है। यथार्थ ज्ञान की प्राप्ति होने पर जीवात्मा की अन्तर्दृष्टि खुल जाती है तथा वह पर की तरफ से हटने लगता है और स्व में लीन होने का प्रयत्न करने लगता है। जीव की ज्ञान विरह अवस्था का सन्तों ने बड़ा ही सुन्दर विवेचन किया है।

कबीर कहते हैं कि जब आत्मारूपी दीपक में ज्ञान की ज्योति को परमात्म स्नेह से प्रज्जवलित किया गया तो उसमें विषय वासना रूपी पतंगे जलकर नष्ट होने लगे। हृदय के भीतर ज्ञानाग्नि जल रही है जिसका कि धुआं तक भी दिखलाई नहीं पड़ता इसका अनुभव तो दो ही कर सकते हैं एक तो वह जो ज्ञानरूपी अग्नि को स्वयं अपनी अन्तरात्मा में प्रज्जवलित करता है तथा दूसरा वह जो इस अग्नि को जलाने वाला होता है। अन्य व्यक्ति इसको अनुभव नहीं कर पाते। सद् गुरु ही ज्ञानाग्नि को जलाने वाला होता है। इसके लगते

ही सांसारिक कामनाओं का संसार जल कर भस्म हो गया तथा ज्ञान से सम्बन्धित विभिन्न गुण रूपी पक्षी प्रगट हो गए हैं—

दीपक पावक आंरिगया,
तेल भी आंण्या संग ।
तीन्यूं मिलिकर जोड़्या (तब)
उडि उडि पडै पतंग ॥

हिरदा भीतरि दौ जलै,
धुआं न प्रगट होई ।
जाकै लागी सौ लखै,
कै जिय लाई सोई ॥

दौ लागी साहर जल्या,
पंषी बैठे आई ।
दाधी देह न पालवै,
सतगुरु गया लगाई ॥
(कबीर ग्रन्थावली, पृष्ठ ११)

निष्कपट व्यवहार

सत्कर्मों के अनुष्ठान के लिए निष्कपट व्यवहार की आवश्यकता है । यदि व्यक्ति का हृदय छल से परिपूर्ण है तो उसका मन उसी में उलझा रहता है और वह अपनी आत्मिक उन्नति नहीं कर सकता । सन्तों को अपने जीवन में भले बुरे सभी प्रकार के लोगों से वास्ता पड़ा है, इसलिए जीवन के साफ़ल्यार्थ कपट पूर्ण व्यवहार की निन्दा की है । कबीर कपटी पुरुषों से बचने के लिए चेतावनी देते है । दरिया साहब मारवाड़ वाले कपटी मनुष्य की तुलना बगुला से करते हैं परन्तु हंस और कौआ की प्रशंसा करते हैं जो कि भीतर बाहर एक से ही हैं ।

दरिया बगुला ऊजला, उज्जवल ही है हंस ।
ये सरवर मोती चुगै, वाके मुख में मंस ॥
बाहर से उज्जवल दसा, भीतर मैला अंग ।
ता से तो कौआ भलो, तन मन एकति रंग ॥
(संतबानी १., पृष्ठ १३२)

पलटूराम तो संसार की कपट पूर्ण नीति देखकर रोने लगते है—

पलटू मैं रोवन लगा, जरो जगत् की रीति ।
जह देखा तहं कपट है, का सो कीजे प्रीति ॥
(संतबानी)

अहिंसा

समाज में किसी न किसी रूप में संघर्ष होता रहता है अत: मानव के सामने यह प्रश्न अत्यंत महत्त्व पूर्ण है कि संघर्ष को दूर कैसे किया जाय ? जैसे पशु अपना संघर्ष का सामना पशु बल से करता है क्या उसी प्रकार मनुष्य भी संघर्ष का प्रतिकार करे ? यदि मनुष्य भी पशुबल का प्रयोग करने लगे तो उसकी मनुष्यता कहां रहे ? अत: मनुष्य को उचित है कि वह विवेक के साथ मानवोचित विधि का उपयोग करे यह है अहिंसा । इससे संसार का कल्याण हो सकता है, यही मानव का सच्चा धर्म है, कर्म है और यही है मानवता की सच्ची कसौटी । यह तो विकार जन्य प्रवृत्ति है कि वह झट हिंसा का उत्तर हिंसा से दे देता है जिससे कि संघर्ष बढ़ता है उसका निवारण नहीं होता ।

प्रत्येक प्राणी का यह जन्म सिद्ध अधिकार है कि वह शान्ति से अपना जीवन यापन करे यहाँ उसका यह कर्त्तव्य भी है कि वह किसी दूसरे प्राणी के जीवन यापन में किसी भी प्रकार की बाधा न डाले पर व्यक्ति स्वयं के सुख के लिए दूसरे प्राणियों के लिए भयंकर यातनाये देता है तथा उसे इस बात की तनिक भी चिंता नहीं रहती कि उसके

भोग विलास के निमित्त सैंकड़ों प्राणियों के प्राण जाते हैं। अपने इन्द्रिय जन्य सुख के लिए मानव मानव के प्रति भी उत्पीड़न का व्यवहार करता है। उस समय वह यह भूल जाता है कि सभी जीवों के प्राण एक समान हैं और हिंसा के किसी भी कार्य से कष्ट सभी को होता है। अहिंसा का समर्थन संसार के सभी धर्मों में किसी न किसी रूप में मिल जाता है पर इस सिद्धांत का सूक्ष्म तथा विषद् विवेचन हमें जैनधर्म में मिलता है। "आचारांग सूत्र" के अध्ययन में कहा गया है कि 'जैसे तुम अपने दुख का अनुभव करते हो वैसे पर दुख का अनुभव करो।' पर उत्पीड़न की भावना से निहित होना ही अहिंसा है। हिंसक प्रवृत्ति मनुष्य का स्वाभाव नहीं है।

निर्गुणमार्गी संतों ने उपर्युक्त सभी बातों का चिंतन किया और स्वयं प्रत्यक्ष अनुभव के द्वारा समाज में उस समय की प्रचलित हिंसक प्रवृत्ति का विरोध किया तथा अहिंसा का प्रबल समर्थन किया। यहाँ तक कि उस समय की चमार, कसाई आदि जातियों में भी संत हुए। जिनका कि व्यवसाय हिंसा पर आधारित था पर उन्होंने हिंसा को हेय और अहिंसा को उपादेय बतलाया। आचार्य रामचन्द्र शुक्ल इन संतों पर वैष्णवों की अहिंसा का प्रभाव मानते हैं पर मेरा विचार है कि कबीर तथा दूसरे संतों पर बहुत कुछ हद तक जैनधर्म की अहिंसा का भी प्रभाव पड़ा है। पत्ती तोड़ने पर भी कबीर को जीव हिंसा दीख पड़ती है—

जैन जीव की सुधि न जानै,
पाति तौड़ि देहुरि आनै।
ताकि हत्या होई अद्भुता,
षट् दर्शन में जैन विगूता॥

आगे कबीर पंडितों और श्रावकों को फटकार कर कहते हैं कि तुम्हारा पानी छानकर पीना व्यर्थ है जबकि तुम पड़ौसी से मिलकर नहीं रह सकते। उनके ही शब्दों में देखिए:—

पाड़ौसी सु रूसणाँ, तिल तिल सुख की हांणि।
पंडित भये सरावगी, पांणी पीवैं छांणि॥
(ग्रन्थ साहब, पृष्ठ १२)

आगे कबीर और भी कहते हैं कि जो व्यक्ति भांग, मछली तथा सुरा का पान करते हैं, उनका तीर्थ यात्रा करना, व्रत नियमों का पालना सब व्यर्थ है—

भांग माछुली सुरा पान जो जो प्राणी खांही।
तीरथ व्रत नेम किए, वे सबहीं रसातल जांही॥
(कबीर ग्रन्थावली, परिशिष्ट, पृ० २५६)

इसी प्रकार इस पद में कबीर मालिन से पत्ती तोड़ने के विषय में कहते हैं कि हे मालिन तू पत्ती तोड़कर अनर्थ कर रही है क्योंकि उस वृक्ष की पत्तीं में भी जीव है परन्तु तू जिस मूर्ति को चढ़ाने के लिए पत्ती तोड़ रही है वह तो निर्जीव ही है—

भूलि मालिन पाती तोड़े,
पाति पाति जीव।
जा मूरति को पाती तोडे,
सो मूरति निर्जीव॥
(कबीर ग्रन्थावली, पृष्ठ १६८)

आगे कबीर हिंसा के नाम पर धर्म बताने वाले पांडे को खरी-खरी सुना देते हैं—

पांडे कौन कुमति तोहि लागी,
जीव वधत अरु धरम कहत हो,
अधरम कहाँ है भाई।
आपन तो मुनिजन ह्वै बैठे,
कासन कहों कसाई॥

दादू का मत है कि जो नर पर प्राणी की घात करता है वह निश्चय ही नरक जाता है। मांस का आहार करने वाला, मद्य का पान करने वाला और इन्द्रियजन्य विषयों में लिप्त रहने वाला व्यक्ति निर्दयी होता है क्योंकि वह आत्म स्वाभाव के विपरीत कार्य करता है व्यक्ति स्व के अहंकार को मारता नहीं और दूसरे प्राणियों को मारता है पर इस प्रकार की विपरीत क्रिया से ईश्वर की प्राप्ति कैसे हो सकती है?—

दादू कोई काहु जीव की करैं आतमघात।
सांच कहूं संसा नहीं, सो प्राणी दो जगि जात ।।

मांस अहारी मदु पिवैं, विषय विकारी सोई।
दादू आत्मराम विन, दया कहाँ ते होई ।।

आपस को मारे नहीं, पर को मारन जाई।
दादू आपै मारे विना, कैसे मिले खुदाई ।।

बाबा मलूकदास कहते हैं कि किसी को पीड़ा देने में क्या लाभ है? यह मूर्ख प्राणी जानता नहीं है कि सभी जीवों को एक समान पीड़ा होती है। जरा सा कांटा चुभने में कितनी पीड़ा होती है फिर तो कई इतने दुष्ट होते हैं कि दूसरे प्राणियों का गला काटकर खा जाते हैं—

पीर सबन की एक सी,
मूरख जानत नाहीं।
कांटां चूभै पीर है,
गला काट कोई खाहीं ।।

आगे हरी डाली तोड़ने में भी मलूकदास ने हिंसा मानी है—

हरी डारि न तोड़िए, लागै छूरा बान।
दास मलूका यों कहै अपना सा जिव जान ।।
(संतवाणी १, पृष्ठ १०४)

संत धरनीदास कहते हैं कि मांसाहारी व्यक्ति को ज्ञान की बातें करना व्यर्थ है—

मांसाहारी जीयरा, सो पुनि कथै गियान।
नांगी ह्वै घूंघट करैं, धरनि देख लजान ।।
(धरनीदास, संतवानी संग्रह १, पृष्ठ ११६)

यहाँ पर धरनीदास का यही मत ज्ञात होता है साधु पुरुष मांसाहारी या हिंसक नहीं हो सकता क्योंकि पहले स्वयं का चरित्र निर्माण करके ही ज्ञान का उपदेश देना सार्थक है।

अहिंसा की भावना में समाज के सुख और शांति की भावना छिपी हुई हैं। परस्पर बीजारोपण के द्वारा अहिंसा की भावना सुलभ है, दूसरों को दुखी देखकर दुखी होना, सुखी देखकर सुखी होना, पारस्परिक प्रेम का एक मात्र साधन है। पारस्परिक अहिंसा व्यवहार ही शांति उत्पन्न कर सकता है। हमारे देश में धर्म के नाम पर देवी-देवताओं के सामने बलिदान के रूप में हिंसा होती है। अनेक मनगढ़ंत वाक्य रचकर उस हिंसा की पुष्टि की जाती है और उसे धर्म कहा जाता है। ऐसी हिंसा को ही विवेकी पुरुषों ने त्याज्य बताया है क्योंकि इस हिंसा के द्वारा केवल प्राणी का ही घात नहीं होता बल्कि धर्म के नाम पर समाज के व्यक्तियों को पथभ्रष्ट किया जाता है।

संत अधिकांश उन जातियों में जन्मे थे जिनमें हिंसा कार्य बुरा नहीं माना जाता था। मध्य युग में भी हिंसा बढ़ रही थी। इन सन्तों ने सभी दृष्टियों से विचार किया कि हिंसक भावनाओं के साथ प्रभु भक्ति और ज्ञान का ताल-मेल नहीं बैठ सकता इसीलिए ही उन्होंने बड़ी युक्ति संगत भाषा में हिंसा त्याग का उपदेश दिया और अहिंसक होकर अपनी भावनाओं को सात्विक बनाने का आग्रह किया। इससे यही निष्कर्ष

निकलता है कि प्राणी अहिंसा को ग्रहण करने से स्वमेव कलह, ईर्ष्या और दम्भ को अपने से दूर रखने में सफल हो सकता है और जीवन में शांति प्राप्त कर सकता है।

निर्गुण मार्गी कवियों का काव्य अध्यात्म से ओतप्रोत है। उसमें आध्यात्मिक चेतना विषद् रूप से भरी है और उसमें प्राणी मात्र के प्रति आत्मविकास करने की बलवती प्रेरणा है। यों तो भारतीय साहित्य और दर्शन मे आध्यात्मिकता के लिए प्रमुख स्थान रहा है तथा आदिकाल से लेकर आज के प्रगति के युग में भी साहित्य में आध्यात्मिक रस की धारा अबाध गति से बहती चली आ रही है। भारतीय संस्कृति में अध्यात्म शरीर में प्राण की तरह व्याप्त है। इसी आध्यात्मिकता के कारण ही भारतीय संस्कृति अविछिन्न है। आध्यात्मिक जीवन आंतरिक जीवन है। आत्मा में ही परमात्मा होने की शक्ति तथा गुण विद्यमान हैं यदि उनका विकास हो जावे। संत साहित्य में इस चरम सत्य पर भी प्रकाश डाला गया है। भगवान महावीर स्वामी का अमर संदेश "जियो और जीने दो" तो पग-पग पर मिलता है। कबीर की एक प्रति छत्तीसगढ़ में प्राप्त हुई है जिसमें अवधि ज्ञान, मनः पर्ययज्ञान आदि का वर्णन ज्यों का त्यों मिलता है। संतों के अङ्गों के वर्णन—सांच, दयानिर्वैरता, साध, असाध, मन, गुरु आदि में जैन धर्म के तत्वों की स्पष्ट छाप मिल जाती है। मध्य युग के इस्लामी शासन में अहिंसा का प्रचार करने का बहुत कुछ श्रेय ऐसे ही निस्पृही संतों को है।
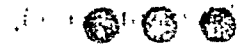
शील

शक्ति-गुण से यदि नहीं सम्पन्न है जन,
जन्म मानव-कोटि में है निष्प्रयोजन।

—अर्हत्

२६

राष्ट्रीय चरित्र-निर्माण में महावीर की प्रेरणाएँ

□डॉ० नरेन्द्र भानावत

राष्ट्रीय चरित्र की नींव व्यक्ति-चरित्र :

व्यक्ति राष्ट्र की मूल इकाई है। सुसंगठित शक्ति सम्पन्न व्यक्ति-समुदाय से ही राष्ट्र का निर्माण होता है। राष्ट्रीय चरित्र का स्वरूप इस व्यक्ति-समुदाय के आचार-विचार, कार्य-कलाप, रीती-रिवाज और सामूहिक आदर्शों तथा लोक सम्मत परंपराओं से निर्धारित होता है। इस दृष्टि से राष्ट्रीय चरित्र की नींव व्यक्ति चरित्र जितनी हैं। व्यक्ति-चरित्र जितना पवित्र, ईमानदार और कर्त्तव्यनिष्ठ होगा, राष्ट्रीय चरित्र उतना ही दृढ़ और प्रशस्त होगा।

आत्म निर्भरता की शिक्षा :

चरित्र निर्माण की, चाहे वह व्यक्ति-चरित्र हो चाहे राष्ट्रीय चरित्र, आवश्यक शर्त है-स्वतन्त्रचेता अस्तित्व की पहचान, अदम्य जीविषा और अपने पुरुषार्थ के बल पर निरन्तर आगे बढ़ते रहने की दृढ़-संकल्प शक्ति। आज से ढाई हजार वर्ष पूर्व भगवान महावीर ने व्यक्ति के इसी आत्म स्वतान्त्र्य भाव को जागृत किया। उन्होंने कहा है-आत्मन्! तू ही अपने भाग्य का निर्माता और सुख-दुख का कर्त्ता है। सत्प्रवृत आत्मा ही तेरा मित्र है और दुष्प्रवृत्त आत्मा ही तेरा शत्रु है। तू अपने विकारों को जीत कर स्वयं परमात्मा बन सकता है। इस प्रकार महावीर ने आत्म-निर्भरता की शिक्षा देकर यह बताया कि ईश्वरत्व की स्थिति प्राप्त करने के साधनों पर किसी वर्ग-विशेष या व्यक्ति विशेष का अधिकार नही है। उस अवस्था को हर व्यक्ति, चाहे वह किसी वर्ग, धर्म या मत का हो, मन की शुद्धता और आचरण की पवित्रता के बल पर प्राप्त कर सकता है।

आत्मवाद मूलक कर्म सिद्धांत :

भगवान महावीर द्वारा आत्म-निर्भरता की दी गई यह शिक्षा चरित्र की मजबूती का केन्द्र-बिन्दु है। आज वह केन्द्र-बिन्दु कमजोर पड़ता जा रहा है। फलस्वरूप व्यक्ति अनास्था, निराशा, विश्वास और हीन भावना से ग्रस्त हैं। इसमे अपनी जिम्मेदारी को इमानदारी के साथ महसूस करने की भावना का लोप होता जा रहा है। जब व्यक्ति की यह स्थिति हो तब राष्ट्र कैसे आगे बढ़ सकता है? ऐसी स्थिति में भगवान महावीर का आत्मवादमूलक कर्म सिद्धांत अपने को असहाय, निराश और पराधीन समझने वाले व्यक्ति में आस्था, आत्मविश्वास, पुरुषार्थ और स्वावलम्बन की भावना जागृत कर, उसे अपनी पूरी शक्ति और सामर्थ्य के अनुसार कर्त्तव्यपालन की प्रेरणा देता है।

अस्तित्व के प्रति जागरूकता :

अपने अस्तित्व के प्रति जागरूकता का बोध व्यक्ति को उदार और संवेदनशील बनाता है और वह दूसरे के अस्तित्व को महत्व देने लगता है। इसी बिन्दु से अहिंसा की सामाजिकता का भाव प्रकट होता है। भगवान महावीर अहिंसा के सबसे बड़े गूढ़ व्याख्याता थे। उन्होंने कहा–ज्ञानी होने का सार यह है कि किसी जीव की हिंसा न करें। तू जिसे मारना चाहता है, जिसको कष्ट व पीड़ा पहुंचाना चाहता है, यह अन्य कोई नहीं, तेरे समान ही चेतना-सम्पन्न प्राणी है। अतः ऐसा समझ कि वास्तव में तू ही है। महावीर की अहिंसा सूक्ष्म और गहन है। उनके अनुसार किसी प्राणी का वध करना मात्र हिंसा नही है बल्कि किसी प्राणी के मन, वाणी, शरीर, श्वास आदि में से किसी को क्षति पहुंचाना या उस पर प्रतिबन्ध लगाना भी हिंसा है।

अहिंसामूलक समता सिद्धांत :

महावीर की इस सूक्षम अहिंसक दृष्टि ने समाज में प्रचलित ऊंच-नीच के भेद-भाव को दूर किया। उन्होंने जातिवाद, वर्णवाद तथा रंगभेद का खण्डन किया और बताया कि व्यक्ति जन्म या जाति से बडा नहीं है। वह बड़ा बनता है–अपने गुण और कर्म से। महावीर ने सामाजिक भेद-भाव के विरुद्ध क्रांति की। हरिकेशी जैसे शुद्ध, कुलोत्पन्न उनके साधु संघ में थे। उन्हीने नारी की स्वतन्त्रता के लिए पहल की। चन्दनबाला जैसी नारी को न केवल दीक्षित ही किया वरन् साध्वी संघ का सम्पूर्ण नेतृत्व भी उसे सौंपा।

राष्ट्र की सच्ची प्रगति तभी सम्भव जब बनती है उसके देह के सभी अंगों को समान महत्व और आदर मिले। महावीर ने मानव ही नहीं, प्राणिमात्र के प्रति समभाव दर्शाया। आज विश्व में धर्म, सम्प्रदाय और जाति के नाम पर तनाव है। काले-गोरे में भेद किया जाता है। महावीर का अहिंसामूलक समता सिद्धांत हमें मनुष्य को मनुष्य समझकर प्राणिमात्र के प्रति मैत्री भाव रखने की प्रेरणा देता है–मित्ती में सव्वभूएसु वेरंमज्झ न केणइ।

आवश्यकता से अधिक संग्रह करना सामाजिक अपराध :

राष्ट्रीय स्तर पर समता भाव तभी प्रतिष्ठित हो पाता है जब राष्ट्र में आर्थिक विषमता न हो। जहां आर्थिक विषमता होती है वहां दो वर्ग बन जाते हैं–एक सम्पन्न, जिसके पास आवश्यकता से अधिक संग्रह होता है तथा दूसरा विपन्न, जो अपनी मूल आवश्यकताओं से भी वंचित कर दिया जाता है। दोनों वर्गों में यह संघर्ष शोषण, युद्ध और हिंसा को जन्म देता है। आज यद्यपि वैज्ञानिक प्रगति ने उत्पादन के साधन बढ़ाकर उत्पादन की गति तेज कर दी है पर लोभ और संचय की वृत्ति ने कृत्रिम अभाव पैदा कर दिया है जिससे दुनिया में अशांति भुखमरी और हाहाकार है। आज व्यक्ति भौतिक समृद्धि के पीछे पागल है। वह कुछ न करके बिना परिश्रम के समृद्ध होना चाहता है। दूसरे के प्राप्य को अपना बना लेने की यह प्रवृत्ति उसे भ्रष्टाचार की ओर ले जाती है। देश में बढ़ती हुई तस्कर–वृत्ति,चोर–बाजारी, घूसखोरी, वस्तुओं में मिलावट, जमाखोरी और करों की चोरी इसी का परिणाम है।

भगवान महावीर ने इस अर्थजन्य विषमता और चौर्यवृत्ति को रोकने के लिए अपरिग्रह और अचौर्यव्रत की विचारधारा दी। उन्होंने कहा-परिग्रह के समान जगत् में कोई दूसरा बन्धन नहीं है। आवश्यकता से अधिक संग्रह करना पाप है, सामाजिक अपराध है। आनन्द और शान्ति का रास्ताहै–अपकी इच्छाओं को मर्यादित करना,

आवश्यकता से अधिक संग्रह न करना। क्योंकि हमारे पास जो अनावश्यक संग्रह हैं उसकी उपयोगिता कहीं और है। कहीं ऐसा समुदाय है जिसे इस सामग्री की ज़रूरत है, और जो उसके अभाव में संतप्त है, दुखी है।

अचौर्यव्रत का विधान :

लोभ की प्रवृति व्यक्ति को कृपण और कठोर बना देती है और उसे हिताहिक का ज्ञान नहीं रहता। वह येन-केन प्रकारेण धन बटोरने में ही लगा रहता है। जीवनपोषक तत्वों में, जीवन घातक पदार्थों की मिलावट करने की आज जो प्रवृत्ति बढ़ी है, वह इसी कारण है। भगवान महावीर ने लोभ प्रवृत्ति को रोकने के लिए अचौर्यव्रत का विधान करते हुए बताया कि सद्गृहस्थ चोरी का माल न खरीदे, न चोर को किसी प्रकार की सहायता दे, राज्य के नियम के विरुद्ध व्यवसाय न करें, तोलने और नापने में गड़बड़ीं न करें, असली में नकली तथा बहुमूल्य वाली वस्तु में कम मूल्य की वस्तु मिलाकर न बेचें।

असंविभागशील की मुक्ति नहीं

अपरिग्रह की भावना को बल देने के लिए ही त्याग भावना का विधान किया गया है। सद्गृहस्थ का कर्त्तव्य है कि वह मर्यादा से अधिक द्रव्य का दूसरों के लिए विसर्जन करे, उसे जन कल्याणकारी प्रवृतियों में लगाये। भगवान महावीर ने स्पष्ट कहा-असंविभाग न हु तरस मोक्खो अर्थात् जो असंविभागशील है, अपनी प्राप्त सामग्री दूसरों में बांटता नहीं, उसकी मुक्ति नहीं होती।

भगवान महावीर ने परिग्रह को मर्यादित करने और अनावश्यक संग्रह न करने की जो बात व्यक्ति के लिए कही, वह आज राष्ट्रों पर भी 'लागू होती है। विश्व के विकसित और विकासशील राष्ट्र जब परस्पर आयात–निर्यात के क्षेत्रों में इस प्रकार की मर्यादायें निश्चत करेंगे तभी विश्व शांति सुरक्षित रह सकेगी और भगवान महावीर का यह कथन चरितार्थ हो सकेगा कि परस्पर उपकार करते हुए जीना ही वास्तविक जीवन है-परोस्परोपग्रहों जीवानाम्।

सापेक्ष चिन्तन और विश्व मैत्री :

राष्ट्रीय चरित्र का सुदृढ़ विकास राष्ट्रीय एकता पर ही अवलम्बित है। भारत जैसे राष्ट्र में सभी धर्मों, रीति-रिवाजों, भाषाओं और उपासना प्रकारों को समान आदर देने से ही राष्ट्रीय एकता सुरक्षित है। संघर्ष और अशांति का मूल कारण हटवादिता, दुराग्रह और एकान्तिकता है। जब व्यक्ति दूसरों के दृष्टिकोण को समझने का प्रयत्न करता है तो वह सहृदय और उदार बनता है। भगवान् महावीर ने परस्पर स्नेह और सौहार्द का वातावरण बनाये रखने के लिए कहा कि प्रत्येक वस्तु के अनन्त पक्ष हैं, ऐसा समझ कर यह वस्तु एकान्ततः ऐसी ही है, ऐसा मत कहो। यदि वस्तु के सभी पहलुओं का अच्छी तरह से देख लिया जाय तो कहीं न कहीं सत्यांश निकल ही आयेगा। भगवान् महावीर का यह सापेक्ष चिन्तन हमें दिशा संकेत करता है कि कोई भी मत या सिद्धांत पूर्णतः सत्य या असत्य नहीं है, अर्थात् सिद्धान्तों के प्रति दुराग्रह नहीं होना चाहिए। विरोधियों द्वारा गृहीत और मान्य सत्य भी सत्य है, इसलिये उस सत्य का अपने जीवन में उपयोग न करते हुए भी उसके प्रति सम्मान का भाव रखो। मनुष्य का ज्ञान अपूर्ण है और ऐसा कोई एक मार्ग नहीं है जिस पर चलकर एक ही व्यक्ति सत्य के सभी पक्षों की जानकारी प्राप्त कर सके। अतः सत्य के लिए कथित अन्य मार्ग भी उतने

श्रेष्ठ हैं जितना हमारा अपना मार्ग हैं। कहना न होगा कि हमारी विदेश नीति के निर्धारक तत्वों में ये बातें किसी न किसी रूप में विद्यमान हैं। जिस प्रकार अनेकान्तवाद दूसरे के विचारों की सत्यता, प्रामाणिकता और स्वायत्तता को स्वीकार करता है, उसी प्रकार गुटनिरपेक्षता सिद्धान्त भी अन्य राष्ट्रों की नीतियों, उनकी सार्वभौमिकता और स्वतन्त्रता के प्रति सम्मान का भाव रखता है।

उठो ! प्रमाद मत करो :

चरित्र निमाण की प्रक्रिया व्यक्ति से शुरू होती है। अतः राष्ट्रीय चरित्र की सुदृढ़ता के लिए व्यक्ति की जागरुकता पहली शर्त है। यह जागरुकता आत्मिक और लौकिक दोनों स्तरों पर आवश्यक है। भगवान् महावीर का कथन है कि जीव में चैतन्य के साथ अचेतन अंश भी है। वही कर्मों को खींचता है। अतः पूर्ण जागरुकता के लिए अचेतनता को तोड़ना होगा। इसके लिये अप्रमत्तदशा प्राप्त करना आवश्यक है। इसकी प्राप्ति के लिए इन्द्रियों की विषयासक्ति, क्रोध, मान, माया, लोभादि मनोवेगों, आलस्य या असावधानी, व्यर्थ की बातों आदि से बचना होगा, क्योंकि ये प्रमाद हमारे हृदय को विकृत और संकुचित करते हैं। भगवान् महावीर ने इसीलिये कहा—उठो, प्रमाद मत करो—उठ्ठिए णो पमायए।

प्रमाद दशा के कारण ही आज चारों ओर उच्छृंखलता और अनुशासनहीनता का वातावरण है। जब मन, वाणी और कर्म पर संयम नहीं रहता तब विध्वंसक प्रवृत्तियां हावी हो जाती हैं। इन पर काबू पाने के लिए आत्मानुशासन आवश्यक है। भगवान् महावीर ने इसके लिए सम्यक् चरित्र पर विशेष बल दिया। चारित्र की परिभाषा करते हुए उन्होंने कहा—अशुभ कर्मों से निवृत्त होना और शुभ कर्मों में प्रवृत होना ही चारित्र है।

जीवन के लिए व्रत-साधना :

यह चारित्र सम्यक् विवेक दृष्टि और सम्यक् आस्था-श्रद्धा के योग से ही प्राप्त किया जा सकता है। इसके लिए भगवान् महावीर ने बारह व्रतों की भूमिका प्रस्तुत की। जो पूर्णतया ज्ञान व्रतों की साधना करता है वह श्रमण है, मुनि है और जो अंशतः इन व्रतों को अपनाता है वह श्रावक है, गृहस्थ है। इन बारह व्रतों की तीन श्रेणियां हैं—पांच अणुव्रत, तीन गुणव्रत और चार शिक्षाव्रत। अणुव्रतों में श्रावक अहिंसा के पालन द्वारा वात्सल्य एवं मैत्री भाव का प्रसार करता है, सत्य द्वारा वह वाणी के प्रयोग में सावधानी बरतता है, अचौर्य द्वारा वह लोभ-सवरण करता है, ब्रह्मचर्य द्वारा वह काम भावना और अपरिग्रह द्वारा संग्रह-वृत्ति का नियमन करता है।

गुणव्रतों में प्रवृत्ति के क्षेत्र को सीमित करने पर बल दिया गया हैं। शोषण की हिंसात्मक प्रवृत्तियों के क्षेत्र को मर्यादित एवं उत्तरोत्तर संकुचित करते जाना ही इनका उद्देश्य है। शिक्षा व्रतों में आत्मा के परिष्कार के लिए अनुष्ठानों का विधान है। इनमें समभाव, संयम, तप और त्याग पर बल दिया गया है।

शील और शक्ति का समन्वय :

कुल मिलाकर कहा जा सकता है कि भगवान् महावीर ने जिस चारित्र धर्म की प्ररूपणा की, उसके अनुपालन से व्यक्ति एवं राष्ट्र का जीवन इतना संयमनिष्ठ एवं आचारसम्पन्न बन जाता है कि उसके द्वारा किसी का शोषण नहीं होता और उसमें इतनी शक्ति, पुरुषार्थ और क्षमता अर्जित हो जाती है कि कोई दूसरा उसका शोषण नहीं कर सकता, उसे दबा नहीं सकता।

महावीर की दृष्टि में वाणिज्य-व्यापार की आचारमूलक निष्ठाएं

☐ उदय नागोरी, वी० ए० जैन० सि० प्रभाकर

युगदृष्टा महावीर ने आज से ढ़ाई हजार वर्ष पूर्व वैचारिक क्रान्ति का जो शंखनाद किया था, भारतीय दर्शन में महत्वपूर्ण है। महावीर ने अहिंसा अपरिग्रह एवं अनेकान्त की जो त्रिवेणी प्रवाहित की थी.. जीवन के परिवर्तित मूल्यों के वावजूद हमारा पथ-प्रदर्शन कर रही है। उनकी क्रांति थोथी कल्पना पर आधारित न होकर जीवन की प्रयोगशाला में अनुभूत तथ्यों से पूर्ण थी। वे आचार में अहिंसा, व्यवहार में अपरिग्रह एवं विचार में अनेकान्त को प्रकट करना चाहते थे।

महावीर कालीन संस्कृति सरल, धर्ममय एवं समन्वय कारी थी। उन्होंने आदर्श एवं यथार्थ, प्रवृत्ति एवं निवृत्ति तथा भौतिक और आध्यात्मिक धाराओं को जीवन में समन्वय कर विचार प्रकट किये। वे आज भी चिर नवीन प्रतीत होते हैं। आचार और विचार की इस समता को जीवन में ग्रहण करलें तो सारे दुःख, कठिनाईयां और अभाव हमसे दूर हो जाएंगे।

जैन संस्कृति में मानव-जीवन को अत्यन्त दुर्लभ महत्वपूर्ण एवं महान माना गया है। चूंकि जीव (आत्मा) अपने पूर्णत्व को प्राप्त करने तक विविध योनियों में परिभ्रमण करता है और सिद्धत्व प्राप्त कर कर्ममुक्त हो जाता है। आचार्य अमितगति ने —"भवेपु मानुष्य भवं प्रधानम्"[1] कह कर इसका महत्व बताया हैं। निश्चित ही इतना मंहगा मानव जीवन व्यर्थ ही गंवा देने जैसा नहीं। इसीलिए महावीर ने समय[2] मात्र भी प्रमाद न करने का सन्देश दिया है।[3] अपने शिष्य गौतम को आत्मा-

---

१. अमितगति कृत श्रावकाचार १।१२

२. 'समय' काल का अत्यल्प अविभाज्य अंश है।

३. दुल्लहे खलु माणुसे भवे,
चिर कालेण वि सव्व पाणिणं।
गाढ़ा य विवाग—कम्मुणो,
समयं गोयम ! मा पमायए ।।
उत्तराध्ययन सत्र १०।४

भिमुख होने का उपदेश देते हुए उन्होंने बताया कि चिरकाल तक विविध योनियों में भटक कर दुर्लभ मनुष्य जन्म की प्राप्ति होती है। इसे प्राप्त कर भी जो आत्मा की प्रगति हेतु प्रयत्न न करे वह यथार्थ में इसे खो रहा है। इसलिए हे गौतम ! समय मात्र भी प्रमाद न कर और हर समय आत्मा को कर्म–मल से पृथक् करने हेतु विचार कर।

अनन्तकाल से प्रत्येक जीव वास्तविक सुख आनन्द और शान्ति पाने के लिए भव-भ्रमण कर रहा है। सुख वस्तुनिष्ठ भी होता है और आत्म-निष्ठ भी। वस्तुनिष्ठ सुख भौतिक, क्षणिक एवं दुःख परिवेश में प्रकट होता है तो आत्मनिष्ठ सुख अजर अमर परिपूर्ण एवं आध्यात्मिक है। भौतिक सुखों का सम्बन्ध शरीर अर्थात् इन्द्रियों एवं मन से है और पराकाष्ठा पर भी दुःख ही प्रतीत होता है। धनधान्य, वैभव एवं सौन्दर्य के धनी व्यक्ति भी अन्ततः दुःखी है। दूसरी ओर आत्मा के कल्याण में लगा साधक हमें दुःखी एवं असहाय लग सकता है परन्तु सुखी वही है।

जैन संस्कृति के अनुसार जीव का लक्ष्य मोक्ष प्राप्त करना है और मोक्ष का एक मात्र मार्ग धर्म है। धर्म के दो भेद हैं:—[४]

१. अनगार धर्म

(आगार रहित, तीन करण तीन योग पूर्ण, महाव्रत-धर्म)

२. सागार धर्म (स+आगार)

(आगार सहित, दो करण तीन योग पूर्ण, अणुव्रत-धर्म)

अनगार धर्म में व्रतों के पालन करते हुए किसी प्रकार की छूट या आगार नहीं है। श्रमणधर्म में पांच महाव्रतों को पूर्णतः पालन करना है। यह आकाश यात्रा के समान कठिन एवं परिषह पूर्ण है।

गृहस्थ का धर्म सागार धर्म है अर्थात् यह साधना का राजमार्ग नहीं सीमित मार्ग है। यह जीवन की सरल पगड़न्डी है। गृहस्थ पर स्वयं, परिवार, समाज और राष्ट्र का उत्तरदायित्व है अतः वह महाव्रतों को पूर्णतः पालन नहीं कर सकता। श्रावक के व्रत 'अणु' रूप हैं परन्तु हेय और महत्वहीन नहीं। वह भी धर्ममय जीवन व्यतीत कर कर्म बन्धन क्षय कर मोक्ष का अधिकारी हो सकता है। जैनधर्म में श्रावक का पद जीवन की भूमिका को प्रकट करता है जहां त्याग और भोग, स्वार्थ और परमार्थ, प्रवृत्ति और निवृत्ति का सुन्दर समन्वय है अतः सुगठित एवं व्यवस्थित समाज रचना की दृष्टि से यह महत्वपूर्ण है।

महावीर की वाणी ने किसी विषय को अछूता न छोड़ा। आज हम प्रगतिशीलता की डींग भले ही हांके, महावीर युग-युगों से आगे थे। उनके सिद्धांत आज भी नूतन और व्यवहारिक है। आज समाजकी नसों में व्याप्त विशृंखलता, असन्तोष, भ्रष्टाचार संघर्ष एवं परिग्रह सिद्ध करते हैं कि हम भौतिक दृष्टि से सफल भले ही हों, आध्यात्मिकता से कोसों दूर है। यहां हम वाणिज्य-व्यापार सम्बन्धी आचार मूलक निष्ठाओं पर विचार करेंगे। जिन पर महावीर ने अपना सन्देश दिया है।

जैन संस्कृति में विकास का अर्थ आन्तरिक समृद्धि है यदि बाह्य सुख सामग्री आत्म सुख पाने में

४. चरित्त धम्मे दुविहे पण्णत्ते, तंजहा अगार चरित्त धम्मे चेव अणगार चरित्त धम्मे चेव ॥

—स्थानांग सूत्र

बाधक है तो वह भी हेय ही है परन्तु आज मानव भौतिक एवं क्षणिक सुखों के पीछे दीवाना है। आज जमाखोरी, घूंस, चोरी, तस्कर व्यापार, काला बाजारी कर-चोरी आदि के घुन समाज की जड़े खोखली कर रहे हैं। अधिक लाभ पाने हेतु वस्तुओं में और खाद्य पदार्थों मे मिलावट कर कतिपय व्यक्ति शीघ्र ही धनी बनना चाहता है पर ऐसे व्यक्ति वास्तव में समाज के शत्रु हैं।

अर्थनीति को स्पष्ट करते हुए महावीर ने बताया कि लाभ की दशा में गर्व नहीं करना चाहिए तथा अप्राप्ति पर शोक नहीं करना चाहिए।[५] इसी प्रकार थोड़ा लाभ होने पर दुःखी नहीं होना चाहिए।[६]

आज समाज में धन का समुचित विभाजन नहीं होने के कारण धनिक वर्ग अधिक धनी और मध्यम वर्ग अधिक निर्धन होता जा रहा है। इसका मूल कारण परिग्रहवाद है। अर्थशास्त्र के अनुसार सम्पत्ति में उत्पादन के सभी साधनों का समावेश किया जाता है। अतः परिग्रह परिमाण व्रत में जिन मर्यादाओं का उल्लेख है उनमें वे साधन सम्मिलित किये गए हैं।

मत्स्य उद्योग, मद्यपान, अण्डों का व्यापार, शस्त्र विक्रय कर की चोरी, रिश्वत लेना आदि विषयों पर महावीर ने जो संदेश दिया है उसके अनुसार उपर्युक्त उद्योग एवं क्रियाएं पापमूलक हैं और आत्मा को पतन की ओर ले जाते हैं।[७]

महावीर ने श्रावक धर्म पालन हेतु बारह व्रतों का विधान किया। इनमें पांच अणुव्रत, अहिंसा, सत्य, अस्तेय, ब्रह्मचर्य, अपरिग्रह, तीन गुणव्रत — दिशा परिमाण व्रत, उपभोग परिभोग परिमाण व्रत, अनर्थदण्ड विरमण व्रत और चार शिक्षा व्रत— सामायिक, देशावकाशिक, प्रौषधोपवास एवं अतिथि संविभाग व्रत हैं। इन व्रतों में वाणिज्य व्यापार की अनेक आचारमूलक निष्ठाएं प्रकट होती हैं। इनसे ध्वनित होता है कि दैनिक जीवन में व्यापार आदि व्यवसाय करते हुए आचार संहिता का पालन करना चाहिए।

प्रथम व्रत अहिंसा—स्थूल प्राणातिपात विरमण व्रत के अतिचारों में बंधे, वई, छविच्छए, अइभोर भत्तपाण विच्छेए हैं।

बंधे

पशु-पक्षी तथा नौकर चाकार आदि आश्रित जनों को कष्टदायी बन्धन में रखना। यह बन्धन शारीरिक, आर्थिक या सामाजिक हो सकता है।

अतिभार

पशु या दास दासी पर सामर्थ्य से अधिक बोझ लादना। नौकर, मजदूर या अन्य कर्मचारी से इतना अधिक काम लेना कि वे इस भार से पिस जाय।

आज शोषक और शोपित वर्ग का संघर्ष इसी कारण है कि श्रमजीवी वर्ग उचित परिस्थियों अनुकूल वातावरण में कार्य कर अपना लाभांश भी मांगते हैं।

---

५. लाभुत्ति न मज्जिज्जा, अलाभुति न सोइज्जा। आचारांग १।२।५
६. थोव लद्धुं न खिसए। दशवें कालिक २।२९
७. दृष्टव्य—औपपात्रिक सूत्र एवं वियाक सूत्र

भत्तपाण विच्छेए :

नौकर आदि से अधिक कार्य लेना और तदनुरूप भोजन या वेतन न देना। समय पर वेतन न देना, आजीविका में व्यवधान उपस्थित करना तथा वेतन में अनुचित कटौती करना।

आधुनिक हड़तालें, संघर्ष और तालाबन्दी का यही कारण है।

द्वितीय व्रत स्थूल मृषावाद विरमण व्रत :

श्रावक का कर्त्तव्य है कि दुर्भावना एवं मानसिक चिन्तन में असत्य का सहारा न लें। मृषावाद के पांच भेद हैं—

१. कन्यालीक—वैवाहिक सम्बन्ध के समय कन्या की आयु, स्वास्थ्य, वाणी, शिक्षा के बारे में दूसरों को धोखा देना।

२. गवालीक—गाय, भैंस आदि का क्रय-विक्रय करते समय उनकी दुग्ध-क्षमता एवं कार्य-क्षमता के बारे में असत्य भाषण।

३. भूम्यलीक—कृषि, निवास आदि भूमि के विषय में वस्तु स्थिति को छिपाना।

४. स्थापना मृषा—किसी की धरोहर को दबाना। किसी संस्था या सार्वजनिक कार्य के लिए संग्रहीत राशि को तत्सम्बन्ध में व्यय न कर निजी या वैयक्तिक कार्यों में लगाना।

५. कूट साक्षी—लोभ वश झूठी साक्षी देना। जाली दस्तावेज जाली हस्ताक्षर मुद्रा या मोहर बनाना। जाली नोट या सिक्के बनाना भी इसी श्रेणी में आता है।

आज झूठ का सहारा लेकर अनुचित कार्य हो रहे हैं। झूठे दस्तावेज, जाली नोट, खोटे सिक्के आए दिन अपना परिचय दे रहे हैं। कुछ समय पूर्व जाली नोट और सिक्के बनाने वाले गिरोह सरकार द्वारा पकड़े गए हैं।

तृतीय अचौर्य व्रत :

श्रावक का तीसरा व्रत स्थूल अदत्तादान विरमण व्रत है। इसके नीचे लिखे रूप हैं—

दूसरे के घर सेंध लगाना।
ताला तोड़ना। दूसरी चाबी लगाना।
बिना पूछे दूसरे की वस्तु लेना।
यात्री को लूटना। डाके डालना।
राजकीय कर की चोरी।
व्यापार में बेइमानी।

इस व्रत के अतिचार हैं—

१. स्तेनाहृत—चोरी की वस्तु खरीदना या उसे घर में रखना।

२. तस्कर प्रयोग—आदमी रखकर चोरी, डकैती, ठगी या तस्करी करना।

३. विरुद्ध राज्यतिक्रय—आयात-निर्यात के राज्य नियमों का अतिक्रमण करना।

४. कूट तुला कूट मान—नाप तथा तोल में बेईमानी।

५. तत्प्रतिरूपक-व्यवहार—वस्तु में मिलावट या अच्छे सैंपल (नमूना) दिखाकर। भेजकर घटिया पदार्थ देना।

जरा चारों ओर दृष्टिपात करें तो हम पाएंगे कि खाद्य पदार्थ, औषधियां, पेय पदार्थों में मिलावट आज की मुख्य समस्या है। विषमिश्रित मद्य, धतूरा मिश्रित तेल सादृश्य या घटिया वस्तु मूल्यवान

पदार्थ में मिलाने के परिणाम स्वरूप परिवार के परिवार एवं गांव तक काल कवलित हो जाते हैं या उन्हें असाध्य रोग जकड़ लेते हैं। ऐसे समाचार प्रायः मिलते रहते हैं।

चोरी डकैती के वैज्ञानिक तरीके, आयकर व (Incom Tax) विक्रय कर (Sales Tax) आदि को वचाने के दांवपेच एवं आयात-निर्यात के नियमों का अतिक्रमण आज राष्ट्रीय विकास में वाधक हैं।

चतुर्थ ब्रह्मचर्य व्रत :

श्रावक का चौथा व्रत ब्रह्मचर्य है। शारीरिक एवं वैयक्तिक विकास के लिए ब्रह्मचर्य की आवश्यकता पर जोर देकर महावीर ने सामाजिक सदाचार का आदर्श प्रस्तुत किया है।

पांचवां परिग्रह परिमाण व्रत :

अपने धन-सम्पत्ति, खेत, मकान, स्वर्ण-रजत आभूषण, नौकर—चाकर, धान्य, वर्तन आदि की मर्यादा निश्चित करना परिग्रह परिमाण व्रत है।[८] संग्रह प्रवृत्ति से पदार्थों के प्रति ममन्त्व तो होता ही है साथ ही अन्य व्यक्ति के लिए अभाव भी पैदा होता है। परिग्रह के मूल में इच्छाओं का अनियन्त्रण है क्योंकि इच्छा आकाश के समान अनन्त है।[९] अनावश्यक पदार्थो का संग्रह न कर हम इच्छाओं को सीमित करें तो वास्तविक सुख के द्वार खुल जाते हैं।

छटा दिग्व्रत—दिशा परिणाम व्रत :

प्रस्तुत व्रत में व्यापार या अन्य कार्यों के लिए क्षेत्र की मर्यादा का विधान है। ऊंची, नीची एवं चारों तिरछी दिशाओं की मर्यादा कर श्रावक तदानुसार अपना जीवन यापन करता है और उनका अतिक्रमण नहीं कर सकता।

सातवां—उपभोग परिभोग परिमाण व्रत :

इस व्रत में उपभोग ओर परिभोग के पदार्थों की मर्यादा की जाती है, उपभोग का अर्थ है—भोजन पानी आदि पदार्थ जो एक वार ही काम में आते हैं। परिभोग का अर्थ है-वस्त्र-पात्र, शय्या प्रभ्रति पदार्थ जो अनेक वार काम में लाऐ जाते हैं।[१०] साथ ही श्रावक को ऐसे व्यापार नहीं करने चाहिए जिनसे अधिक हिंसा हो। इन व्यापारों से उत्कट ज्ञानावरणीय कर्म का वन्धन होता है अतः इन्हें कर्मादान कहा है।

अहिंसा जैनधर्म का प्राण है और श्रावक जीवों की हिंसा नहीं कर सकता। भोजन, सब्जी, फल फूल आदि की मर्यादा की हुई हो तो दूसरे को अपना भाग मिलेगा और हिंसा कम होगी ही।

आठवां—अनर्थ दण्ड विरमण व्रत :

निष्प्रयोजन लगने वाली हिंसा से वचना ही अनर्थ दण्ड है। व्यर्थ ही होने वाली शारीरिक क्रियाओं और चेष्टाओं पर अनुशासन करने से हम हिंसा से वचते हैं। चलते हुए किसी फूल को तोड़ना मसल देना, हिंसा के उपकरण रखना, हिंसात्मक कार्यों के लिए सहायता करना, पैरों से दूव को कुचलना आदि ऐसी क्रियायें हैं जिनसे व्यर्थ ही हमें हिंसा का निमित्त वनना पड़ता है।

---

८. द्रष्टव्य—प्रतिक्रमण सूत्र सार्थ-अ. मै. सेठिया जैन पारमार्थिक संस्था।

९. इच्छाहु आगासभा अणंतए (उतराध्यन सूत्र अ)।

१०. भगवती सम. श. ७३.२.

छठे, सातवें, आठवें व्रत में व्यक्ति को वाह्य चेष्टाओं पर नियन्त्रण का निर्देश है तो नवें से वारहवें चार व्रत आन्तरिक शुद्धि के लिए हैं ।

सामायिक व्रत :

समभाव की प्राप्ति हेतु सामायिक करते हैं । जीवन में हानि, लाभ, यश, अपयश, प्रेम, वैर आदि विषम परिस्थितियों में भी जो समभाव वना रह सके घन्य है । अभ्यास क्रम से ऐसी स्थिति प्राप्त करना कठिन नहीं । हमें एतदर्थ मन में बुरे विचार नहीं लाने चाहिए और कठोर वचन का त्याग करना चाहिए ।

देशावकाशिक व्रत :

इस व्रत में श्रावक को साधु जैसी चर्या का पालन करना पड़ता है । सामायिक में दो घड़ी का समय ही धार्मिक अनुष्ठान में लगाया जाता है । इसमें साधक निश्चित काल के लिए क्षेत्र की मर्यादा करता है । उसके वाहर किसी प्रकार की प्रवृत्ति नहीं करता ।

पौषधोसवास व्रत :

धर्म स्थान में रहकर उपवास करना पौषधावास व्रत है । यह दिन रात अर्थात् आठ प्रहर का होता है ।

अतिथि संविभाग व्रत :

संविभाग का अर्थ है अपनी सम्पत्ति या भोग्य वस्तुओं में विभाजन करना अर्थात् दूसरे को देना । अतिथि के लिए इस प्रकार प्रावधान रखना अतिथि संविभाग व्रत है ।

इस प्रकार हम देखते हैं कि महावीर ने वाणिज्य व्यापार की आचार मूलक निष्ठाओं के प्रति जागरूक रहने का संदेश दिया हैं ।

सातवें अंग सूत्र उपासक दशांग सूत्र में महावीर के आदर्श श्रावकों का वर्णन है । आनन्द श्रावक का जीवन तत्कालीन वाणिज्य-व्यवसाय पर प्रकाश डालता है ।

इस दिव्य-विभूति की यह वाणी सदा स्मरण रखने योग्य है कि जव तक वार्धम्य न घेरले, इन्द्रियां अशक्त नहीं हो जाय, धर्माचरण करते रहना चाहिए ।[11]

अन्त में यही कहना है कि महावीर के जीवन दर्शन का सार यही है कि किसी प्रकार हिंसा न की जाय । अहिंसा एवं संयम जीवन का सार है:—

एयं खु नानिणो सारं जं न हिंसाई किं चन ।
अहिंसा संयम चैव एसावन्त वियाणिया ।

११. जरा जाव न पीडेइ, वारी जाव न वड्डई । जाविंदिया न रामन्ति, ताव धम्मं समायरे ।।

३१

मुद्रित कुमुदचन्द्र प्रकरण : एक अन्तः परीक्षण

□ प्रो० डा० गुलाबचन्द्र चौधरी

[लेखक ने प्रस्तुत लेख में यह सिद्ध करने का प्रयास किया है कि इस प्रकरण में किसी कुमुदचन्द्र नाम धारी दिगम्बर वादी का निराकरण नहीं किया गया वल्कि वादि देव सूरि ने अपनी समानान्तर रचना स्याद्वाद रत्नाकर द्वारा दिगम्बर प्रभाचन्द्र के न्यायकुमुद चन्द्र के प्रचार-प्रसार की कमी करदी और उसकी स्त्री मुक्ति विरोध का करारा जवाव प्रस्तुत किया जिसे इस साम्प्रदायिक रूपक में दो सम्प्रदाय के आचार्यों की जय पराजय द्वारा दिखाया गया है। पर यह विवाद कोई ऐतिहासिक घटना नहीं हैं, इसलिए यह कोई ऐतिहासिक नाटक नहीं है] ।

मुद्रित कुमुदचन्द्र एक लघु प्रकरण[1] (रूपक नाटक) है, जिसमें पांच अंक हैं। इस प्रकरण में श्री देवसूरि (देवाचार्य) नामक श्वेताम्वराचार्य द्वारा चौलुक्य नरेश जयसिंह सिद्धराज के दरवार में किसी दिगम्वर जैन वादी कुमुदचन्द्र की स्त्रीमुक्ति विपय पर पराजय का अभिनय किया गया हैं।

इसके कर्त्ता धर्क्कट वंशीय पद्मचन्द के पुत्र यशश्चन्द्र हैं जिनका समय अज्ञात है। इस प्रकरण की प्रस्तावना से मालूम होता है कि वे एक गृहस्थ थे क्योंकि उन्होंने सपादलक्ष देश में किसी शाकम्भरी नरेश द्वारा अभ्युन्नति प्राप्त की थी और उनके पितामह शाकम्भरी नृप के राजसेठ थे। वे अनेक प्रवन्धों के रचयिता भी थे, पर इस कृति के सिवाय उनकी अन्य कृतियां अभीतक नहीं मिली।

यद्यपि कर्त्ता का समय ज्ञात न होने से इसे हम देव सूरि की समकालिक रचना नहीं कह सकते फिर भी यह वि०सं० १३३४ से पहले की रचना अवश्य है क्योंकि उक्त वर्ष में निर्मित प्रभावकचरित में वादि देव सूरिचरित में इस प्रकरण से ६ पद्य (६२, ६४, ६६, १६६, १६८, २०७, २०९, २१४ और २३४) तथाहि, तद्यथा, उक्तं च आदि द्वारा उद्धृत किये गये हैं और उसकी परवर्ती रचना प्रवन्ध चिन्तामणि में भी ८ पद्य उद्धृत किये गये हैं।

इस नाटक की कथावस्तु सक्षेप में इस प्रकार है। प्रथम अंक में प्रस्तावना के बाद शुद्ध विष्कम्भक में देवसूरि और कुमुदचन्द्र के बीच अमर्ष के सूत्रपात होने की सूचना मिलती है। जिसे आगे हम कुमुदचन्द्र पक्षीय वन्दी राजसाधार और देवसूरि के बीच आक्रोश पूर्ण वहस में देखते हैं। उसमें कुमुद-

---

१. यशोविजय जैन ग्रन्थमाला (सं. ८), वी. सं. २४३२

चन्द्र को ८४ विवादों का विजेता वतलाया गया है। दूसरे अंक में प्रारम्भ में शुद्ध विष्कम्भक में दोनों पक्ष के तटस्थ शिष्य अशोक और मकरन्द के वीच सम्वाद से ज्ञात होता है कि कुमुदचन्द्र पर एक वृद्ध आर्यिका को विट गोष्ठी में नचाने का आरोप है और कर्णावती से देवसूरि ने अणहिल्लपुर के श्रमणसंघ के पास सूचना दी कि वे कुमुदचन्द्र से विवाद करेंगे। इस पर वहां से श्रमणसंघ ने उन्हें अणहिल्लपुर आने का निमन्त्रण दिया। इसके वाद देवसूरि पक्षीय वैतालिक ने कुमुदचन्द्र के साथ गरमागरम वहस की। तृतीय अंक के निष्कम्भक में मालूम होता है कि कुमुदचन्द्र को विवाद का नोटिस दिया गया है। कुमुदचन्द्र के वाद-सामर्थ्य के कारण देवसूरि के पक्ष में पराजय की सम्भावना पर वड़ी घवड़ाहट है। 'राजदरवार में पैरवी चल रही है। राजा जयसिंह सिद्धराज ने कुमुदचन्द्र और देवसूरि को दरवार में वुलाया है और सभ्य व्यवस्था की है। न्यायालय में विवाद सम्वन्ध लिखाने की व्यवस्था की जा रही है। इसके वाद न्यायालय में मन्त्री गांगिल और देवसूरि के वीच गरम वातें चलती हैं जिससे ज्ञात हुआ कि मन्त्री उन पर कुपित है और राजा से कहने वाला है कि श्वेताम्वराचार्य विवाद करनें में अयोग्य हैं।

चतुर्थ अंक के प्रारम्भ में विष्कम्भक से सूचना मिलती है कि श्रीपालकवि इस घटना से चिन्तित हैं वे राजा के प्रतिहार से वात करते हैं कि राजा को उक्त वातों की सूचना है और उसने वीच में पड़कर विवाद सम्वन्ध न्यायालय में लिखवा दिया है और वाद-व्यवस्था की है। प्रतीहार ने आशंका की है कि कुमुदचन्द्र के पक्ष द्वारा मन्त्री को लांच घूस दी गई है। इसके वाद देवसूरि और श्रीपाल कवि के सम्वाद से विवाद व्यवस्था के प्रति हर्ष और राजा का स्वदेशज के प्रति पक्षपात एवं उसकी विजयाकांक्षा के लिए सन्तोष प्रकट किया गया।

पंचम अंक में विष्कम्भक द्वारा श्रीपाल कवि का सुवह ही राजा से मिलने जाना सूचित होता है। इसके वाद दरवार में कुमुदचन्द्र और देवसूरि अपने पक्ष के लोगों के साथ उपस्थित होते हैं। फिर सभ्य, सभापति वादी, प्रतिवादी की व्यवस्था पूर्वक विवाद का अभिनय प्रारम्म होता है। कुमुदचन्द्र को वादी मानकर प्रयोग करने को कहा गया, पर किस प्रकार प्रयोग किया गया इसकी तनिक भी सूचना नहीं। देवसूरि ने इसे दूपित किया (पर किस प्रकार किया, यह वहां सूचित नहीं)। हां, उनने इतना अवश्य निर्देश किया कि वादी को दो कार्य करने होते हैं एक तो परपक्षविक्षेप और दूसरा स्वपक्षसिद्धि। इसके वाद स्त्रीनिर्वाण सिद्धि के प्रयोग की सूचना दी गई। (पर वह किस रूप में हुआ इसका कुछ भी रूप नहीं दिया गया) कुमुदचन्द्र ने उक्त प्रयोग दो वार पूछा और फिर दूपित किया (पर किस तरह किया, इसका भी थोड़ा संकेत वहां नहीं)। देवसूरि ने कहा (अस्य भवन्द्रपितस्य अनव वोध एवोन्तरम' अर्थात्, आपके कथन का न समझना ही उत्तर है। कुमुदचन्द्र ने उसे कटिभ (पाटिये) पर लिखने को कहा तव उसे देवसूरि ने गुरुशिष्य व्यवहार कहकर टाल दिया और तभी महर्षि नामक सभासद (सभ्य) ने वादकथा को समाव वतलाकर दिग० कुमुदचन्द्र की हार घोषित कर दी। फिर भी राजा के अनुरोध से पटिये पर प्रयोग लिखा गया (क्या लिखा गया, सूचित नहीं)। जिसे कुमुदचन्द ने दूषित किया (किस प्रकार किया वह भी सूचित नहीं)। इसका परिहार कर अपने पक्ष की स्थापना पूर्वक (वह भी किस प्रकार थी सूचित नहीं) देवसूरि ने कोटाकोटि शब्द का प्रयोग किया। उसे कुमुदचन्द्र ने अपशब्द वतलाया पर उत्साह नामक सभ्य ने उसे पाणिनि व्याकरण सम्मत वनवाया और देव सूरि ने शास्त्र का उद्धरण देकर कुमुदचन्द्र को चुप कर दिया। कुमुदचन्द्र ने घवडा कर देवसूरि की विजय स्वीकार करली। इससे

दरवार में हर्ष का वातारण छा गया। अन्त में दैवीतत्व-योगिनी– वजार्गला –को आविष्कृत कर वतलाया गया कि उसने कुमुदचन्द का चेहरा स्याही से रंग दिया था और उसे निरुत्तर वना दिया था अन्त में राजा द्वारा देवसूरि की प्रशंसापूर्वक नाटक की समाप्ति की गई।

इस प्रकरण की कथावस्तु को और कुछ जोड़ वृद्धि कर प्रभावक चरित्र में देव सूरि चरित्र की प्रमुख घटना के रूप में प्रस्तुत किया गया है और वतलाया गया है कि यह विवाद वि सं. ११८१ में वैशाख पूर्णिमा के दिन हुआ था।[२] प्रवन्ध[३] चिन्तामणि में इसे १६ दिन तक चलने वाला विवाद वतलाया है। मुद्रित कुमुदचन्द्र और प्रभावक चरित्र के अनुसार इस विवाद की व्यवस्था में श्वेताम्वर श्रावक कवि श्रीपाल को प्रमुख भाग लेते दिखाया गया है जवकि प्रवन्ध चिन्तामणि में उसका नाम भी नहीं। उनकी जगह वहां हम आचार्य हेमचन्द्र को प्रमुख रूप में भाग लेते देखते हैं। जवकि मुद्रित कु. च. और प्रभावक चरित में उन्हें उक्त प्रसंग में कहीं भी भाग लेते नहीं दिखाया गया। वह विवाद जयसिंह के दरवार में हुआ था। इस विपय में उक्त तीनों ग्रन्थ सहमत हैं।

इस घटना को, उक्त प्रकरण में तथा अर्ध इतिहास समकक्ष ग्रन्थ-प्रभावक चरित्र और प्रवन्ध चिन्तामणि में वर्णित पाकर, प्रायः सभी विद्वानों ने एक ऐतिहासिक घटना माना है और इसके प्रतिवादी श्वेताम्वर देवसूरि का साम्य उन वादिदेव सूरि से स्थापित किया है जिनने स्याद्वाद रत्नाकर व्याख्या सहित प्रमाणनय तत्त्वालोकालंकार नामक विशाल न्यायग्रन्थ लिखा है। उस ग्रन्थ के आठवें अध्याय में वादविधि का वादि, प्रतिवादि, सम्य और सभापति चार अंगों का सांगोपांग वर्णन है। संभवतः उक्त प्रकरण के पांचवें अंक की वाद व्यवस्था में उसका प्रयोग प्रदर्शित किया गया है। सभापति के राजा जयसिंह भी वादिदेव सूरिके समकालीन चौलुक्य नृप जयसिंह सिहराज ही है। देवसूरि का जन्म वि. सं, ११४३ में दीक्षा वि.सं. ११५२ और सूरिपद ११७४ में और स्वर्गवास वि.सं. १२२६ में हुआ था। उनके समवयस्क जयसिंह का जन्म भी वि.स. ११४३ में राजपद वि.सं. ११५० में और मृत्यु विसं. १२९० में हुई थी। इन दोनों से दो वर्ष छोटे तथा समकालीन प्रसिद्ध आचार्य हेमचन्द्र थे, जिनका जन्म वि. सं. ११४५ में, दीक्षा वि. सं. ११५४ में और आचार्य पद वि. सं. ११६६ में और मृत्यु वि. सं. १२२९ में हुई थी। यदि उक्त विवाद को प्रभावक चरित्र के अनुसार वि. सं. ११८१ में हुआ मानें तो उस समय देवसूरि और राजा जयसिंह की उम्र ३८ वर्ष की तथा हेमचन्द्र की ३६ वर्ष की रही होगी। हेमचन्द्र को उस समय तक आचार्यपद पाये १५ वर्ष के लगभग हो चुके थे और देवसूरि को केवल ७ वर्ष। प्रवन्धचिन्तामणि में हेमचन्द्र और कुमुद चन्द्र को टकराते हुए कहा है कि हेमचन्द्र उस समय किंचिद्वयति क्रान्त शैशवा थे और कुमुचन्द्र ज्यायान् और जरातरलिजमति थे परन्तु ३३ वर्षीय हेमचन्द्र के प्रति उक्त कथन संभव नही। फिर जयसिंह के दरवार में उक्त घटना के समय हेमचन्द्र के भाग लेने की वात मु, कु. च. तथा प्रभावक चरित्र में नहीं मानी गई। आधुनिक विद्वानों का मत है कि उस समय तक हेमचन्द्र और जयसिंह में कोई सम्पर्क न था। वह तो जयसिंह की मालवा विजय वि. सं. ११९२–९३ के वाद ही विशेष रूप से हुआ।

---

२. प्र. च. (सि. जैन ग्र०) पृ० १७८

३. प्र. चि. (सि. जैन ग्र०) पृ० ६८

सम्भवतः उसके कुछ पूर्व सामान्य रूप से हुआ हो। फिर यह विवाद हेमचन्द्र के सामने होता तो वे अपने किसी ग्रन्थ में प्रत्यक्ष या परोक्षरीति से अवश्य उल्लेख करते सो ऐसा कहीं दिखता नहीं। इसलिए हेमचन्द्र के विशेष रूप से भाग लेने की बात केवल प्र. चिन्तामणिकार की कल्पना ही है।

इस प्रकरण के ऐतिहासिक होने में जिस प्रकार एक ओर देवसूरि और नृप जयसिंह की समकालिकता एक सम्भावना है उसी तरह दूसरी ओर दिगम्बरवादी कुमुदचन्द्र की पहिचान और समकालिकता भी होना चाहिए। पर अब तक उसकी स्थापना का कोई प्रयत्न नहीं हुआ। उक्त प्रकरण के पृष्ठ ८ में दिगम्बर कुमुदचन्द्रः को 'चतुरासीनि विवाद विजयार्जितोज्जित यशः, वादीन्द्र तथा कुन्तल, चोल, गौड़, वंग, नैषध आदि अनेकों देशों के विद्वानों का मानमर्दन करने वाला कहा है पर आश्चर्य है कि वादिदेव के समकालीन (वि. सं. ११४३–१२२६ के बीच) दिगम्बर सम्प्रदाय में इस नाम के किसी आचार्य का पता नहीं लगता और न पांडित्य को प्रकट करने वाली कृत्ति का। वादिदेव सूरि की कृत्ति में उक्त नाम से किसी आचार्य का खण्डन भी नहीं निर्दिष्ट है और न आचार्य हेमचन्द्र की भी कृत्तियों में। यदि उक्त विशेषणों से विशिष्ट कोई आचार्य होते, जिनके नाम से श्वेताम्बराचार्य को अपने समय में आतंकित होना पड़ा था तो ऐसे प्रभावशाली वादी का दिगम्बर सम्प्रदाय में भी प्रत्यक्ष या परोक्ष रूप में अवश्य एक ही नहीं अनेक बार उल्लेख मिलता। यद्यपि बहुत खोज के बाद, वादिदेव सूरि की मृत्यु के लगभग ६८ वर्ष बाद वि. सं. १२९२ के लगभग 'प्रतिष्ठा कल्पटिप्पण' या 'जिन संहिता' ग्रन्थ के कर्त्ता एवं कर्नाटक देशीय माधवनन्दि सिद्धान्त चक्रवर्ती के शिष्य एक कुमुद चन्द्र' कुमुदेन्दु भट्टारक' का नाम सुनाई देता है जिन्होंने अपने ग्रन्थ की पुष्पिका में चतुर्विध पाण्डित्य चक्रवर्ति श्री वादि कुमुदचन्द्र मुनीन्द्र कहा है।[४] पर एक तो ये वादिदेव सूरि के बहुत पश्चाद्वर्ती है और दूसरे दिगम्बर सम्प्र० में इनकी वाद विषयक कोई ख्याति नहीं। ये प्रतिष्ठा कराने वाले भट्टारक प्रतीत होते हैं। जो उस समय बड़ी-बड़ी उपाधियां धारण करने लगे थे। हां, यदि काल व्यति क्रम से इन्हें हीं वादिदेव सूरि से टकरा देने की पश्चात्-कालीन लेखकों की कल्पना हो तो इसे ऐतिहासिकता नहीं कह सकते।

पर जो हो, मुद्रित कुमुदचन्द्र से एक अन्य रहस्य का उद्घाटन होता है, वह यह कि उक्त रूपक में कुमुदचन्द्र नाम से कहीं दिग० प्रभाचन्द्र कृत-'न्यायकुमुदचन्द्र' नामक ग्रन्थ के मुद्रित (चुप) करने की घटना का तो अभिनय इस रूपक द्वारा चित्रित किया गया हो क्योंकि वादिदेव सूरि के स्याद्वाद रत्नाकर न्यायकुमुदचन्द्र का विशेष नामोल्लेख पूर्वक खण्डन किया गया है। इतना ही नहीं स्याद्वाद रत्नाकर न्यायकुमुदचन्द्र से अधिक उद्वेलित हुआ है। स्वर्गीय पं० महेन्द्रकुमार न्यायाचार्य के शब्दों में "वादि देवसूरि के स्याद्वाद रत्नाकर को प्रभाचन्द्र के ग्रन्थों के प्रकाश में पढ़ने पर पाठक को पता चलता है कि प्रभाचन्द्र के ग्रंथों से रत्नाकर में कितना आदान किया गया है। रत्नाकर के सम्बन्ध में यहां यह लिख देना आवश्यक है कि न्याय कुमुदचन्द्र के बहुत अंश वहां आनुपूर्वी से ज्यों के त्यों पाये जाते हैं और न्याय कुमुदचन्द्र के संशोधन में हमें उनसे बहुत सहायता मिली है"

पर न्याय कुमुदचन्द्र और स्याद्वाद रत्नाकर की रचना में समकालीकता नहीं है, पूर्वा परता

४. पं० नाथूराम प्रेमी : जैन साहित्य और इतिहास, प्र० सं० पृ० ५३४ टिप्पण।

अवश्य है। दोनों की रचना एक नामधारी दो राजाओं के राजकाल में अवश्य हुई है। न्याय कुमुदचन्द्र की रचना धारा नरेश जयसिंह देव परमार (वि. सं. १११२–१६) के राज्यकाल में हुई थी[५] और उसके पश्चात् चौलुक्य जयसिंह सिद्धराज के राज्यकाल (सं. ११५२–१२००) में स्याद्वाद रत्नाकर की रचना हुई थी।

उस काल में श्वेताम्बर और दिगम्बर सम्प्रदाय में तनाव या मौलिक मतभेद के आधारभूत दो सिद्धान्त माने जाते थे, एक स्त्री निर्वाण और दूसरा केवलि कवलाहार। न्याय कुमुदचन्द्र के कर्ता प्रभाचन्द्र से पहले इन सिद्धांतों का निषेध और विधि दोनों सम्प्रदाय के आगमिक ग्रंथों में ही देखे जाते थे किन्तु प्रभाचन्द्र ने अपने दोनों ग्रंथ— प्रमेयकमल मार्तण्ड और न्याय कुमुदचन्द्र में पूर्व पक्ष स्थापन और उनका खण्डन करके दार्शनिक क्षेत्र में भी इस विवाद को स्थान दिया।[६] सम्भवतः इससे, सम्प्रदाय मोही अनुयायियों में प्रतिस्पर्धा की भावना तीव्र हुई। इसके बाद श्वेताम्बर सम्प्रदाय के अभय देवसूरि और वादिदेव सूरि ने प्रभाचन्द्र के मार्ग का अनुसरण कर उक्त दोनों सिद्धान्तों के सम्बन्ध में दिगम्बर मान्यता का खण्डन कर श्वेताम्बर पक्ष की स्थापना की। इतना ही नहीं श्वेताम्बर समाज में प्रमेयकमल मार्तण्ड और न्याय कुमुदचन्द्र जैसे सबल ग्रंथों के अनुसरण पर समानान्तर कृति द्वारा उनके प्रचार प्रसार को गुजरात व उसके पड़ोस क्षेत्र में मुद्रित करने का प्रयास हुआ। साहित्य जन मानस का प्रतिबिम्ब होता है और पश्चात काल में इस घटना का ही रूपक जय पराजय के रूप में साम्प्रदायिक मानस को सन्तोष देने के लिए मुद्रित कुमुदचन्द्र जैसे प्रकरण रूप में प्रस्फुटित हुआ जिसमें कुमुदचन्द्र और वादिदेव सूरि को टकरा देने जैसी कल्पना का चित्रण हुआ।

पर भारतीय साहित्य के क्रमिक विकास को तटस्थ भाव से देखने वाले मनीषियों से यह बात छिपी नहीं रही। साहित्य में तो परस्पर आदान प्रदान से ही उसकी श्री वृद्धि हुई है। जैन न्याय के क्रमिक विकास क्रम को दिखाते हुए स्वयं पं. महेन्द्र कुमार ने लिखा है 'प्रमेयकमल मार्तण्ड और न्याय कुमुदचन्द्र के तीक्ष्ण एवं आल्हादक प्रकाश में जब हम स्याद्वाद रत्नाकर को तुलनात्मक दृष्टि से देखते हैं तो वादिदेव सूरि की गुणग्राहिणी संग्रह दृष्टि की प्रशंसा किए बिना नहीं रह सकते। इसकी संग्राहक बीजबुद्धि प्रमेयकमल मार्तण्ड तथा न्याय कुमुदचन्द्र से अर्थ, शब्द और भावों को इतने चेमश्चमत्कारक ढंग से चुन लेती है कि अकेले स्याद्वाद रत्नाकर के पढ़ लेने से उक्त दोनों ग्रंथों का यावद्विषय विशद रूप से अवगत हो जाता है। वस्तुतः स्याद्वाद रत्नाकर उक्त दोनों ग्रन्थों के शब्द अर्थ रत्नों का सुन्दर आकार ही है। यह ग्रन्थ मार्तण्ड (प्रमेयकमल०) की अपेक्षा चन्द्र (न्याय कुमुद०) से ही अधिक उद्वेलित हुआ है। प्रकरणों के क्रम और पूर्व पक्ष तथा उत्तर पक्ष के जमाने की पद्धति में कहीं कहीं तो न्याय कुमुदचन्द्र का इतना अधिक शब्द सादृश्य है कि दोनों ग्रन्थ की पाठशुद्धि में एक दूसरे का मूल प्रति की तरह उपयोग किया जा सकता है"[७]

---

५. यह बात न्याय कुमुदचन्द्र की प्रशस्ति से ज्ञात होती है।

६. न्याय कुमुदचन्द्र भाग १ की प्रस्तावना पृष्ठ १२

७. न्याय कुमुदचन्द्र द्वितीय भाग प्रस्तावना, पृष्ठ ४१

स्याद्वाद रत्नाकर स्वयं में स्वनिर्मित प्रमाणनय तत्त्वालोकालंकार नामक सूत्र ग्रन्थ की विस्तृत व्याख्या है। 'उक्त सूत्र ग्रन्थ दिग० माणिम्यनन्दि कृत परीक्षामुख सूत्र का अपने ढंग से लिखा गया दूसरा संस्करण ही है। इसमें परीक्षा मुख के ६ परिच्छेदों का विषय ठीक उसी क्रम से अपने सूत्र के आग ६ परिच्छेदों में यत्किंचित् शब्द भेद तथा अर्थभेद के साथ ग्रथित किया गया है। परीक्षा मुख के अतिरिक्त इसमें नय परिच्छेद और वाद परिच्छेद नामक दो परिच्छेद ओर जोड़ दिये गये है।[८] वास्तव में अपने सूत्र और टीका ग्रन्थों द्वारा देवमूरि की महत्वपूर्ण देन उक्त ग्रंथ का आठवां परिच्छेद-वादनिधि है जिसमें भारतीय वाद विवाद पद्धति के उस काल तक विकसित् रूप के सांगोपयांग दर्शन हो जाते हैं। संभवतः इसी कारण से देवसूरि को वादिदेव सूरि नाम से ख्याति मिली।

उपर्युक्त विवेचन के प्रकाश में मुद्रित कुमुदचन्द्र की रचना के रहस्य उद्घाटन की एक व्याख्या ही प्रस्तुत की गई है।

ध्यान

ध्यान-लीन साधक समर्थ-
होता हर दोष-निवारण में
सब दोषों-अतिचारों का
प्रतिक्रमण ध्यान से संभव
है।

—अर्हत

८. प्रमेयकमल मार्तण्ड की प्रस्तावना पृ. ४८

३२

प्राकृत साहित्य और लोक संस्कृति

□ डा० प्रेम सुमन जैन

प्राकृत एवं अपभ्रंश साहित्य से लोक संस्कृति का सम्बन्ध स्पष्ट करने की आवश्यकता नहीं है। साहित्य का लोकजीवन से सम्बन्ध बनाये रखने के लिए प्राकृत की प्रत्येक अवस्था एवं विधा ने कार्य किया है। जनसाधारण के निश्चल हृदय से जो भाषा फूटती है उसमें और उसके दैनिक सरल व्यवहारों में कोई अन्तर होने की सम्भावना नहीं है।

प्राकृत साहित्य के लोक संस्कृति से ओत-प्रोत होने में एक कारण यह भी है कि प्राय: प्राकृत साहित्य का सम्बन्ध लोकधर्म से रहा है। यह कहना अप्रासंगिक नहीं होगा कि श्रमणधर्म ग्राम्य-जीवनप्रधान संस्कृति का पोषक रहा है अत: उसके आचार्यो ने लोकभाषाओं को अपनाया। साहित्य में साधारण कोटि के चरित्रों को उभार कर अभिजात वर्ग का नामकत्व समाप्त किया तथा धार्मिक क्षेत्र में इन्द्र आदि देवताओं को तीर्थङ्करों का भक्त बताकर मनुष्य जन्म को देवत्व से श्रेष्ठता प्रदान की। इतना ही नहीं, प्राकृत साहित्यके माध्यम से सभी लोककलाओं की सुरक्षा हुई है।

लोकसंस्कृति के अन्तर्गत यद्यपि अनेक तत्व समाहित होते हैं। विद्वानों में इस सम्बन्ध में मतैक्य नहीं हैं अत: प्राकृत साहित्व ने लोकसंस्कृति के जिन प्रमुख तत्वों को उभारकर प्रस्तुत किया है उन्हीं पर विवेचन करना उपयुक्त होगा। इस दृष्टि से १. लोकसाहित्य, २. लोकभाषा, ३. लोकजीवन ४. लोकविश्वास, ५. लोककला तथा ६. लोक-चिकित्सा इन प्रमुख छह केन्द्रबिन्दुओं पर प्राकृत साहित्य के परिप्रेक्ष्य में विचार किया जा सकता है।

१. लोकसाहित्य :

लोक साहित्य लोकवार्त्ता का एक महत्वपूर्ण भाग है इसके अन्तर्गत यद्यपि विद्वानों ने अनेक विषयों को संग्रहीत किया है, किन्तु वे सब लोक की विभिन्न अभिव्यक्तियां ही है। अत: व्यक्तित्व से रहित समानरूप में समाज की आत्मा को व्यक्त करने वाली मौलिक अभिव्यक्तियां लोकसाहित्य की श्रेणी में आती हैं।[1] इन अभिव्यक्तियों को निम्न भागों में बांटा जा सकता है—धर्मगाथा (लोकगीत), लोककथा, लोकोक्तियां, पहेलियां आदि। प्राकृत तथा अपभ्रंश साहित्य में इन सभी तत्वों का समावेश है।

धर्मगाथा—प्राकृत साहित्य का गाथा से निकट का सम्बन्ध है। उसका बहुत सा भाग गाथाबद्ध ही

१. भारतीय लोक साहित्य पृ. २२।

है। साहित्य रचना में गाथा का प्रयोग प्राकृत साहित्यकारों ने लोक से ही ग्रहण किया हैं। क्योंकि लोक में सरलता से गाये जाने और कंठ से कंठ तक स्मरण बनाए रखने में पद्यों का प्रयोग बहुप्रचलित था। प्राकृत की गाथाओं की यह अर्थवत्ता ही आज के लोकगीतों की उत्सभूमि है। धीरे-धीरे गाथाओं में लोक के अनेक आख्यान भी गाये जाने लगे। गाथाओं में निबद्ध अनेक प्राकृत लोककथाएं उपलब्ध हैं। इन्हीं प्राकृतकथाओं के गाथारूप से मध्यकालीन व आधुनिक लोकगीतों में आख्यान कहे जाने की परम्परा विकसित हुई प्रतीत होती है, जिन्हें आज भी लोकगाथा के नाम से पुकारा जाता है।

लोककथा—प्राकृत एवं अपभ्रंश कथा साहित्य में लोककथा के अनेक तत्व विद्यमान हैं। क्योंकि इन कथाओं की उत्सभूमि ही लोकजीवन है। साहित्य का लोक से सम्बन्ध बना रहे इसके लिए प्राकृत कथाकारों ने जो कुछ भी कहा है उसे समूह की वाणी बनाकर और जन-समूह में घुल-मिलकर। यही कारण है कि उनकी कथाओं में लोकधर्म, लोकचित्र और लोकभाषा लोककथा के ये तीनों तत्त्व विद्यमान हैं। इनकी प्रचुरता का कारण यह भी है कि प्राकृत कथाकारों का मुख्य उद्देश्य जन-जीवन के नैतिक और आध्यात्मिक स्तर को ऊंचा उठाना था। अत: उन्होंने बिना किसी भेद-भाव के लोक जीवन में प्रचलित कथाओं को ग्रहण कर उन्हें धार्मिक एवं उपदेशात्मक शैली में प्रस्तुत कर दिया किन्तु इससे लोककथाओं की मौलिकता में कोई अन्तर नहीं आया उनके स्वरूप में कुछ जुड़ा ही।

प्राकृत कथाओं में लोकतत्त्वों का समावेश क्रमशः हुआ है। आगमकालीन कथाएं यद्यपि बीजरूपा है विकसित नहीं। फिर भी उनके कथा-बीजों में लोकतत्त्वों का पुट है। ज्ञाताधर्म कथा की धरणी का दोहद, विजयचोर, सागरदत्त और वेश्या, धन्ना सेठ और उसकी पतोहू आदि कथाएं लोककथाओं का पूरा प्रतिनिधित्व करती हैं। महारानी धारिणी देवी ने अपने दोहद में असमय में ही वर्षाकालीन दृश्य देखने की इच्छा प्रगट की थी, जिसे कथा के अन्त में पूरी की गई। कथा का यह स्वरूप लोककथा शैली का है। प्रारम्भ में अनहोनी जैसी बात को समस्या के रूप में रखकर पाठक में कौतुहल उत्पन्न किया गया है और बाद में उसकी पूर्ति की गयी है।

टीकायुगीन कथाओं में नीतिकथा और लोककथा के तत्त्व अधिक मिलने लगते हैं, इन कथाओं की नीति-उन्मुखता पूर्णत: व्यापक जीवन के संदर्भ में घटित होती है, इसलिए वह सार्वभौमिक और साधारण जन-आस्वाद्य है, लोक जीवन का ग्रहण कथाओं को एक नयी शैली प्रदान करता है। वैसे तो प्राकृत टीका साहित्य के सभी ग्रंथों में कुछ न कुछ लोककथाएं संग्रहीत है, किन्तु आवश्यक चूर्णि 'लालच बुरी बलाय, पंड़ित कौन, कोक्कास बढ़ई चतुर रोचक, चतुराई का मूल्य, पढ़ो और गुनो, इतना बड़ा लड्डू आदि कथाएं; दशवैकालिक चूर्णि की ईर्ष्या मत करो, अपना-अपना पुरुषार्थ, गीदड की राजनीति आदि कथाएं; व्यावहारभाष्य की भिखारी का सपना, अकल बडी या भैंस कथाएं तथा उत्तराध्ययन टीका की मण्डित चोर, गंगा की उत्पत्ति आदि कथाएं लोककथाओं के सुन्दर नमूने हैं। इनमें से बहुत सी कथाएं तो आज भी लोक में प्रचलित हैं।

आवश्यक चूर्णी की एक लोककथा दृष्टव्य है—

किसी परिवार की तीन कन्यायें थी, उनका विवाह होने पर उनकी मां ने उनको सुखी बनने के लिए सिखा दिया कि तुम सब प्रथम दर्शन में पाद

प्रहार से पति का स्वागत करना। जेठी कन्या के पति ने लात खाकर उसका पेट दबाते हुए पूछा–'प्रिये ! कहीं तुम्हें चोट तो नहीं लगी,' लड़की ने यह वृतान्त जब मां से कहा तो वह बोली–'बेटी, जा तू अपनी इच्छापूर्वक जीवन व्यतीत कर तेरा पति तेरा कुछ नहीं बिगाड़ सकता। मंझली लड़की के पति ने उसकी लात खाकर पहले तो उसे भला-बुरा कहा फिर शीघ्र ही शान्त हो गया, लड़की की मां ने कहा कि बेटी, तुम भी अलग से रहेगी। छोटी लड़की के पति ने लात लगाते ही उसे पीटना शुरू कर दिया और कहा कि तुम नीच कुल से आयी हो। बडी मुश्किल से उसे शान्त किया गया, मां ने लड़की को एकान्त में बुलाकर कहा–'बेटी, तुम देवता के समान पति की पूजा करना और उसका साथ कभी मत छोडना।[1]

स्वतन्त्र प्राकृत कथा ग्रन्थों में लौकिक तत्त्व प्रचुर मात्रा में समाविष्ट हैं, इनमें अनेक लोक-कथाएं स्वतन्त्र रूप से निर्मित हुई हैं। वसुदेव हिण्डी विशुद्ध लोककथा ग्रन्थ है। इसकी लोक कथाएं मनोरंजन के साथ-साथ ज्ञानवर्धन भी करती हैं। इसके शीलमती, धनश्री, विमल सेना, ग्रामीण गाड़ीवान, वसुदत्ताख्यान, रिपुदमन आदि आख्यान सुन्दर लोक-कथानक है। इनमें लोक कथाओं के सभी गुण और तत्त्व विद्यमान हैं।

प्राकृत कथा साहित्य कीं सम्पन्नता का युग ८-९वीं सदी है, इस समय कथानक, शिल्प और भाषा इन तीनों का पर्याप्त विकास हुआ हैं। मूल कथा के साथ अवान्तर कथाओं का कलात्मक संश्लेष इस युग की पहली चेतना हैं। अत स्वाभाविक रूप से लोक में प्रचलित अनेक कथाएं एवं कथातत्व प्राकृत व अपभ्रंश कथाओं में समाहित हुए हैं। हरिभद्र सूरि की समराइच्च कहा और उद्योतनसुरि की कुवलयमाला कहा में लोककथा के पर्याप्त गुण धर्म विद्यमान है। लोकभाषा में लोक परम्परा से प्राप्त कथानक सूत्रों को संघटित कर लोक मानस को आन्दोलित करने वाली लोकानुरंजक कथाएं लिखकर इन प्राकृत कथाकारों ने लोककथा के क्षेत्र में अनुपम योगदान दिया हैं। विश्लेषण करने पर इन प्राकृत-कथावृत्तियों में निम्नांकित लोककथा के तत्व उपलब्ध हैं —[2]

१. लोक मंगल की भावना	२. धर्म श्रद्धा
३. कुतूहल	४. मनोरंजन
५. अमानवीय तत्व	६. अप्राकृतिकता
७. अतिप्राकृतिकता	८. अन्धविश्वास
९. अनुश्रुत मूलकता	१०. हास्य विनोद
११. साहस का निरूपण	११. जनभाषा का प्रयोग
१३. मिलन-बाधाएं	१४. प्रेम के विभिन्न रूप
१५. उपदेशात्मकता	इत्यादि।

यहां इन सभी लोककथा के तत्त्वों का उदाहरण देना सम्भव नहीं है। 'अतिप्राकृतिकता' तत्व से सम्बन्धित समराइच्चकहा के अष्टम भव की एक घटना द्रष्टव्य है—

एक दिन कोशलाधिपति को उनका घोड़ा भगा कर एक जंगल में ले गया, वहां मनोहरा नाम की यक्षिणी कुमार के अद्भुत सौन्दर्य को देखकर मुग्ध हो गयी और उसने कुमार से प्रेम याचना की किन्तु कुमार ने मना कर दिया, एक दिन कुमार की पत्नी सुसंगता का रूप बनाकर वह यक्षिणी कुमार के पलंग पर सो गयी तथा सुसंगता

---

२. डा० शास्त्री का शोध प्रबन्ध–(पृ० २४५–२८०) द्रष्टव्य

के समान ही उसने कुमार के साथ आचरण किया जब वास्तविक सुसंगता शयन कक्ष में आयी तो पति के बगल में अपनी ही आकृति की अन्य स्त्री को सोते देखकर आश्चर्य चकित हो गयी, उसने पति से अनुरोध किया कि आप इस धोखेबाज स्त्री को हटा दीजिए, पर राजकुमार ने वास्तविक पत्नी को ही नकली समझकर घर से निकाल दिया।

लोककथा का प्रधान तत्त्व कथानक रूढ़ि हैं। कथानक रूढ़ि के आदि स्रोत के रूप में लोक प्रचलित अनेक संस्कार विश्वास एवं आचारों को स्वीकार किया जा सकता है। प्राकृत कथाओं में अनेक कथा रूढ़ियों का प्रयोग हुआ है। यथा-(१) लोक प्रचलित विश्वासों से सम्बद्ध (२)अमानवीय शक्तियों से सम्बद्ध (३) अतिमानवीय प्राणियों से सम्बद्ध (४) काल्पनिक रूढियां (५) सामाजिकता की द्योतक रूढ़िया (६) मन्त्र-तन्त्र सम्बन्धी (७) पशु-पक्षी सम्बन्धी तथा (८) आध्यात्मिक अभिप्राय आदि। ये रूढ़ियां भारतीय साहित्य में हर जगह मिल जायेंगी, किन्तु प्राकृत कथाओं की विशेषता यह है कि उन्होंने लोक जीवन में से अनेक ऐसी कथानक-रूढ़ियों का निर्माण किया है, जिनका अब तक साहित्य मे प्रयोग नहीं हुआ था, अतः अभिजात साहित्य तक लोक संस्कृति को पहुंचाने में प्राकृत कथा साहित्य द्वारा किया गया प्रयत्न सर्व प्रथम है।

अपभ्रंश कथाओं ने प्राकृत साहित्य की अनेक लोककथाओं को नया रूप प्रदान किया है। 'भविसयत्तकहा' उनमें मे एक है। इसका सांस्कृतिक अध्ययन डा. देवेन्द्रकुमार शास्त्री ने प्रस्तुत किया है, जिसमें अपभ्रंश साहित्य में प्रयुक्त लोक तत्त्वों का भी विवेचन भी किया गया है।[3] प्राकृत एवं अपभ्रंश लोककथाओं का अन्य भारतीय लोक कथाओं के साथ तुलनात्मक अध्ययन अपेक्षित है। डा. सत्येन्द्र ने कुछ कथाओं की लोकयात्रा का विवेचन प्रस्तुत कर इस क्षेत्र में मार्ग प्रशस्त किया है।[4]

लोकोक्तियां—लोक साहित्य में लोकोक्तियों, पहेलियों, मुहावरों आदि का विशेष महत्व है, इनके द्वारा लोकचिन्तन धारा का प्रतिनिधित्व होता है। प्राकृत साहित्य में इनकी भरमार है। उदाहरण स्वरूप कुछ दृष्टव्य है—

१ मरइ गुडेण चिय तस्स विसं दिज्जए किं व।
—जो गुड़ देने से मर सकता है उसे विष देने की क्या आवश्यकता है?

२. किं न सम्भवन्ति लच्छिनिलयेसु कमलेसु किमओ
(समरा० ४.२६८)

—क्या सुन्दर कमलों में कीड़े नहीं होते?

३. हत्यठियं कंकणयं को भण जोएह आरिसए?
(ज्ञानपंचमी कहा)

—हाथ कंगन को आरसी क्या?

४. न हि गेहम्मि पलित्ते अवडं खणिउं तरइ कोई
(—भव भावना)

—घर में आग लगने पर क्या कोई कुंआ खोद सकता है?

---

३. 'भविसयत्त कहा और अन्य अपभ्रंशकाव्य' भारतीय ज्ञानपीठ १९७१
४. 'मध्ययुगीन हिन्दी साहित्य का लोकतात्विक अध्ययन'

३. लोक भाषा

समस्त प्राकृत साहित्य की भाषा लोकभाषा है। लोकजीवन की जब बात कहनी है तो उसी भाषा में कहना उपयुक्त होगा जिसे जन मानस हृदयंगम कर सके, प्राकृत कथाकारों ने देशी भाषा को विशेष महत्व दिया है, कुवलयमालाकहा पढ़ने का अधिकारी उसको समझा गया है. जो देशी भाषा का अच्छा जानकार हो।[५] यही कारण है कि इस ग्रन्थ में जैसे पात्रों की रचना है, वैसी ही उनकी भाषा विभिन्न देशों के व्यापारी अपनी-अपनी लोक भाषाओं में बात करते हैं। अन्य प्राकृत ग्रन्थों में भी अनेक ऐसे लोक शब्द मिलते हैं जो आज भी प्रान्तीय जन भाषाओं में प्रयुक्त होते हैं।[६]

इस प्रकार प्राकृत साहित्य में लोक साहित्य के उपयुक्त तत्व–धर्मगाथा, लोककथा, लोकोक्तियां, लोकभाषा आदि प्राप्त होते हैं। इनके अतिरिक्त लोक संस्कृति के विभिन्न अंगों का समावेश भी इसमें हुआ है। सम्पूर्ण प्राकृत साहित्य विभिन्न युगों के लोक जीवन का प्रतिबिम्ब उपस्थित करता है।

४. लोकजीवन

प्राकृत कथाओं में प्रायः मध्यमवर्गीय पात्रों के जीवन को लोक वातावरण में प्रस्तुत किया गया है, अतः ग्रामीण और लोक जीवन के विविध दृश्य इस साहित्य में देखने को मिलते हैं, उन्हें प्रमुख पांच भागों में विभक्त कर सकते हैं— (१) ग्राम्य वातावरण (२) पारिवारिक जीवन (३) रीति-रिवाज (४) त्योहार-पर्व एवं (५) लोकानुरंजन इनमें से प्रत्येक के कुछ दृश्य उपस्थित है।—

ग्राम्य वातावरण—गाहासत्तसई गांवों के उल्लास और स्वतन्त्र जीवन का पूर्ण प्रतिनिधित्व करती है। एक गांव की सुबह का वर्णन देखें— प्रातःकाल होने पर गाय चरने चल देती, खोंचे वाले अपने व्यापार के लिए निकल पड़ते, लुहार अपने काम में लग जाते, किसान अपने खेतों में चले जाते, मच्छीमार मछली पकड़ने निकल पड़ते, खटीक लाठी लेकर कसाईखाने में पहुंच जाते, माली फूलों की टोकरी ले गांव में निकल पड़ता, राहगीर रास्ता चलने लगते और तेली कोल्हुओं में तेल पेरने लगते।[७]

दूसरा दृश्य गांव में पडे दुष्काल का है—बारह वर्ष तक अनावृष्टि हुई, उससे औषधियां नहीं पनपे, वृक्ष नहीं फले, फसल व्यर्थ हो गयी, पशुओं का चारा नहीं उगा। केवल पवन चलता रहा, धूल उड़ती रही, पृथ्वी कंपती रही, मेघ गरजते रहे, उल्काएं पड़ती रही, दिशाएं गूंजती रही और बारह सूर्यों के तेज जैसा कठोर ताप वाली गर्मी पड़ती रही।[८]

—वर्षा ऋतु में गांव में मूसलाधार पानी बरस रहा है। झोंपड़ी में टप-टप पानी चू रहा है।

---

५. जो जाणइ देसीओ भाषाओ लक्खणाइं धाऊ य।
वय–णय–गाहा–छेयं कुवलयमालं पि सो पढउ ॥ —कुव. २८१-१३

६. द्रष्टव्य लेखक का निबन्ध–प्राकृत अपभ्रंश और आधुनिक भारतीय भाषाएं

७. निशीथिचूर्णी–१.५२२

८. कुवलयमालाकहा, पृ. ११७, १२-१५.

किसान की पत्नी अपने प्यारे बच्चे को बचाने के लिए उस पर झुककर पानी की बुंदे अपने सिर ले रही है, किन्तु अपनी दरिद्रता के लिए रोती हुई उसे यह नहीं पता कि वह अपने नयनों से झरते जल से बच्चे को भिजों रहीहै ।[९]

पारिवारिक जीवन—प्राकृत साहित्य में प्रायः संयुक्त परिवारों का चित्रण प्राप्त होता है, जो लोकजीवन में प्रमुख रहा है। परिवार के सभी लोग एक ही स्थान पर रहते, एक ही जगह पकाया हुआ भोजन करते तथा सर्व सामान्य जमीन-जायजाद का उपभोग करते। स्त्रियां छरने-पछारने, पीसने-कूटने, रसोई बनाने, पानी भरने और बर्तन मांजने का काम करती थी। मिलकर भी रहती और लड़ती-झगड़ती भी। इन सबके विवरण प्राकृत की लोककथाओं में हैं।

आदर्श गांव की गृहणी का एक चित्र द्रष्टव्य है—

भुंजइ भुंजियसेसं सुप्पइ सुप्पम्मि परियणे सयले।
पढमं चेय विबुज्झइ घटस्स लच्छी न मा घरिणी ।।

—जो बाकी बचा हुआ भोजन करती है, सब परिजनों के सो जाने पर स्वयं सोती है, सबसे पहले उठती है, वह गृहिणी ही नहीं,--घर की लक्ष्मी है। परिवार की प्रतिष्ठा और पाहुने सत्कार के प्रति उसका कर्त्तव्य देखिए — किसी प्रिय पाहुने के आ जाने पर उसने अपना मंगलवलय बेच दिया इस प्रकार इस कुल बालिका की दयनीय दशा देखकर सारा गांव रो पड़ा।[१०]

न मालूम गाँवों के पारिवारिक जीवन के ऐसे कितने चित्र इस साहित्य में उपलब्ध हैं। जन-जीवन को ज्यों का त्यों कथाओं में उतारकर रख दिया गया है। केवल एक उदाहरण पर्याप्त है। एक गरीब व्यक्ति का दैनिक-जीवन के प्रति चिन्तन द्रष्टव्य है——

'मेरे घर में पैसा नहीं हैं और लोग उत्सव मनाने लगे हैं, बच्चे मेरे रो रहे हैं, अपनी घर वाली को मैं क्या दूं? कुछ भी तो नहीं मेरे पास देने को मेरे स्वजन-सम्बन्धी अपनी समृद्धि में मस्त हैं, दूसरे धनी लोग भी तिरस्कार ही करते हैं, वे स्थान नहीं देते। आज मेरे घर में घी, तेल, नमक, ईंधन और वस्त्र कुछ भी तो नहीं है, तौनी (मिट्टी की कुटिया) भी आज खाली है, कल कुटुम्ब का क्या होगा? घर में कन्या सयानी हो रही है, लड़का अभी छोटा है इसलिए धन कमा नहीं सकता। कुटुम्ब के लोग बीमार हैं और दवा लाने के लिए पास में पैसे नहीं। घरवाली गुस्से से मुंह फुलाए बैठी है, बहुत से पाहुने घर में आये हुए हैं। घर पुराना हो गया है, वह चूता है, सब जगह पानी गिर रहा है। मैं करूं तो क्या करूं? साहूकार कर्ज और मांगते हैं। कहा जाऊं?[११]

साहित्य में इससे अधिक यथार्थ की अभिव्यक्ति और क्या होगी? प्राकृत के अन्य ग्रन्थों में ननद—भावज, सास—बहू और देवरानी-जिठानी के झगडे-टंटों का सजीव वर्णन मिलता है, जिसका लोक-जीवन से हमेशा घनिष्ठ सम्बन्ध रहा है।

रीति-रिवाज—लोक-जीवन अनेक रीति—रिवाजों से भरा होता है, जन्म से लेकर मृत्यु तक

---

९. गाथासप्तशती-अन्य दृश्यों के लिए द्रष्टव्य
१०. वही
११. प्राकृतपद्यों के लिए द्रष्टव्य—डा. जैन, प्रा. सा. इ. पृ. ५११

कई सामाजिक रीतियाँ निभानी पड़ती हैं। प्राकृत कथाओं में दोहद, पुत्रजन्म, विवाह, धार्मिक अनुष्ठान आदि अवसरों पर कई परम्पराएं निभाने का उल्लेख मिलता है। गर्भकाल में दोहद का बहुत महत्व था–भिखारिन से लेकर पटरानी तक के दोहद पूरे किये जाते थे, दोहदों के विचित्र प्रकार उपलब्ध होते हैं।[१२] कोई पत्नी अपने पति का मांस खाने का दोहद प्रगट कर उसके प्राण संकट में डाल देती थी तो कोई ऐसी भी पत्नी थी कि उससे पूछे जाने पर अपने दोहद में खाली पानी पीने की इच्छा ही व्यक्त की, जिससे गरीब पति को परेशान न होना पड़े।

पुत्र जन्मोत्सव मनाने के अनेक वर्णन उपलब्ध हैं।[१३] जन्म के बाद परंगमण, चंक्रमण, जेमामण, प्रजल्पन, कर्णवेधन, सम्वत्सर प्रतिलेखन, चोलोमण, उपनयन और कलाग्रहण आदि संस्कार भी मनाये जाने के उल्लेख हैं. इन संस्कारों और हिन्दू संस्कारों में कोई विशेष अन्तर नहीं है, इससे स्पष्ट है कि प्राकृत साहित्य मात्र जैन धर्म का साहित्य था, जनसामान्य की संस्कृति को प्रतिविम्बित करना उसका कार्य था।

पर्व-उत्सव—जैनसूत्रों में अनेक उत्सवों और पर्वों के उल्लेख मिलते हैं। पुण्णभासिणी का उत्सव कौमुदी महोत्सव के नाम से मनाया जाता था। उज्जाणिया-महोत्सव एक प्रकार से वनभोज जैसा था। 'इट्ठगा' नामक एक पर्व में सेवइयां बनायी जाती थीं। इसकी आन के रक्षावन्धन त्योहार से की जा सकती है। खेत में हल चलाने के दिन भी पूजा की जाती थी और भात खिलाया जाता था। कुछ घरेलू त्योहार भी मनाये जाते थे, जिनमें श्राद्ध देवबलि आदि प्रमुख थे। 'सखंडि' नाम से एक बड़ा सामूहिक भोज का आयोजन कर उत्सव मनाया जाता था।[१४]

लोकानुरंजन—लोक जीवन में मनोरंजन के साधन निराले होते हैं। बच्चों के अलग और प्रौढ़ों तथा वृद्धों के अलग। नागरिक जीवन के मनोरंजन के साधनो के अतिरिक्त प्राकृत साहित्य में लोकजीवन में व्यवहृत मनोरंजन के साधनों का भी उल्लेख मिलता है। पर्व-उत्सव के अतिरिक्त लोग विभिन्न प्रकार के खेल-खिलौनों द्वारा अपना मनोविनोद करते थे। कुछ लोक खिलौनों के नाम इस प्रकार हैं–खुल्लय (एक प्रकार की कौड़ी=कपर्दक), वट्टय (लाख की गोली), अडोलिया (गिल्ली), तिन्दूस (गेंद), पोतुल्ल (गुड़िया) और साडोल्लय (कपड़े की गुड़िया). सरयत (धनुष), गोरहग (बैल का खेल), घटिक (छोटा घड़ा बजाते आदि के लिए), डिडिस और चेलगोल (कपड़े की गेंद) आदि खिलौने बच्चों का मनोरंजन करते थे।[१५] कपड़े की गेंद का खेल गड़ा गेंद के नाम से आज भी बुंदेलखण्ड के गांवों में प्रचलित है। इन खिलौनों के अतिरिक्त मल्लयुद्ध, कुक्कटयुद्ध तथा मयूर-पोत युद्ध आदि मनोरंजन के प्रधान साधन थे। लोकजीवन इन्हीं के सहारे जीवंत बना रहता था।

४. लोकविश्वास

मानव समाज में आदि काल से अनेक प्रकार के ऐसे विश्वास, जो तर्क और बुद्धि से परे होते हैं,

---

१२. डा. जैन–जैन आगम साहित्य में भारतीय समाज, पृ. २४०

१३. वही पृ. २४२.

१४. विशेष के लिए द्रष्टव्य–वही पृ. ३६४-६६.

१५. वही, पृ. ३५६-६०

मान्य और प्रचलित रहे हैं। इन अन्धविश्वासों का लोककथाओं में समावेश हैं। अनिवार्य लोकसाहित्य इन से भरा होता है। प्राकृत साहित्य में जो अन्धविश्वास व्यक्त हुए हैं उन्हें इस तरह विभाजित किया जा सकता है—

१. विद्या, मन्त्र और योग
२. जादू-टोना और झाड़-फूंक
३. शुभाशुभ शकुन विचार
४. अलौकिक चमत्कारों से सम्बद्ध।

जैन ग्रन्थों में अनेक विद्याओं और मन्त्रों का वर्णन मिलता है जैन साधु अनेक विद्याओं मन्त्रों के जानकार होते थे। जन-सामान्य में उनके चमत्कार भी दिखाते थे। जन-जीवन में इनका प्रयोग अनेक इच्छाओं की पूर्ति के लिए किया जाता था। ज्ञाताधर्मकथा में पोहिला की कथा आती है। वह जब प्रयत्न करने पर भी अपने पति का प्रेम प्राप्त न कर सकी तो उसने चूर्णयोग, मन्त्रयोग, कार्मणयोग, काम्ययोग, हियपडड्डावण, काउड्डावण, वशीकरण, गुटिका आदि के प्रयोग द्वारा उसे वश में करना चाहा। इसी प्रकार एक परिव्राजक ने मन्त्र और औषधि की शक्ति द्वारा नगर की सभी सुन्दरियों को अपने वश में कर लिया था। (सूत्रकृतांग टीका) लोगों में यह भी मान्यता थी कि मुर्गे का सिर भक्षण करने से राज्यपद प्राप्त होता है।[१६]

जादू-टोने और झाड़-फूंक के भी अनेक चित्र उपलब्ध होते हैं। प्रायः लोग स्नान करने के बाद कौतुक, मंगल, प्रायश्चित आदि करते थे। कौतुक के नो भेद गिनाये हैं—विस्नपन, होम, शिवपरिरय, क्षारदहन, धूप, असदृशवेपग्रहण अवयामन, अवस्तोभन और वन्ध। नजर से बचने के लिए तावीज आदि बांधना वन्ध कौतुक कहलाता था।[१७] कुवलयमाला कहा में पुत्र प्राप्ति के लिए अनेक जादू-टोने और टुटके करने का उल्लेख है।

शुभाशुभ शकुन से सम्बन्धित अनेक कथाए प्राप्त होती हैं।[१८] समराइच्चकहा में चन्द्रकुमार और चन्द्रकान्ता जब कुएं में गिरा दिए जाते हैं तो वहां से छुटकारा पाने के लिए चिन्तातुर होते हैं। तभी चन्द्रकान्ता का वांया और चन्द्रकुमार का दायां नेत्र फड़कने लगता है। इस शकुन को वे शुभ मानकर सन्तोप करते हैं और अन्त में एक सार्थवाह के द्वारा कुए से निकाल लिए जाते हैं। कुवलयमाला कहा में कुमार की विदा के समय शुभ-अशुभ शकुनों पर विचार किया जाता है। विभिन्न दिशाओं, पशु-पक्षी, पेड़-पौधे तथा शारीरिक क्रियाओं से शुभ-अशुभ शकुनों का विचार किया जाता है।

इनके अतिरिक्त यज्ञपूजा वहुवासिनीदेवी, की पूजा, गंगा में अस्थियों का विसर्जन, सिद्धों की साधना आदि कितने ही लोकविश्वास की जानकारी प्राकृत साहित्य के माध्यम से होती है। यद्यपि जैन धर्म ईश्वरकर्तृत्व आदि पर विश्वास नहीं करता, किन्तु उसके साहित्य में इन सब विश्वासों का उल्लेख मिलता है। लौकिक देवी-देवताओं को समाज में विशेष स्थान प्राप्त था। इन्द्र, स्कन्द,

---

१६. डा. जैन–वही, पृ. ३४३-४८.
१७. वही, पृ. ३५२.
१८. वही पृ. ३५६-५८

रुद्र, मुकुन्द, शिव, वैश्रमण, नाग, यक्ष, भूत, आर्या और व्योहक्रिरिया मह का विशेष प्रचलन था। इनके अतिरिक्त वानमंतर, वानमन्तरी, गुह्यक और पिशाचों की भी अर्चना की जाती थीं।[19] उदाहरण के लिए एक भूतकथा ही पर्याप्त है—

'उज्जैनी की दुकानों में अन्य वस्तुओं के साथ भूत भी बिकते थे। एक बार भगुकच्छ का कोई वैश्य उज्जयनि की दुकान से भूत खरीदने आया। दुकानदार ने कहा—भूत मिल सकता है, लेकिन यदि उसे तुम काम न दोगे तो वह तुम्हें मार डालेगा। वैश्य भूत खरीद कर चल दिया। वह उसे जो काम बताता, उसे वह तुरन्त कर डालता। आखिर में तंग आकर वैश्य ने एक खम्भा गड़वा दिया और उसपर उतरते चढ़ते रहने का कार्य बताकर भूत से अपना पीछा छुड़ाया।[20]

कथासरित्सागर में इस प्रकार की कथा आती है तथा वर्तमान में यह कथा प्रचलित है। इस प्रकार प्राकृत साहित्य में उल्लिखित लोकविश्वास आधुनिक लोकविश्वास तुलना की अपेक्षा रखते हैं।

५. लोक कला

लोक संस्कृति की वास्तविक अभिव्यक्ति लोक कला के माध्यम से होती है। लोक कलाओं के अन्तर्गत वे सभी कार्य विशेष परिगणित होते हैं, जिनमें लोक के मूक कलाकारों के सरल हृदय और प्रतिभा को अभिव्यक्ति मिलती है। विभिन्न अवसरों पर बनायी गई मिट्टी व काष्ट की मूर्त्तियां, विवाह आदि उत्सवों पर खींचे गयी रेखानुकृत्तियां मुक्त कंठों से गाया गया संगीत तथा विभोरकर देने वाली उछल-कूद लोककला को मूर्त्तिकला, चित्रकला संगीत और नृत्यकला में विभाजित करती है। समय और प्रकृति के प्रहार से प्राचीन लोककला के हो सकता है अवशेष बहुत थोड़े बचे हों, किन्तु प्राकृत साहित्य में उनके जो उल्लेख मिलते हैं, वे लोककला की समृद्धि लोकप्रियता के उद्घोषक हैं। तत्कालीन संगीत तथा नाट्यकला के लोकरूप दृष्टव्य हैं।

संगीत के वाद्य, नाट्य, गेय और अभिनय ये चार भेद बतलाये गये हैं। स्थानांगसूत्र में षड्ज, ऋषभ, गांधार, मध्यम, पंचम, धैवत और निषाद नामक सात स्वरों का उल्लेख है। इन स्वरों के स्वर स्थान, उच्चारण प्रकट, वाद्यों का सम्बन्ध, स्वरों से लाख, तथा गुण दोषों का भी वर्णन किया गया है।[21] तत, वितत, घन और झुसिर इन चारों प्रकार के वाद्यों का न केवल उल्लेख है, अपितु उनके लगभग ५०-६० भेद-प्रभेदों की भी चर्चा की गयी हैं। कुछ वाद्य तो संस्कृत ग्रन्थों में उल्लिखित वाद्यों के समान है, किन्तु खरमुही, पीरिपिरिया, गौमुखी, तुंबवीणा, कलशी, रिंगिसिया लत्तिया, वाली, परिल्ली, वक्तगा आदि वाद्य नये हैं, जिनका सम्बन्ध प्रदेश विशेष के लोकवाद्यों से हो सकता है।

जम्बुद्वीप प्रज्ञप्ति (५, पृ० ४१३) में उक्खित्त (उक्षिप्त), पत्तम (पादात्त), मन्दय (मन्दक) और रोविंदय अथवा रोइया वसाण (रोचितावसान) इन चार प्रकार के गेय संगीत का उल्लेख है। सम्भवतः

१९. वही, पृ. ४२९-५०
२०. बृहत्काल्यभाष्यवृति, ३.४२१४-२२।
२१. स्थानांगसूत्र, ७, पृ. ३७२.

इन गेयों से शरीर की विभिन्न क्रियाओं के उत्क्षेपन निपतन आदि द्वारा संगीत को प्रस्तुत किया जाता रहा होगा ।

नाट्यों के भी चार भेद प्राप्त होते हैं—अंचिय (अंचित), रिभिय (रिभित), आरभड (आरभट) और भसोल । इनका विशेष वर्णन नहीं दिया गया है किन्तु नाट्य विधि में अभिनय का होना आवश्यक माना गया है । चार प्रकार के अभिनय बतलाये गये है—दिट्ठंतिय (दार्ष्टान्तिक), पाण्डुसुत, सामन्तोवयणिय (सामन्तोंपयातनिक) और लोग मज्मवसित (लोक-मध्यावसित) ।[२२] अभिनय के चारों भेद भरत के नाट्य शास्त्र में वर्णित अभिनय भेदों से भिन्न प्रतीत होते हैं । यदि इनके शाब्दिक अर्थ लिये जाय तो (१) मुखतक अंगप्रक्षालन करने वाला अभिनय (२) पाण्डुसुत का कथानक व्यक्त करने वाला अभिनय (३) समान रूप से अंग संचालन द्वारा किया गया अभिनय और (४) जनसमुदाय के बीच में ही किये जाने वाला अभिनय की प्रतीति इनसे होती है ।

जम्बूद्वीप प्रज्ञप्ति में अभिनय शून्य नाटकों का भी उल्लेख है । यथा—उत्पात (आकाश में उछलना) निपात, संकुचित, प्रसारित, भ्रान्त, सम्भ्रान्त आदि नाटक । राजप्रश्नीय सूत्र में बत्तीस प्रकार की नाट्यविधि का उल्लेख हैं । उनमें से कुछ तो भरत नाट्यशास्त्र मे उल्लिखित है किन्तु शेष नाट्यविधियां लोकनाट्य के क्षेत्र में खोजी जा सकती है ।

लोक नाट्य से सम्बन्धित कुवलयमाला का एक प्रसंग उल्लेखनीय है । एक गांव में पृथ्वी को धन धान्य से समृद्ध देखकर फसल काटने के समय नट, नर्तक, मुष्टिक, और चारणों का एक दल इधर उधर घूमता हुआ आ पहुंचा । गांव के मुखिया ने उन नटों के तमाशे को देखने के लिए सारे गांव में निमन्त्रण दिया । दिन में काम-काज के कारण ठीक अवसर न जानकर रात्रि के प्रथम पहर में उसे दिखाने की व्यवस्था की गयी । ग्रामीण जनता घर के सब कार्यों को निपटाकर अपने-अपने आसन और मशाल ले लेकर तमाशा देखने पहुंच गई । एक परिवार के तो सभी लोग उसे देखने का मोह संवरण न कर सके और गये, किन्तु घर की वहु नन्दिनी पति के चण्डस्वभाव के कारण अपने जीवन की रक्षा करती हुई घर पर ही रह गयी । काफी रात्रि तक वह नाटक चला, जिसमें स्त्रीपात्र भी थे । तथा संगीत और गीत आदि द्वारा किसी शृंगार-प्रधान आख्यान को अभिनीत किया गया ।[२३]

इसके अतिरिक्त अन्य नाट्यविधियों का उल्लेख भी प्राकृत साहित्य में मिलता है । नट लोग स्त्री का वेषधारण कर नृत्य करते थे । रास का भी उल्लेख मिलता है । गांधर्व, नाट्य आदि की शिक्षा देने की व्यवस्था के उल्लेख कथाकोष प्रकरण में आते हैं । इस प्रकार की लोक कलाओं द्वारा प्रजा मनोरंजन करने वाले कितने ही लोगों के नाम आते है । उदाहरण के लिए नट, नर्तक जल्ल (रस्सी पर खेल दिखाने वाले) मल्ल, मोष्टिक, विदूषक, कथक, लंख (उछलने कूदने वाले), मंख (चित्रपट दिखाने वाले), लूणइल्ल, तुम्ववीणिक भोजक और मागध के नाम लिए जा सकते है ।[२४]

---

२२. स्थानांग, ४, पृ. २७१

२३. तुलनात्मक अध्ययन के लिए द्रष्ठव्य—लेखक का शोध प्रवन्व ।

२४. डा. जैन वही, पृ. ३६६

मंत्रों की परम्परा तो आज भी पट दिखाने वाले भोमा लोगों से की जा सकती है ।[२५]

६. लोक चिकित्सा

प्राकृत साहित्य में आयुर्वेद से सम्बन्धित पर्याप्त सामग्री उपलब्ध होती है, रोगों के प्रकार, रोगोत्पत्ति के कारण व्याधियों के देशी उपचार, घावों के भरने के लिए विविध घृत और तेल का प्रयोग, छोटे-मोटे रोगों के इलाज के लिए घरेलू चिकित्सा आदि के विषय पर डा० जैन ने विस्तृत जानकारी प्रस्तुत की है ।[२६] प्राकृत साहित्य में इस सबके उल्लेख का एक कारण यह है कि जैन साधु-साध्वियां हमेशा पैदल प्रवास करते थे । रास्ते चलते जो छोटे-छोटे रोथ या व्रण उन्हें होते थे, गांववासी देशी दवाइयों के उनका इलाज कर देते थे । अत: साहित्य सृजन के समय इन सब देशी उपचारों का उसमें उल्लेख हो गया है । दो रोगों के देशी उपचार द्रष्टव्य हैं--

--एक बार किसी जैन भिक्षु को कृमिकुष्ठ की बीमारी लग गयी, वैद्य ने तेल, कंवलरत्न और गोशीर्ष चन्दन बतलाया, तीनों चीजें श्रावकों ने एकत्र की, साधु के शरीर में तेल की मालिश की गयी, जिससे तेल उसके रोमकूपों में भर गया ।इससे कृमि संक्षुब्ध होकर नीचे गिरने लगे । साधु को कंवल उढा दिया और सब कृमि कंबल पर लग गये । बाद में शरीर पर गोशीर्ष चन्दन का लेप कर दिया गया, दो-तीन बार इस तरह करने से कोढ़ बिल्कुल ठीक हो गया ।[२७]

--सर्प के काट लेने पर विभिन्न इलाज किये जाते थे, किसी राजा को महाविषधारी सर्प ने काट लिया, लेकिन रानी का मूत्रपान करने से वह स्वस्थ हो गया ।[२८] सर्पदंश पर मिट्टी का लेप कर दिया जाता था या फिर रोगी को मिट्टी खिलाते थे, ताकि खाली पेट विष न चढ़े, कभी कभी काटे हुए स्थान को दाग दिया जाता और रोगी को रात भर जगाये रखा जाता । कभी-कभी सुवर्ण को घिसकर रोगी को पिला दिया जाता था ।

इस प्रकार प्राकृत साहित्य में लोक-संस्कृति के सभी पक्षों-लोक साहित्य, भाषा, जीवन, विश्वास, कला, चिकित्सा आदि--से सम्बन्धित पर्याप्त सामग्री उपलब्ध होती हैं पालि और अपभ्रंश साहित्य की खोज से इसमें और वृद्धि हो सकती है, लोक संस्कृति की सामग्री की विविधता और प्रचुरता को देखते हुए यह निःसन्देह रूप से कहा जा सकता है कि 'प्राकृत साहित्य का लोकतात्विक अध्ययन' शोध एवं अनुसंधान का एक स्वतन्त्र विषय है । इस पर निष्ठा और परिश्रमपूर्वक किया गया कार्य निश्चय ही भारतीय लोक संस्कृति पर महत्वपूर्ण प्रकाश डालेगा ।

---

२५. लेखक का निवन्ध--पटचित्रावली की लोक परम्परा द्रष्टव्य ।
२६. डा जैन--वही, पृ. ३०७ से ३१८
२७. आवश्यकचूर्णी पृ. १३३
२८. वृहत्कल्पसूत्र, ५.३७ ।

जैन कला में भारतीय देव-प्रतीकों का रूपान्तर

☐ श्री गोपीलाल अमर

जैन कला में दैव प्रतीकों की वर्तमान स्थिति

जैन समाज में प्रतीकात्मक देव-देवियों की उपासना कदाचित् उतनी ही प्रचलित है जितनी तीर्थंकरों की। इन देव-देवियों की मूर्तियां भी तीर्थंकरों की मूर्तियों से संख्या में कम न होंगी। उनकी उपासना पहले और तीर्थंकरों की उपासना बाद में करने की प्रथा भी दृष्टिगत होती है। एक ही शिला पर तीर्थंकर-मूर्ति की अपेक्षा देवी-मूर्ति का आकार बीसगुना तक बनाया जाता रहा। देव-देवियों के साथ उनके गण, परिजन, अनुचर महत्तर आदि की उपासना के विधान भी किये गये।[1]

जैन कला में दैव प्रतीकों का मूलतः अभाव

इतना होने पर भी विचारणीय है कि जैन धर्म में देव-देवियों की उपासना का मूलतः अभाव है। प्राचीन जैन साहित्य में उसके अस्तित्व का विधान है और उनकी विभिन्न गतिविधियों के उल्लेख भी हैं, पर उनके प्रतीकीकरण का विधान तो क्या, संकेत भी नहीं हैं। प्राचीन साहित्य में यह कहीं भी नहीं लिखा है कि अमुक देव या देवी की मूर्ति किस धातु की हो, उसका आकार-प्रकार क्या हो और वह किस आसन या मुद्रा में हो। उपासक दशांग और भगवती सूत्र आदि ग्रन्थों में कई श्रावकों का जीवनचरित्र विस्तार पूर्वक लिखा गया है, पर कहीं भी यह उल्लेख नहीं है कि अमुक श्रावक ने किसी दैव प्रतीक की उपासना की। समवायांग सूत्र और दशाश्रुतस्कन्ध में वर्णित तेतीस आशातनाओं में से एक भी ऐसी नहीं जो जैन प्रतीक से सम्बन्ध रखती हो। छेदसूत्र में प्रतिपादित अनेक प्रायश्चितों में से एक भी ऐसा नहीं जो दैव प्रतीकों की अविनय आदि के कारण किया

---

१. ओं मनोवेगादेव्यै स्वाहा ।१। मनोवेगायरिजनाय स्वाहा ।२। मनोवेगानुचराय स्वाहा ।३। मनोवेगामहत्तराय स्वाहा ।४। अग्नेय स्वाहा ।५। अग्निलाय स्वाहा ।६। वरुणाय स्वाहा ।७। प्रजापतये स्वाहा ।८। ओं स्वाहा ।९। भूः स्वाहा १०। भुवः स्वाहा ।११। स्वः स्वाहा ।१२। ओं भूर्भुवः स्वः स्वाहा ।१३। स्वधा स्वाहा ।१४।
हे मनोवेगादेविः स्वगणपरिवारपरिवृत्तायै तुभ्यमिदमर्घ्यं पाद्यं जलं गन्धमक्षतं पुष्पं चरूं दीपं धूपं फलं बलिं स्वस्तिकं यज्ञभागं च यजामहे प्रतिगृहणतां स्वाहा ॥
दिगम्बर जैन व्रतोद्यापन संग्रह : श्री शान्तिसागर दि० जैन ग्रन्थमाला, ईडर, साबरकांठा, १९५४ ई. पृ. २९७।

जाता हो। मुनि या श्रावक के आचार में, वस्तुतः देव प्रतीकों की उपासना की जरा भी गुंजाइश नहीं क्योंकि सभी प्रकार के देवों का दर्जा किसी भी श्रावक से नीचा है। इतना ही नहीं, स्वामी समन्तभद्र के देव-देवियों की उपासना का निषेध भी किया है, क्योंकि वे रागद्वेष से मलिन होते हैं।[२] असल बात यह है कि जैन और जैनेतर धर्मों में जो पारस्परिक आदान प्रदान चलता रहा है उसी के दौरान जैन धर्म में देव प्रतीकों का आदान हो गया। यह दूसरी बात है कि उन्हें तुरन्त ही जैन सांचे में ढाल दिया गया।

जैन कला में देव प्रतीकों के आदान के कारण

जैन कला में देव प्रतीकों के आदान के कई कारण हैं—

१. जैनेतर धर्मों में प्रचलित देव प्रतीकों की पूजा का जैन भक्तों पर मनोवैज्ञानिक प्रभाव पड़ा अतः उन्होंने, शास्त्रविहित न होने पर भी देव प्रतीकों को उसी प्रकार मान्यता दे दी जिस प्रकार बौद्ध भक्तों ने, स्वयं महात्मा बुद्ध के द्वारा निषिद्ध होने पर भी बुद्ध प्रतिमा को मान्यता दी।

२. तीर्थंकर मूर्ति की उपासना में वीतरागता की प्रधानता है, उसमें तामझाम और आडम्बर को स्थान नहीं जिसे कुछ भक्त विशेष रूप से पसन्द करते आये हैं। ऐसे भक्तों ने देव प्रतीकों को जिनकी उपासना में तामझाम वगैरह की काफी गुंजाइश है, जैन कला में रूपान्तरित करने की खास पहल की।

३. कलागत प्रतिस्पर्धा की भावना ने भी अनेक देव प्रतीकों को जैन कला में स्थान दिलाया। इस प्रतिस्पर्धा का एक बहुत ही अच्छा उदाहरण है तीर्थंकर की माता की मूर्ति निर्माण।[३] शेषमयी विष्णु की और बालक बुद्ध के साथ लेटी मायादेवी की मनोहरी मूर्तियों को देखकर, ऐसी ही मुद्रा में मूर्त्यंकन के लिए किसी जैन पात्र की खोज में जैन भक्त बेचैन हो उठा होगा। तीर्थंकर को लेटा हुआ दिखाया नहीं जा सकता, कोई देव पूजा का पात्र नहीं, कोई साधु अलंकरण और परिकर के साथ अंकित नहीं होता और किसी राजा या महापुरुष को जैन मन्दिर में मूर्त्यंकित नहीं किया जा सकता। आखिर कुछ कुशाग्रबुद्धि भक्तों ने तीर्थंकर की माता को उपर्युक्त मुद्रा में मूर्त्यंकित करके जैन कला को वैष्णव और बौद्ध कला से पीछे न रहने दिया।

४ चमत्कार प्रियता मुख्य कारण थी। इष्ट-सिद्धि और अनिष्ट परिहार का चमत्कार दिखाने के लिए तीर्थंकर तो दौड़े नहीं आते, उनके भक्त देव देवियां ही यह कार्य कर सकते थे। अतः बहुत सी होनी-अनहोनी कथाएं और मन्त्र-तन्त्र जोड़कर अनेक देव प्रतीकों को जैन कला में स्थान दिया गया।

---

२. 'वरोपलिप्सयाशावान् रागद्वेषमलिमसाः।
देवता यदुपासीत् देवतामूढमुच्यते ॥'
रत्नकरकण्ड श्रावकचार श्लोक २३।

६. प्रसंगवश यह मानवी मूर्ति का उदाहरण दिया गया है, देव मूर्तियों के उदाहरण भी दिये जा सकते हैं। सिंह गरुड़ आदि वाहनों, अतिरिक्त मुखों और भुजाओं तथा आयुधों वाली मूर्तियां ऐसी ही हैं।

५. भट्टारक संप्रदाय की भौतिकवादी नीति ने दैव प्रतीकों को सर्वाधिक सक्रिय प्रोत्साहन दिया। आठवीं शती के आसपास उदित हुआ यह संप्रदाय साधुसंस्था का सरलीकृत संस्करण था। भट्टारकों ने शारीरिक कष्टों से बचने और ऐहिक सुख पाने के लिए देव-देवियों की उपासना पर अधिक जोर दिया, जिनके नाम पर शासकों और धनाढ्यों से दान-दक्षिणा प्राप्त करते-करते कुछ भट्टारक भौतिक सुखों में इतने लीन हुए कि उनके ठाठ-बाठ राजाओं के समान होने लगे।[४] इस सप्रदाय में कदाचित् कुछ जैनेतर व्यक्ति भी आ मिले और उन्होंने अपने इष्ट दैव प्रतीकों का दैवीकरण किया।

६. नारी के प्रति स्वाभाविक आकर्षण में जैन भक्त भी आये। यही कारण है कि देवों की अपेक्षा देवियों की मूर्तियां न केवल संख्या में अधिक बनीं, बल्कि आकार में भी बड़ी बनीं। उन्हें आकर्षक मुद्राओं में अंकित करने का कारण भी यही है।

७. राजनीतिक प्रभाव ने भी गंगा, जमुना आदि अधिष्ठात्री देवियों के प्रतीकों को जैन कला में भी स्थान दिया।

इन सब कारणों से, इसमें सन्देह नहीं रह जाता कि जैन कला में मूलतः दैव प्रतीकों का अभाव है। अब यह देखना है कि उन्हें जैनेतर कला से कब और किस रूप में अपनाया गया।

जैन कला में दैव प्रतीकों का विकास-

भगवान् महावीर के समय यक्षों के आयतन बनते थे। उनमें यक्षों की मूर्तियां नहीं होती थीं और कदाचित तीर्थंकर मूर्तियां स्थापित की जाने लगीं, इसलिए यक्षायतनों को जिनायतन कहा जाने लगा। जिनायतनों का निर्माण स्वतन्त्र रूप से भी होने लगा। कुषाण काल में कुछ दैव प्रतीकों को जिनायतनों के प्रवेश द्वार पर स्थान मिला। वे अपने विशिष्ट लक्षणों से यह सूचित करते थे कि इस जिनायतन में अमुक तीर्थंकर की मूर्ति स्थापित है। कालान्तर में इन प्रतीकों ने जिनालय के भीतर प्रवेश किया और क्रमशः गर्भगृह के प्रवेश द्वार पर उत्कीर्ण होने लगे। गुप्तोत्तर काल में इन्हें तीर्थंकर के सिंहासन में नीचे स्थान दिया जाने लगा। उनका यह स्थान आज भी तीर्थंकर के नीचे है, किन्तु कलचुरि काल के आते-आते उनका आकार काफी बड़ा हो गया। बाद में पूर्वोक्त कारणों से, दैव प्रतीकों का आकार इतना बड़ा होने लगा कि तीर्थंकर-मूर्ति से देवी मूर्ति बीस गुनी तक बड़ी बनाई जाने लगी। चन्देल काल तक देवी मूर्ति के समक्ष तीर्थंकर मूर्ति का महत्त्व लुप्त प्राय हो गया और अन्ततः तीर्थंकर मूर्ति के बिना ही देव देवियों की मूर्तियां निर्मित होने लगीं। इस समय मत्तमयूरियों, कौल-कापलिकों, भट्टारकों आदि के प्रभाव से दैव प्रतीकों का महत्त्व जैन कला में भी इतका बढ़ा कि जैन मन्दिर में भीतर बाहर ऊपर नीचे, सर्वत्र दैव देवियों की मूर्तियां दृष्टिगत होने लगीं और उनके नाम पर स्वतन्त्र मन्दिरों का निर्माण तक हुआ। इन अद्भुत अपूर्व मूर्तियों को देखकर यह समझते देर नहीं लगती कि जैन कला दैव प्रतीकों का मूलतः अभाव क्यों है।

---

४. डा, विद्याधर जोहरापुरकर : भट्टारकसंप्रदाय, प्रस्तावना पृ. ४-५ : जीवराज जैन ग्रन्थमाला, सोलापुर, १६५८ई.।

५. मुनिश्री हजारीमल स्मृतिग्रन्थ, पृ. १८६-६१, ब्यावर, १६६५ ई

जैन कला में रूपान्तरित कुछ देव प्रतीक

१. धरणेन्द्र-पद्मावती पूर्व जन्म में नाग-नागिन थे। एक वैदिक तापस द्वारा उनकी आहुति दी ही जाने वाली थी कि युवराज पार्श्वनाथ ने उन्हें मरणासन्न अवस्था में देखकर णमोकार मन्त्र सुनाया जिसके प्रभाव से वे भवनवासी देव-देवी हुए। जब भगवान् पार्श्वनाथ पर कमठ ने उपसर्ग किया तब इन दोनों ने उनकी रक्षा की।[६] पद्मावती की मूर्तियां जैन कला में सर्वाधिक हैं। कहते हैं, विद्यानुवाद पूर्व नामक आगम ग्रन्थ में जो अब अनुपलब्ध बताया जाता है, इस देवी का वर्णन था जिसके आधार पर आठवीं शती के मुनि सुकुमार सेन ने 'भैरवपद्मावती कल्प' लिखा। किन्तु विद्यानुवाद पूर्व में पद्मावती की मूर्ति का भी विधान रहा होगा, यह विश्वसनीय नहीं, क्योंकि मुनि सुकुमारसेन जैसे अनेक साहित्यकारों ने बात तो कही है अपनी और उस पर मुहर लगायी गौतम गणधर या भरत चक्रवर्ती या किसी प्राचीन अनुपलब्ध ग्रन्थ की। तीसरी शती के पादलिप्त सूरि की निर्वाणकालिका में और छठी शती के आचार्य यति वृषभ की तिलोयपण्णत्ती में पद्मावती का नाम है किन्तु उसके प्रतीक का कोई निर्देश नहीं। इसके अनन्तर अवश्य इस देवी के प्रतीक सम्बन्धी अनेक विस्तृत विधान मिलते हैं। पर वे सब भट्टारक परम्परा के परिणाम हैं, उनमें से एक भी ऐसा नहीं जो इस प्रतीक का मूल जैन कला में होना सिद्ध कर सके।

२. अम्बिका पूर्व जन्म में अग्निला नाम की ब्राह्मणी थी। एक बार उसने निमन्त्रित ब्राह्मणों के पहले एक जैन मुनि को भोजन करा दिया इस पर नाराज होकर उसके पति सोमशर्मा ने उसे उसके पुत्र शुभंकर और प्रभंकर के साथ घर से निकाल दिया। वह गिरिनगर पर्वत पर एक अमराई में पहुंची जहां उसके पुत्रों के लिए एक आम्रवृक्ष असमय में ही इसलिए फल गया कि उसने मुनि को भोजन कराया था। इसी समय गिरिनगर ग्राम में आग लग गयी जिससे पूरा ग्राम भस्म हो गया। केवल शोमशर्मा का घर बच रहा। सोमशर्मा ने समझा कि इस अतिशय का कारण अग्निला ने समझा कि वह उसे और कष्ट देने आ रहा है अतः वह दोनों पुत्रों के साथ पर्वत से कूद कर मर गयी। उसके वियोग से विह्वल होकर सोमशर्मा भी मर गया और सिंह बन कर अग्निला के वाहन के काम आने लगा जो अब अम्बिका के नाम से बाइसवें तीर्थंकर नेमिनाथ की यक्षी बन चुकी थी।[७] अम्बिका की प्राचीनतम मूर्तियां मथुरा से प्राप्त हुई हैं। इनका निर्माण काल दूसरी से सातवीं शती तक माना जाता है।[८] इन मूर्तियों का निर्माण एक आकस्मिक घटना थी क्योंकि इन शताब्दियों में मथुरा के बाहर कहीं इस देवी की मूर्तियां नहीं बनीं और इसके प्रतीक का विधान भी इस समय तक के साहित्य में नहीं मिलता।

३. सच्चिया माता वस्तुतः महिषासुरमर्दिनी है। इसके जैनीकरण की कथा बहुत महत्त्वपूर्ण

---

६. (१) भावदेव सूरि : पार्श्वनाथ चरित्र, ६, ५०.६८।
(२) आचार्य गुणभद्र : महापुराण (उत्तर पुराण), ७३, १३९,४०।

७. (१) वादिचन्द्र सूरि : अम्बिका कथा।
(२) बप्पभट्ट सूरि : चतुर्मशतिका, अम्बिका देवी कल्प। आदि।

८. डा० वासुदेव शरण अग्रवाल : मथुरा म्यूजियम केटलाग, भाग ३, पृ० ३१,३२, ५५,६७।

हैं। यह देवी भैंसे के मांस से तृप्त होती थी, इसलिए तेरहवीं शती में रत्नप्रभ सूरि ने जैनों को उसके मन्दिर में जाने से रोक दिया। एक वार भूख से व्याकुल होकर वह रत्नप्रभ सूरि से भोजन की याचना करने आयी। उन्होंने उसे मिष्ठान दिया जिसे अस्वीकार कर उसने भैंसे के मांस की याचना की। उससे सूरि जी उसे ऐसा उपदेश दिया जिससे वह अहिंसक बनकर जैन धर्म में दीक्षित हो गयी।[९] इसके वाद उसकी अनेक मूर्तियां बनी। मारवाड़ में ओसियां में इसकी कदाचित प्रथम मूर्ति स्थापित हुई।

४. कुरुकुल्ला के जैन होने की कथा काफी दिलचस्प है। यह मूलतः वज्रयानी तान्त्रिक सम्प्रदाय की बौद्ध देवी थी। एक वार उसने बारहवीं, तेरहवीं शती के देवसेन सूरि का उपदेश सुन लिया सो जैन बन गयी। उसने सूरि की सर्पों से रक्षा की, तब से यह सर्पों की देवी भी कहलायी।[१०] कदाचित इस देवी की मूर्तियां नहीं बनीं।

उपसंहार

प्रतीकों के इस आदान से जैन कला में विचित्र रूपता और मनोहारिता का समावेश हुआ है। अन्यथा उसमें तीर्थंकर-मूर्तियों की एक रसता ही शेष रहती है। ये प्रतीक जैन कला और साहित्य की सवल पाचन शक्ति के प्रतीक हैं।

●●●

तप

वर्तमान में, या अतीत में, या भविष्य में
स्वाध्याय सा तप न हुआ है, और न होगा।

—अर्हत

---

९. उपकेशगच्छ पट्टावली समुच्चय, भाग १ पृ० १८७।
१०. कल्पसूत्र (जैकोबी), सूत्र ३ पृ० २१९ आदि।

खण्ड ४

३४

सराक (श्रावक) संस्कृति और हम

☐ बाबूलाल जैन जमादार

जैन धर्म अति प्राचीन धर्म है, इसे अब सभी मनीषी विद्वान डंके की चोट कहने लगे है। जो लोग भ० महावीर स्वामी को जैन धर्म का प्रवर्तक, प्रचारक-प्रसारक मानते थे वह भी अब अपनी भूल सुधार रहे हैं। भगवान पार्श्वनाथ स्वामी भ. महावीर स्वामी से पूर्व हुए हैं, और भगवान पार्श्वनाथ स्वामी से पूर्व भ० नेमीनाथ स्वामी हुए है। भ० ऋषभदेव स्वामी सर्वप्रथम वर्तमान चौवीसी में हुए हैं। यह सब मानते हैं और मानने लगे हैं।

श्रमण संस्कृति और वैदिक संस्कृति का प्रचार-प्रसार एक साथ हुआ है ऐसा बहुत से मनीषी मानते है लिखते है लेकिन जैन धर्म में प्रधानता श्रमण सस्कृति की है। अध्यात्मवाद उसका मूल धन है, उसी की उपसना भक्ति उसका भक्त करता है। भौतिकवाद से जैन धर्म धर्मात्मा की रक्षा करता है। भगवान ऋषभदेव व उनके बड़े पुत्र चक्रवति भरत तथा कामदेव बाहुवलि के पास भौतिक पदार्थों की क्या कमी थी लेकिन उन्हे रंचमात्र भी सुख न मिला और मिला सघर्ष, कलह, विद्वेष तथा अलगाव।

उस धन और धरा का क्या उसे अपनों को अपनों से विलग कर दे और अपने धर्म बन्धुओं को विस्मरण करा दे उसे यदि कोई धर्म का प्रसाद कहे तो मात्र उसे वाचयालया बावला ही कहना चाहिए। क्योंकि उसने वातसल्य धर्म और स्थितिकरण अंग को समझा ही नहीं, जाना ही नहीं। वह तो मात्र भौतिकता का पुजारी है। भौतिक पदार्थों में आनन्द मानने वाला ससारी है।

लेकिन अध्यात्मवाद का वेत्ता, श्रमण संस्कृति का उपासक शरीर को गुलाम बनाता है। स्वयं उसके आधीन नही होता, वह शरीर से आत्म रक्षा करता हुआ पर की रक्षा में तत्पर रहता है। छहखंड का धनी हो, बलभद्र हो, नारायण हो, कामदेव हो कोई भी हो वह प्रतिक्षण अपनी सुध रखता है और दूसरे की सुध रखता हुआ जीवन यापन करता है। यदि अपनी सुध भूल जावे और बाहरी दुनियां मे ही खो जावे तो उसका जीवन भी भारमय तथा कष्टमय ससारी हो जाता है। अध्यात्मवाद की शरण में वह जल से भिन्न कमल के समान रहता है। देश रक्षा, देश निर्माण, युद्ध विजय हार आदि सभी भोगता है और सभी पट् कर्म करता है पर उसमे रचता पचता नही है, उसे खिलाड़ी के समान खेल कर भूल जाता है और अपनी स्वयं की दशा का बोध करके उस अनन्त संसार से हटना चाहता है जहां अनन्त काल से दुःख भोगता आया है। उस दुःख मे आनन्द लेता वह अपनी श्रमण परम्परा को एक क्षण भी नहीं भूलता और उसी की रक्षा व सेवा सम्भाल में पुरुपार्थ करता रहता है। श्रमण

परम्पराओं में ग्रहस्थ औरमुनि का मार्ग जुदा–जुदा है ।श्रमण (मुनि) समस्त अन्तरंग और वहिरंग परिग्रहों (मूर्च्छाओं) से रहित होता हैं, उसे अपने शरीर का भी बोध न रहता कि वह किस तरह है, उसे क्या खिलाया। कब खिलाया और कब पिलाया मात्र वह तो आत्मध्यानी, संयमी, तपस्वी और चरित्रधारी आत्म चितन में लीन रहता है। वन, पर्वत, गुफा, कंदरा में नदी के तीर या तीर्थ क्षेत्रों की भूमि अथवा कुछ समय को वसतिका आदि में आकर निवास करते हैं। जाड़ा, बरसात, धूप की पीडा सहना, उपसर्ग सहना और आत्मध्यान में लीन स्वयं का कल्याण करना तथा पर को धर्मोपदेश देकर सद्मार्ग पर लगना यही उनका पुरुपार्थ है यही उनका कर्म है।

वीतरागी निर्ग्रंथ दिगम्बर श्रमण सर्वत्र एकल विहारी संघस्थ ध्यानस्थ भगवान ऋषभ देव स्वामी के समय से इस भूमंडल पर कर्म भूमि के प्रारम्भ से बराबर विचरण कर रहे हैं और काल के अन्त तक विचरण करते रहेंगे। साथ ही इन पर उपसर्ग भी आते रहे हैं आते रहेंगे ऐसा भी सत्य है। इतिहास इसके साक्षी हैं। पर श्रमण परम्परा कायम रहेगी।

जब श्रमण रहेंगे तो उसके मानने वाले, पूजने वाले भक्त भी रहेंगे, ग्रहस्थ भी रहेंगे इसे कोई नष्ट नहीं कर सकता। जिन्होंने इस वर्ग को नष्ट करना चाहा वह भले ही नष्ट हो गये पर यह ज्यों के त्यों किसी न किसी रूप में विद्यमान रहे।

घानी में पेले गये, कड़ाहों में छोंके गये, भट्टियों में झोंके गये, आरे से चीरे गये, नेत्रों पर लटकाये गये, सामूहिक वध किया गया और ऐलान किया गया कि वीतराग धर्म (जैन धर्म) का उपासक उसका गुरु और उसका बीज आर्यवर्त से लोप कर दिया गया" आदि। पर अहिंसा धर्म का उपासक उसका भक्त और उसका गुरु व उसका बीज किसी न किसी रूप में विद्यमान रहा। भले ही उसे भूमिगत रहना पड़ा हो, अपना भेष बदलना पड़ा हो, अपना रहना सहना बदलना पड़ा हो. पूजा पद्धति बदलनी पड़ी हो, अपने इष्ट देवताओं को भूमि की गोद में छिपा देना पड़ा हो, उसने सदैव आतताईयों के जुल्म सहे और बलिदान दिये, पर अपने धर्म को, अपनी संस्कृति को और अपने शुद्ध खान पान, आचार-विचार को उसने न छोड़ा है, न छोड़ेंगे। यह ठीक है कि कुछ समय के लिए जैन धर्म लोपसा दिखने लगा था, पर वह भूमिगत था प्रगट समय पाकर पुकः हुआ।

भ० महावीर स्वामी के काल में जैन धर्म पर बड़े–बड़े आघात हुए यह तो सर्व विदित है लेकिन भ० महावीर के अपने अपरिग्रहवाद ने, स्यादवाद सिद्धान्त ने सभी को चुप कर दिया और वीतराग धर्म की गूंज विश्व में गुंजा दी। बड़े बड़े वादीभ सामने आते ही अपना अभिमान छोड़ बैठे और मुख से यही उच्चारण किया कि "हे नाथ हम आपकी शरण में हैं। आप ही मंगल है, आप ही धर्म हैं आप ही उत्तम हैं और आपकी शरण ही हमारा धर्म हैं।" उस काल के स्वयं सुखी वेत्ता केवली सर्वज्ञ जब विपुलाचल पर रचे गये समोशरण की ओर झुके तब पता चला कि सर्वज्ञ कौन है ? निर्ग्रंथ धर्म क्या है ? वीतराग भाव क्या है ? गुरु शिष्य कौन है। धर्म का चमत्कार और उसका रूप क्या है ? आदि प्रश्नों का उत्तर स्वयं पा गये। अन्दर में महिमा जागी पर बाहर से अभिमान न छोड़ा जिससे भटक गये चरण और चल पड़े विपरीत दिशा को। जो मार्दव धर्म में प्रविष्ट कर गये वह जा पहुंचे समोशरण में और बन बैठे गणधर मन पर्यय ज्ञानी, केवली और मुक्ति गामी।

उसी पावन विहार की भूमि में, उसके पड़ौसी बंगाल और उड़ीसा में, कण–कण जैन धर्म की गूंज

जहां गूंजती थी उसके विपरीत नर संहार और पशु वध, वलि और क्रियाकांड की गूंज भी भटके चरणों के पथिकों द्वारा गूंज रही थी। हिंसा अहिंसा का द्वन्द एक साथ चलने लगा। जैसे भ० आदि नाथ (ऋषभ देव स्वामी) के समय में वावा और पौते के मार्ग का प्रचलन चला था।

अहिंसा पर हिंसा सदेव हावी होती रही है पर जीत अहिंसा की ही होती आई है। कुछ समय को हिंसा अपना एक क्षेत्र राज्य करती है पर अहिंसा धीरे धीरे हिंसा का सिंहासन हिला देती है और स्वयं विराज जाती है।

भ० महावीर के निर्वाण होते ही और उनके गणधरों का निर्वाण होते ही इस भूमंडल पर धर्म समाज जाति के नाम पर जो कत्ले आम हुआ उसे समय के भोगी तो जानते ही थे इतिहास, कारों ने भी नहीं भुलाया। सम्राट अशोक का कत्लेआम मचाना, जैनियों का वध करना, वैशाली के राज प्रासादों और राजकुमारों का वध करना, नर-नारियों का वध और भावी पीडी का वध आदि ऐसे कुकृत्य हुए जिन्हें पाकर सुनकर रोंगटे खड़े हो जाते हैं। फिर शंकराचार्य के आक्रमण, मुगलों के आक्रमण, शैवों का आक्रलण, और यहुदियों के आक्रमण आदि ऐसी दुर्घटनायें यहां के श्रावकों को छिन्न भिन्न कर रही। धन्य है उन श्रावकों को सराकों को जिन्होंने अपनी समस्त सम्पत्तियां विपत्तियों के सामने त्याग दीं अपने परिवार के लोगों को मीत के मुंह में दे दिया। अपने वाल-वच्चों को धर्म की रक्षा में वलिदान कर दिया। सभी कुछ त्याग किया लेकिन अपना पावन जैन धर्म (श्रावक धर्म) नहीं छोड़ा। अपने देवालयों की जिन मूर्त्तियां भोंहरों (तहखानों) में छिपा आये। नदी, पहाडों की तलहटी में जा बसे पर धर्म न त्यागा।

विहार, बंगाल, उड़ीसा इन तीन प्रान्तों में यह श्राउक (सराक) ५ लाख की संख्या में अभी भी विद्यमान है। इनकी रहन सहन खानपान आज भी शुद्ध है। इनके आचार विचार आज भी पवित्र हैं। इनकी वोल चाल आज भी सही व प्रमाणिक हैं। सभी खेतीहर हैं वह भी धान्य की उपज करने वाले हैं। भगवान ऋषभ देव द्वारा जो ग्रहस्थों की षट् कर्म करने का उपदेश था उसे आज भी यह लोग अक्षरश; पालन करते हैं। इन तीन प्रान्तों में घूमने पर हमें ऐसा लगा मानो हम पुनः अपने बचपन में लौट आये हों। क्योंकि जो खाते हमारी मां हमारे जीवन में घर पर ढालतीं थीं वह सभी यहां इस काल में इस समय मौजूद हैं। हमें ऐसा लगा कि असली जैन यह है हमतो दिखावे मात्र हैं।

प्रातः उठकर ऊं अर्हं ऊं नमः सिद्धेभ्य ऊं जय जय, ऊं वीतरागय नमः ऊं देवाय नमः ऊं व्रहमेयनमः आदि का घर घर में उच्चारण है। सूर्योदय के एक घंटा वाद नाशतापानी शुद्ध होता है। जल छान कर पीते हैं। भोजन शाला की पवित्रता पूरी पूरी रखते हैं। वगैर स्नान किए भोजन पानी नहीं, न चौके में स्त्री वगैर शुद्ध वस्त्र पहने जावेगी।

मुनियों का आहार समय पर जल से भरे कलष लेकर और वे पुरुष द्वार पर खड़े होंगे और जल छोड कर माथा भुका कर अन्दर जावेंगे। घर के वयोवृद्ध पुरुष को प्रथम भोजन कराया जावेगा। चन्देवा घर घर में वन्ध होगा।

प्याज, लहसुन, अयक्ष्य पदार्थो का सेवन नहीं है जहां वह सभी भोजन भी नहीं होता। पर्व तिथियों में उपवास, एकासन, नियम आदि का प्रचलन है। सामाजिक मर्यादा ये हैं जिनमें, साथ ही वाजार का भोजन नहीं लेंगे। अपनी जाति के भाइयों के हाथ का भोजन करेंगे।

तीर्थ क्षेत्रों की वन्दना का अंतिम लक्ष्य–श्री सम्मेद शिखर जी की यात्रा के वाद घरेलु कार्यो से मुक्ति ले लेते हैं मात्र आत्म चिन्तन करते हैं।

चोरी डाकेजनी भ्रष्ट चरित्र में फंसने नहीं और मुकद्दमे वाजी करते नहीं, पंचायत की आज्ञा प्रधान है। गुरुओं की सत्संगति करते हैं। रामायण महाभारत गीता आदि ग्रन्थों को ग्रन्थ मानकर पूजते हैं। जैन गुरुओं का सतसग युगों से नहीं मिला और और न कोइ विद्वान १६० वर्ष से उनके पास वीच में शीतल प्रसाद जी सेठ बैजननाथ जी सरावगी कुछ स्थानों पर गये। बौद्ध गुरु वैश्णव गुरु और शैव गुरु घूमते रहते हैं जैन नही। फिर भी उनके संस्कार जैन धर्म के विद्यमान हैं।

रात्रि में जल भी नहीं लेते और कपड़े रंगने वाले बंधु दिन मे रंग नीचे रख देते हैं (सूर्य छीपने से पूर्व)। गोत्र भी जिनके ऋषभ देव, आदि देव, धर्म देव अनंतवेव शान्ति देव, वासु पुज्य, गौत्तम शांडिल्य, भारद्वाज, आदि तीर्थंकर गणधर ऋषियों पर हैं।

काटा, फाटा मार डाला आदि शब्दों को हिकारत की दृष्टि से देखते–सुनते हैं। सराको में गुरु भक्ति अधिक है। यदि कोई व्रती एक बार भोजन करने वाला पहुंचे तो उसकी इतनी प्रभावना वह लोग करते हैं कि सारा गांव गीत नाच में लगता है। उसका उपदेश वड़ी तन्मयता से सुनते हैं वह चरित्रधारियों के उपासक है।

मेदनीपुर और कटक के ऐलक (अलक) जाति के श्रावक है। इनके गुरु मात्र एक अर्द्ध लंगोटी रखते हैं। खड़ होकर आहार पानी एक ही वार लेते हैं। मोर पिच्छिका (पखा) रखते है और एक नारियल का कमंडुल रखते हैं शिष्यों को शुद्ध लाल वस्त्र पहने देखा जाता है। दिन के प्रमाण से भोजन होता है। कोई भी भक्त रात्रि में भोजन तो क्या जल भी ग्रहण नहीं करेगा। अष्टमी, चतुदर्शी, एकादशी पंचमी को हरी सब्जी नहीं लेंगे, और न अन्न ग्रहण करेंगे। मात्रदध या गर्म जल लेंगे। अन्यथा निर्जल उपवास करेंगे। खंडगिरि उदयगिरि की यात्रा अपने गुरु के साथ साल में एक वार अवश्य करेंगे।

अतिथि सत्कार के स्वामी हैं। और वे ममतामयी धर्म का आभूषण है। शृंगार रहित मोटा खाना, मोटा पहिनना चरित्रार्थ की पालक हैं। व्यापार, नौकरी, डाक्टरी, वकीली, मास्टरी आदि खेती के वाद के धन्धे है। इनमें पुलिस अधिकारी, वैरीस्टर, वकीलें, डाक्टर, प्रो० फेसर, मास्टर, व्यापारी आदि सभी है। फिर भी गरीव हैं कृषक है। भूमि में जगह-जगहमूर्तियां दबी पड़ी हैं उनकी खोज सम्भाल होना आवश्यक है।

ऐसे सराकों पर हजारों श्रावक वारे जांये तो भी तो थोड़े हैं। भगवान महावीर स्वामी के २५०० वे निर्वाण दिवस की पुण्य वेला में जैन समाज अपने विछुड़े भाइयो को यदि गले लगावे और २० लाख रुपया इनके हेतु खर्च करे तो वह दिन दूर नहीं जब हम अपनी खोई निधि को पालेगे। मेरी लिखी चारों पुस्तकों—(१) सराक बंधुओं के वीच (२) सरावक हृदय (३) जैन संस्कृति के विस्मृत प्रतीक (४) प्राच्य जैन सराक शोध कार्य से विशेष जानकारी प्राप्त की जा सकती।है

हमतो यही सोचते हैं कि श्रावक (सराक) अव भी जैन धर्म में विद्यमान हैं।

३५

जैन साहित्य एवं संस्कृति का केन्द्र राजस्थान

□ डा० कस्तूरचन्द कासलीवाल

राजस्थान के नाम के साथ वीरता, शौर्य देश-भक्ति एवं आत्म बलिदान की कहानियां जुड़ी हुई हैं। मध्य काल में इस प्रदेश ने देश का नेतृत्व ही नहीं किया किन्तु अपने पीछे ऐसे संस्मरण छोड़े जिन्हें भारतीय इतिहास में सदा एवं सर्वदा स्मरण किया जाता रहेगा। वास्तव में राजस्थान उन सपूतों का देश है जिन्होंने मातृभूमि की रक्षा में अपने प्राणों की कभी परवाह नहीं की। यह उन देश भक्तों का प्रदेश है जिन्होंने अन्याय, अत्याचार एवं अमानवीय कष्टों के आगे कभी झुकना अथवा आत्म समर्पण करना नहीं सीखा और देश हित को सर्वोपरि माना। महाराणा सांगा, हम्मीर, महाराणा प्रताप, अमरसिंह जैसे वीर देश भक्तों को जन्म देने का गौरव प्राप्त किया किन्तु राजस्थान वीरता के साथ साथ साहित्य, कला एवं भारतीय में संस्कृति को जो आश्रय मिला वह किसी भी प्रदेश के लिये स्पृहणीय हो सकेगा। यहां के वीर तोपों की गड़गड़ाहट एवं तलवारों की [illegible]गैष के मध्य में भी साहित्य एवं कला के[illegible]न अपना योग देते रहे और अपने अपने [illegible]वारों में इनकी महत्ता को कभी कम नही होने दिया।

राजस्थान में वैदिक एवं श्रमण संस्कृतियां साथ साथ रह करके भी खूब फली फूली। दोनों ही एक दूसरे का सहयोग लेकर अपने अपने विकास क्षेत्र में आगे बढती रही। इस प्रदेश के इतिहास में सम्भवतः ऐसी कोई बड़ी घटना नहीं घटी जब धर्म एवं संस्कृति के नाम पर इनके उपासकों में झगड़ा हुआ हो। यद्यपि यहां के शासक कभी जैन धर्मावलम्बी नहीं रहे किन्तु उन्होंने श्रमण संस्कृति में जितना अधिक योग दिया वह किसी भी इसी धर्म वाले शासक कम नहीं है। उदयपुर, जोधपुर, बीकानेर, जयपुर, बूंदी एवं जैसलमेर के राज्यों में श्रमण संस्कृति एवं साहित्य का खूब प्रचार हुआ और आज भी इन में देशों उनके विकास के उज्वल अवशेष मिलते हैं।

राजस्थान को किसी तीर्थंकर की जन्म भूमि अथवा उसके पांच कल्याणकों में से किसी एक कल्याण की भी पावन भूमि बनने का सुयोग नहीं मिला किन्तु वर्तमान में जैन समाज की प्रमुख खण्डेलवाल जाति का उद्गम स्थान होने का सौभाग्य मिला। खण्डेलवालों की ८४ जातियों का उत्पत्ति स्थान भी इसी के खण्डेला ग्राम को है। कविवर बखतरामसाह ने इस सम्बन्ध में बड़ा ही रोचक एवं ऐतिहासिक वर्णन दिया है। इसी तरह बघेरवाल जाति का प्रारम्भ बघेरा ग्राम में हुआ माना जाता है। बघेरा ग्राम आज भी एक सुन्दर एवं सांस्कृतिक स्थान है। इसके चारों ओर बघेरवाल समाज की अच्छी संख्या है। डूंगरपुर के मन्दिर

में एक बघेरवाल जाति गोत्र छंद वाली लघु कृति उपलब्ध हुई है इसमे इसके ५२ गोत्रों का नाम देकर इसके उत्पत्ति का इतिहास पर भी कुछ पंक्तियां लिखी हैं–

विद्या बलि करि बात विचार
धर्म तणा उन्नति चितधार।
चित्रकोट की करि पयाणं
आये गांव बघेरइ ठांण ॥
अमृतवाणी करे उपदेश अति
बोधणिपुर नगर निवेशा।
वैश्य वरण वस्टूला व्यापणि
प्रतिषोध्या समकित धर्मधारिण ॥८॥
सांचो जैन धर्म समझायो
श्रावक मरम सुगति बतायो।
श्री जिन पूजा वहू विधि धारे
श्रा गुरूसेवा परउगारें ॥६॥
नाम बघेहर ग्राम थमाया
बघेरवाल तिणि जाति कहाया।
तेहना बावन गोत्र गुणाया
सुगुत नामे ते शास्त्र सुणाया ॥१०॥

पल्लीवाल जाति का उद्गम राजस्थान के प्रसिद्ध औद्योगिक नगर पाली से माना जाता हैं। इसी तरह जोधपुर के ओसिया ग्राम से ओसवाल जाति एवं उपदेश कच्छ का उद्गम स्वीकार लिया गया है। यह उद्गम कोई ६८ वीं शताब्दी से हुआ होगा। नागपुरीय तपागच्छ का अस्तित्व नागौर से प्रकट हुआ। इनके अतिरिक्त श्वेताम्बर जैन समाज के और भी कितने ही गण एवं गच्छ हैं जिनका उद्भव एवं विकास राजस्थान में हुआ। नरसिंहपुरा जाति का उद्गम स्थान भी राजस्थान ही है।

प्रमुख आचार्य

राजस्थान में कितने ही जैनाचार्य हुए जिन्होंने भारतीय संस्कृति एवं विशेषतः जैन संस्कृति एवं साहित्य की खूब सेवा की। "जम्बू द्वीप प्रज्ञाप्ति" के आचार्य पद्मनन्दि राजस्थानी थे और वारां नगर उनकी तपोवन भूमि थी। आचार्य हरिभद्र सूरि का चित्तोड़ से अत्यधिक सम्बन्ध था। आचार्य श्री ने जैन धर्म एवं साहित्य की जो महती सेवा की थी वह इतिहास के स्वर्ण पृष्ठों पर अंकित रहेगी। विद्वानों का अनुमान है कि केशोरायपाटन का पूर्व नाम आश्रम पत्तन था जहां पर दि० जैनाचार्य नेमिचन्द्र ने द्रव्य संग्रह की रचना की थी। इसी तरह अन्य कितने ही आचार्यो का राजस्थान से विशेष सम्बन्ध रहा है। संस्कृत के प्रकाण्ड विद्वान आशाधर का मांडलगढ़ में जन्म हुआ था। इन्होंने जीवन भर संस्कृत साहित्य की सेवा और जिनयज्ञकल्प, सागार धर्मामृत, अनगारधर्मामृत, त्रिषष्टि स्मृति शास्त्र अध्यात्म रहस्य, भरतेश्वरायभ्युदय, राजमती विप्रलंभ एवं काव्यालंकार जैसे उच्चकोटि के ग्रन्थों की रचना की।। संस्कृत साहित्य का घर-घर में प्रचार करने वाले तथा समाज को एक नयी दिशा प्रदान करने वाले जैन सन्त भट्टारक सकलकीर्ति ने ८ वर्ष तक भट्टारक पद्मकीर्ति के पास नैणवां में गहरा अध्ययन किया था और फिर राजस्थान एवं गुजरात में स्थान-स्थान पर भ्रमण करके २५ से भी अधिक ग्रन्थों की रचना की। इन्होंने साहित्य सेवा के प्रति जन साधारण एवं साधु वर्ग में इतनी जबरदस्त रुचि पैदा की जिससे इनके पीछे ३०० वर्षों तक विशाल साहित्य का निर्माण होता रहा। आज जो राजस्थान के ग्रन्थ संग्रहालयों में इतनी अधिक संख्या में ग्रन्थ उपलब्ध होते हैं उसमें भट्टारक सकलकीर्ति का प्रमुख योगदान है। सकलकीर्ति के पश्चात् ब्रह्म जिनदास, आचार्य सोमकीर्ति, भट्टारक ज्ञानभूषण

भ० विजयकीर्ति, ब्रह्म बूचराज, संतकवि यशोधर भट्टारक शुभचन्द्र, सन्त शिरोमणी वीरचन्द्र, सुमतिकीर्ति, कुमुदचन्द्र एवं भ० रत्नकीर्ति के नाम विशेषतः उल्लेखनीय हैं। वास्तव में इन सन्तों ने संस्कृत एवं हिन्दी साहित्य में सैकड़ों रचनायें लिख कर जनसाधारण में स्वाध्याय की रुचि बनाये रखी। अपभ्रंश के प्रमुख विद्वान महाकवि हरिषेण एवं धनपाल दोनों ही राजस्थानी कवि थे और इन विद्वानों ने धम्मपरिक्खा एवं भविसयत्त कहा जैसी उच्चकोटि की रचनायें लिख कर अपभ्रंश साहित्य की ही सेवा नहीं की किन्तु भविष्य में होने वाले साहित्य निर्माताओं के लिये भी एक नई दिशा प्रदान की। राजस्थान की वीरभूमि में होने वाले हिन्दी एवं संस्कृत के विद्वानों की तो एक लम्बी सूची तैयार की जा सकती है। वास्तव में समस्त जैन समाज में जितने भी हिन्दी के विद्वान् हुए उनमें से आधे से अधिक विद्वानों ने राजस्थान प्रदेश को सुशोभित किया। कविवर छीहल, ठक्कुरसी, बूचराज, छीतर ठोलिया, ब्रह्म रायमल्ल, आनन्द घन, हेमराज, जोधराज गोदीका, किशनसिंह दौलतराम कासलीवाल, ऋषभदास निगोत्या, महापंडित टोडरमल, जयचन्द छाबड़ा, अजयराजपाटनी ब्रह्म रायमल्ल, दिलाराम, दीपचन्द कासलीवाल, सदासुख कासलीवाल आदि सभी राजस्थानी विद्वान् थे। इसके अतिरिक्त गत सौ वर्षों में भी राजस्थान में कितने ही विद्वानों ने जन्म लेकर मां भारती की अपूर्व सेवा की और जिनकी सेवाओं पर समूचे देश को गौरव है। इनमें श्रद्धेय पं० चैनसुखदास न्यायतीर्थ की साहित्यिक सेवायें महत्त्वपूर्ण हैं। उनका अकेला जैन दर्शनसार ही एक ऐसी कृति है जिसकी तुलना में संस्कृत भाषा का गत २०० वर्षों में दर्शन का ऐसा कोई ग्रन्थ नहीं लिखा गया।

राजस्थान में रचित साहित्य

अभी मैंने पहिले राजस्थान में होने वाले आचार्यों एवं विद्वानों को साहित्यिक सेवाओं का उल्लेख किया था। इन आचार्यों एवं विद्वानों ने राजस्थान प्रदेश में ही रह कर जो साहित्य का नव निर्माण किया और अपनी कृतियों से ग्रंथ संग्रहालय को आप्लावित किया वह अत्यधिक प्रशंसनीय है। प्राकृत भाषा की महत्वपूर्ण कृति जम्बू द्वीप प्रज्ञप्ति का निर्माण संवत ८०५ में वारां नगर में हुआ। पंडित राजमल्ल ने समयसार की हिन्दी टीका राजस्थान के वैराठ नगर में समाप्त की थी। इसी टीका को देखकर महाकवि बनारसी दास ने समयसार नाटक की रचना करने की ओर प्रवृत हुए। बनारसीरदास ने अपने समयसार नाटक में राजमल्ल के प्रति निम्न शब्दों में कृतज्ञता प्रकट की हैं।

"पाण्डे राजमल्ल जिन धर्मी
समयसार नाटक के मर्मी"
तिन्हि ग्रंथ की टीका कीनी
बालाबोध सुगम कर दीनी।

इसी तरह नगर में ही भट्टारक सोमसेन ने संस्कृत के पद्मपुराण की रचना समाप्त की थी। भट्टारक नरेन्द्र कीर्ति के शिष्य पं. जगन्नाथ ने नक्षकगढ में कितने ही ग्रंथों का निर्माण किया। हिन्दी की तो सैकडों रचनायें राजस्थान के विभिन्न भागों में लिखी जाती रही। हिन्दी काव्यों के लिए १७वीं शताब्दी तक बागड प्रदेश रचना भूमि रही उसके पश्चात हिन्दी रचनाओं की प्रमुख रूप से आमेर, सांगानेर, टोडाराय सिंह, बसवा, जयपुर, अजमेर, नागौर, बूंदी, उदयपुर, जालौर, सौजत आदि नगर केन्द्र बन गये और यहीं से सारे देश के लिए साहित्य सर्जना होती रही। कविवर दौलत राम एवं महापंडित टोडरमल के पश्चात् तो जयपुर

ही सारे भारत का साहित्य सर्जन का केन्द्र बन गया और १०० वर्ष तक इसके समकक्ष कोई भी नगर स्थान नहीं ले सका। ब्रह्म रायमल्ल ने भविष्यदत्त तक को सांगानेर में, श्रीपालरास को गढ रणथम्भोर में परमहंस, चौपई को तक्षकगढ में एवं प्रद्युम्न रास को गढ हरसोर में निर्माण करके राजस्थान के विभिन्न नगरों में साहित्यिक संस्थायें खोली जिनके माध्यम से साहित्य का नव निर्माण होता रहा। कविवर दौलतराम ने बसवा, उदयपुर एवं जयपुर को अपना साहित्यिक क्षेत्र बनाया। उन्होंने अपने पुन्यास्रव कथाकोश, आदिपुराण, पद्मपुराण, हरिवंश पुराण, अध्यात्म बारहखड़ी, श्रेणिक चरित, एवं श्रीपाल चरित के माध्यम से देश में एक नयी साहित्यिक क्रान्ति को जन्म दिया। जनता इनके नये-नये ग्रंथों की बाट जोहा करती थी और जैसे ही ग्रंथ समाप्त होता उस समय सैकडों हस्तलिखित प्रतिलिपियां तैयार होकर देश के विभिन्न प्रदेशों में भिजवा दी जाती थी। यही मांग महापंडित टोडरमल जी के ग्रन्थों की थी। उनका उनका 'मोक्षमार्ग प्रकाशक' जयपुर नगर की नयी देन थी। जयपुर में से ही रहते हुए उहोंने इस ग्रंथाधिराज को लिखना प्रारम्भ किया था। इस ग्रंथ की लोक प्रियता इतनी बढ़ी कि उस समय छापे खाने के अभाव में इसकी प्रतियां देश के विभिन्न शास्त्र भण्डारों में पहुंचा दी गई। चारों ओर उसका स्वाध्याय होने लगा। इस प्रकार उनके आगे की करीब १०० वर्षों की साहित्य निर्माण की बड़ी तीव्र गति रही और जयपुर नगर को दीपचन्द कासलीवाल, सदासुख कासलीवाल, पन्नालाल चौधरी, पारसदास निगोत्य, केशरसिंह, जयचन्द छाबड़ा आदि जैसे विद्वानों को आश्रय देने का सौभाग्य मिला। १८ शताब्दी में कविवर नेमीचन्द ने आमेर में हिन्दी गद्य पद्य में नेमिनाथ रास की रचना करके सारे हिन्दी जगत का नेतृत्व किया।

भट्टारकों की गादियां

१५वीं शताब्दी से लेकर १८वीं शताब्दी तक भट्टारक युग का स्वर्ण काल रहा। इन वर्षों में भट्टारकों ने अपनी अपनी ज्ञान साधना एवं तपस्या के द्वारा देश में एक नये युग का सूत्रपात किया। समाज एवं देश में नये-नये सांस्कृतिक कार्यक्रम स्वीकार किये गये। वास्तव में मध्ययुग में श्रमण संस्कृति के ये भट्टारक ही एक मात्र प्रतिनिधि थे। इन वर्षों में भट्टारक ही आचार्य, उपाध्याय एवं सर्वसाधु के रूप में जनता द्वारा पूजित थे। ये भट्टारक प्रारम्भ में नग्न होते थे। भट्टारक सकल कीर्ति को निर्ग्रंथराज कहा गया है। भ. सोमकीर्ति अपने आपको भट्टारक के स्थान पर आचार्य लिखना अधिक पसन्द करते थे। भ. वीरचन्द महाव्रतियों के नायक थे। उन्होंने १६ वर्ष तक नीरस आहार का सेवन किया था। आवा में भट्टारक शुभचन्द्र, जिनचनन्द्र एवं प्रभाचन्द्र की जो निषेधिकाएं हैं वे तीनों ही नग्नावस्था की हैं। राजस्थान में इन भट्टारकों की कितने स्थानों में गादियां थीं। इनमें आमेर, नागौर, आमेर, डूंगरपुर, सागवाडा, उदयपुर, ऋषभदेव, बोली बैराठ, फतहपुर, जयपुर, श्रीमहावीरजी आदि स्थानों में इनकी प्रमुख गादियां थी। आमेर की गादी भ. देवेन्द्रकीर्ति ने स्थापित की और इसके पश्चात इस गादी पर कितने ही भट्टारक हुए। आमेर से इस गादी का केन्द्र जयपुर एवं अन्त में श्री महावीरजी में स्थापित हुआ। इस गादी के अन्तिम भट्टारक का अभी ३ जून सन् १९६९ को स्वर्गवास हुआ। नागौर गादी की स्थापना संवत १५८१ में भ० रत्नकीर्ति के पट्टाभिषेक से प्रारम्भ हुआ। रत्नकीर्ति की शाखा में कितने ही भट्टारक हुए। भ० देवेन्द्र कीर्ति नागौर गादी के अन्तिम भट्टारक हैं, जिनका अभी

कुछ समय पूर्व ही स्वर्गवास हुआ है। अजमेर की भट्टारक गादी सर्वाधिक प्राचीन है। सर्व प्रथम भ. अनन्तकीर्ति का उल्लेख आता है जो संवत १२६४ में अजमेर पद पर बैठे थे। इनके पश्चात् वहां और भट्टारक हुए। वास्तव में ११वीं शताब्दी से १७वीं शताब्दी तक अजमेर का अत्यधिक महत्व रहा और यहां पर होने वाले भट्टारकों ने श्रमण संस्कृति की करने रक्षा में अपना अपूर्व योग दिया। आज भी वहां भट्टारक गादी है। उधर डूंगरपुर, सागवाडा, गलियाकोट एवं ईडर में अनेक भट्टारक हुए। वागड प्रदेश के भट्टारको में भट्टारक सकलकीर्ति सबसे प्रसिद्ध थे। इनके पश्चात ये भट्टारक ईडरशाखा, भानुपुर शाखा सूरत शाखा आदि विभिन्न शाखाओं में विभाजित हो गये और राजस्थान एवं गुजरात में साहित्य एवं संस्कृति की महान् सेवायें की। भ. ज्ञान भूषण, शुभचन्द्र, कुमुदचन्द्र, रत्नकीर्ति, विजयकीर्ति, सोमकीर्ति, ज्ञानकीर्ति जैसे समर्थ भट्टारकों का जीवन निर्माण इन्हीं भट्टारक गादियों में हुआ जिन्होंने ग्राम नगर एवं प्रदेश विहार करके जनता को आध्यात्मिक खुराक के साथ साहित्यिक क्षेत्र में कार्य करने के लिए प्रोत्साहित किया। वास्तव में इन्हीं भट्टारकों की कृपा एवं आशीर्वाद से ब्रह्म जिनदास, ब्र. रायमल्ल पाण्डे राजमल्ल, पं. जगन्नाथ, महाकवि रइधू, बूचराज, नेमिचन्द्र, अजयराज पाटनी, बख्तराम साह जैसे साहित्य सेवियों को तैयार कर सकें।

ग्रंथ भण्डार

राजस्थान अपने ग्रन्थ भण्डारों के लिए भी प्रसिद्ध हैं। यहां के शासकों एवं सामान्य जनों ने दोनों ने ही ग्रन्थों की सुरक्षा की ओर ध्यान दिया और अपने–अपने नगरों में राज्यस्तर एवं जनस्तर पर ग्रन्थ भण्डारों की स्थापना की गई। राजस्थान में दिगम्बर एवं श्वेताम्बर दोनों ही समाजों ने एवं उसके साधुओं ने इन ग्रन्थ संग्रहालयों की ओर विशेष ध्यान दिया। दिगम्बर समाज के भट्टारक एवं श्वेताम्बर समाज के श्री पूज्य एवं पतियों ने अपने–अपने केन्द्रों में ग्रन्थ भण्डारों की स्थापना की और उनमें विना किसी भेद भाव के अपनी ज्ञान पिपासा को शान्त करने एवं जगत् को ज्ञान दान देने की दृष्टि से इन भण्डारों में सभी विषयों के ग्रन्थों का संग्रह दिया। इन्हीं साधुओं एवं विद्वानों की कृपा से आज राजस्थान ग्रन्थ भण्डारों से भरा पड़ा है। छोटे-छोटे गांवों तक में इन भण्डारों की स्थापना की हुई है। ये ग्रन्थ भण्डार जयपुर, अजमेर, नागौर, जैसलमेर, बीकानेर, जोधपुर, भरतपुर, डीग, कामा, टोडारायसिंह, उदयपुर, डूंगरपुर, ऋषभदेव, फलोदी, आहोर, मोजमाबाद, किशनगढ, कुचामन, सीकर, फतेहपुर, सवाईमाधोपुर, कोटा, बूंदी, नेणवां, दवलाना आदि न जाने कितने कस्बों एवं नगरों में ये ग्रन्थ भण्डार स्थापित किये हुए हैं। मैंने अपने शोध प्रबन्ध लिखने के प्रसंग में राजस्थान के १०० भण्डारों का अध्ययन किया, उनकी सूचियां तैयार की और अप्रकाशित एवं महत्वपूर्ण ग्रन्थों के नोट्स आदि लिए। लेकिन अभी राजस्थान में इतने ही भण्डार और होंगे जिनको अभी किसी भी विद्वान द्वारा नहीं देखा जा सका है और हो सकता है उनमें साहित्य कितनी ही अमूल्य निधियां छिपी पड़ी हों। राजस्थान में अकेले जैन ग्रन्थ सग्रहालय में ३ लाख से कम पांडुलिपियां नहीं होंगी।

इन भण्डारों में ताडपत्र, कागज पर, कपड़े पर एवं लकड़ी के पुट्ठों पर लिखे हुए ग्रन्थ मिलते हैं। ताडपत्र पर सबसे अधिक जैसलमेर के भण्डारों में हैं तथा कागज पर सबसे अधिक ग्रन्थ नागौर के भट्टारकीय भण्डार में हैं। वास्तव में यह भण्डार ज्ञान के अपूर्व भण्डार हैं जिसमें विभिन्न विषयों पर लिखी हुई १५ हजार से भी अधिक पान्डुलिपियां संग्रहीत है।

प्राचीनता की दृष्टि से इन भण्डारों में जैसलमेर, नागौर एवं अजमेर के शास्त्र भण्डार सर्वाधिक प्राचीन हैं। जैसलमेर के वृहद् ज्ञान भण्डार की स्थापना संवत् १४९७ में जिनभद्र सूरि द्वारा की गई थी। नागौर का शास्त्र भण्डार रत्नकीर्ति द्वारा संवत् १५८१ में स्थापित किया गया था एवं अजमेर में यह भण्डार १३ वीं शताब्दी में ही स्थापित हो चुका था। जयपुर नगर के ग्रन्थ भण्डार पहिले आमेर एवं सांगानेर के विभिन्न मन्दिरों में थे और जयपुर नगर की स्थापना के साथ-साथ इन ग्रन्थों का भी स्थानान्तरित हो गया। राजस्थान के इन जैन ग्रन्थ भण्डारों में ताडपत्र पर संवत ११९७ की ओघनिर्युक्ति वृत्ति तथा कागज पर संवत १३२८ की पंचास्तिकाय की सर्वाधिक प्राचीन पाण्डुलिपियां हैं। ये शास्त्र भण्डार ज्ञान के अथाह सागर हैं और इनमें जितनी अधिक डुबकियां लगायी जावेंगी, उतनी ही रत्नों के रूप में नयी-नयी कृतियां उपलब्ध होंगी।

प्राचीन एवं कलापूर्ण मन्दिर

राजस्थान साहित्यिक दृष्टि से तो अत्यधिक समृद्ध है ही किन्तु पुरातत्व, मन्दिर निर्माण कला एवं मूर्तिकला की दृष्टि से भी अत्यधिक महत्वपूर्ण है। यहां के विशाल मन्दिरों को देखकर कोई भी दर्शनार्थी मुग्ध हुए विना नहीं रहेगा। यदि हम राजस्थान को मन्दिरों का प्रदेश भी कह दें तो कोई अत्युक्ति नहीं होगी। आबू, चित्तौड़, जालौर, रणकपुर, केशरियानाथ, सांगानेर, आमेर, जैसलमेर, बूंदी, जयपुर, अजमेर के जैन मन्दिर अपनी स्थापत्य कला एवं शिल्पकला की दृष्टि से अद्वितीय है। इनमें आबू एवं रणकपुर के मन्दिर तो संसार के आश्चर्यों में से हैं। इनमें कलाकारों ने अपनी आत्मा ही उडेल के रख दी हैं। इन मन्दिरों के विषय में प्रसिद्ध इतिहासकार कर्नल जैम्स टांड ने लिखा हैं "मैं ढूंढता था वही मिल गया।" रणकपुर के वे मन्दिर में जो कला है वह तो आबू के मन्दिरों से भी उत्कृष्ट है। इसमें एक हजार से भी अधिक कला पूर्ण स्तम्भ हैं और जिनमें कला स्वयं दर्शकों के साथ बात करती है। सांगानेर संघी जी का मन्दिर १८ वीं शताब्दी में निर्मित हुआ था। इसके शिखर, बाहर के चौक, दरवाजा, अन्दर की वेदी एवं दक्षिण और उत्तर की ओर जो वेदियां हैं और उनमें जिस रूप में कला पूर्ण काम हैं उससे ऐसा लगता है कि मानों यह मन्दिर कलाकार की सबसे अद्भुत एवं मनोरम कृति है। जयपुर नगर के विशाल मन्दिरों को देखकर कौन मुग्ध नहीं होगा। यहां के सिरमोरियां के मन्दिर की वेदी एवं चौक में जिन कला के दर्शन होते हैं वह तो आजकल के कारीगरों के लिए मानों एक चुनौती है। आमेर का कीर्तिस्तम्भ, चित्तौड़ का कीर्ति-स्तम्भ एवं ऋषभदेव के मन्दिर के शिखर भी अपनी कला के लिए राजस्थान भर में प्रसिद्ध हैं। जयपुर में खानियों का जो विशाल मन्दिर है उसके निर्माण को देखकर सभी दर्शकों को एक बार ऐसा आभास होता है कि मानों वे किसी स्वर्ग में आ गये हों।

प्रमुख आन्दोलन

राजस्थान समाज के प्रमुख आन्दोलनों का भी केन्द्र रहा है। दिगम्बर समाज में जो तेरहपंथ आन्दोलन चला और जिसके माध्यम से सम्पूर्ण समाज में कितने ही सुधार हुए। जिसे समाज के विद्वत् वर्ग का सर्वाधिक समर्थन मिला तथा महा-कवि बनारसीदास, पं० हेमराज, जोधराज गोदीका, महापण्डित टोडरमल, भाई रायमल्ल, जयचन्द छावड़ा एवं सदासुख कासलीवाल जैसे उच्चस्तरीय विद्वानों ने जिसके प्रचार एवं प्रसार में सर्वाधिक योग दिया। वैसे यह आध्यात्मी मत के नाम से

आया। आगरा में महाकवि बनारसीदास का बड़ा प्रभाव था और यह आध्यात्मी मत के नाम से प्रसिद्ध होने लगा। वैसे इसका मुख्य स्थान कांमा था। इसके पश्चात यह सांगानेर में आकर जमा और भट्टारक नरेन्द्र कीर्ति के समय में इसका अत्यधिक जोर बड़ा। महापण्डित टोडरमल के पश्चात तो इसको इतना बल मिला कि यह थोड़े से ही समय में समस्त उत्तरी भारत में फैल गया।

इसी तरह श्वेतांबर समाज में जो तेरह पंथ सम्प्रदाय चला और जिसके श्री तुलसी गणि आजकल प्रमुख आचार्य हैं उसका उद्गम स्थान भी राजस्थान ही है। सर्व प्रथम आचार्य श्री भीखण जी महाराज ने इस सम्प्रदाय की स्थापना राजस्थान में ही की थी। आचार्य श्रीभीखण जी के स्वर्गवास के पश्चात जितने भी आचार्य बने उनमें अधिकांश राजस्थान प्रदेश के ही हैं।

उक्त दो प्रमुख आन्दोलनों ने तो समाज को दो विचारधाराओं में ही विभक्त कर दिया और दिगम्बर और श्वेताम्बर दोनों ही समाजों में ही तेरहपंथ विचारधारा की नींव हमेशा के रख दी गयी। श्वेताम्बर समाज में तो तेरहपंथ एक सम्प्रदाय के रूप में ही प्रगट हुआ जिसके अनुयायी सारे देश में फैले हुए हैं।

प्रमुख अतिशय क्षेत्र

यद्यपि राजस्थान में २४ तीर्थंकर में किसी भी तीर्थंकर का जन्म, तप, ज्ञान एवं निर्वाण कल्याणक नहीं मनाया गया। और न किसी भी तीर्थंकर ने अपनी चरण रज से इस प्रदेश को पावन किया फिर भी यहां कितने ही अतिशय क्षेत्र हैं जिनकी कीर्ति प्रसिद्धि एवं लोकप्रियता सारे देश में विख्यात है। ऐसे क्षेत्रों में दिगम्बर जैन अतिशय क्षेत्र श्री महावीर जी का नाम प्रमुख रूप से लिया जाता है। यह एक–ऐसा क्षेत्र है जहां प्रतिवर्ष लाखों की संख्या में यात्रीगण आते हैं। देश का धर्म निरपेक्षता का सिद्धान्त जहां सैकड़ों वर्षों पहिले से ही जीवन में उतारा जा रहा है। अतिशय चांदखेडी का अभ्युदय संवत १७४६ में हुआ। इस समय यहां हजारों की संख्या में मूर्तियां प्रतिष्ठापित हुई थी जो आज राजस्थान के विभिन्न मन्दिरों में विराजमान है। नदी के किनारे पर स्थित यहां का मन्दिर अत्यधिक विशाल एवं सुन्दर है। अतिशय क्षेत्र ऋषभदेव की प्रसिद्धि सारे भारत में व्याप्त है। यहां का विशाल मन्दिर शिखर एवं भगवान आदिनाथ की प्रतिमा दर्शनार्थियों को अपनी ओर आकृष्ट करती हैं। उक्त दोनों के अतिरिक्त दिगम्बर जैन अतिशय क्षेत्र पद्मपुरा, दिगम्बर जैन अतिशय क्षेत्र तिजारा, अतिशय क्षेत्र चमत्कार जी नस सवाईमाधोपुर आदि और भी क्षेत्र हैं जिन्हें हम श्रमण संस्कृति के केन्द्र कह सकते हैं।

प्रमुख नगर

राजस्थान के सभी प्रमुख नगर जैन साहित्य एवं संस्कृति के केन्द्र हैं। जहां के रहने वाले जैनों की संख्या भी देश के अन्य नगरों की अपेक्षा अत्यधिक है। जयपुर, जोधपुर, बीकानेर, उदयपुर, अजमेर, बूंदी, कोटा, नागौर, लाडनू, सुजानगढ, सरदारशहर, भरतपुर, सीकर आदि कुछ ऐसे नगर हैं जिनमें बड़ी बड़ी जैन बस्तियां हैं और जिनके आधार पर राजस्थान में इस संस्कृति की लोकप्रियता का सहज ही अनुमान लगाया जा सकता है।

●●●

नर्मदा घाटी में—
जैन संस्कृति का एक अज्ञात केन्द्र

☐ प्रो० भागचन्द जैन, भागेन्दु

वर्तमान मध्यप्रदेश के छत्तीसगढ़ सम्भाग में भारतीय इतिहास, कला और संस्कृति की अनेक अनुपम निधियां अब भी अछूती हैं। शहडोल जिला इस दृष्टि से विशेष उल्लेखनीय हैं। शहडोल जिले में पर्यटन करने का अवसर मुझे मिला है और इसी सन्दर्भ में मैने एक महत्त्वपूर्ण स्थान का पर्यवेक्षण किया।

शहडोल ज़िले में, दक्षिण-पूर्वी रेलवे के अनूपपुर जंकशन से चिरमिरी जाने वाली ब्राञ्च लाइन पर कोतमा एक महत्त्वपूर्ण एवं समृद्ध व्यापारिक और राजनैतिक केन्द्र हैं। कोतमा रेलवे स्टेशन से पांच मील पूर्व की ओर "किवई" नामक रमणीय नदी वहती है। इस नदी के तट पर अनेक महत्त्वपूर्ण प्राचीन स्थान होने की सूचनाएं मुझे स्थानीय लोगों से मिलीं। उनमें से एक स्थान का सर्वेक्षण मैंने किया है, वह यहां प्रस्तुत है:—

कोतमा से पांच मील पूर्व में किवई नदी के तटवर्ती प्रदेश को अव रण्डही और गड़ई नामों से पुकारा जाता है। 'रण्डही' अरण्य का और गड़ई गढ़ी का अपभ्रंश हो सकता है। कदाचित् पहले इस स्थान पर कोई गढ़ी (छोटा क़िला) रही होगी, जो अब ध्वस्त हो गई है। वर्तमान में इस तटवर्ती प्रदेश को अरण्य सज्ञा सरलता से दी जा सकती है। यह स्थान निकटवर्ती ग्राम-चन्दोरी से एक मील पूर्व में, ऊरा से एक मील उत्तर पश्चिम में तथा कठकोना से एक मील दक्षिण-पश्चिम में किवई नदी के पूर्वी तट पर है। इस स्थान का चारों ओर काफी दूर तक पर्यवेक्षण किया। लेखक का दृढ़ विश्वास है कि प्राचीन काल में यह एक समृद्ध केन्द्र था। प्राचीन नागरिक सभ्यता के अवशेष पर्याप्त मात्रा में अब भी यत्र-तत्र दिखाई देते हैं। तांबे तथा लौहे की प्राचीन वस्तुएं, पकी मिट्टी के खिलौने तथा गृहोपयोगी पत्थर आदि की वस्तुएं भूमि के अन्दर तथा ऊपर प्रचुरता से प्राप्त होती हैं। यदि इस स्थान पर उत्खनन कार्य कराया जाय तो निश्चित ही नई सामग्री उपलब्ध होगी। यहां उपलब्ध कलाकृतियाँ और पुरातात्विक अवशेषों से यह निश्चय पूर्वक कहा जा सकता है कि इस प्रदेश में शैव और जैन धर्मो का अच्छा प्रभाव था।

यद्यपि शैव धर्म से सम्बन्धित शिवलिंग ही यहां उपलब्ध होते हैं जबकि जैन-तीर्थंकर-मूर्ति यहां विशेष कही जा सकती है। प्रस्तुत निबन्ध में इस प्रदेश में विशेषरूप से प्रसिद्ध और मान्यता प्राप्त एक जैन तीर्थंकर प्रतिमा का विश्लेषण उपस्थित किया जा रहा है।

प्रथम जैन तीर्थंकर ऋषभनाथ की यह अत्यन्त सुन्दर और प्राचीन प्रतिमा इस प्रदेश में "ठाकुर बाबा" के नाम से विख्यात है। वर्तमान में यह

एक बेल के वृक्ष के निकट नवनिर्मित चबूतरे पर विराजमान हैं। यह चबूतरा सम्प्रति दो फुट तीन इंच ऊंचा, छह फुट नौ इंच लम्बा और आठ फुट तीन इंच चौड़ा है। इसी चबूतरे के मध्य में कुछ पुराने मूर्तिखण्डों और अन्य शिलाखण्डों के सहारे उक्त तीर्थंकर प्रतिमा टिकी हुई है।

भगवान् ऋषभनाथ की यह प्रतिमा किंचित् हरित् वर्ण, चमकदार काले पाषाण से निर्मित है। यह पत्थर वैसा ही है जैसा कि खजुराहो की मूर्तियों के निर्माण में प्रयुक्त हुआ है। मूर्तिफलक की ऊंचाई दो फुट तीन इंच, चौड़ाई एक फुट दो इंच तथा मोटाई छह इंच है। पद्मासनस्थ इस जिन प्रतिमा के छह इंच ऊंचे पादपीठ में (दोनों ओर) शार्दूलों के मध्य झूलती हुई मणिमाला के बीचों बीच तीर्थंकर का लाञ्छन वृषभ बहुत सुन्दरता से अंकित है। इसके ऊपर बायें एक श्रावक दायें एक श्राविका अपने हाथों में फल (कदाचित् नारियल) लिए हुए भक्तिविभोर और श्रद्धावनत हो उठे हैं। कदाचित् ये आकृतियां मूर्ति-समर्पकों या प्रतिष्ठापकों की होंगी। पादपीठ में ही दायें गोमुख यक्ष तथा बायें चक्रेश्वरी यक्षी की लघु आकृतियां अंकित हैं।

पादपीठ पर से मुख्य मूर्ति एक फुट तीन इंच ऊंची एवं एक दो इंच चौड़ी है। मूर्ति में श्रीवत्स का लघु आकार में अंकन, कंधों तक लटकती हुई केशराशि तथा पृष्ठभाग में चक्राकार भामण्डल विशेष उल्लेनीय है। मूर्ति के शिरोभाग पर क्रमशः तीन छत्र इस भव्यता और चारुता से उत्कीर्ण किये गये हैं कि उनमें गुंथा हुआ प्रत्येक मणि साकार हो उठा है। छत्रत्रय के दोनों पार्श्वों में भगवान का मानों अभिषेक करने हेतु अपने शुंडादंडों में कलश लिए हुए, अत्यन्त सुसज्जित गजराजों का मनोरम निदर्शन दर्शकों का मन सहज ही अपनी ओर आकृष्ट कर लेता है।

मुख्य मूर्ति के उभय पार्श्वों में अशोकवृक्ष के नीचे तीन-तीन इंच की दो-दो (प्रत्येक ओर) तीर्थंकर मूर्तियां और भी अंकित हैं। इन सबके पृष्ठ भागों मे प्रभामण्डल तो हैं ही, कंधों पर केशराशि भी दिखाई गई है।

यद्यपि इस मूर्ति पर कोई लेख नहीं है तथापि समसामयिक कला और मूर्तिगत विशिष्ट लक्षणों के आधार पर इसका निर्माण काल ईस्वी सातवीं आठवीं शती प्रतीत होता है। इस समय महाकोशल में जैनधर्म एक शक्तिशाली धर्म के रूप में समादृत था और कलचुरि वंश के शासकों ने इसे पर्याप्त प्रोत्साहन प्रदान किया था। विवेच्य प्रदेश कलचुरियों की राज्यसीमा में विद्यमान था।

दुःख का विषय है कि कुछ वर्ष पूर्व किसी पागल ने इसे खण्डित कर दिया। किन्तु मूर्ति के तीनों खण्ड सुरक्षित हैं तथा अच्छी स्थिति में हैं।

यद्यपि इस मूर्ति के आसपास के ग्रामों में अब एक भी जैन नहीं है। तथापि उस प्रदेश को जैनेतर जनता इसे बहुत श्रद्धा और भक्ति के साथ पूजती है। प्रत्येक मंगलकार्य के प्रारम्भ में वे बहुत आदर के साथ इसे स्मरण करते हैं तथा यथाशक्ति घी, दूध, नारियल, सुपाडी, फूल, फल तथा अगरबती अर्पित करते हैं। नौदुर्गा के अवसर पर एक बड़े मेले का आयोजन भी यहां होता है। इस मूर्ति के महत्व के सम्बन्ध में निकटवर्ती ग्राम कठकोना के प्रमुख, भूतपूर्व जमींदार का जबानी व्यक्तत्व सुनिए, जो अपने पूरे गांव की ओर से इस मूर्ति की उपासना करने आया था। उसी के शब्दों में प्रस्तुत है :—

"हमारा गांव भुरतू बलद काशीराम है। मोर उमर ६५ साल की है। हम ई गांव के जमींदार

आहन । ई मूरत की पूजन हमी करत हन । रोट, नरियल, दम कथा गांव वारन की तरफ से टैम-टैम से होत रहत हैं । आसपास के गांवन के लोग हर सुम्मवार को इकट्ठे होकर फल, फूल, दूध, घी चढाते हैं, भक्तें गावत हैं । ई देवता जीव नहीं मांगता । ए ही देव हमारे गांव का रक्षक है ।"

इस वक्तव्य के समय उसकी श्रद्धा पद पद पर टपक रही थी । गांव में पहुंचने पर अन्य लोगों से वार्ता में उक्त तथ्यों की पुष्टि पाई । इस मूर्ति से करीब एक फर्लांग दूर एक प्राचीन मन्दिर के अवशेष भी हैं ।

किवई नदी के तट पर ही अन्यत्र, कोतमा से करीब दो मील दूर एक शिलालेख उत्कीर्ण होने की सूचनाएं भी प्राप्त हुई हैं । यदि किवई नदी के तटवर्ती प्राचीन स्थानों का सर्वेक्षण और आवश्य-कतानुसार उत्खनन कराया जाये तो प्राचीन कौशल, विशेष रूप से छत्तीसगढ के इतिहास पर नया प्रकाश पड़ेगा । क्योंकि किवई नदी तथा कोतमा दोनों ही अमरकंटक के सन्निकट हैं । अतः इस नर्मदाघाटी का सर्वेक्षण अत्यन्त उपयोगी सिद्ध होगा ।

●●●

हिंसा

हिंसा बिना नहीं होता है धन का संग्रह,
अतः अहिंसक मानव त्यागे सारे परिग्रह ।

—अर्हत्

३७

दिल्ली के जैन मंदिरों संबन्धी महत्वपूर्ण विवरण

□ अगरचन्द नाहटा

जैन धर्म का प्रचार तीर्थंकरों और आचार्यों आदि ने किया पर मुनिजनों का सब समय सब जगह पहुंचना सम्भव नहीं होता और धर्म प्रचार का विषय ऐसा है कि थोड़ी-सी छूट मिल गई या लम्बा समय यों ही चला गया तो लोगों में शिथिलता आ जाती है इसीलिये धर्म को पांगले की उपमा दी हैं कि वह स्वयं चल नहीं पाता उसे चलने के लिए किसी के सहारे की जरूरत होती है। संस्कृत में भी कहा गया कि 'न धर्मो धार्मिकैं विना' अर्थात् धार्मिक जनों के विना धर्म का स्थायीत्व और प्रचार नहों हो पाता। जैनाचार्यो ने इस बात का खूब अच्छी तरह अनुभव करके निरन्तर धार्मिक प्रेरणा प्राप्त करने के लिए जैन मूर्ति व मन्दिरों की जगह-जगह प्रतिष्ठा की जिससे साधु-साध्वियों का कुछ समय तक कहीं पधारना नहीं हो तो भी जैन मूर्तियों के आलम्बन से लोग धार्मिक भावना को बनाये रखें और धर्म साधना में उद्यत रहें। दिगम्बर मन्दिरों में जैन ग्रन्थों का भी संग्रह रखा जाता है। जिससे नियमित दर्शन करने वाले प्रभु के दर्शन-पूजा के बाद कुछ समय स्वाध्याय कक्ष में बैठकर शास्त्र स्वाध्याय व चर्चा करते हुये धार्मिक ज्ञान की अभिवृद्धि करें। और साथ ही धार्मिक क्रियाओं में दत्त-चित्त होकर लगे रहें।

धार्मिक जनों के लिए दैनिक ६ कार्यो का आवश्यक बतलाया गया जिसमें पहला है देव पूजा जो पूजा नहीं कर सके वह कम-से-कम दर्शन तो नित्य नियमित रूप से करे—इसी विधान के कारण गांव-गांव में जैन मन्दिर बने व मूर्तियां स्थापित हुई। महापुरुषों का जहां जन्म हुआ, दीक्षा ली, केवल्य और निर्वाण प्राप्त किया—ऐसे स्थानों को 'कल्याणक भूमि' कहा जाता है। पहले-पहले ऐसे स्थानों में उनके स्मारक बने जो आगे चलकर तीर्थ कहलाये। क्रमशः जैन तीर्थो का विस्तार होता गया। जहां—जहां भी अच्छे पर्वत और सुन्दर प्राकृतिक स्थल थे वहां जैन मन्दिर बने उनमें से कुछ मूर्तियां बड़ी चमत्कारी मानी जाने लगी। इस तरह अतिशय क्षेत्र के रूप में बहुत से तीर्थ क्षेत्र मान्य हुए। जनता की भक्ति-भावना के केन्द्र बनें। हजारों-लाखों यात्री एक स्थान से दूसरे स्थान के तीर्थो की यात्रा करने लगे। बीच-बीच में तीर्थ—यात्रा के लिए संघ निकले। मध्यकाल में जैन तीर्थ भक्ति-भावना के केन्द्र ही नहीं पर मनोज्ञ एवं दर्शनीय कला धाम भी बने। बहुत—से स्थान तो उजड़ गये पर वे तीर्थ और मन्दिर कायम रह गये। इसलिये हजारों यात्री आज भी भारत के एक छोर से दूसरे छोर तक तीर्थ यात्रा के लिये पहुंचते हैं। समय-समय पर तीर्थ यात्रा करने वालों

ने तीर्थों, मन्दिरों और मूर्तियों के सम्बन्ध में कई स्तवन, भजन, गीत, तीर्थ मालायें, चैत्यपरि-पाटिये आदि की रचनाये कीं, जिनसे बहुत-से ऐतिहासिक तथ्य भी प्राप्त होते हैं।

दिल्ली भारत की राजधानी है। जैनी भी बहुत बड़ी संख्या मे यहां रहते आये हैं अतः श्वेताम्बर और दिगम्बर दोनों समाज के बहुत-से जैन मन्दिरों का वहां होना स्वाभाविक ही है। अब तो जैन समाज दिल्ली की ओर से डायरेक्टरी भी प्रकाशित हो चुकी है जिसमें अन्य बहुत-सी ज्ञातव्य बातों के साथ वहां के वर्तमान जैन मन्दिरों का भी विवरण दिया है। पर राजधानी हो जाने के कारण यहां समय-समय पर बहुत से राज्य-परिवर्तन हुये और इससे जनता में भी उथल पुथल मची। कभी लोग यहां से प्राण बचाकर भागे और कभी फिर आकर जमे। बहुत प्राचीन मन्दिर और उपाश्रय नष्ट हो गये और नये बनाये जाते रहे। इसलिए दिल्ली के जैन समाज का इतिहास स्वतंत्र रूप से लिखा जाना आवश्यक है और उसके साधन भी यत्र-तत्र बिखरे पड़े हैं। पर उनको अभी तक एकत्रित करके उनके आधार से इतिहास लिखने का कोई प्रयत्न नहीं हुआ। दो चार लेख अवश्य लिखे गये हैं। पर उनसे शताब्दियों का पूरा चित्र सामने नहीं आ पाता।

दिल्ली के जैन मन्दिरों के सम्बन्ध में फुटकर रूप से तो कई प्रशस्तियों आदि में उल्लेख मिलता है पर किस समय कितने जैन मन्दिर कहां-कहां थे और उनको किन-किन ने बनाया—इसकी पूरी जानकारी देने वाली कोई रचना अब तक नहीं मिली थी। सोभाग्य से यति नयनसुख रचित 'नयन सुख विलास' का अध्ययन करने पर उसमें 'दिल्ली की मन्दिर मंजरी' व 'प्रतिष्टा मंजरी' नाम महत्वपूर्ण रचना प्राप्त हुई जिसकी मैंने अपने अभय जैन ग्रन्थालय के लिए नकल करवाली है। उसमें कवि नयनसुख ने दिल्ली के दिग. श्वे. दोनों सम्प्रदायों के प्रत्येक जैन मन्दिर के सम्बन्ध में प्रकाश डाला है। साथ ही उनके समय में जो नये मन्दिर की प्रतिष्ठा हुई उसका भी ऐतिहासिक विवरण दिया है। उसी के आधार से प्रस्तुत लेख में दिल्ली के जैन मन्दिरों के सम्बन्ध में संक्षिप्त प्रकाश डाला जा रहा है। कवि ने प्रारम्भ में जैन मन्दिरों के अतिरिक्त भी दिल्ली का सुन्दर वर्णन किया है।

कवि नयनसुख ने दिल्ली की मन्दिर मन्जरी और प्रतिष्ठा मन्जरी के प्रारम्भ में मंगलाचरण के बाद लिखा है—

श्रीम दिल्ली नगर की, कहूं प्रतिष्ठा मंजरी।
सिर धार निकट संसार जन, सेवो जिन पदकंजरी॥

आगे चलकर गद्य में जैन मन्दिरों के सम्बन्ध में लिखा है कि "दिल्लों खास शहर के अन्दर २० चैत्यालय तो पहले प्रतिष्ठित है और एक मन्दिर अब लाला ईश्वरी प्रसादजी का नया बना है तिस्की जिन मन्दिर प्रतिष्ठा और जिन बिम्ब प्रतिष्ठा का मेला सब मन्दिरों की सोभा और पता बयान किया जाता है। ए सब २१ शहर के अन्दर दिगम्बर मन्दिर हैं।

तत्रादौ जुगादिदेव के पंचायती मन्दिर बादशाही का बयान और श्रीमान राजेन्द्रकीर्ति जी भट्टारक दिगम्बर तिनके महंत तिनकी गद्दी का वर्णन जो अबार प्रतिष्ठा करावेगे।

भैय्या इन्द्रप्रस्थ के अन्दर, हैंगैबीस सिरी जिन मन्दिर।
तिनका पता बताऊं सुन्दर, जिनमें तिष्ठे देव दिगम्बर॥"

फिर कष्टासंघ, पुष्करगण, के देवेन्द्रकीर्ति पट्टधर जगतकीर्ति पट्ट ललितकीर्ति और उनके पट्टधर मुनिकीर्ति के हकदार होने का उल्लेख किया गया है। धर्मपुरे का प्रथम मन्दिर पंचायती का मन्दिर है।

तदनन्तर हरसुखराय के नये मन्दिर का वर्णन करते हुए लिखा है अथ हरसुखरायजी नये मंदिरजी का बयान और पंडितों की शैली का जिकर। यह मन्दिर तेरहपंथ की शुद्ध आमिनाय का धर्मपुरे में है। इस मन्दिर के चार पंडितों का उल्लेख महत्वपूर्ण है।—

पंडित गोपालराय सहार्मा, दोनूं मथरादास है नामी।
वनारसीदास बड़े गुणधामी, च्यारौं कहियें भद्र प्रणामी॥

इसके वाद शैली के (स्वाध्याय मण्डली) श्रोताओं में लाला वलदेव सहाय, पारसदास, दिलसुखराय, धर्मदास, समनलाल, चिमनलाल राय किशोरीलाल, पिशोरीलाल लाला रंगीलाल का उल्लेख है।

तीसरा मन्दिर पाथडीवाले सौदागरमल प्यारेलाल का चैत्यालय धर्मपुरे में सम्भवनाथजी का है। नये मन्दिर में अजितनाथ जी के मन्दिर का उल्लेख किया गया है। अव प्रत्येक मन्दिर सम्वन्धी पद्यों के पहले गद्य में जो संक्षिप्त विवरण दिया गया है वह दिया जा रहा है—जिससे कौन मन्दिर कहा है व किसका वनाया हुआ—इसकी सूचना मिल जाती है—

४. भोंदूमल के चैत्याले का जिकर जो धरमपुरे में है।
५. सनेहीलाल रामप्रसादजी के चैत्याले का जिकर जो अनारकली की गली में है।
६. सतघरे में इसका लालाजी के चैत्याले का जिकर अनारकली की गली में
७. सेठ के कूचे का पंचायती मन्दर तथा इन्द्रराज जी के मन्दिर का जिकर
८. इन्द्रराज जी के चैत्याले का जिकर
९. बुलाकी वेगम के कूंचे का मन्दर लाल किले के नीचे उडदूवाजार में
१०. दरीवा वाजार के पाश खुशानन्द के कूंचे में सालग्राम मथुरादासजी खजानचीयों के चेत्याले का जिकर.
११. साहवराम द्वारकादासजी वाला चैत्याला दरीवै सुखानन्द के कूंचे में
१२. मीमामलजी का चैत्याला सुखानन्दजी के कूंचे में
१३. दिल्ली दरवाजे का मन्दिरजी.
१४. कुतुववाली घाटी अन्दर
१५. सैद फिरोज के वंगलै शहादतखां की नहर पंर मन्दिरजी का जिकर
१६. खुसहालराय के कटले में लाला श्यामलाल चिरंजीलाल भगवानदास ईश्वरीप्रसाद की हवेली में पुस्तैन चैत्यालय।
१७. धीरज की पहाड़ी का शिखरवन्द मन्दिर जिन और धर्मशाला का वयान सदर वाजार में
१८. धीरज की पहाड़ी का शिखर मन्दर जिन मन्दिर शर्मशाला का वयान सदर वाजार में
१९. जैसिहपुर का मन्दिर हरसुखरायजी वाला
२०. खंडेलवालों का पंचायती दूजा मन्दर जो जैसिहपुरे में है।
२१. इक्कीसवां मन्दिर प्रतिष्ठा मंजरी में वर्णन कर चुके हैं

२२. पड़पड़गज का दिगम्बर मन्दर जमना पार
दिल्ली के ताल्लुक—
२३. शाहदरे का मन्दरजी जमना पार ।

इसके बाद 'जैन स्तम्भ मंजरी' में तीन श्वेताम्बर जैन मन्दिरों और दादावाड़ी आदि का विवरण है। पहला मन्दिर मालीवाड़े के पास नवघरे में शिखरबन्द मन्दिर है । दूसरा चेलपुरि में और तीसरा चीरखाने में वच्छराज जी वाला चैत्यालय। इसके बाद कटरा खुसालराय की पोशाल का उल्लेख करके जिनहर्ष सूरि और कुशल सूरि की छत्री और दादाबाड़ी का उल्लेख है ।

संवत १९४२ में दिल्ली के लाला भूनूलाल ने ४०० श्रावक-श्राविकाओं के साथ सम्मेद शिखर की यात्रा का संघ निकाला उसमें यति नयनानन्द भी सम्मिलित थे। उस यात्रा का कवि ने अच्छा वर्णन किया हैं। ऐतिहासिक दृष्टि से भी यात्राविवरणमहत्व का है।

संवत १९२९ में दिल्ली मे क्षुल्लक धर्मदास जी ने चौमासा किया था और वहां से उन्होंने दिल्ली के भाईयों के साथ हस्तिनापुर की यात्रा कार्तिक सुदि १५ को की थी।

●●●

भूख

भूख बड़ी ही कष्टप्रदाता
नहीं वेदना जग में कोई
बड़ी क्षुधा से !!

—अर्हत्

३८

महावीर और श्रेणिक के देहांत का समय

□ मिलाप चन्द कटारिया

हरिवन्श पुराण में वीरनिर्वाण के समय राजा श्रेणिक मौजूद थे ऐसा उल्लेख है और हरिषेण के कथाकोष में कथा नं० ५५ में वीर निर्वाण के पौणे चार वर्ष बाद संख्या श्रेणिक की,मृत्यु लिखी है। हमने इन्हीं उल्लेखों के आधार पर "राजा श्रेणिक का आयुष्य काल" इस शीर्षक के लेख में श्रेणिक की आयु १०७ वर्ष करीव होने की लिखी थी। वह लेख अनेकान्त पत्र में प्रकाशित हुआ था। किन्तु वौद्धशास्त्रों से उक्त उल्लेखों का मेल नहीं वैठता है। वौद्ध ग्रन्थो में श्रेणिक की मृत्यु के २५ वर्ष वाद भगवान् महावीर का निर्वाण माना है।

वौद्ध आगमों में लिखा है कि "श्रेणिक की मृत्यु होने पर उसका पुत्र अजातशत्रु राजगद्दी पर वैठा। उससे ८ वर्ष वाद वुद्ध का निर्वाण हुआ वुद्ध निर्वाण से १७ वर्ष वाद महावीर का निर्वाण हुआ। वुद्ध की कुल आयु ८० वर्ष की थी और महावीर की ७२ वर्ष की। श्रेणिक का जन्म हुआ तव वुद्ध ५ वर्ष के थे। यानी श्रेणिक से वुद्ध ५ वर्ष वड़े थे। और महावीर से श्रेणिक २० वर्ष और वुद्ध २५ वर्ष वड़े थे। कुल उम्र श्रेणिक की ६७ वर्ष की थी। वुद्ध ने अपनी २९ वर्ष की उम्र में गृह त्याग किया और छह वर्ष वाद ३५ वर्ष की उम्र में उनको वोधिलाभ हुआ। महावीर ने ३० वर्ष की वय में गृह त्याग किया और उन्हें ४२ वर्ष की अवस्था में केवलज्ञान हुआ। उस वक्त वुद्ध की उम्र ६७ वर्ष की थी। दोनों ही वोधिलाभ के वाद १३ वर्ष तक प्रतिद्वंद्वी के रूप में अपना अपना धर्म प्रचार करते रहे।"

वौद्ध शास्त्रों के इस कथन का फलितार्थ यह हुआ कि महावीर के मोक्ष पधारने से २५ वर्ष पहिले ही श्रेणिक की मृत्यु हो चुकी थी। और जव महावीर को ४२ वर्ष की उम्र में केवल ज्ञान हुआ तव श्रेणिक की उम्र ६२ वर्ष की थी। और चूंकि श्रेणिक की ६७ वर्ष की उम्र में मृत्यु हुई अतः महावीर को केवल ज्ञान हुए वाद सिर्फ ५ वर्ष तक ही जीवित रहे। श्रेणिक की आयु ६७ वर्ष की होने का हिसाव यह है—वुद्ध का जव ८० वर्ष की आयु में निर्वाण हुआ उससे ८ वर्ष पहिले श्रेणिक के देहांत होने पर उसका पुत्र कुणिक राजगद्दी पर वैठा था। ८० में से ८ घटाने पर ७२ वर्ष की उम्र जव वुद्ध की थी तव श्रेणिक का मरण हुआ। और उस में वुद्ध श्रेणिक से ५ वर्ष वड़े थे। इस प्रकार श्रेणिक की कुल उम्र ६७ वर्ष की होती है। जव ३५ वर्ष की अवस्था में वुद्ध को वोधिलाभ हुआ तव वौद्ध मतानुसार श्रेणिक की उम्र ३० वर्ष की थी। दि० जैन कथा को लेकर अनुमानतः

चेलना का विवाह का अगर श्रेणिक के साथ उसकी ४० वर्ष की अवस्था के लगभग हुआ माना जाये तो उस वक्त श्रेणिक का बौद्धमती होना भी सम्भव हो सकता है। इससे पहिले श्रेणिक न बौद्धधर्मी था न जैनधर्मी। उसका कोई तीसरा ही धर्म था। उसने पहिले दो प्रकार के धर्मों का परिवर्तन किया बाद में जैन धर्म को ग्रहण किया था। ऊपर बताया गया है कि बौद्ध मतानुसार श्रेणिक की उम्र ६७ वर्ष की थी। इसकी संगति जैन कथा ग्रन्थों के अनुसार इस प्रकार बैठायी जाती है कि श्रेणिक ने करीब १९ वर्ष की अवस्था में एक ब्राह्मण कन्या से विवाह किया था। उससे अभय-कुमार नामक पुत्र हुआ। इसी अभयकुमार के प्रयत्न से श्रेणिक का चेलना के साथ विवाह हुआ था। उस वक्त अभय कुमार की आयु २४ वर्ष की मान लें तो यहां तक श्रेणिक की आयु ४३ वर्ष करीब की होती है। तथा चेलना की कूख से कुणिक का जन्म यदि चेलना के विवाह के १ वर्ष बाद भी मान लें और कुणिक को राजगद्दी उसकी २३ वर्ष की अवस्था में मिली हो तो उक्त ४३ में ये २४ वर्ष जोडने पर श्रेणिक की ६७ वर्ष की बनती है।

किन्तु यदि हम हरिवंश पुराण और हरिषेण कथा कोश के वे उल्लेख जिनमें कि वीर निर्वाण के वक्त श्रेणिक की उपस्थिति बताई है, जिनका कि जिकर हमने इस लेख के प्रारम्भ में किया है उनको छोड भी दें तथापि अन्य जैन कथा ग्रंथों आदि में जो भगवान् महावीर और राजा श्रेणिक का वृत्तांत मिलता है उसका भी बौद्धमत के ऊपर लिखे विवरण से मेल बैठता नहीं है। नीचे हम यही दिखाते हैं—

ऊपर लिखा गया है कि चेलना से विवाह करते वक्त श्रेणिक की उम्र ४३ वर्ष की थी। उसी जगह हम ३६ वर्ष की ही मानकर चलें—१८ वर्ष अभयकुमार के जन्म समय तक के और तदनन्तर १८ वर्ष चेलना के विवाह के वक्त तक के। अब इससे आगे की उम्र लाने के लिये हमें ज्येष्ठा की की जीवनी पर ध्यान देना होगा। जैन कथाओं में लिखा है कि—ज्येष्ठा चेलना की बहन थी और चेलना के विवाह के वक्त वह भी नवयुवती थी। अभयकुमार दोनों ही को छुपाकर श्रेणिक के साथ शादी करने को ले चला था। परन्तु रास्ते में चेलना ने कपट करके कोई बहाना बनाकर ज्येष्ठा को वापस भेज दी थी। अतः उसका विवाह श्रेणिक के साथ न हो सका। चेलना के इस कृत्य से ज्येष्ठा के दिल में विरक्तता पैदा हुई और वह आर्यिका हो गई। इस ज्येष्ठा आर्यिका को एक दिन एक सात्यकि पुत्र हुआ था। जैन शास्त्रों में इस सात्यकि को ११ वां रुद्र बताया है। और लिखा है कि इसने भगवान् महावीर के ऊपर उनके तपस्याकाल में उपसर्ग किया था। इस रुद्र के बाबत यह भी लिखा है कि—यह पहिले जैन मुनि हुआ था। फिर वह मुनि पद से भ्रष्ट होकर अपने असंयम काल में उसने भगवान् पर उपसर्ग किया था। हरिवंश पुराण के सर्ग ६७ में लिखा है कि—

वर्षाणि सप्त कौमार्ये विंशतिः संयमेऽष्टभिः।
एकादशस्य रुद्रस्य चतुस्त्रिंशदसंयमे ॥५४५॥

अर्थ—ग्यारहवें रुद्र का कुमार काल ७ वर्ष का, संयम काल २८ वर्ष का और असंयम काल ३४ वर्ष का था।

इस कथन से रुद्र का असंयमकाल उसकी ३५ वर्ष के बाद आता है। अगर उसने अपनी ३६ वर्ष की अवस्था में भी भगवान् पर उपसर्ग किया हो और इस उपसर्ग के बाद उसी वर्ष में ही महावीर को केवल ज्ञान हुआ भी मान लिया जाये तो श्रेणिक

की उक्त ३३ वर्ष की उम्र में रुद्रका यह ३६ वर्ष का काल जोड़ने पर श्रेणिक की आयु उस वक्त तक ७२ वर्ष की होती है। अर्थात् महावीर को केवलज्ञान हुआ तब तक श्रेणिक की आयु ७२ वर्ष की थी। महावीर को केवल ज्ञान उनकी ४२ वर्ष की वय में हुआ था यह विदित ही है। इससे सिद्ध होता है कि—महावीर से श्रेणिक ३० वर्ष बड़े थे। रुद्र के इस उपसर्ग का कथन गुणभद्राचार्य ने उत्तरपुराण में भी किया है।

अब हमको जैनशास्त्रों से यह देखना है कि महावीर को केवलज्ञान हुए बाद श्रेणिक कितने वर्ष तक जीवित रहा।

एक समय जब भगवान् विपुलाचल पर पधारे थे तो उनसे श्रेणिक ने पूंछा था कि—इस काल में अन्तिम केवली कौन होगा ? और वह कहां होगा ? उत्तर में भगवान् ने कहा था कि "यह जो अभी विद्युन्माली देव यहां दिख रहा है इसीका जीव तेरी इसी राजगृही नगरी में आज के ७ वें दिन एक सेठानी के गर्भ में आवेगा। उसका नाम जंबू होगा और वही अंतिम केवली होगा।" इसी तरह वर्णन संघदासगणिकृत "वसुदेवहिंडी" ग्रंथ में भी पाया जाता हैं। इस ग्रंथ का रचना काल विक्रमकी ६ वीं शताब्दी के लगभग का बताया जाता है। इस कथन से यह तो स्पष्ट होता है—कि जंबू स्वामी के गर्भकाल तक तो महावीर और श्रेणिक दोनों ही जीवित थे। और जब गौतम स्वामी केवली बनकर विपुलाचल पर आये और उनके निकट सुधर्मास्वामी से जंबूस्वामी ने दीक्षा ली तब राजगृह का राजा कुणिक था ऐसा उत्तरपुराण में लिखा है। इससे प्रगट होता है कि जंबू स्वामी की दीक्षा के वक्त न श्रेणिक जीवित था और न महावीर जीवित थे। अगर महावीर स्वामी उस समय जीवित होते तो कथा में जम्बू स्वामी की दीक्षा गौतम के निकट न लिखकर महावीर के निकट लिखते। और उस समय अगर श्रेणिक भी जीवित होता तो उसकी जगह कुणिक का नाम नहीं लिखते।

यह तो सब जानते ही हैं कि—जम्बूस्वामी ने यौवनारम्भ में ही मुनि दीक्षा लेली थी। यौवनारम्भ का काल अगर १७-१८ वर्ष की उम्र में माना जाये तो कहना होगा कि—श्रेणिक और महावीर दोनों ही जम्बूस्वामी की १७-१८ वर्ष की उम्र के पहले ही गुजर चुके थे। दोनों में से महावीर के निर्वाण के विषय में उत्तर पुराण में ऐसा लिखा मिलता है—

विनीतो यौवनारंभे अप्यनाविष्कृत विक्रियः।
वीरः पावापुरे तस्मिन् काले प्राप्स्यति निर्वृतिम्
॥३८॥ पर्व ७६

अर्थ—विनीत जंबूकुमार यौवन के प्रारम्भ में भी काम विकार से रहित होगा। उसी काल में महावीर स्वामी पावापुर से मोक्ष पधारेंगे।

इसमें महावीर का निर्वाण काल स्पष्टतः जंबूकुमार के यौवन के प्रारंभिक समय में लिखा है। अर्थात् भगवान् की मोक्ष जंबूकुमार की १६-१७ वर्ष की उम्र के लगभग हुई थी ऐसा इस कथन से जान जाता है। इस श्लोक में आये "तस्मिन् काले" का अर्थ कोई कोई जंबू के गर्भ-काल के समय में ही महावीर का निर्वाण होना कहते है वह ठीक नहीं है। कारण ऐसा मानने से गौतम केवली के निकट जंबू की दीक्षा की वार्ता बनेगी नही। क्योंकि जैनागम में वीर निर्वाण के १२ वर्ष बाद गौतम केवली का निर्वाण माना है। निर्वाण के पहिले ही जंबू ने गौतम के निकट दीक्षा ली तब जंबू की उम्र (गर्भकाल को छोड़कर) १० ११ वर्ष की ही हो सकती है। इस छोटी उम्र में न तो जंबू का सेठानी की पुत्रियों के साथ विवाह की

बात बन सकती है और न मुनिदीक्षा की बात ही श्रुतसागर ने भावपाहुड़ की ५१ वीं गाथा की टीका में जंबूस्वामी का पूरा ही चरित्र बिल्कुल उत्तर-पुराण के सदृश ही लिखा है-पद्यों को गद्य में रूपांतरित कर दिया है। उसमें श्रुतसागर ने लिखा है कि—

"तस्मिन् जंबूस्वामि यौवनकाले श्रीवीरभट्टारक पावापुरे मुक्ति यास्यति।" जंबूस्वामी के उस यौवन काल में भगवान् महावीर पावापुर में मोक्ष पधारेंगे।

इस प्रकार महावीर के निर्वाण समय का तो उल्लेख मिलता है। किन्तु श्रेणिक के अन्तकाल का उल्लेख नहीं मिलता। हां हरिवंश पुराण और हरिषेण कथा कोश में श्रेणिक का अन्तकाल वीर निर्वाण से उत्तरकाल में लिखा है वह अटपटा सा मालूम पड़ता है। क्योंकि उससे श्रेणिक की आयु १०२ वर्ष से भी अधिक की होती है। वह इस तरह कि महावीर के केवलज्ञान के वक्त श्रेणिक की ७२ वर्ष की उम्र हम ऊपर बता आये है उसमें ३० वर्ष महावीर का केवलि काल मिलाने से वीर-निर्वाण के वक्त श्रेणिक की १०२ वर्ष की आयु बनती है। ये दोनों ही ग्रन्थ पुन्नाट संघ के है। अन्य किसी ग्रन्थ में ऐसा उल्लेख देखने में नहीं आया। फिर भी यह तो स्पष्ट ही है कि जम्बू के गर्भ में आने के वक्त श्रेणिक जीवित था। और जम्बू की दीक्षा के वक्त वह जीवित न था जैसा कि ऊपर बताया गया है। जम्बू की १७ वर्ष की उम्र के लगभग यदि महावीर का निर्वाण माना जाये तो कहना होगा कि जम्बू के जन्म के समय महावीर को केवल ज्ञान हुए १३ वर्ष हो चुके थे। भगवान् ३० वर्ष तक केवल ज्ञानी रहे ऐसा जैन शास्त्रों का मत है। जब कि श्रेणिक जंबू के गर्भ में आने के समय में जीवित था तो महावीर के केवली काल के समय १३ वर्ष ७२ में जोड़ने से यहां तक श्रेणिक की उम्र ८५ वर्ष की होती है। क्योंकि भगवान् की केवलज्ञानोत्पत्ति के वक्त उसकी आयु ७२ वर्ष की थी ऐसा हम ऊपर बता आये हैं। यह टोटल उस वक्त तक का होता है जब हम श्रेणिक का जीवित रहना जंबू के गर्भकाल तक ही मान लेते हैं। अगर श्रेणिक उसके बाद भी जीवित रहा हो तो इस टोटल में वृद्धि करनी होगी। परन्तु यह ध्यान में रखना है कि श्रेणिक के बाद उसकी राजगद्दी चेलना के पुत्र कुणिक को मिली है। उस वक्त कुणिक की उम्र यदि हम ३० वर्ष की मानलें तो इसका अर्थ यह होगा कि कुणिक का जन्म श्रेणिक की ५५ वर्ष की अवस्था में हुआ था। अब यदि हम श्रेणिक की ८५ वर्ष की उम्र से और अधिक आगे बढ़ते हैं तो कुणिक का जन्म भी श्रेणिक की ५५ वर्ष की अवस्था से आगे बढ़ता है। इसलिये श्रेणिक की ८५ वर्ष से अधिक उम्र होने की थोड़ी ही गुंजाइश है अर्थात् पांच चार वर्ष और अधिक मानी जा सकती है। इससे यही सिद्ध होता है कि-महावीर स्वामी के मोक्ष पधारने से अनुमानतः १५ वर्ष पहिले तक राजा श्रेणिक का अन्तकाल हुआ था। उस वक्त जम्बू कुमार शिशु अवस्था में था।

प्रस्तुत चर्चा के आधार पर बौद्ध और जैन मत में निम्न प्रकार मतभेद है—

(१) बौद्धमत में महावीर से श्रेणिक २० वर्ष बड़ा था। जैन मत में ३० वर्ष बड़ा था।

(२) बौद्धमत में श्रेणिक की मृत्यु के २५ वर्ष बाद महावीर का निर्वाण हुआ। जैन मत में लगभग १५ वर्ष बाद निर्वाण हुआ।

(३) बौद्धमत में महावीर को केवलज्ञान हुआ तब श्रेणिक की उम्र ६० वर्ष की थी। जैनमत में तब श्रेणिक की उम्र ७२ वर्ष की थी।

(४) बौद्धमत में महावीर को केवलज्ञान हुए बाद श्रेणिक ५ वर्ष तक ही जीवित रहा। जैन मत में लगभग १५ वर्ष तक जीवित रहा।

(५) बौद्धमत में श्रेणिक की आयु ६७ वर्ष की बतायी है। जैन मत में ८५ या उससे भी कुछ अधिक वर्षो की होती है।

दि० जैन ग्रन्थों में महात्मा बुद्ध का कहीं कोई जीवन वृतान्त देखने में नहीं आया है। इसलिए बुद्ध की जीवनी जैनमत के अनुसार क्या हो सकती है यह हम कह नही सकते है। बौद्धमत में जो श्रेणिक की आयु ६७ वर्ष की लिखी है उससे हम को ऐसा आभास होता है कि शायद श्रेणिक अपनी ६७ वर्ष की उम्र तक ही बौद्धमती रहा हो। तदुपरान्त उसने जैन धर्म ग्रहण कर लिया हो। इस लिये बौद्धों ने उसकी उम्र ६७ वर्ष की ही बतादी हो ताकि आगे का इतिहास ही उसका न रहे।

शील

नारी के आभूषण लज्जाशील है
शोभा नहीं बढ़ा सकते बाहर के भूषण।

—अर्हत्

ग्वालियर के काष्ठासंघी भट्टारक

□पं० परमानन्द शास्त्री

श्रमण संस्कृति युगादिदेव (आदिनाथ) के समय से लेकर अन्तिम तीर्थंकर महावीर के परि-निर्वाण के वहुत काल तक अविच्छिन्न रूप से प्रवाहित रही है और उनके निर्वाण के वाद अन्तिम श्रुत केवली भद्रवाहु के समय द्वादश वर्षीय भीषण दुर्भिक्ष के कारण वह दिगम्बर-श्वेताम्बर दो धाराओं में विभक्त हो गई। उक्त दोनों धाराओं में भी परवर्तीकालों में अनेक अवान्तर संघ और गण-गच्छों का आविर्भाव हुआ। इसका कारण दुर्भिक्ष के समय की विकृत परिस्थिति, विचार विभिन्नता और संकीर्ण मनोवृत्ति है। संकुचित मनोवृत्ति से आत्म-परिणति में अनुदारता रहती है। संकीर्ण दायरे में अनेकान्त की सर्वोदयी समु-दाय भावना तिरोहित हो जाती है। इससे वह परस्पर में सौहार्द को उत्पन्न नहीं होने देती, प्रत्युत कटुता को जन्म देती रहती है। दोनों पर-म्पराओं में मत विभिन्नतादि कारणों से विभिन्न गण गच्छ उत्पन्न होते रहे है। और २४ सौ वर्ष के दीर्घकाल में भी गण गच्छों की विभिन्नता में कोई अन्तर नही आ पाया है। शिलाभेद के समान इन संघों की विभिन्नता परस्पर में अभिन्नता में परिणत नहीं हो सकी। यदि गण गच्छादि के सम्बन्ध में अन्वेषण किया जाय तो एक वड़े ग्रन्थ का निर्माण किया जा सकता है।

यहां ग्वालियर के काष्ठा संघ के कुछ भट्टारकों का परिचय दिया जाता है—

ग्वालियर प्राचीन काल से दि० जैन संस्कृति का केन्द्र रहा है। यहां के दिगम्बर जैन मन्दिरों में ११ वीं शताव्दी तक की धातु मूर्तियां उपलव्ध होती हैं। यहां काष्ठासंघी भट्टारकों की वड़ी गद्दी रही है जिसके द्वारा वहां आस पास के प्रदेशों में जैन धर्म और जैन संस्कृति का प्रसार हुआ है। अनेक विद्वान और भट्टारकों द्वारा ग्रन्थों की रचना हुई है। यहां मूलसंघी और काष्ठासंघी भट्टारक वरावर प्रेम से रहे हैं। दोनों के द्वारा प्रतिष्ठापित अनेक मूर्तियां मन्दिरों में विराजमान हैं। इन सव भट्टारकों में भट्टारक गुणकीर्ति अपने समय के विशिष्ट विद्वान, तपस्वी और प्रभावक थे। उनके निर्मल चरित्र और व्यक्तित्व का प्रभाव तोमरवंश के क्षत्रिय शासकों पर अप्रतिहत रूप में पड़ा, जिससे वे स्वयं जैनधर्म के प्रति निष्ठावान हुए। उनके तपश्चरण के प्रभाव से राज्य में संक्रान्ति और विरोध जैसे विकार पास में भी नही फ़टक सके। राजागण अपने राज्य का संचालन स्वतन्त्रता और विवेक से करते रहे। राज्यकीय विषम समस्याओं का समाधान भी होता रहा। अपनी प्रजा का पालन करते हुए राज्य वृद्धि में सहायक

हुए। जनता स्वतन्त्रता से अपने-अपने धर्म का पालन करती हुई सांसारिक सुख-शान्ति का उपभोग करती थी। अनेक वरिष्ठ श्रेष्ठि जन राज्य के आमात्य और कोषाध्यक्ष जैसे उच्च पदों पर प्रतिष्ठित रहते हुए निरन्तर राज्य की अभिवृद्धि और अमन में सहायक हुए। उस समय के ग्वालियर राज्य में परिस्थिति का सुन्दर वर्णन कविवर रइधू ने पार्श्वनाथ चरित्र में किया है। उससे उस समय की सुखद स्थिति का अच्छा आभास मिल जाता है।

यहाँ उन भट्टारकों का, जिन के नाम का उल्लेख कविवर रइधू के ग्रन्थों और प्रतिष्ठित मूर्ति-लेखों में उपलब्ध होता है उनका संक्षिप्ति परिचय देना ही इस लेख का प्रमुख विषय है।

१. भट्टारक देवसेन :—

काष्ठा संघ, माथुरान्वय बलात्कारगण सरस्वती गच्छ के विद्वान् भट्टारक उद्धरसेन के पट्टधर एवं तपस्वी थे। वे मिथ्यात्व रूप अन्धकार के विनाशक, आगम और अर्थ के धारक तथा तप के निलय और विद्वानों के तिलक स्वरूप थे। इन्द्रिय रूपी भुजंगों के दलने वाले और गरुड़ के समान (इन्द्रियजयी) थे[1]। काष्ठा संघ की गुर्वावली में उन्हें अमित गुणों का निवास, कर्म-पाश के खण्डक, समय के ज्ञायक निर्दोष, संसार की शंका के नाशक, मदन; कदन (युद्ध) के विनाशक धर्मतीर्थ के उन्नायक नेता व देवसेन गणी जयवंत रहें,[2] ऐसा प्रकट किया है। इससे स्पष्ट है कि प्रस्तुत देवसेन अपने समय के बड़े विद्वान थे। इसी से उन के यश का खुला गान किया गया है। इन का समय विक्रम की १४ वीं शताब्दी सम्भव है।

दूसरे देवसेन वे हैं जिन का उल्लेख दूबकुण्ड (चडोम) के मानस्तम्भ के नीचे दो पंक्तियों वाले लेख में पाया जाता है उस में देवसेन की एक भग्न मूर्ति भी अंकित है :—

"संवत् ११५२ वैशाख सुदि पंचमम्याम्
श्री काष्ठासंघे श्री देवसेन पादुका युगलम् ।।"

प्रस्तुत देवसेन किसके शिष्य थे, और इन्होंने क्या क्या कार्य किये हैं यह अभी कुछ ज्ञात नहीं हो सका। इनका समय विक्रम की १२ वीं शताब्दी का मध्यकाल है। यह किसके शिष्य थे और इनकी गुरु परम्परा क्या है यह कुछ ज्ञात नहीं हो सका। क्यों कि इनके साथ काष्ठा-संघ का उल्लेख है इसलिये यह जानना आवश्यक है कि यह किसके शिष्य थे।

---

१. मिच्छत्त-तिमिर हरुणाइं सुहायरु, आयमत्थहरु तव-णिलउं।
णामेण पयडु जणि देवसेणु गणि, संजायउ चिरू वुह-तिलउं ।।
सम्मइ जिन चरिउ प्रशस्ति

इंदिय-भुअंग णिद्दलण-वेणु—पद्मपुराण प्रशस्ति

२. विज्ञानसारी जिनयज्ञकारी, तत्त्वार्थवेदी वरसंघ भेदी।
स्वकर्मभंगी बुध यूथसंगी, चिरं क्षितौ नन्दतु देवसेनः ।।
अमितगुणनिवासःखंडिता कर्मपाशः, समयविद कलंकः क्षीण संसार-शंकः।
मदन-कदनहंता धर्मतीर्थस्य नेता, जयति महतिलीनः शासने देवसेनः ।।
—काष्ठासंघ मा० गुर्वावली

विमलसेन—यह देवसेन गणि के पट्टधर एवं शिष्य थे। अनुपम गुणों के धारक, समितियों से युक्त, कर्म बन्धादि से भय-भीत तथा चन्द्र किरण के समान शीतल विमलसेन हमें सुख प्रदान करने वाले जो भव्य जनों के चित्त को आनन्द प्रदान करें विमल यति हैं। मल संग के विनाशक, अनुपम गुणमन्दिर, ऐसे ऋषि पुंगव विमलसेन थे।[3] इस गुणानुवाद से ज्ञात होता है कि भट्टारक विमलसेन विद्वान्, तपस्वी, द्विविधसंग के त्यागी और प्रतिष्ठाचार्य थे। इनके द्वारा प्रतिष्ठित धातु की एक पद्मासन चौवीसी मूर्ति सं० १४१४ की प्रतिष्ठित जयपुर (राजस्थान) के पाटोदी मन्दिर में विराजमान है।[4] और दूसरी प्रतिष्ठित आदिनाथ की एक मूर्ति दिल्ली के नया मन्दिर धर्मपुरा में विद्यमान है, जो सं० १४२८ में किसी जयसवाल सज्जन के द्वारा प्रतिष्ठित कराई गई थी।[5] इनकी उपाधि मलधारी थी। इनका समय १५ वीं शताब्दी का पूर्वार्ध जान पड़ता है।

धर्मसेन—भट्टारक विमलसेन के पट्टधर थे, जो वस्तुधर्म के धारक थे, जिन्होंने लोक में दश-धर्मों का विस्तार किया था। व्रत, तप शील गुणों में जो श्रेष्ठ थे। बाह्याभ्यन्तर परिग्रहों के निवारक वे धर्मसेन मुनि जनता को संसार समुद्र से तारने वाले थे। वे काष्ठासंघ के नायक थे और धर्मध्यान के विधान में दक्ष थे। तथा सकलसंघ में शोभायमान थे।[6] यह प्रतिष्ठाचार्य भी थे। इनके द्वारा प्रतिष्ठित तीन मूर्तियां पार्श्वनाथ, अजितनाथ और वर्धमान तीर्थकर की हिसार जिले के मिट्टि ग्राम

---

३. तास पट्टि णिरुवम गुणमन्दिरू, णिच्चु भवज्जण चित्ताणंदिरु।
विमलमई फेडिय-मल-संगमु, विमलसेणु णामें रिसिपुंगमु॥
—सम्मइ जिनचरिउ प्रशस्ति

४. सं० १५१४ वैशाखसुदि १५ गुरो श्री काष्ठा संघे माथुरान्वये भट्टारक श्री देवसेन तत्पट्टे प्रतिष्ठाचार्यं श्री विमलसेनदेवा अग्रोतकान्वये गर्ग गोत्र..........साहु गोकल भार्या लिरदा पुत्र कुंधरा भार्या गयसिरि पुत्र देवराज भार्या.......... । पटोदी मन्दिर जयपुर

५. संवत् १४२८ वर्षे ज्येष्ठ सुदि १२ द्वादश्यां सोमवासरे काष्ठासंघे माथुरान्वये भट्टारक देवसेन देवास्तत्पट्टे त्रयोदश चारित्ररत्नालंकृता सकल-विमल-मुनि-मंड़ली शिष्य शिखामणयः प्रतिष्ठाचार्य श्री भट्टारक विमलसेनदेवाः तेषामुपदेशेन जाइसवालान्वये सा० वूड़पति भार्या मदना पुत्र विजयदेव पत्नी पूजा द्वितीय पुत्र लालसिंह तत्पुत्र विजयदेव तत्पुत्र समस्त दातु धुरीण साधु श्रीभोज भार्या ईसरी पुत्र हम्मीरदेवः द्वितीय भार्या कर्षी करशा पुत्र शुभराज (सा०) कोल्हाकी हम्मीर देवा भार्या धर्म श्री तत्पुत्र धर्मसिंह एतेषां स्वश्रेयाऽर्थं शिवः तत्पुत्र आदि नाथ नेमिचन्द्राभ्यां प्रतिष्ठितम्। नयामन्दिर धर्मपुरा दिल्ली वेदी १ कटनी २

६. वत्थु सरूव धम्म-धुर धारउ, दह् विह धम्मु भुवणि वित्थारउ।
वय-तव-सील गुणंहि जे सारउ, वज्भतर संग-णिवारउ।
धम्मसेणु मुणि भवसर तारउ, — सम्मइ जिणचरिउ प्रशस्ति
काष्ठासंघ गणनायकवीरः, धर्मसाधन विधानपरीरः।
राजते सकलसंघ समेत, धर्मसेन गुणरेव चिदेतः॥
—काष्ठासंघ मा० पट्टावली

से मनिराम जाट को प्राप्त हुई थी।[७] जो अब हिसार के मन्दिर में विराजमान हैं। जो १४×१० इंच के आकार को लिये हुए हैं। तीनों मूर्तियां पहाड़ी मटियाले पाषाण की हैं। इससे भट्टारक धर्मसेन का समय विक्रम की १५ वीं शताब्दी का मध्यकाल जान पड़ता है।

भावसेन—इस नाम के अनेक विद्वान हो गए हैं।[८] उनमें प्रस्तुत भावसेन काष्ठासंघ माथुरान्वय के आचार्य थे, वे धर्मसेन के शिष्य एवं पट्टधर थे। तथा भट्टारक सहस्रकीर्ति के गुरु थे। सिद्धांत के पारगामी विद्वान थे, शीलादि व्रतों के धारक, शम दम और क्षमा से युक्त थे। वैभारादि तीर्थ में हुए प्रतिष्ठोदय में जिन्होंने महान योग दिया था। और जो अपने गुणों की भावना में सदा तन्मय रहते थे।[९] इन का समय विक्रम की १५ वीं शताब्दी है।

सहस्रकीर्ति—भावसेन के पट्टधर विद्वान थे। रत्नत्रय के आकर कर्मग्रन्थों के सार विचारक व्रतादिक के अनुष्ठाता और अनेक सद्गुणों से परिपूर्ण थे। अपने समय के अच्छे विद्वान थे।[१०] इनके द्वारा प्रतिष्ठित कोई प्रतिमालेख और ग्रन्थ रचना अभी तक मेरे देखने में नहीं आई। अन्वेषण करने पर उनको प्राप्ति संभव है। इनका समय भी १५ वीं शताब्दी हैं।

---

७. संवत् १४४२ वैशाखवुदी ५ शनौ श्री काष्ठासंघे माथुरान्वये आचार्य श्री धर्मसेनदेवः इन्द्रिमी नाकः अग्रोतक वंशे सा० जाल्ह सहाय (भा०) जियतो।

८. जिन में एक भावसेन काष्ठासंघ लाल वागड गच्छ के आचार्य थे। गोपसेन के शिष्य और जयसेन के गुरु थे। जयसेन ने अपना धर्मरत्नाकर सन् ९९८ सं १०५५ में करहाड में बनाकर समाप्त किया था। अतः इन का समय ११ वीं शताब्दी का पूर्वार्द्ध होना चाहिये।
दूसरे भावसेन मूलसंघ सेनगण के विद्वान थे जिनकी उपाधि त्रैविद्यचक्रवर्ती थी त्रैविद्यचक्रवर्ती की उपाधि शब्दागम, तर्कागम और परमागम में निपुण विद्वानों को दी जाती थी। यह जैन दर्शन के अच्छे विद्वान थे। इन की निम्न कृतियां प्रकाश में आई है, कातंत्ररूपमाला, विश्वतत्त्व प्रकाश, भुक्ति-मुक्ति विचार, प्रमा प्रमेय, सप्त पदार्थी टीका सिद्धान्तसार आदि। कातन्त्र रूपमाला शक सं० १२८९ सन् १३६७ की है। आन्ध्र प्रदेश के अनन्तपुर जिले में अमरापुर ग्राम के निकट इनकी निषधी भी वनी हुई है।
भावसंग्रह के कर्ता भावसेन भी काष्ठासंघ के विद्वान जान पड़ते हैं।

९. धर्मोद्धारविधिप्रवीणमतिकः सिद्धान्तपारंगमी।
शीलादिव्रतधारकः शम-दम-शान्तिप्रभाभासुरः।
वैभारादिकतीर्थराजरचित प्राज्य प्रतिष्ठोदय—
तत्पट्टाब्ज विकासनैकतरणि; श्रीभावसेनोगुरुः ॥ —काष्टासंघ मा० पट्टावली

१०. कर्मग्रन्थ विचारसार सरणी रत्नत्रयस्याकरः,
श्रद्धावन्धुरलोकलोकनलिनी नाथोपमः साम्यप्रतम।
तत्पट्टे चल चूलिका सुतरणिः कीर्तिऽपि विश्वम्भरी,
नित्यं भाति सहस्र कीर्तियतियः क्षान्तोऽस्ति दैगम्बरः काष्ठासंघ मा० पट्टावली ॥
कम्म-कलंक-पंक-सोसणु इणु, सहसकित्तिउव्वासिय भव-वणु सम्मइ जिन चरिउ

भट्टारक गुणकीर्ति—सहस्रकीर्ति के शिष्य एवं पट्टधर थे। १५ वीं शताब्दी के प्रतिभासम्पन्न विद्वान विशिष्ट तपस्वी और ज्ञानी थे। ये अपने समय के बड़े प्रभावक और प्रकृति से प्रशान्त एवं सौम्य मूर्ति थे। इनके तप और चारित्र का प्रभाव तौमरवंश के शासकों पर अधिक पड़ा, जिसमे वे जैन धर्म के प्रति निष्ठावान हुए। उनके तपश्चरण के प्रभाव से राज्य मे किसी तरह को कोई संक्रांति पर विरोध उत्पन्न नहीं हुआ। और कुछ हुआ भी तो वह किसी तरह की कोई क्षति पहुंचाने में समर्थ नहीं हुआ। राजा गण राज्य कार्य का स्वतन्त्रता और विवेक से संचालन करते रहे। और अपनी प्रजा का पुत्रवत् पालन करते हुए धर्म-कर्म में निष्ठ रहकर राज्य वैभव की वृद्धि मे सहायक हुए। कविवर रइधू और काष्ठा संघ की पट्टावली में इनका खुला यशोगान किया गया है।[११] वे काष्ठा संघ रूप उदयाद्रि के लिये दिवाकर थे। वाह्य और आभ्यान्तर तप के आकर थे। बुधजनों में शास्त्र और अर्थ के चिन्तामणि थे। दीक्षा परीक्षा में निपुण अभावयुक्त मनादि से रहित, माथुरान्वयके ललामभूत, राजाओं के द्वारा मान्य आचार्य थे। तपस्याचरण से उनका शरीर क्षीण हो गया था। सिद्धान्त के वेत्ता, पाप रहित, विद्वानों के प्रिय, माया, मान आदि पर्वतों के लिये वज्र, हेयोपादेय के विचार में अग्रणी, और कामरूप हथनियों के लिये कंठीरव (सिंह) थे। स्याद्वाद के द्वारा वादियों के विजेता, रत्नत्रय के धारक, माथुर संघरूप पुष्कर के लिये शशि थे। दम्भादि से रहित वस्तु तत्व के विचारक और जगत जन के कल्याण कर्त्ता थे। सं० १४६० में वैशाखसुदि १३ के दिन खण्डेलवाल वंशी पं० गणपति के पुत्र पं० खेमल ने पुष्पदन्त के उत्तरपुराण की एक प्रति भ० पद्मनन्दि के आदेश से भ० गुण कीर्ति को प्रदान की थी।[१२]

---

११. तासु पट्टि उदयद्दि दिवायरु, बज्झब्भंतर-तव-कय-आयरु।
वुहयण-सत्थ-अत्थ-चिंतामणि, सिरिगुणकित्ति-सूरि पायउ जाणि॥

—सम्मइ जिन चरिउ

(क) दीक्षा परीक्षा-निपुणः प्रभावकः, प्रभावयुक्तोधमदादिमुक्तः।
श्रीमाथुरानूक ललामभूतो, भूनाथ मान्यो गुणकीर्तिसूरिः॥

—समयसार प्रश० कारंजा भण्डार

(ख) श्रीमान् तस्य सहस्र कीर्तियतिनः पट्टे विकृप्टेऽभवत्।
क्षीणांग गुणकीर्ति साधुरनघां विद्वज्जनानां प्रियः।
मायामानमदादिभूधरपवीराद्धान्तवेदी गणी,
हेयादेय विचार चारुधिषणः कामेभकठी रवः॥३२
यत्ते जो गुणवद्धवुद्धि मनसो मूला भवन्तो नुताः॥

१२. स० १४६० वैशाख सुदि १३ खण्डेयवाल वंशे पंडित गणपति पुत्र पं० खेमलेन एसा पुस्तिका भट्टारक पद्मनन्दि देवादेशेन गुण कीर्तिये प्रदत्तं।

—उत्तरपुराण प्रशस्ति आमेर भंडार

वीरमदेव के रूप में भ० गुणकीर्ति के आदेश से पद्मनाभ कायस्थ ने यशोधर चरित्र की रचना की थी।[13] सं० १४६८ में आषाढ वदि २ शुक्रवार के दिन ग्वालियर में उक्त वीरमदेव के राज्य काल में काष्ठासंघ माथुरान्वय पुष्करगण के भट्टारक गुणकीर्ति की आम्नाय में साहू वीरमदेव की पुत्री देवसिरी ने 'पंचास्तिकायटीका' की प्रति लिखवाई थी।[14]

सं० १४६६ में माघसुदी ६ रविवार के दिन राजकुमार सिंह की प्रेरणा से गुणकीर्ति ने एक धातु की मूर्ति की प्रतिष्ठा कराई थी।

सं० १४७३ में भ० गुणकीर्ति द्वारा एक मूर्ति की प्रतिष्ठा सम्पन्न हुई। इनका समय सं.१४६० से १५१० तक है। राजा डूंगरसिंह के राज्य काल में जैन मूर्तियों के उत्खननका जो महत्वपूर्ण कार्य सम्पन्न हुआ, उस सबका श्रेय भ० गुणकीर्ति को ही है। इनके द्वारा अनेक मूर्तियों की प्रतिष्ठा और निर्माण कार्य हुआ है। इन्होंने क्या-क्या ग्रंथ की रचना की यह कुछ ज्ञात नहीं हो सका।

यशःकीर्ति

भ० गुणकीर्ति के लघु भ्राता और शिष्य थे। प्राकृत संस्कृत और अपभ्रंश भाषा के विद्वान, कवि और सुलेखक थे। जैसा पार्श्व पुराण के निम्न पद्य से स्पष्ट हैः—

"सुतासु पट्ठि भायरो वि आयमत्थ-सायरो
रिसि सुगच्छनायको जयत्तसिक्खदायको।
जसक्खुकित्ति सुन्दरो अंकपुणाय मन्दिरो॥—
पास पुराण प्रश०

तहों बंधउजसमुणि सीसुजाउ, आयरिय
पणासिय दोसुराउ।
—हरिवंश पुराण

भव्यकमल संबोह पयंगो, तहपुणु सु-ताव
तवियंगो।
णिच्चोब्मासिय पवयण अंगो, बंदिवि
सिरिजसकित्ति असंगो॥
—सम्मइ जिन चरिउ प्र०

यशःकीर्ति असंग (परिग्रह रहित) भव्य रूप कमलों को विकसित करने के लिए सूर्य के समान थे. वे यशःकीर्ति वदंनीय हैं। काष्ठा संघ माथुर-गच्छकी पट्टावली में भी उनकी अच्छी प्रशंसा की गई है। जिनकी गुणकीर्ति प्रसिद्ध थी। पुण्यमूर्ति और कामदेव के विनाशक अनेक शिष्यों से परिपूर्ण, निग्रंन्थ मुद्रा के धारक, जिनके चित्तगृह में जिन-चरण-कमल प्रतिष्ठित थे—जिनभक्त थे और स्याद्वाद के सत्प्रेक्षक थे। इनकी इस समय चार

---

१३. उपदेशेन ग्रन्थोयं गुणकीर्तिः महामुनेः।
कायस्थ पद्नाभेन रचितं पूर्वसूत्रतः॥

—यशोधर चरित प्रश०

१४. संवत्सरेस्मिन् विक्रमादित्य गताब्द १४६८ वर्ष आषाढ़ वदि-२ शुक्रदिने-श्री गोपाचले राजा वीरमदेव राज्य प्रर्वतमाने श्री-काष्ठासंघे माथुरान्वये पुष्करगणे आचार्य श्री भावसेन देवाः तत्पट्टे श्री सहस्रकीर्ति देवाः तत्पट्टे भट्टारक श्री गुणकीर्ति देवा स्तेषामाम्नाये संघइ महाराज वधू साधु मारदेव पुत्री देवसिरि तया इदं पंचास्तिकायसार ग्रन्थ' लिखापितम्।
कारंजा भंडार

कृतियां उपलब्ध हैं। पाण्डव पुराण, हरिवंश पुराण, आदित्यकवार कथा और जिनरात्रि कथा।

आपके द्वारा लिखवाए हुए दो ग्रंथ विबुध श्रीधर कृत भविष्यदत्त-चरित्र और सुकमाल चरिउ सं. १४८६ में लिखे गए थे।[१५] आपने अपनेगुरु की अनुमति सेमहाकवि स्वयंभू देव के खंडित एवं जीर्ण-शीर्ण दशा को प्राप्त हरिवंश पुराण का ग्वालियर के समीप कुमर नगर में पणियार के जिन चैत्यालय में श्रावक जनों के व्याख्यान करने के लिए उद्धार किया था।[१६] उक्त चारों कृतियों में से अन्तिम दोनों कृतियों में रचनाकाल नहीं दिया, जिससे यह निश्चय करना कठिन है कि ये दोनों कृतियां कब बनी ? कवि ने पाण्डव पुराण को सं० १४९७ की कार्तिक शुक्ला अष्टमी बुधवार के दिन नवगाम नगर में बनाकर समाप्त किया था और हरिवंश पुराण को सं० १५०० में भाद्रपद शुक्ला एकादशी गुरुवार के दिन बनाया था। यश:कीर्ति भट्टारक पद पर कब प्रतिष्ठित हुए, और कब उसका परित्याग कर अपने शिष्य मलयगिरि को उस पर प्रतिष्ठित किया, इसका कोई प्रमाणिक उल्लेख नहीं मिलता। कविवर रइधू ने भी इनके बारे में कुछ नहीं लिखा। इनका समय सं. १४८६ से सं० १५१० तक तो है हीं। उसके बाद वे कब तक इस भूमण्डल को पवित्र करते रहे यह अन्वेषणीय है। आपके अनेक शिष्य थे और आपने अनेक देशों में विहार करके जिन शासन को चमकाने का प्रयत्न किया था। यह प्रतिष्ठाचार्य भी थे। इनके द्वारा प्रतिष्ठित अनेक मूर्तियां होगी, किन्तु उनका मुझे अभी दर्शन नहीं हुआ। गवलियर के भट्टारकीय मन्दिर में मूर्तियां और उनके द्वारा रचित अन्य ग्रन्थ भी उपलब्ध हो सकते हैं। इनके समय कवि रइवू ने अनेकों ग्रन्थों की रचना की है। मलयकीर्ति-भट्टारक यश:कीर्ति के पट्टधर थे। अच्छे विद्वान और प्रतिष्ठाचार्य थे। कवि रइधू ने आपका निम्न वाक्यों से उल्लेख किया है;—

उत्तम खमवासेण अमदंउ,
मलयकीर्ति रिसवरु चिरणंदउ।

—-सम्मइजिन चरिउ

काष्ठासंघ स्थित माथुरगच्छ पट्टावली में भी दीक्षा देने में सुदक्ष, सहृदय, सच्चरित, मुक्ति-

---

१५. सं० १४८६ वर्षे आसाढ़ वदि ९ गुरु दिने गोपाचल दुर्गे राजा डूंगरसी (सिं) ह राज्य प्रवर्तमाने श्रीकाष्ठासंघे माथुरान्वये पुष्करगणे आचार्य श्री सहस (स्त्र) कीर्तिदेवास्तत्पट्टे आचार्य गुणकीर्ति देवास्तच्छिष्य श्रीयश:कीर्ति देवास्तेन निजज्ञानावरणीकर्मक्षयार्थ इदं भविस्यदत्त पंचमी कथा लिखापितम्।

—जैन नया मन्दिर धर्मपुरा, दिल्ली

सं० १४८६ वर्षे आश्वणि वदि १३ सोम दिने गोपाचलदुर्गे राजा डूगरेन्द्रसिह

१६. तं जसकित्ति-मुणिह उद्धरियउ, णिएविसुत्तु हरिवंशच्छ चरियउ।
णिय गुरु सिरि-गुणकीर्ति-पसाएं, किउपरि पुण्णु पणहो अणुराएं।
सरह सणेद १ सेठि आएसें, कुसर-णयरि आविउ सविसेसें।
गोवग्गिरिहे समीवे विसालए, पणियारेह जिणवर-चेयालए।
सावय जण हो पुरउ वणवाणिउ, दिठुमिच्छत्तु मोहु अवमाणिउ॥

—हरिवंश पुराण प्रशस्ति

मार्गी, लोभ, क्रोध और माया रूप मेघों को उडाने के लिए मारुति (वायु)देव थे। वे मलयकीर्ति जयवंत हो।[१७]

यह मयलकीर्ति वही जान पड़ते हैं जिन्होंने सं० १४९४ में मूलाचार की प्रशस्ति लिखी थी। यह प्रतिष्ठाचार्य भी थे, इनके द्वारा प्रतिष्ठित मूर्तियां अनेक मन्दिरों में मिलेंगी, किन्तु मुझे तो केवल दो मूर्ति लेख ही प्राप्त हो सके है।[१८] अन्वेपण करने पर और भी मिल सकते हैं। इनकी रचनाएं अभी तक प्राप्त नहीं हुई। जिनका अन्वेषण करना आवश्यक है। यह कोई भिन्न मलयकीर्ति हैं।

भट्टारक गुणभद्र—भ० मलयकीर्ति के पट्टधर एवं शिष्य थे। अपभ्रंश भाषा के विद्वान कवि तथा प्रतिष्ठाचार्य थे। आपने अपने जीवन को आत्म-साधना के साथ धर्म और समाज-सेवा में लागाया था। आपके द्वारा रची गई १५ कथाएं खजूर मस्जिद देहली के पंचायती मन्दिर के एक गुच्छक में उपलब्ध हैं जिन्हें उन्होंने ग्वालियर में रहकर भक्त श्रावकों की प्रेरणा से रचा था। उनके नाम इस प्रकार है:—१ सवणवारसि कहा २ पक्खवइ कहा ३ आयास पंचमी कहा ४ चंदायणवय कहा ५ चंदण छट्ठी कहा ६ दुद्धारस कथा ७ णिद्दुह सप्तमी कहा ८ मउडसत्तमी कहा ९ पुप्फांजलि कहा १० रयणत्तय कहा ११ दहलक्खणवय कहा १२ अणंतवय कहा १३ लद्धविहाण कहा १४ सोलह कारण कहा १५ सुयंध दहमी कहा।[१९]

कवि ने इन कथाओं में व्रत का स्वरूप, उनके आचरण की विधि और फल का प्रतिपादन करते हुए व्रत की महत्ता पर अच्छा प्रकाश डाला है। इनमें से सवणवारसि कहा और लब्धि विधान कहा, इन दो कथाओं को ग्वालियर के उद्धरण के जिन मन्दिर में बैठकर सारंगदेव के पुत्र देवदास की प्रेरणा से रचा गया है। पुष्पांजलि, दहलक्खणवय कहा और रत्नत्रय कहा इन तीनों को जयसवाल वंशी लक्ष्मणसिंह चौधरी के पुत्र पंडित भीमसेन के अनुरोध से रचा है और नरक उतारी दुद्धारस कहा, ग्यालियर निवासी साहुवीधा के पुत्र सहणपाल के अनुरोध से रची गयी है। भ० गुणभद्र नाम के अनेक विद्वान हो गये हैं, परन्तु उनमें प्रस्तुत गुणभद्र सबसे भिन्न जान पड़ते हैं। इनका

---

१७. दीक्षादाने मुदक्षोवगतगुरु शिष्यत्रा क्षेत्रनाथं,
ध्यायतन्त्रं श्रान्तं शिष्टं चरित सहृदयो मुक्तिमार्गे।
यो लोभक्रोधमायाजलद विलयने मारुती माधुरेशः,
काष्ठासंघे गरिष्ठो जयति स मलयाद्यस्ततः कीतिसूरिः ।।
—काष्ठासंघ मा० प०

१८. सं० १५०२ वर्षे कातिक सुदी ५ भौम दिने श्री काष्ठा संघे श्री गुण कीतिदेवाः तत्पट्टे श्रीयशकीतिदेवाः तत्पट्टे मलयकीतिदेवान्वये साहु नरदेव तस्य भार्याजैनी।
सं० १५१० माघसुदि १३ सोमे श्री काष्ठासंघे आचार्य मलयकीति देवा; तैः प्रतिस्ठितम्।।
गुणागणमणिभूषो वीतकामादि शेषः कृत जिनमत तोपस्ततोप स्तत्पदेशान्त वेयः।
धनचरण विशेषः सत्यघोप विरोधो,
जयति च गुणभद्रःसूरिरानन्दसूरिः।। काष्ठासंघ मो० पं०

१९. देखो, जैन ग्रन्थ प्रशस्ति संग्रह भा० २ पृ० ११२

समय विक्रम की १६वीं शताब्दी है। इनके समय में अनेक ग्रन्थों की प्रतिलिपि की गई और मूर्तियों की प्रतिष्ठा भी हुई है। उनमें से दो मूर्ति लेख यहां दिये जाते हैं।

१–सं० १५२६ वैशाख सुदि ७ बुधे श्री काष्ठा संघे भ० श्री मलयकीर्ति भ० गुणभद्राम्नाये अग्रोत्कान्वये मित्तल गोत्रे आदि लेख है। यह धातु की मूर्ति भ० आदिनाथ की यक्षयक्षिणी सहित हैं।

२–सं० १५३१ फाल्गुण सुदि ५ शुक्रे काष्ठासघे भ० गुणभद्राम्नाये जैसवाल सा० काल्हाभार्या [जयश्री] आदि। यह मूर्ति १८ इंच धातु की है।

इस सब विवेचन से पाठक भट्टारक गुणभद्र के व्यक्तित्व और कृतित्व का परिचय प्राप्त कर सकते हैं।

भानुकीर्ति—भट्टारक गुणभद्र के पट्टधर थे। अपने समय के अच्छे विद्वान्, उपदेशक और प्रतिष्ठाचार्य थे। शब्द शास्त्र. तर्क, काव्य अलकार एवं छन्दों में निष्णात थे।[२०] इनके द्वारा लिखी हुई एक रविव्रत कथा मेरे अवलोकन में आई है। परन्तु ग्रन्थ रचनाओं का अभी तक पता नहीं चला। इनका समय विक्रम की १६वीं और १७वीं शताब्दी है।

कमलकीर्ति—हेमकीर्ति के पट्टधर थे। यह सं० १५०६ में पट्टधर थे। उस समय चन्द्र वाड में राजा रामचन्द्रदेव और उनके पुत्र युवराज प्रतापचन्द्र के समय कविवर रइधू ने शान्तिनाथ की मूर्ति की प्रतिष्ठा की थी। तब हेमकीर्ति के पट्टधर कमलकीर्ति प्रतिष्ठित थे।[२१] इनका समय भी विक्रम की १६वीं शताब्दी है।

इनके दो शिष्य थे, शुभचन्द्र और कुमारसेन। उनमें शुभचन्द्र कमलकीर्ति के पट्ट पर सोनागिर में प्रतिष्ठित हुए थे।[२२] और कुमारसेन भानुकीर्ति के पट्ट पर आसीन हुए थे। कुमारसेन के शिष्य

---

२०. यो जानाति सुशब्द शास्त्रमनघं काव्यनि, तर्कादिदं
सालंकार गुणैर्युतानि नियतं जानाति छन्दांसि च।
यो विज्ञानयुतो दयाशमगुणैर्भातीह नित्योदयं,
जीयाच्छ्री गुणभद्रसूरि····श्री भानुकीर्ति गुरुः॥

२१. देखो, जैन ग्रन्थ प्रशस्ति संग्रह भाग २, पृ० १११ की टिप्पणी।

२२. सिरिकंज कित्ति-पट्टधरेसु, तच्चत्थ–सत्थभासण दिणेसु।
उदइय मिच्छत्त तमोहणासु, सुहचन्द भडारउ सुजसवासु॥
···· ···· ····
कमलकीर्ति उत्तम खमधारउ, भव्वहं भव-अम्भणिहितारउ।
तासु पट्ट कणयट्टि परिट्ठिउ, सिरि सुहचंद सु– तव उक्कंट्ठिउ॥

—हरिवंश प्रशस्ति

तत्पट्टमुच्चमुदयाद्रि मिवानुभानुः, श्री भानुकीर्ति रिह भातिहतांधकार।
उद्योतयन्निखिल सूक्ष्म पदार्थ सार्थान् भट्टारको भुवन पालक पद्मबन्धु॥६०
हेमकीर्ति दिल्ली के भट्टारक प्रमाचन्द्र के प्रशिष्य और शुभचन्द्र के शिष्य थे। ये वही हेमकीर्ति ज्ञात होते हैं जिनका उल्लेख सं० १४६५ के विजोलिया में उत्कीर्ण शिलालेख में हुआ है। इससे इनका समय विक्रम की १५वीं शताब्दी है।

—जंबूस्वामी चरित पृ० ८

हेमचन्द्र थे, और हेमचन्द्र के शिष्य पद्मनन्दि। पद्मनन्दि के शिष्य यशःकीर्ति थे, जिन्होंने सं० १५७२ में केशरियाजी में सभा मण्डप बनवाया था। इन यशःकीर्ति के दो शिष्य थे। गुणचन्द्र और क्षेमकीर्ति। गुणचन्द्र का सम्बन्ध दिल्ली पट्ट परम्परा से है।

माथुरगच्छ के एक अन्य कमलकीर्ति का उल्लेख मिलता है, जिन्होंने देवसेन के तत्त्वसार की एक संस्कृत टीका बनाई है। वे अमलकीर्ति के शिष्य थे। इन्होंने उस टीका की प्रशस्ति में अपनी गुरु परम्परा निम्न प्रकार बतलाई है। क्षेमकीर्ति, हेमकीर्ति, संयमकीर्ति, अमलकीर्ति और कमलकीर्ति हो सकता है कि ये दोनों कमलकीर्ति एक हों। कारण कि सं० १५२५ के मूर्ति लेख में जो कविवर रइधू द्वारा प्रतिष्ठित है उसमें भ० अमलकीर्ति और उनके बाद शुभचन्द का उल्लेख है।[२३] और यह भी हो सकता है कि दोनों कमलकीर्ति भिन्न ही हों, क्योंकि दोनों के गुरू भिन्न-भिन्न हैं, और यह भी सम्भव है कि एक विद्वान के दीक्षा और शिक्षा गुरु के भेद से दो विद्वान गुरु रहे हों। कुछ भी हो, इस सम्बन्ध में अन्वेषण करना अत्यन्त आवश्यक है। कुमारसेन [२४] भानुकीर्ति के शिष्य थे। स्याद्वाद रूप निर्दोष विद्या के द्वारा वादी रूपी गजों के कुम्भस्थल के विदारक थे। सम्यग्दर्शन, सम्यग्ज्ञान और सम्यक् चारित्र के धारक थे। कामदेव के जीतने वाले तथा महाव्रतों का आचरण करने वाले थे। अच्छे विद्वान तपस्वी और जन-कल्याण करने में सदा तत्पर रहते थे। इसी से पाण्डे राजमल जी ने उनकी विजय कामना की है।

जीते क्रोध क्षमा से साधक
और मान को मार्दव से
माया को आर्जव से जीते
और लोभ संतोष से।

—अर्हत्

२३. शिष्योऽथ शुभचन्द्रस्य हेमकीर्ति महासुधीः।

—देखो, अनेकान्त वर्ष ११ कि० पृ० ३६

२४. तत्पट्टमब्धिमभिवर्द्धन हेतुरिन्द्रः, सौम्यः सदोदयमयोलसदंशु जालैः।
ब्रह्म व्रताचरण निर्जित मारिसेनो, भट्टारको विजयतेऽथ कुमारसेन ः॥

—जंबूस्वामी चरित ६३ पृ० ८

४०

ऊपरगांव के जैन मन्दिर का अप्रकाशित शिलालेख

□ श्री रामवल्लभ सोमाणी

ऊपर गांव डूंगरपुर के समीप स्थित है। यहां के दिगम्बर जैन मन्दिर में वि. सं. १४६१ का शिलालेख लग रहा है जो ऐतिहासिक दृष्टि से बहुत ही महत्वपूर्ण है। मन्दिर अब ध्वस्त हो गया है और मूलनायक प्रतिमा डूंगरपुर के मन्दिर में रखवा दी गई है। शिलालेख बहुत लम्बा और ३६ पंक्तियों का सुन्दर खुदा हुआ है। इसे भी अब डूंगरपुर में सुरक्षित रखवा दिया गया है।

वागड दीर्घकाल से जैन धर्म का केन्द्र रहा है। प्रसिद्ध तीर्थ केसरियाजी इसी क्षेत्र की सीमा के पास है। वि. सं. ११६६ का शिलालेख अर्थूणा से मिला है। इस लेख में वर्णित है कि जब परमार राजा विजयराज वहां राज्य करता था तब नागर वंशी जैन भूषण ने आदिनाथ भगवान का मन्दिर बनवाया। इसमें छत्रसेन नामक माथुरसंघ के आचार्य का उल्लेख है। श्वेताम्बर परम्परा के अनुसार भी यहां जैन धर्म का विकास बहुत ही पहले हो गया था।

ऊपर गांव वाले लेख में प्रारम्भ के ८ श्लोकों में सुन्दर मंगलाचरण है। आगे राज पद्धति वर्णित है जो श्लोक सं. ९ से २० तक है। इसके बाद काष्ठासंघ नन्दितट गच्छ के आचार्यों के नाम हैं जिनके सबके आगे प्रायः सेन या कीर्ति लिखा हुआ है। यह वर्णन श्लोक सं. २८ तक है। श्लोक सं० २९ से श्रेष्ठि वंश वर्णन है। अन्त में कुछ गद्य है।

इस लेख का सबसे महत्वपूर्ण भाग इसका राजपद्धति वाला है क्योंकि डूंगरपुर के राजाओं की प्रथम विस्तृत शुद्ध वंशावली है। श्लोक सं० ९ में भगवान एकलिंग की स्तुति की गई है और आगे के श्लोक में उनके प्रसाद से वप्परावल को राज्य मिलना वर्णित है। आगे बप्पा के उत्तराधिकारियों का वर्णन है। जिसका सार इस प्रकार है" गुहिल वंश में बाघा का पुत्र खुम्माण हुआ। इस के वंश में वैरड़ वैरिसिंह पद्मसिंह आदि शासक हुए : जैत्रसिंह ने पृथ्वी को विजित किया और सीहड़ के द्वारा यह राजान्वती हुई। इसमें प्रथम बार सीहड़ का सम्बन्ध मेवाड़ के महाराजा जैत्रसिंह से किया गया है। डूंगरपुर के पश्चात् कालीन शिलालेख उदाहरणार्थ जिनेश्वर मन्दिर का वि. सं. १६१७ का लेख, महारावल आशकर्ण की प्रशस्ति और गोवर्धन नाथ के मन्दिर वि सं. १६७९ की प्रशस्ति आदि में सीहड़ को सामंतसिंह का उत्तराधिकारी बतलाया गया है। अपने-अपने विस्तृत लेख" वागड़ में गुहिल राज्य की स्थापना और Foundat on Guhi.a Puri in Bagada में इसको विस्तार से वर्णित किया है। इसमें ओझाजी प्रभृति विद्वानों की इस मान्यता का मैंने इस ऊपर गांव के जैन शिलालेख

के आधार पर खण्डन किया था कि सीहड़ जिसे डूंगरपुर का मौजूदा राजवंश चला था सामन्तसिंह का पौत्र नहीं था बल्कि मेवाड़ के महारावल जैत्रसिंह का पुत्र था।

आगे के श्लोक में सीहड़ के पुत्र जैसल का वर्णन है। ओझाजी ने इसका नाम विजयसिंह माना है। इसके २ शिलालेख अब तक मिले हैं (१) वि.सं. १३०६ फाल्गुण सुदि का जगत गांव का और झाडोल का वि. सं. १३०८ का। इन दोनों में इसे जयसिंह पढ़ा है। ओझाजी की मान्यता थी कि झाडोल के शिलालेख में "विजयनाथ मन्दिर" के निर्माण का उल्लेख है अतएव राजा का नाम विजयसिंह होना चाहिए। किन्तु यह केवल कल्पना है। मुझे अभी डूंगरपुर में इस शिलालेख की मूल छाप देखने का भी अवसर मिला। इसमें मूल शब्द "वयजनाथ देव" है जिसका स्पष्ट अर्थ वैद्यनाथ होता है। ऊपर गांव की इस प्रशस्ति का वर्णन ही अधिक उपयुक्त लगता है कि उसका नाम जैसल या जयसिंह होगा। एकलिंग मन्दिर के समीप स्थित। चीखागांव के वि. सं. १३३० के विस्तृत शिलालेख में प्रसंगवंश अर्थूणा के युद्ध में जैसल के लिए मेवाड़ की सेनाओं का तलारक्ष मदन की अध्यक्षता में लड़ना वर्णित है। ओझाजी ने इस जैसल शब्द को मेवाड़ के शासक जैत्रसिंह का नाम माना है और वागड के शासक का नाम विजयसिंह माना है जो दोनों ही स्पष्टतः गलत है ऊपर गांव के इस लेखके अनुसार यह जैसल शब्द वागड़ के शासक के लिए ही प्रयुक्त हुआ था। इसका उत्तराधिकारी देवपाल हुआ था। अन्य वंशावलियों में सीहड के बाद सीधा देवपाल का नाम दिया गया है। उनमें जैसल का नाम छूटा हुआ है। इसका समाधान इस प्रशस्ति में स्पष्ट रूप से दिया गया है कि सीहड़ के २ पुत्र थे एक जैसल और (२) देवपाल। अतएव इसकी यह सूचना भी महत्वपूर्ण है। वंशावली में इसमें सिंधुर नाम के एक शासक का नाम और जोडा गया है जो अन्य प्रशस्तियों में नहीं है। इसके लिए यह भी लिखा है कि इसने अमरसिंह नामक एक शत्रु को हराया था। इस सम्बन्ध में और शोध की आवश्यकता है।

इस प्रकार राजवंश वर्णन की दृष्टि से यह प्रशस्ति बड़ी महत्वपूर्ण है। साधुओं के जो नाम आये हैं वे ये हैं गर्गसेन, नागसेन, नोपसेन रामसेन यशःकीर्ति कनकसेन शुभकर सेन, अनन्तकीर्ति, मारसेन केशवसेन देवकीर्ति नयकीर्ति राजकीर्ति पद्मकीर्ति पद्मसेन भावसेन और रत्नकीर्ति। आगे श्रेष्ठि भाहड़ का वर्णन है जो नरसिंहपुरा जाति का था। अन्त में संवत् का कुछ अंश इस प्रकार है:—

"संवत १४६१ वर्षे वैशाख सुदि ५ पंचम्याम् शुक्रवारे राउल श्री प्रतापसिंह विजय राज्ये

ऊपर गामनाम्नि ग्रामे श्री काष्ठासंघ नंदि तटगच्छे श्री रत्नकीति स्यादेशात् नारसिंह ज्ञातीय खरनहर गोत्रे "आदि"

इस क्षेत्र में और भी कई मन्दिर हैं जिनमें शिलालेख लगे हुए हैं। मेवाड़ और वागढ़ क्षेत्र के विस्तृत Survey की पूर्ण आवश्यकता है।

राजस्थान के प्रमुख जैन तीर्थ

☐ पं० अनूपचन्द न्यायतीर्थ

राजस्थान प्रारम्भ से ही भारतीय संस्कृति एवं कला का केन्द्र रहा है। यहां के राजाओं ने संस्कृति एवं कला के उत्थान में अपना पूर्ण योग दिया है एक ओर जहां राजस्थान ने अपनी आन बान पर मर मिटने वाले वीर पुत्रों को जन्म दिया है दूसरी ओर उसने समाज और संस्कृति की रक्षा करने वाले अनेक साहित्यकार एवं कलाकारों को अपनी गोदी में पाल पोप कर बड़ा किया है। राजस्थान अपनी वीरता के क्षेत्र में जहां सबसे आगे रहा और रणथंभौर, चित्तौडगढ़, हल्दीघाटी, मांडलगढ आदि वीर भूमियां आज भी उसका यशोज्ञान करती है उसी प्रकार वह अपनी संस्कृति एवं कला के क्षेत्र में किसी से पीछे न रहा और रणकपुर, आबू, ऋपभदेव, पुष्कर, आदि धर्म स्थान उसके युगों से यशोगान करते आ रहे हैं। इन सभी धर्म स्थानों में जनता एवं शासन के सौहार्द पूर्ण सहयोग से ही संस्कृति एवं कला जीवित रह सकी है।

भारत एक धर्म प्राण देश है। यहां धर्म के नाम पर अनेक तीर्थों की स्थापना हुई है। जिस स्थान मे मनुष्य को अपने तथा पर के कल्याण करने की प्रेरणा मिलती है वह तीर्थ कहलाता है। अथवा जहां से मनुष्य के हृदय में तीर्थंकर (परमात्मा) बनने की प्रेरणा उठे वह तीर्थ कहलाता है। उन पवित्र या पुण्य स्थानों को जहां धर्म भाव से श्रद्धा सहित लोग पूजा या अर्चना के लिये जाते हैं तीर्थ क्षेत्र कहते हैं। जैन मान्यतानुसार ऐसे क्षेत्र तीन प्रकार के होते हैं—तीर्थ क्षेत्र, निर्वाण क्षेत्र और अतिशय क्षेत्र।

तीर्थ क्षेत्र—जिस स्थान पर किसी भी तीर्थंकर का गर्भ, जन्म, तप, ज्ञान और निर्वाण कल्याण कों में से कोई भी एक तथा पांचों कल्याण हुए हों—यथा कैलाश, चम्पापुर पांवापुर, सम्मेदशिखर गिरनार शत्रुंजय कुण्डलपुर अयोध्या बनारस हस्तिनापुर आदि।

निर्वाण क्षेत्र—वह स्थान जहां से तीर्थंकर अथवा अन्य तपस्वियों ने तपस्या कर निर्वाण प्राप्त किया हो यथा कैलाश, चम्पापुर, पांवापुर, गिरनार समेद शिखर, मांगीतुंगी, सिद्धवरकूट, द्रोणागिरि, नैनागिरि सोनागिरि आदि।

अतिशय क्षेत्र—जो स्थान किन्हीं विशेपताओं के कारण, किन्हीं कुतूहल प्रिय घटनाओं अथवा चमत्कारों के कारण या आश्चर्यकारी उपलब्धियों के कारण पूज्य अथवा आदरणीय माने जाते हैं। यथा—

जैनबिद्री, मूडबिद्री, कारकल, चन्देरी, श्री महावीरजी, पद्मपुरा, चमत्कारजी, चांदखेडी, तिजारा,

रणकपुर, आबू, मक्षीपार्श्वनाथ, अन्तरिक्ष पार्श्वनाथ आदि।

उपरोक्त प्रकार के तीर्थ प्रायः भारत के सभी भागों में फैले हुए हैं। तीर्थ स्थानों पर जाकर मनुष्य अपने आपको धर्म एवं अपनी संस्कृति से अनुप्राणित पाता है और स्वय में एक गौरव अनुभव करता है। तीर्थ स्थान धर्म स्थान होने के कारण शान्ति के स्थान माने जाते है। यदि तीर्थ स्थान पर भी मनुष्य को शाति नहीं मिलती तो उसका वहां जाना वृथा होता है। प्राय. सभी प्राचीन तीर्थ ऐसे स्थानों पर थे जहां पहिले कठिनाई से पहुंचा जाता था, बिजली पानी की सुविधाएं नहीं थी, तथा नागरिक कोलाहलपूर्ण जीवन की अशान्ति से दूर थे। वहां जाकर मनुष्य असुविधाओं के होते हुए भी अपने को पूर्ण सुखी एवं कृतकृत्य मानता था। आज सभी क्षेत्रों पर पूर्ण सुविधाएं हैं लोग आसानी से पहुंच सकते हैं यद्यपि आधुनिक सुविधाओं के कारण वहां का वातावरण भी शहरी जैसा ही अशांत बन गया है किन्तु साधन और सुविधा के कारण यात्रियों की सख्या अधिक बढ़ी है—

राजस्थान में भी अनेक जैन तीर्थ हैं जिनमें प्रमुख-प्रमुख तीर्थो (अतिशय क्षेत्रों) का परिचय प्रस्तुत लेख में दिया जा रहा है। ये सभी क्षेत्र संस्कृति एवं कला की दृष्टि से महत्वपूर्ण हैं एवं राजस्थान के गौरव स्वरूप है। उक्त तीर्थो की स्थापना, रक्षा तथा संवृद्धि में जैन समाज ने तो अपना तन-मन-धन न्योछावर किया ही है किन्तु तत्कालीन राजा महाराजाओं का भी पूर्ण सहयोग रहा है और उसी के फल स्वरूप संस्कृति एवं कला के जीते जागते ये तीर्थ मस्तक उन्नत किये लाखों दर्शनार्थियों को अपनी ओर आकृष्ट करते हैं तथा उन्हें सद्बुद्धि प्राप्त होने की प्रेरणा देते है—

राजस्थान में प्रायः अतिशय क्षेत्र ही हैं और उनमें से कतिपय क्षेत्रों का वर्णन नीचे प्रस्तुत किया जाता है—

१. आबू (अर्बुदाचल) दिलवाडा

आबू राजस्थान का शिमला कहा जाता है। यह देहली, अहमदाबाद लाइन पर स्थित है। आबू रोड स्टेशन से १४ मील की चढाई पर यह स्थान है। यहां गर्मी के थपेड़ों से घबरा कर शीतलता की शरण पाने को अनेक पर्यटक आते हैं। बादल पहाडों को छूते नजर आते हैं। पहाड की चढाई विकट है। आबू रोड से माउन्ट आबू पहुंचने के लिये यातायात की तथा यहां ठहरने की पर्याप्त व्यवस्था है। यहां ग्रीष्म ऋतु में पहिले वाइसराय दफ्तर तथा मिलिट्री का कैम्प रहता था आजकल भी राजस्थान राज्यपाल का वहां गर्मी में निवास रहता है तथा अनेक कार्यालय भी रहते हैं। पहाड पर जाने का १) एक रुपया प्रति यात्री सरकार द्वारा कर लिया जाता है। आबू विशेषकर जैन मन्दिरों के लिये विश्व विख्यात है। यहां के जैन मन्दिर देखने के लिए ही अधिकांश यात्री आते हैं और उनकी कारीगरी देख अपने आपको धन्य मानते हैं।

आबू अर्बुदाचल तथा दिलवाड़ा के नाम से भी प्रसिद्ध है। यहां दो श्वेताम्बर तथा दो दिगम्बर जैन मन्दिर है। दोनों ही श्वेताम्बर मन्दिर मनोज्ञ कला पूर्ण एवं दर्शनीय हैं। वास्तुकला की दृष्टि से ये मन्दिर बेजोड़ हैं। पत्थर की कुराइ का इतना सुन्दर कार्य कहीं देखने को नहीं मिलता। शिल्पकार ने अपनी टांची से इन प्राणहीन प्रस्तरों को सजीव सा बना दिया है। यहां जैसा कि ऊपर कहा गया है दो मन्दिर हैं। एक 'विमल वसही' जिसे राजा भीमदेव के सेनापति विमलशाह ने संवत १०८८ तदनुसार सन् १०३१ में १८,५३,००,००० अठारह क्रोड तरेपन लाख रुपये की लागत से बन-

वाया तथा दूसरा 'लवण वसही' जिले वीरधवल राजा के मन्त्री वस्तुपाल तेजपाल ने सं० १२८७ तदनुसार सन १२३१ में १२,५३,००,००० रुपये के लागत से बनवाया :

सभा भवन, गुंबज, तारेणद्वार खंभों तथा तिवारों की छतों की कारीगरी देखकर दर्शक दातों तले अंगुली दबा लेता है। एक खंभे तथा छत में जो कार्य उत्कीर्ण है वह दूसरे में नहीं मिलेगा। कहते हैं जितना दिनभर में शिल्पकार पत्थर में कुराई का कार्य करता था उतने खड्डे में जितना स्वर्ण भर जाय उतना उसे दे दिया करते थे। निज मन्दिर के बाहर सभा मण्डप में देवरानी जिठानी के द्वारा बनवाई गई दो वेदियां अत्यधिक महत्वपूर्ण है। बेलबूंटे, फूल की पंखुडियां, पत्तियां पत्थर को तराश कर इस प्रकार बनाई गई हैं कि सब आश्चर्य चकित रह जाते हैं। ये भारतीय प्राचीन संस्कृति एवं कला के उत्कृष्ट नमूने हैं जिन्हें सब प्रकार के आतंकों से सुरक्षित रखा गया है। इतने ऊंचे पहाड़ों एवं घने जंगलों के बीच इतनी सामग्री पहुंचाई जाकर किस प्रकार ये देवालय खड़े किये गये हैं और वे भी उस युग में जब कि कोई आज कल जैसे यातायात के साधन उपलब्ध नही थे कम आश्चर्य की बात नहीं है। इन मन्दिरों में विशाल एवं मनोज्ञ जिन प्रतिमाएं हैं। मन्दिर के सामने हस्तिशाला है जिसमें वस्तुपाल तेजपाल घोड़े पर सवार हैं। इन्ही दोनों मन्दिरों के बीच से जाकर आगे कुंथनाथ स्वामी का दिगम्बर जैन मन्दिर है जिसमें ११ वीं शताब्दी की मनोज्ञ पाषाण प्रतिमा भी है। इसमें २२ प्रतिमाएं और हैं। दोनों उक्त मन्दिरों के सामने की ओर एक और दिगम्बर जैन मन्दिर है। इसमें भी ११ वीं शताब्दी की पाषाण की विशाल मूल नायक प्रतिमा है तथा १८ प्रतिमाएं और हैं। यात्रियों के ठहरने के लिये धर्मशाला भी है।

दिलवाडा पर कई धर्मशालाएं हैं तथा यात्रियों के ठहरने की पूर्ण व्यवस्था है।

यहां राजा महाराजाओं की अनेक कोठियां है मिलिट्री ट्रेनिंग स्कूल है। दर्शनीय स्थानों में जैन मन्दिर नकीझील, सूर्यास्त स्थल (Sun Set point) आदि प्रमुख है। यहां से ५ मील दूर अचलगढ स्थान है जहां धातु की विशाल जैन मूर्तियां हैं—कहते हैं, ये सोने की मूर्तियां हैं और इनका प्रत्येक का वजन करीब एक सौ मन है।

रणकपुर—

रणकपुर राजस्थान में प्रसिद्ध श्वेताम्बर तीर्थ है। यहां अजमेर से अहमदाबाद जाने वाले पश्चिमी रेल्वे के फालना स्टेशन से पहुंचा जा सकता है। रणकपुर क्षेत्र पर सड़क मार्ग से उदयपुर कांकरोली चार भुजा आदि होते हुए पर्वतीय प्रदेशों में घने जंगल एवं घाटियां पार करके देसुरी की नाल से पहुंचना होता हैं। यह क्षेत्र पहाड़ों की गोद में बसा हुआ है। पास में नदी बहती है। यहां का मंदिर वास्तु कला की दृष्टि से संसार में प्रसिद्ध है। दिलवाड़ा के जैन मंदिरों की तरह यहां भी पत्थर की कुराई का काम दर्शनीय है। इस मंद्रिर की कलात्मक विशेषताओं से विदेशी पर्यटक अत्यधिक प्रभावित हुए हैं। रणकपुर राजस्थान की जैन कला और धार्मिक भावना का सजीव चित्र है। भारतीय स्थापत्य कला का सर्वश्रेष्ठ प्रतीक यह मंदिर अरावली की सुरम्य घाटियों में स्थित है।

मंदिर के एक शिलालेख से पता चलता है कि यह मंदिर पौरवाड़ जाति में धारणाक धन्ना नामक महान जैन भक्त के द्वारा निर्माण कराया गया था। इस लेख में धारणाक के परिवार की पूरी प्रशस्ति दी गई है। इस मंदिर के मिर्माण में सभी परिवार वालों ने सहायता दी थी। इसका नाम राणपुर भी दिया गया है जो राणा कुम्भकर्ण के नाम पर पड़ा प्रतीत होता है। यह मंदिर त्रैलोक्यदीपक के

नाम से भी प्रसिद्ध है। मंदिर के निर्माताओं में राज्य का भी काफी हाथ था। इस मंदिर के निर्माताओं में राणा कुंभा का नाम विशेषतौर से लिया जाता है। मंदिर के क्षेत्र का नाम भी उन्हीं के नाम से है और कहते हैं मंदिर की जमीन भी इसी शर्त पर दी गई थी कि इसका नाम राणा के नाम पर रखा जावे। चित्तौड़ का कीर्तिस्तंभ रणकपुर का मंदिर तथा आबू का कुंभाश्याम राणा कुंभा की कलाप्रियता के प्रतीक हैं। इस क्षेत्र का नाम राणा कुंभा के नाम पर 'राणा' और पौरवाड़ जाति के श्रावक के नाम से 'पुर' इस तरह 'राणपुर' पड़ा। इसे राणकपुर भी कहने लगे हैं। इतिहासकार 'टॉड' के अनुसार इसकी नींव सन् १४३८ (वि० सं० १४९५) में पड़ी और सन् १४३९ (वि.सं. १४९६) में मंदिर की प्रतिष्ठा हुई। किन्तु यह ठीक प्रतीत नहीं होता। एक वर्ष में मंदिर का निर्माण हो जाना असंभव है। सं. १४९६ का लेख देखिये—श्री चतुर्मुख जिनयुगादिश्वराय नमः वि० सं० १४९६ संख्या वर्षे श्री मेदपारधिरज........"

उक्त शिला लेख से प्रकट होता है कि इसकी प्रतिष्ठा सं० १४९६ में हुई थी।

एक अन्य मूर्ति जो सं. १४७५ की है से प्रतीत होता है कि इस मूर्ति के यहां आने के पश्चात् इस मंदिर की प्रतिष्ठा हुई हो। इसमें करीब २० वर्ष का अन्तर है। यह कुछ ठीक प्रतीत होता है। इस तरह निर्माण काल सं. १४७५–७६ हो सकता है।

इस मंदिर के बीच में निजवेदी है। चारों ओर ४ सभा मंडप हैं वेदियों में चतुर्मुखी प्रतिमाएं विराजमान हैं। मंदिर में चारों ओर वेदियां (देहरियां) बनी हुई हैं। उनमें सभी में प्राचीन जैन मूर्तियां विराजमान हैं।

चारों सभा मंडप कला पूर्ण हैं तथा दुमंजिले हैं। कला सभी मंडपों में भिन्न २ हैं। सभी सभा मंडप ४० फीट ऊंचे खंभों पर टिके हुए हैं। सभी खंभे कलापूर्ण है। इस मंदिर में कुल १४४४ खंभे हैं जिन पर मंदिर के चारों ओर के गुंवज गये हुये हैं। इनमें सवसे वड़ी विशेपता खंभों की "सीमेट्री" है। किसी भी जगह खडे होकर देखिये उस तरफ के सारे खंभे एक ही कतार में दिखाई देंगे। इसके अतिरिक्त एक विशेषता और है किकिसी भी देहरी के सामने ये खंभे नहीं आते जिससे कि दर्शनों में आड़ पड़ सके। सभा मंडप तथा खंभों की कुराई छतों के झाड़ आदि के कार्य वहुत ही उच्च कोटि का है। संपूर्ण मंदिर इतना कलापूर्ण है कि दर्शक देखते २ नहीं अघाता। एक वड़े शिलाखंड पर पार्श्वनाथ की सहस्रफणी मूर्ति वड़ी मनोज्ञ है।

क्षेत्र पर सब तरह की सुन्दर व्यवस्था है। यात्रियों के लिये ठहरने तथा ओढ़ने विछौने की की भी पूर्ण व्यवस्था है। काफी विदेशी पर्यटक आते हैं। मंदिर के ऊपर के शिखर दूर से ही यात्रियों को अपनी ओर वुलाते हैं।

ऋषभदेव (केशरियाजी)

यह स्थान मेवाड़ में उदयपुर से ४० मील दूर दक्षिण की ओर पहाडियों में है। उदयपुर से डूंगरपुर जाने वाले मार्ग पर यह स्थान मुख्य सड़क से करीव १।। मील दूर रहता है। अव यहां मोटर से तथा रेल से जाने के दोनों ही साधन हो गये हैं। उदयपुर से डुंगरपुर जाने वाली तथा डूंगरपुर से उदयपुर आने वाली प्रत्येक बस ऋषभदेव ठहर कर आती हैं। वसें प्रति एक घंटे के फासले से चलती हैं। यह स्थान ऋषभ देव, केशरिया तीर्थ, तथा धूलेव के नाम से भी प्रसिद्ध है।

यहां दि० जैनों के करीव १०० घर हैं तथा ६-७ मन्दिर चैत्यालय हैं। जैन विद्यालय तथा छात्रावास हैं। मेवाड़ प्रांत के प्रसिद्ध भट्टारक यशःकीर्ति जी महाराज भी यहां कभी कभी विरा-

जते हैं उनका यहां एक चैत्यालय है तथा एक ग्रंथ भण्डार भी है जिसमें अच्छी संख्या में हस्तलिखित प्राचीन एवं महत्वपूर्ण ग्रंथ विराजमान हैं। यह भण्डार प्रतिष्ठाचार्य पं० रामचन्द्र जी तथा पं० चंदनमलजी की देखरेख में है। यहां ऋषभदेव के मन्दिर के चारों ओर परकोटा है। परकोटे में कई धर्मशालाएं हैं। इस क्षेत्र का प्रवन्ध देवस्थान विभाग राजस्थान सरकार की देखरेख में है मंदिर बहुत विशाल एवं प्राचीन है। मन्दिर के बाहरी द्वार पर पत्थर के दो विशाल हाथी है। सीढ़ियां चढ़कर अन्दर घुसने पर सभा मण्डप है, चौकी है इसमें से निजमन्दिर में प्रवेश किया जाता है।

निजमन्दिर में ऋषभदेव भगवान की श्यामवर्ण की ३½ फीट ऊंची पद्मासन प्रतिमा है। प्रतिमा अत्यन्त प्राचीन एवं मनोज्ञ है। इस पर केशर वहुत चढ़ाई जाती है इसलिये इसे केशरियानाथ जी के नाम से भी पुकारते हैं। भील लोग इसे काले पत्थर की होने के कारण कालाजी धूलेव ग्राम में होने के कारण 'धूलेवा धणी' भी पुकारते हैं। प्रतिमा पर किसी प्रकार का लेख या संवत नहीं है किन्तु फिर भी यह निश्चित है कि प्रतिमा अति प्राचीन है। इस प्रतिमा के सम्बन्ध में कुछ किंवदन्तियां निम्न प्रकार हैं—

१. कहते हैं इस प्रतिमा को रामचन्द्रजी लंका विजय करके वहां से साथ लाये थे और उज्जैन में विराजमान थी। और वाद में यहां लायी गई।

२. इस मन्दिर से २० मील दूर किसी मन्दिर में वादशाह अलाउद्दीन ने इस मूर्ति को तोड़ना चाहा था किन्तु उसकी फौजें अंधी हो गयीं और न तोड़ सका — पुजारी को स्वप्न हुआ उसी अनुसार कावड़ में रख कर यहां लाया गया और मन्दिर बना।

३. चांदनपुर के महावीर की तरह गाय का दूध झरने की जगह से खोद निकालना। यहां से कुछ दूरी पर पगल्याजी हैं वहां निकलने का स्थान है।

४. धूलिया भीलके स्वप्न के अनुसार जमीन में से निकलने के कारण धूलिया ग्राम नाम पड़ा।

उक्त किंवदन्तियों में प्रामाणिक क्या है यह तो पाठक स्वयं सोचें किंतु इतना अवश्य ज्ञात होता है कि मूर्ति किसी दूसरी जगह निकली है और यहां लाकर विराजमान की गई है।

मूर्ति बहुत चमत्कारपूर्ण है। अनेकों के कार्य सिद्ध होते हैं अतः अधिक मान्यता है।

भारत का यह प्रसिद्ध एक ऐसा मन्दिर है जहां दिगम्बर श्वेताम्बर जैन, वैष्णव, शैव, भील एवं सभी जाति वाले समान रूप से मूर्ति को पूजते हैं, प्रातः ६ वजे तक प्रक्षालन के पश्चात् आँगी आदि चढाई जाती है। मूर्ति के चारों ओर परिकर में नग्न खड्गासन मूर्तियों से ज्ञात होता है कि यह मूर्ति दिगम्बर है। चारों ओर भी अनेक मूर्तियाँ है जिन पर दिगम्बर आम्नाय के लेख हैं। खेलमण्डप में लगे विक्रम सं. १४३१ का लेख काष्ठा संघी भट्टारक धर्मकीर्ति का है। उनके उपदेश से इसका जीर्णोद्धार हुआ। यह मन्दिर १२, १३ वीं शताब्दी का प्रतीत होता है। इसके ४८ भव्य शिखर अति मानोज्ञ हैं। उनमें जैन मूर्तियों के अतिरिक्त सभी धर्मों के देवीदेवताओं की मूर्तियां भी हैं।

मन्दिर में कई जगह दिगम्बर लेख एवं मूर्तियां हैं।

चमत्कार क्षेत्र

यह क्षेत्र राजस्थान में जयपुर राज्यान्तर्गत जिला सवाईमाधोपुर में है। सवाई माधोपुर दिल्ली से वम्बई जाने वाली वड़ीलाइन पर रेल्वे जंक्शन

है। यहां से जयपुर को छोटी लाइन जाती है। रेल्वे स्टेशन से सवाई माधोपुर शहर में जाने वाली सड़क पर स्टेशन से करीब १-१॥ मील की दूरी पर चमत्कार क्षेत्र स्थित है। इस स्थान का नाय पहिले आलनपुर था। भादवा बुदी २ सं० १८८९ को यहां एक बिल्लोर की जैन मूर्ति प्रकट हुई। सवाई माधोपुर के जैनों ने एक महोत्सव करके उसे यहां स्थापित की। इस मूर्ति की महिमा चारों ओर फैली—जिन शासन के प्रभाव से कुछ ऐसा भी हुआ कि केशर की वर्षा होने लगी—सभी के कार्य सिद्ध होने लगे। हजारों यात्री आने लगे। संभव है ऐसी महिमा (चमत्कार) के नाम पर क्षेत्र का नाम चमत्कार पड़ा। ढूंढाहर देश में ऐतिहासिक गढ़ रणथम्भौर (रणतभँवर) विश्वभर में प्रसिद्ध है। उसमें जाने वाले एक रास्ते का नाम 'भैंरुदरा' है। ढूंढाहर (जयपुर) के महाराजा माधोसिंह ने भैंरवदेरे के बीच में एक नगर बसाया जो सवाई माधोपुर के नाम से प्रसिद्ध है। सवाई माधोपुर में अनेक जैन मन्दिर हैं जिनमें सैकड़ों मूर्तियां विराजमान हैं। यहां सं० १८२६ में एक वृहद् प्रतिष्ठा समारोह हुआ था।

आलणपुर स्थित चमत्कार क्षेत्र एक परकोटे में स्थित है। मन्दिर के चारों ओर यात्रियों के ठहरने के लिए स्थान है। आजकल तो यह स्थान जाति भूषण श्री सेठ शांतिप्रसाद जी साहु के सहयोग से अत्यन्त मनोरम बन गया है। मन्दिर बहुत सुन्दर एवं स्वच्छ है। क्षेत्र संबंधी परिचय एक पूजा में निम्न प्रकार है—

देस ढुढाहड कैविषै रणतभवर गढसार
ताका शुभ भैंरूदरो बाह्य आलणपुर ज्हार
+ +
भादवबुदि दोयजभली अष्टादस सतसार
आठनवति संमत विषै प्रकट भये सुखकार ॥
माधवनृप ढुढाहड के सवाई माधोपुर थान
भैंरवदर के मध्य इक नगर बसायौ महान्
तामैं जैनी बहुत बसै मन्दिर महा जिनराय
वंदै पूजै पुन्यफल पावत महा सुखदाय
सब भविजन इकठ्ठे भये महान् उछाहकराय।
आलणपुर मन्दिर विषै थापे श्री जिनराय॥
दसूंदिस में परगह भये वरदायक जिनराय
ताकेवंदन जातरी आवत निजशुभ काज॥
× ×
जिन प्रभाव ऐसो भयौ बरस्यो केसरनीर
देवा सदा सेवा करैं जिनवर प्रछन गहीर॥
दरसण पूजन करत ही हिय उपज्यो उल्हास।
जिनवर पूजन यह रची सरूप जिनेन्द्र प्रभाव॥
चमत्कार जिन वंदस्या।

आजकल चमत्कार क्षेत्र पर इतने अधिक यात्री नहीं आते जितने पहिले आते थे इसमें मूल कारण लोगों को कोई चमत्कार न दिखाई देना ही आता है। फिर भी क्षेत्र पर यात्री आते ही रहते हैं।

चांदखेड़ी

राजस्थान में चांदखेडी अतिशय क्षेत्र अपना विशेष स्थान रखता है। यह कोटा डिस्ट्रिक्ट मेंखानपुर निजामत का ग्राम है यहां जैनों के करीब ३० घर हैं गांव से करीब पाव मील दूरी पर चांदखेडी नाम की वस्ती है। यहाँ नदी के किनारे एक विशाल मन्दिर है। मन्दिर का कुछ भाग जमीन में दबा हुआ है। यहां भगवान आदिनाथ की श्वेत पाषाण की ४३/४ फीट ऊंची पद्मासन विशाल मनोज्ञ एवं अतिशय पूर्ण प्रतिमा है। यह प्रतिमा नीचे बहरे में विराजमान है तथा इसके दोनों ओर शान्तिनाथ की दो विशाल प्रतिमाएं और विराजमान है। यह इतनी आकर्षक है कि घण्टों सामने बैठे रहने पर उठने को मन नहीं करता इस मन्दिर में कुल मिला कर करीब ५८० मूर्तियां है।

एक कीर्तिस्तंभ है। चौक के बीच में एक चबूतरा है जो मण्डल विधानादि के लिए सुरक्षित है। यहां सं० १७४६ में एक विशाल प्रतिष्ठा समारोह हुआ था जिसमें हजारों मूर्तियां प्रतिष्ठित हुई थी और आज भी जगह-जगह वहां की प्रतिष्ठित मूर्तियां मिलती है। यह प्रतिष्ठा महोत्सव भट्टारक जगत्कीर्ति की देखरेख में बूंदी निव सी संघी कृष्णदास (किशनदास) बघेरवाल ने करवाया था।

मूर्ति के सम्बन्ध में कहा जाता है कि यह मूर्ति पहिले बारापाटी के जंगलों में विराजमान थी। कहते हैं किसी को स्वप्न आया था वह मूर्ति को ले जावे तथा जहां मूर्ति ठहर जावे वहीं मन्दिर बनवा देना।

तदनुसार मूर्ति लाई गई और वह नदी के बीच ही स्थित रह गई और नदी मे ही मन्दिर बनाना पड़ा। संवत १७४२ में मूर्ति वहां अटल हुई तथा संवत १७४६ में मन्दिर तैयार होकर उसकी प्रतिष्ठा हो गई। इस प्रतिष्ठा महोत्सव में कोटा राज्य की ओर से पूर्ण सहायता दी गयी थी। प्रतिष्ठा महोत्सव में सोमकीर्ति विजयकीर्ति पश कीर्ति मंगलकीर्ति भुवन कीर्ति धर्मकीर्ति वृजेन्द्रकीर्ति महेन्द्रकीर्ति एवं सुमतिकीर्ति भट्टारक सम्मिलित हुये थे।

मन्दिर के बाहर मानस्तम्भ है। बगीचा आदि लगा है। नीचे नदी बहती है। स्थान बड़ा रमणीक हैं। यहां प्रतिवर्ष चैत्र मास की नवमी को मेला भरता है।

केशोराय पाटन

यह भी राजस्थान का प्रसिद्ध क्षेत्र है। यह कोटा से ८-९ माइल चम्बल नदी के किनारे बसा है। बंदी रोड रेल्वे स्टेशन से भी यहां पहुंचा जा सकता है। यहां एक प्रसिद्ध केशवराय का वैष्णव मन्दिर है जिसके नाम से इस ग्राम का नाम केशोराय पाटन है। पाटन शब्द नगर का ही द्योतक है। पुराने समय में अच्छे कस्बों को पट्टन तथा पाटन ही कहा करते थे यथा झालरा पाटन, अन्हलवाड पट्टन आदि।

यहां एक विशाल एवं प्राचीन जैन मन्दिर ठीक चम्बल के किनारे पर है। इसमें बहरे में नीचे जाकर श्याम वर्ण की पाषाण की मनोज्ञ एवं प्राचीन भगवान मुनिसुव्रतनाथ की प्रतिमा है। यह मूर्ति तीन फीट ऊंची है तथा ३¾ फीट चौड़ी एवं ३ फीट ऊंचे शिला पट्ट पर खुदी हुई है। पाषाण बहुत घिसा हुआ एवं मुलायम है। मूर्ति में जगह जगह टांचे हो रही हैं। दाहिने पैर का अंगूठा नहीं है तथा गले के पास एक खड्डा भी है। शिलापट्ट पर भामण्डल है मस्तक पर तीन छत्र हैं। किन्नर देवों की भी शिलापट्ट पर मूर्तियां हैं हाथों में वाद्य यंत्र हैं—हाथ में अंकुश लिये हाथी पर कोई बैठा हुआ है। शिलाखण्ड एक ओर से कुछ टूटा हुआ है। मूर्ति पर कोई लेख नहीं है किन्तु मूर्ति के प्राचीन होने में कोई संदेह भी नहीं है। बहरे में ही बाहर की वेदी में संवत १३२७ तथा १३५० की मूर्तियां विराजमान है। ये मूर्तियां भी अतिमनोज्ञ हैं।

बहरे में जाने का मूल दरवाजा २७ इंच चौड़ा तथा ५४ इंच ऊंचा है। दर्शनार्थी को झुककर अन्दर जाना पड़ता है। ऊपर भी मन्दिर में कई मूर्तियां विराजमान है।

मन्दिर कितना पुराना है यह प्रमाणिकरूप से नहीं कहा जा सकता किन्तु फिर भी मन्दिर को देखते हुए यह कहा जा सकता है कि यह क्षेत्र कम से कम ३००-३५० वर्ष पुराना है। मन्दिर के जीर्णोद्धार की आवश्यकता है।

दिगम्बर जैन अतिशय क्षेत्र श्री महावीरजी

भारत प्रसिद्ध अतिशय क्षेत्र श्री महावीरजी राजस्थान का लोकप्रिय क्षेत्र है। यह दिल्ली से बम्बई जाने वाली रेल्वे की बड़ी लाइन पर स्थित है। स्टेशन से ४ मील दूरी पर गंभीर नदी के किनारे पर एक रमणीय स्थान है। जयपुर तथा दिल्ली आगरा से सड़क मार्ग से भी संबद्ध है। भारत में श्री महावीरजी ही एक ऐसा क्षेत्र है जहां विना किसी जातीय भेदभाव के मानवमात्र भगवान महावीर के मन्दिर में जाकर दर्शन कर अपने आप को कृत कृत्य समझता है। यहां १०-१२ धर्मशा-शालाएं हैं तथा नल, विजली, तार, टेलीफोन आदि की पूर्ण व्यवस्था है। तीन उन्नत शिखरों वाला मन्दिर दूर से ही यात्रियों को अहिंसा का पाठ पढाता है। कटले में विशाल एवं कलापूर्ण मंदिर है जहां लाल वर्ण की पाषाण की पद्मासन २ फीट ऊंची भगवान महावीर की प्राचीन एवं मनोज्ञ मूर्ति विराजमान है। मूर्ति इतनी मनोज्ञ है कि घंटों सामने से हटने को जी नहीं चाहता। मीना, गूजर जाट चमार एवं और अनेक यात्री दूर दूर से दंडवत करते अपनी मनौतियां मनाते आते हैं।

यह मूर्ति करीव ३००-३५० वर्ष पूर्व नदी के किनारे टीले में से निकली थी। एक चमार की गाय का दूध टीले पर स्वतः झरता देख उसे खोदा गया तो यह मूर्ति निकली, आसपास के जैन इसे ले जाना चाहते थे किंतु काफी कोशिश करने पर भी नहीं ले जाई जा सकी। चर्मकार की झोपडी ही पवित्र करती रही; कुछ दिन वाद अमरचन्द विलाला ने यहां का मन्दिर बनवाया और उसमें इसे विराजमान किया। निकलने के स्थान पर चरण छत्री बनाई गई।। यह स्थान नौरंगावाद कहलाता था और जयपुर राज्य की हिन्डौन निजामत में था। यहां प्रारम्भ से जैनों के गुरु भट्टारक जी की गादी विराजमान है और उसके अंतिम भट्टारक चन्द्रकीर्तिजी महाराज का अभी ३ जून १९६९ को स्वर्गवास हुआ है।

इस मन्दिर की सेवा पूजा के लिये जयपुर राज्य की ओर से जागीर में गांव मिले हुए थे। पहिले यहां किन्हीं कारणो से कोर्ट आफ वार्डस द्वारा प्रबन्ध किया जाता रहा किंतु सन् १९३० में यह क्षेत्र जयपुर दि० जैन समाज को संभला दिया गया और उसकी ओर से एक प्रवन्धकारिणी कमेटी नियुक्त की गई जिस के सर्व प्रथम मंत्री स्व० रामचन्द्रजी खिन्दूका चुने गये। उन्होंने इस क्षेत्र की बीस वर्ष से भी अधिक सेवा की और क्षेत्र की चहुंमुखी उन्नति हुई, सर्वांगीण विकास हुआ जहां धीरे धीरे नयी धर्मशालाओं का निर्माण, सड़क निर्माण, नल बिजली की व्यवस्था एवं मन्दिर के जीर्णोद्धार का कार्य हुआ वहां समाज के योग्य एवं होनहार असमर्थ छात्रों को छात्र वृत्ति तथा प्राचीन साहित्य की खोज एवं शोध के लिये साहित्य शोध विभाग की स्थापना की गयी। साहित्यशोध विभाग की ओर से प्राचीन साहित्य की खोज एवं सूची निर्माण का जो कार्य हुआ वह सभी दृष्टियों से प्रशंसनीय है।

शिक्षा साहित्य प्रचार एवं छात्र वृत्ति जैसे उपयोगी कार्य अन्य किसी भी क्षेत्र द्वारा संपादित नहीं होते। व्यवस्था प्रवन्ध एवं सफाई आदि के विषय में भी यह कहना अत्युक्ति नही होगा कि अन्य कोई क्षेत्र इसकी तुलना में नही ठहरते।

मन्दिर का जीर्णोद्धार कराकर कितने ही मकराने के भाव पूर्ण चित्र लगाये गये हैं। मान स्तंभ, चरण छत्री एव पानी की टंकी आदि दर्शनीय स्थान है। यहां औषधालय डिसपैंसरी एवं विद्यालय क्षेत्र की ओर से चलते हैं। प्रतिवर्ष करीव १५००० हजार रुपए की छात्रवृत्ति दी जाती है। साहित्य शोध विभाग द्वारा प्राचीन साहित्य की

खोज का कार्य चालू है। अवतक यहां से २० पुस्तकों का प्रकाशन हो गया है–जिनमें राज. के जैन ग्रंथ भण्डारों की सूची ५ भाग, प्रशस्त्रि संग्रह, प्रद्युम्न चरित, जिरणदत्त चरित, डा. कासलीवाल का शोध प्रवन्ध Jain granth Bhandars in Raj. जैन शोध एवं समीक्षा, पद संग्रह आदि उल्लेखनीय हैं। इसके अतिरिक्त राजस्थान के ५ शेष भंडारों की सूचियां बनाने का कार्य भी चालू है। साहित्य शोध विभाग के प्रकाशनों से जो प्राचीन तथ्य सामने आये उनसे जैन धर्म एवं इतिहास के सम्बन्ध में बड़े २ विद्वानों को अपने मत बदलने पड़े हैं। विदेशों में जैन धर्म एवं साहित्य का प्रचार हुआ हैं। मूर्ति एवं यंत्र लेखों का भी संग्रह किया गया है। साहित्य शोध विभाग स्व. पूज्य पंडित चैनसुखदास जी की प्रेरणा का ही फल हैं।

आजकल यहां के मन्त्री स्व. रामचन्द्रजी खिन्दूका के पुत्र श्रीज्ञानचन्द्रजीखिन्दूका हैं, वे उत्साही नवयुवक हैं एवं बड़ी तत्परता से लगन के साथ सेवा कार्य कर रहे है।

यहां प्रतिवर्ष महावीर जयंती के अवसर पर चैत्र शुक्ल १० से वैशाख कृ० १ तक विशाल मेला होता है जिसमें मीने गूजर आदि सभी नाचते हुए आते हैं। सरकार की ओर से मेलेका पूरा प्रवन्ध होता है—वैशाख कृष्णा एकम को रथ यात्रा होती है जिसमें भगवान का रथ नदी तक मीने साथ ले जाते हैं तथा वहां अभिषेक होकर मोहरों में माला की बोली होती है। रथ के साथ वापसी में गूजर आते हैं। कभी कभी मेले में १ लाख से भी अधिक दर्शनार्थी हो जाते हैं।

नदी पर पुल एवं बड़ी टंकी दर्शनीय है।

पद्मपुरा

यह क्षेत्र राजस्थान का नवोदित दिगम्बर जैन तीर्थ है। इसका प्रादुर्भाव वि. सं. २००० में हुआ। यहां भगवान पद्मप्रभु की श्वेत पाषाण की मनोज्ञ एवं प्राचीन प्रतिमा एक मकान की नींव खोदते समय मूला जाट के हाथ से जमीन में से निकली। प्रतिमा एक पेड़ के नीचे जहां आजकल चरण छत्री है विराजमान करदी गई। चारों ओर मूर्ति निकलने की खबर फैली आसपास के जैनी आये। मूर्ति के दर्शन से लोगों के कई दुःख दर्द दूर होने लगे। भूत पिशाच डाकिनिशाकिनि भागने लगे। भूतप्रेत के असर वाले लोग कई ठीक हुए। श्रद्धालु भक्त जनों की मनोकामनाएं पूर्ण होने लगी—भारत के कौने-कौने से यात्री आने लगे। जयपुर से सवाई माधोपुर जाने वाले रेल मार्ग पर शिवदासपुरा स्टेशन से ४ मील दूर यह क्षेत्र चाकसू तहसील के अन्तर्गत स्थित है। जयपुर से वस से जाने के पर्याप्त साधन है पहिले यहां कच्ची धर्मशाला थी बाद में पक्की बन गई है।

सर सेठ भागचंद जी सोनी के कर कमलों द्वारा मन्दिर की नींव लगी—वास्तुकला विशारद स्व. मिर्जा इस्माइल साहब द्वारा इस मन्दिर का मॉडल पास किया गया–उसी के अनुसार मन्दिर का निर्माण कार्य आज वीस वर्ष से चालू है—मॉडल के अनुसार पूर्ण होना अभी निकट भविष्य में असंभव सा लगता है किन्तु जितना बन चुका है उतना भी अभूतपूर्व हे। यह मन्दिर भारत के दर्शनीय स्थानों में से एक है। मन्दिर का गुंवद मीलों दूर से दिखाई देता है। इसके ऊपर शिखर चढ़ने के बाद तो इसकी ऊंचाई ......काफी पहुंच जावेगी। मन्दिर बहुत ही मनोज्ञ एवं कलापूर्ण है। भगवान पद्मप्रभु की सातिशय प्रतिमा कलापूर्ण वेदी में विराजमान है।

वि. सं, २०२५ के फागुण मास (फरवरी ६९) में यहां एक विशाल प्रतिष्ठा महोत्सव हुआ जो

व्यवस्था एवं सुविधा की दृष्टि से अपनी सानी का एक ही था। इस प्रतिष्ठा में केवल बड़ी मूर्तियां ही प्रतिष्ठा हेतु ली गई थी।

यहां की प्रबन्धक समिति का अपना रजिस्टर्ड विधान है जिसके मन्त्री श्री भंवरलालजी न्याय-तीर्थ हैं। ये लगातार कई वर्षों से क्षेत्र की तन-मन से सेवा कर रहे हैऔर यह उन्हीं के सत्प्रयत्नों का फल है कि मन्दिर का इतना सुन्दर निर्माण कार्य हो सका है। क्षेत्र पर नल, बिजली, तार, टेलीफन पोस्ट आफिस औषधालय आदि की व्यवस्था है। अर्थाभाव के कारण मन्दिर के निर्माण कार्य मेंअड़चनें आवश्यक हैं। आशा है सभी के सहयोग से शीघ्र पूर्ण हो जागया।

यहां इनके अतिरिक्त अलवर में तिजारा एवं जयपुर में चूलगिरि भी क्षेत्रों की गणना में लिये जा सकते हैं किन्तु ये अभी अपनी शैशवावस्था में है।

समाजवाद

कष्ट न हो औरों को
ऐसे लिए
जीवन-रस बांटे सबको
खुद पिए।
अर्जित धन को बांटता
जो न पुनः संसार को
उसकी मुक्ति नहीं होती।
वह असंविभागी समाज कोढ है।

—अर्हत्

४२

दशभक्त्यादि महाशास्त्र

एक अप्रकाशित ग्रंथ का ऐतिहासिक परिचय

□ पं० के० भुजबलिजी शास्त्री

इस ग्रन्थ का नाम दशभक्त्यादि महाशास्त्र है। इसके रचयिता वर्धमान मुनीन्द्र है। यह नंदिसंधान्तर्गत बलात्कार गण के विद्यानन्द मुनीश्वर के शिष्य जो देवेन्द्रकीर्ति थे, उनके शिष्य एवं द्वितीय विद्यानन्द के सधर्मा हैं। इनकी गुरु परम्परा इस कृति में निम्न प्रकार दी गयी है। (पृ०२४९–३०५) दशपूर्व के धारी विशाखाचार्य के द्वारा पूजित दशपूर्वधारी भद्रबाहु। इसी परम्परा में तत्त्वार्थ सूत्र के रचयिता उमास्वाति। पश्चात् कुन्दकुन्दान्वय के नन्दिसंघ में समंतभद्र के देवागम स्तोत्र पर टीका रचने वाले अकलंक। पश्चात् आत्मामीमांसा को समलंकृत कर श्लोकवार्तिकालंकार को रचने वाले स्वामी विद्यानन्द। पश्चात् माणक्यनन्दि और प्रभाचद्र। पश्चात् जैनेन्द्रन्यास, पाणिनीय सूत्रों पर शब्दावतार न्यास, वैद्यशास्त्र एवं तत्त्वार्थ सूत्रों पर टीका रचने वाले पूज्यपाद।

पश्चात् जिनदत्तराय के द्वारा वंदित सिद्धान्त कीर्ति। होय्सल के द्वारा व्याघ्र को वश में करने वाले वर्धमान मुनीन्द्र वासुपूज्य, वल्लालराय के द्वारा वंदित श्रीपाल, पात्रकेसरी, त्रिलोकसार आदि शास्त्रों के रचयिता तथा चामुण्डराय के द्वारा पूजित सैद्धान्तिक सार्वभौम नेमिचन्द्र, उनके शिष्य माधवचन्द्र, अभयचन्द्र, जयकीर्ति, जिनचन्द्र इन्द्र नन्दि, वनदेश (वनवासि) वासी वसंतकीर्ति, विशाल कीर्ति, शुभकीर्ति, पद्मनन्दि, माघनन्दि, जटासिंहनंदि पद्मप्रभ, वसुनन्दि, मेघचन्द्र, वीरनन्दि, धनंजय वादिराज। पश्चात् वर्धमान मुनीन्द्र, के शिष्य एवं राजाधिराज परमेश्वर देवराय भूपाल के द्वारा अर्थात विजय नगर के प्रथम प्रताप देवराय के द्वारा (ई. सन्. १४०६–१४२२) अथवा द्वितीय प्रौढ़ देवराय के द्वारा (ई, सन् १४२२–१४४६) पूजित धर्मभूषण।

विद्यानन्द के शिष्य सिंहकीर्ति, मेरुनन्दि, वर्धमान, प्रभाचन्द्र, अमरकीर्ति, विशालकीर्ति एवं नेमिचन्द्र। इनमें से सिंहकीर्ति ने 'वंगाल्यदेशावृत' दिल्ली नगर के मुहम्मद सुरीत्राण के अर्थात् बंगाल के सुलतान नसिरुद्दीन माहमूद शाह के (ई. सन् १४४२–१४५९) आस्थान में बौद्धादि वादियों को जीता था। विशालकीर्ति सिकन्दर सुरित्राण अर्थात् प्राय: सिकन्दर लोदी के द्वारा (ई० सन् १४८८–१५१७) सम्मानित हुए, विजयनगर के विरूपाक्ष राय (ई० सन् १४६५–१४८६) की सभा में वादियों को जीतकर जयपत्र प्राप्त किया, आरग के देवप्य दंड़नायक के नगर में जैनधर्म की प्रभावना की एवं वलात्कार गण के स्वामी रहे। पश्चात् उक्त विशालकीर्ति के शिष्य और साल्व मल्लिराय के द्वारा अर्चित विद्यानन्द स्वामी, उनके शिष्य विजयनर के कृष्णराय (ई० सन् १५०९–

१५२६) के छोटे भाई अच्युतराय के द्वारा (ई० सन् १५२६–१५४० पूजित भारती भाललोचन देवेन्द्र-कीर्ति।

देवेन्द्रकीर्ति के शिष्य विद्यानन्द—आपने श्री रंगपट्टण में श्री वीरपृथ्वीपति के आस्थान में सांख्य कापिल, कापालिक, योग, वैशेषिक, चार्वाक, बौद्ध और भाट्टों को जीता, सालव देवराय नरेश के भांजा और पद्मांवा के पुत्र सालुव कृष्णदेवराय के द्वारा पूजित हुए एवं विजयनगर के कृष्णराय के आस्थान में विद्वानों को परास्त किया। इन विद्यानन्द के सधर्मा नेमिचन्द्र ने हुम्बुच में पार्श्वनाथ का त्रिभूमिका युक्त एक जिन मन्दिर बनवाया। विद्यानन्द के शिष्य सर्वशास्त्रावतार विशालकीर्ति उनके सधर्मा अमरकीर्ति। भैरवेन्द्रवंश के पाण्ड्य के राजा के द्वारा अर्थात् कलश-कारकल के शासक वीरभैररस ओडेय के भांजा वीर-पाण्ड्यप्प ओडेय द्वारा अर्चित देवेन्द्रकीर्ति के शिष्य एवं विद्यानन्द के सतीर्थ वर्धमान मुनीन्द्र इस ग्रन्थ के रचयिता हैं। इसलिए इस ग्रन्थ के प्रत्येक प्रकरण के अन्त में इन्होंने 'वर्धमान मुनीन्द्रेण विद्यानन्दार्य बंधुवुनां यों कहा है। एक बात है कि इस गुरु परम्परा को कहने वाले ये ही पद्य नगर के नं. ४६ वें शिलालेख में यथावत् उत्कीर्ण मिलते हैं।

अस्तु इस ग्रन्थ में सामयिक पूर्वक (१) सिद्ध भक्ति, (२) श्रुतभक्ति, (३) चारित्र भक्ति, (४) योगभक्ति, (५) आचार्य भक्ति, (६) निर्वाण, भक्ति, (७) नन्दीश्वर भक्ति, (८) चैत्यभक्ति, (९) शांति भक्ति और समाधि भक्ति नामक इन दश भक्तियों के साथ-साथ (१) पंच-गुरुभक्ति, (२) मंगलस्तोत्र, (३) सुप्रभास्तव, (४) सिद्धार्थ-प्रियकारिण्याः स्तव, (५) निश्चलात्म स्वरूप स्तवन, (६) वृषभ स्तुति, (७) विद्यानन्द महाचार्य पादपूजास्तवन, (८) विशालकीर्ति श्रीपादपूजास्तवन, (९) अतीतकालोत्पन्न चतुर्विंशति-तीर्थंकर पूजा प्रस्तावना पुष्पांजलि, (१०) वर्तमान काल चतुर्विंशति तीर्थंकर पूजा प्रस्तावना पुष्पांजलि, (११) भाविकाल चतुर्विंशति तीर्थंकर पूजा प्रस्तावना पुष्पांजलि, (१२) द्वासप्ततिजिनेन्द्र मंगलस्तवन, (१३) पंच कल्याण माला, (१४) देवेन्द्रकीर्ति गुरु संतति, (१५) विद्यानन्द स्तोत्र, (१६) नन्दिसंघ सेनगण मुनियों का स्तवन, १७ जिनदर्शन शुद्ध्यादि यंत्र पूजा-विधि, (१८) क्षांत्यादिदश धर्मोद्ध्यत्र पूजा विधि, (१९) नदीश्वर नगेन्द्र श्रीजिन पूजा विधि, (२०) देशीगण जैन मुनीस्तवन, (२१) अकलंक योगीन्द्रचन्द्र प्रभ गुरुस्तुति, (२२) काणूर्ग मुनीन्द्र स्वतन, (२३) नन्दिसंघ मुनीन्द्र स्तवन, (२४) चंदनषष्ठी में श्री चन्द्रनाथार्हणाक्रम, (२५) जीवदयाष्टमी पूजा-विधि, (२६) सिद्धस्तोत्र, (२७) दानपूजा गुणाढ्य श्रावक-स्तोत्र, (२८) वेणुपुर अर्थात मूडुबिदिरे के श्रवकों की स्तुति नामक ये विविध विषय शामिल हैं। इसलिए इसका नाम दशभक्त्यादि महाशास्त्र जो रखा गया है, वह ठीक ही है। क्योंकि आदि शब्द से दशभक्तियों के अतिरिक्त अन्यान्य अनेक विषय शामिल किये जा सकते हैं।

यह ग्रन्थ संस्कृत में रचा गया है। इसका बंध रोचक है। किन्तु आदि में जहाँ तहां थोडा प्राकृत भी है। बीच एवं अंत में कन्नड़ कंदपद्य, और वृत्त भी हैं। साथ-साथ शुद्ध कन्नड़ 'अंबु' शब्द (पृष्ठ ७७) और संस्कृत चन्द्र और 'खाद्य' शब्दों के कन्नड़ तद्भव 'चंदिर' (पृष्ठ–२४६, २७१), तथा 'खज्जाय' (पृष्ठ १५५) शब्द भी इसमें संस्कृत में उपयोग किये गये हैं। संस्कृत वृत्त होने पर भी संस्कृत में अनुपलब्ध खासकर कन्नड में ही उपलब्ध उत्पलमाला वृत्तों में (पृष्ठ ९५, पद्य १४; पृष्ठ १११, पद्य १०-१२; पृष्ठ २९५ पद्य १३; पृष्ठ ५०६ पद्य ४८) कवि ने संस्कृत पद्यों को रचा है। इसी प्रकार कन्नड में ही अनिवार्य रूप में उपयोग किये

जाने वाले द्वितीयाक्षर प्रास को इन्होंने संस्कृत पद्यों में भी (पृष्ठ १४६-१६७, पद्य ११-१२, १४-१८; पृष्ठ १६६, पद्य २२; पृष्ठ २६७, पद्य १०४-१०५ उपयोग किया है। इन कारणों से इस ग्रन्थ के रचयिता वर्धमान जी संस्कृत के ही नहीं, कन्नड के भी विशिष्ट ज्ञाता और उच्च कन्नड कवि मालूम होते हैं। पर संस्कृत में या कन्नड में अभी तक इनकी और कोई रचना प्राप्त नहीं हुई है।

इस ग्रंथ के विद्यानंद मुनि स्तुतिपरक अनेक संस्कृत एवं कन्नड पद्य (पृष्ठ २४६-३०५) मैसूर राज्य के शिवमोग्गा जिला के, नगर तालुक के हम्बुच्च में अवस्थित पद्मावती मंदिर के प्राकार में वर्तमान शिलालेख में भी हैं। (नगर नं. ४६) यद्यपि महाकवि अभिनव पंप या नागचन्द्र के मल्लिनाथ पुराण एवं 'रामचन्द्र चरितपुराण के कतिपय पद्य श्रवण बेलगोल के शिलालेखों में (नं० ६४; १२७; १४०) है अवश्य। फिर भी ये पद्य समग्र शासन के रूप में नहीं हैं। परन्तु दशभक्त्यादि महाशास्त्र के ये पद्य आद्यंत नगर नं० ४६ वें शिलालेख के रूप में विद्यमान हैं। शिलालेख में कन्नड पद्य प्रारंभ में और संस्कृत पद्य बाद में हैं। हां, यहां पर ऐसा नहीं हैं। इतना ही अन्तर है।

मालूम होता है कि यह ग्रन्थ एक ही बार नहीं रचा गया है। प्रथम में दशभक्तियां रची गई होंगी। बाद इसमें पूर्व या पश्चात् अन्यान्य समयों में रचे गये। विद्यानंद पादपूजास्तव, विशाल कीर्तिपाद पूजास्तवन, पंचकल्याणमाला, देवेन्द्रकीर्ति गुरु संतति, विद्यानन्दस्तोत्र, यंत्रपूजाविधि, नंदीसंघ-सेनगण-कानूर्गण जैन मुनिस्तवन, वेणपुरश्रावकस्तुति आदि विषयों को वर्धमान जी ने पीछे से जोड़ा होगा। हां, ग्रंथ में पुनरुक्तियां भी (उदा: पृष्ठ ४२३-४३३; ४४३-४४५) हैं। खैर, कवि दूसरी जगह के जिनमन्दिर एवं श्रावकों की विशेष प्रशंसा न करके तुलुदेश (पृष्ठ ५७७, पद्य २) मूडबिदिरे में स्थित (पृष्ठ ५७७, पद्य २) श्रीचन्द्रनाथ जिनालय (त्रिभुवन तिलक चूडामणि) (पृष्ठ ५८३-५८५, पद्य १२-१५), पार्श्वनाथ जिनालय (पृष्ठ ५८५, पद्य १६) और वहां के श्रावकों (पृष्ठ ५७७-५८२, पद्य ३-७) की अत्यधिक प्रशंसा किये जाने के कारण वर्धमान जी जन्मतः तुलुदेश के रहने वाले मालूम होते हैं। अगर वहां के रहने वाले नहीं हो, वे यदा-कदा वहां पर अवश्य आते-जाते रहे होंगे। और साथ ही साथ वहां के जिनालय एवं श्रावकों से अत्यन्त मुग्ध रहे होंगे।

कवि ने इसमें कतिपय देशों की स्त्रियों का वर्णन (पृष्ठ ५०७-५२२, पद्य ४६-५०) भी किया है। उसमें वर्णित तुलुदेश, केरल और होय्सल देश की स्त्रियों का वर्णन ठीक ही हैं। पर साथ-साथ इसमें सिंहल एवं सुमात्रा देश की स्त्रियों का भी वर्णन है। पर प्रश्न उठता है कि वर्धमानजी ने उन स्त्रियों को कहां देखा था? क्या वे सिंहल और सुमात्रा देशों में गये थे? यहां पर सहसा यह भी प्रश्न उठता है कि इस दशभक्त्यादि महाशास्त्र में इन स्त्रियो के वर्णन की क्या आवश्यकता थी? अर्थात् दशभक्त्यादि महाशास्त्र एवं इन विविध देशीय स्त्रियों के वर्णन से क्या सम्बन्ध है? इसी प्रकार इस ग्रन्थ के 'नागसेनार्यवर्यम् (पद्य ५७) आदि इस कन्नड कंदपद्य में प्रतिपादित पैगु द्वीप कौनसा है? वह कहां पर है? क्या वह बर्मा (Burma) देश का पैगु (Pagu) हो सकता है? तब क्या वर्धमानजी के द्वारा स्तुत वह नागसेन वहां पर गये थे? इसमें इस प्रकार के कतिपय प्रश्न सहसा उठ खड़े होते हैं।

इस ग्रंथ की आचार्य भक्ति में हर एक तीर्थंकर के गणधरों की संख्या दी गई है। पर यहां पर एक बात है कि इस आचार्य-भक्ति के अन्त

में 'आचार्य-भक्तिः कथिता जिनसेनार्यसम्मता' यों लिखा हुआ है। इसका तात्पर्य क्या यह भक्ति जिनसेनाचार्य की कृति के आधार पर रची गई है? निर्वाणभक्ति के अंत में इस ग्रंथ में श्री रामचन्द्र सम्मेदशिखर से मुक्ति पाने का (पृष्ठ ५३ पद्य १२) उल्लेख पाया जाता है। यद्यपि यह उल्लेख गुणभद्राचार्य के उत्तर पुराण (पर्व ६६, पद्य ७१६) के अनुकूल है। परन्तु निर्वाणकाण्ड के प्रतिकूल है। क्योंकि उसमें कहा गया है कि रामचंद्र तुंगीगिरि से मुक्त हुए हैं। इसकी चैत्यभक्ति में पंचमंदराद्रि, तीस कुलाद्रि, रौप्याचल, वक्षारशैल और नंदीश्वर द्वीप आदि के अकृत्रिम जिनालयों का वर्णन करते हुए गेरूसोप्पे (भल्लातकीपुर) का श्री पार्श्वनाथ, हाडुहल्ली (संगीतपुर) का श्री चन्द्रप्रभ, भट्कल का श्रीपार्श्वनाथ, वंसुपुर (वसरूर) का श्रीआदिनाथ, वरांगका श्री—नेमिनाथ, कारकल का वाहुवली या गोम्मटेश्वर, कनकाचल (मलेयूर) का श्री पार्श्वनाथ कोपण का सागरदत्तपूजित श्री चन्द्रप्रभ आदि कृत्रिम जिन मन्दिरों का भी वर्धमानजी ने उल्लेख किया है।

इसके अतिरिक्त इस ग्रन्थ में जहां-तहां भद्रवाहु, कुंडकुन्द, समंतभद्र, अकलंक, विद्यानंदि, माणिक्यनंदि, प्रभाचन्द्र, पूज्यपाद, सिद्धांतकीर्ति, वर्धमान, वासुपुज्य, श्रीपाल, पात्रकेसरी, नेमिचंद्र, माधवचन्द्र, अभयचन्द्र, जयकीर्ति, जिनचन्द्र, इन्द्रनंदि, वसंतकीर्ति, विशालकीर्ति, शुभकीर्ति, पद्मनंदि, माधनंदि, जटासिंहनंदि, पद्मप्रभ, वसुनंदि, मेघचंद्र, वीरनंदि, धनंजय, वादिराज, धर्मभूषण, सिंहकीर्ति, मेरुनंदि, वर्धमान, प्रभाचंद्र, अमरकीति और विशालकीर्ति नामक जैन यतियों को, नंदिसंघ के आचार्यों मे से धरसेन, समंतभद्र, आर्यसेन, अजितसेन, वीरसेन, जिनसेन वादिराज, गुणभद्र, लोकसेन, आशाधर, कमलभद्र, नरेन्द्रसेन, धर्मसेन, रविषेण, कनकसेन, दयापाल, रामसेन, माधवसेन, लक्ष्मीसेन, जयसेन, नागसेन, मतिसागर, रामसेन, और सोमसेन आदि आचार्यों को;

संगीतपुर को भट्टाकलंक की परंपरा में कुंडकुंद, चारुकीर्ति, विजयकीर्ति, श्रुतकीर्ति, विजयकीर्ति, अकलंक, चन्द्रप्रभ, नेमिचन्द्र, भट्टाकलंक, विजयकीर्ति, पाल्यकीर्ति, चन्द्रमत्यार्यिका आदि व्यक्तियों को, कविभाललोचन निरुदांकित कन्नड कवि जनार्दन या जन्न के द्वारा स्तुत[1] का पूर्गण के मुनियों में से जयसिंहनंदि, गुणचंद्र, माधव चन्द्र, कनकचन्द्र, रामचन्द्र, जावलिगे मुनिचन्द्र, सकलचन्द्र, माधवचन्द्र, बालचन्द्र इनको; इसी परम्परा में मुनिचन्द्र, सकलकीर्ति, देवकीर्ति, अनंतकीर्ति, कल्याणकीर्ति, चन्द्रकीर्ति इनको; नंदिसंघ के वलात्कारगण की गुर्वावली में वर्धमान, पद्मनंदि श्रीधरराय, देवचन्द्र, कनकचन्द्र, नयकीर्ति, रविचन्द्र श्रुतकीर्ति, वीरनंदि, जिनचन्द्र, वर्धमान, श्रीधर, वासुपूज्य, उदयचन्द्र, कुमुदचन्द्र, माघनंदि, वर्धमान माणिक्यनंदि, गुणकीर्ति, गुणचन्द्र, अभयनंदि, सकलचन्द्र, वर्धमान, गण्डविमुक्त, त्रिभुवनचन्द्र, चन्द्रकीर्ति, श्रुतकीर्ति, वर्धमान, त्र्यैविध वासुपूज्य, कुमुदचन्द्र, नेमिचन्द्र, भुवनचन्द्र, वालचन्द्र इनको; विद्वत्स्तोत्र में कई विद्वानों को दानपूजागुणाढ्य श्रावक स्तुति में तुलुदेश और कर्णाटक के अनेक श्रेष्ठियों को वर्धमानजी ने उल्लेख किया है।

इनमें निम्नलिखित कतिपय गुर्वावलियां इस प्रकार है।

१, जन्न का कन्नड अनंतनाथपुराण (आश्वास १, पद्य १८-३२)

(१) संगीतपुर या हाडुहल्लि के देशीगण पुस्तकगच्छ की जैन गुर्वावली (पृष्ठ ४२३–४३७ और ४४१–४५५)[T]

इनमें से अकलंक शालि. श. १४५७ जय सं. । आश्वीज कृष्ण (बुधवार ई. सन्. १५३४ सितम्बर, ३० बुधवार के दिन स्वर्गवासी हुए । (पृष्ठ ४६३, पद्य २२), और चन्द्रप्रभ शालि. श. १४५५ नन्दन सं० । मार्गशिर कृष्ण ७ बुधवार ई. सन् १५३२ दिसम्बर २८ बुधवार के दिन दिवंगत हुए । (पृष्ठ ४५२, पद्य २६)

(२) कवि जन्न के द्वारा स्तुत काणगणकी गुर्वावली* (पृष्ठ ४५५-४६६)

जटासिहनंदि
इन्द्रनंदि
गुणचन्द्र
कनकचन्द्र
माधवचन्द्र
रामचन्द्र

[T]'राष्ट्रबंधु युगादिय काणिके', १६२६ (पृष्ठ ४४-४५)
×इस चिह्नांकित नाम सिर्फ इस ग्रंथ में मिलते हैं विलिगि के शासनों में नहीं मिलते हैं ।
*कन्नड कवि जन्न का 'अनंतनाथपुराण' आश्वास १, पद्य १७-३२)

यह रामचन्द्र जन्न के गुरु हैं।
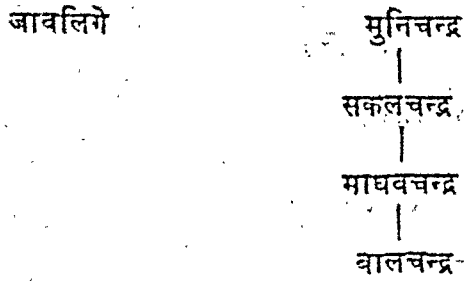
यह बालचन्द्र[1] जन्न की पत्नी लकुमादेवी के गुरु हैं। बालचन्द्र की परम्परा में—
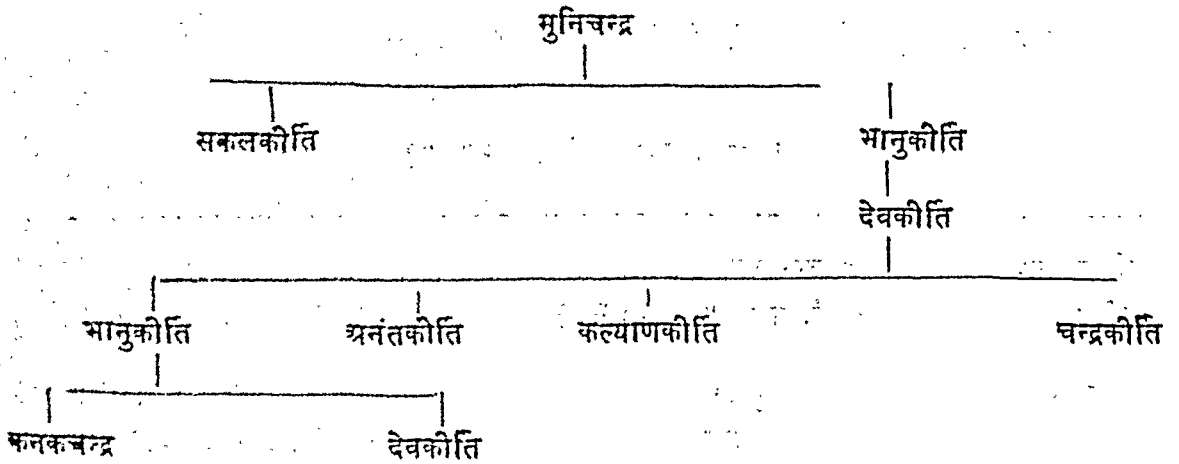
इस ग्रंथ में उक्त संगीतपुर या हाडूहल्लि के राजाओं की वंशावलि इस प्रकार है—
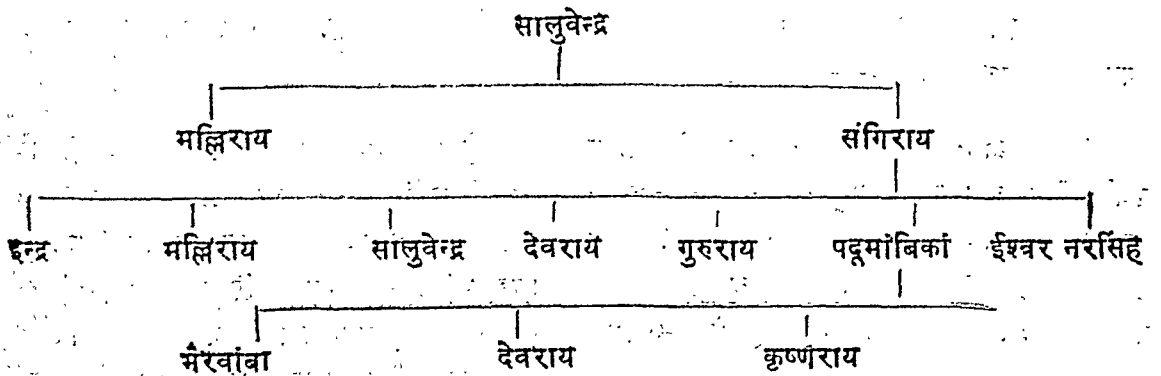
[1]आगे की परम्परा जन्न के ग्रंथ में नहीं है।

विजयनगर के राजाओं में संगमवंश की वंशावली इस प्रकार है—
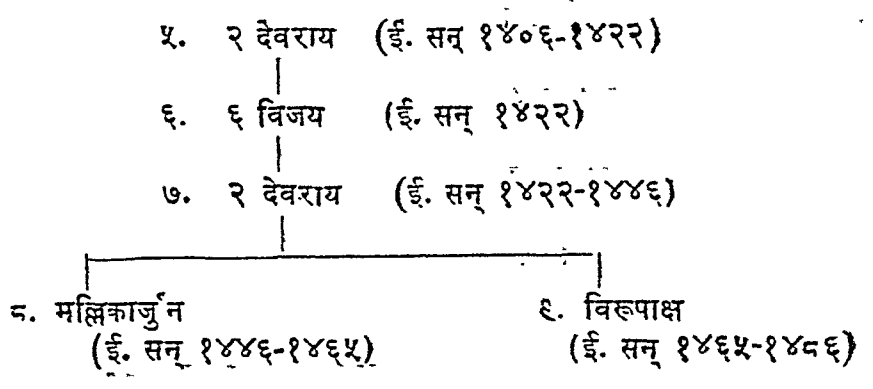
अनंतर के तुलुवंश के राजाओं की वंशावली इस प्रकार है—
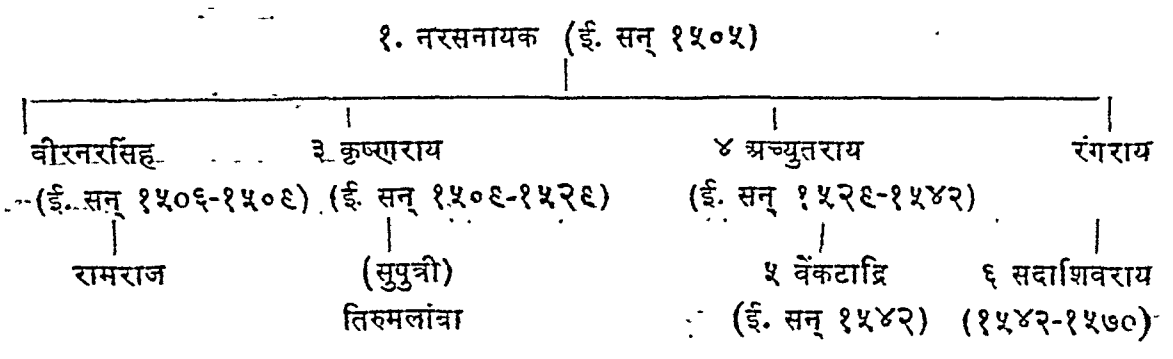
इस रामराज ने सदाशिवराय को विजयनगर के सिंहासन पर बैठाया। पृष्ठ ६०९-६११, पद्य २३-२७)

इस ग्रंथ में मुनि वर्धमान जी ने विद्यानंद की जो स्तुति की है, उन स्तुतिरूप कन्नड कंद-पद्यों का अर्थ निम्न प्रकार है—

(१) विद्यानन्दजी ने नंजराय नगर के राजा नंजदेव के आस्था में मल्लिभट्ट को वाद में जीता। (पद्य ४) यह नंजदेव नंजराय नगर में ई. सन् १५०२ से १५३३ तक राज्य करने वाला चंगाल्व वंश का राजा है। पता नहीं है कि मल्लिभट्ट कौन है।

(२) विद्यानंदजी ने श्रीरंग नगर की विद्वत् सभा में पेरंगि मत अर्थात् ईसाई धर्म को परास्त कर, देवी शारदा को वश में कर लिया था। (पद्य ५)। उस समय जेस्वित (Jeswits) दक्षिण भारत में जहां-तहां ईसाई धर्म का प्रचार करते रहे। साथ ही साथ कतिपय राजसभाओं में भी वे जाया करते थे।

(३) विद्यानंदजी ने केसरिविक्रम सालुवेन्द्र राजा के आस्थान में साहित्य रचना की है (पद्य ६)। यह सालुवेन्द्र राजा, प्रायः उपर्युक्त संगीतपुर के साल्व राजाओं की वंशावलि में प्रतिपादित मल्लिराय का छोटा भाई एवं देवराय का वड़ा भाई है। इस राजा के आस्थान में विद्यानन्द के द्वारा रचित साहित्य का पता नहीं लगता है।

(४) विद्यानन्दजी ने साल्व मल्लिराय की सभा में शासनाधिकारियों के अतिरिक्त व्यक्तियों का मुंह बद कर दिया था (पद्य ७)। यह साल्व मल्लिराय पूर्वोक्त सालुवेन्द्र का वड़ा भाई है।

(५) विद्यानन्दजी ने साल्व देवराय के आस्थान में समस्त वादियों को परास्त किया था (पद्य ८)। यह साल्व देवराय उपर्युक्त मल्लिराय का छोटा भाई है।

(६) विद्यानन्दजी ने गुरुनृपाल के आस्थान में कन्नड काव्य को रचकर यशस्वी हुए (पद्य ९)। यह गुरुनृपाल कौन है, मालूम नहीं होता है। साथ ही साथ विद्यानन्दजी का उस कन्नड काव्य का भी पता नहीं लगता।

(७) विद्यानन्दजी ने नगरी या नगिरे राज्य की राजसभाओं में अपने वचन रूपी अमृत को वहां के विद्वानों को पिलाया (पद्य १०)। यहां पर वहां के राजाओं के नाम नहीं दिये गये हैं। पर शालि. श. १४४२, ई. सन् १५२० में इम्मडि देवरस और शालि श १४५२ से १४७० तक ई. सन् १५३० १५४८ तक इम्मडि कृष्णदेवरस नगिरे राज्य में शासन करते रहे।[x]

(८) विद्यानन्दजी ने विलगि नरसिंह भूपाल के आस्थान में जैन दर्शन को प्रकाशित किया (पद्य ११)। यह नरसिंह भूपाल बिलगि तिम्भरस ओडेय या तिम्भ भूपाल को अनुज एवं वीरेन्द्र या वीरप्पोडेय का पिता नरस अथवा नरसिंह भूपाल है।[s]

(९) विद्यानन्दजी ने कारकल के भैरव भूपाल के आस्थान में जैन धर्म का उपदेश दिया (पद्य१२)। यह भैरव भूपाल ई. सन् १५१६ से १५३० तक शासन करने वाला कलस-कारकल का राजा इम्मडि भैर रस ओडेय है।

(१०) विद्यानन्दजी ने विदिरे अर्थात् मूडुविदिरे के भव्यजनों की सभा में 'पदसिद्धांतितमत' को प्रकट किया (पद्य १३)।[*]

(१२) विद्यानन्दजी ने नरसिंह के सुपुत्र कृष्णराय की सभा में परमत के वादि समूह को अपने वाग्वल से परास्त किया (पद्य १४)। मालूम होता है कि यह नरसिंह का सुपुत्र कृष्णराय, विजयनगर के नरसनायक का पुत्र कृष्णराय है।

(१२) विद्यानन्दजी ने कोपण आदि जैन तीर्थ क्षेत्रों में अपवर्ग के सुख के लिये अपरिमित द्रव्य व्यय किया (पद्य १४)।

(१३) विद्यानन्दजी ने श्रवणबेलगोल के गोम्मटेश्वर के चरणमूल में जैन संघ को वस्त्र, आभूषण और सुवर्ण आदि की वृष्टि की (पद्य१६)।

---

x Annual Report on Kannada Research in Bombay Province for 1939–40 (p. 41).

s मंगलूर का 'राष्ट्रबंधु युगादि कारिणके' ई. सन् १९२९ (पृष्ठ ४२ और ४५)

* नगर नं ४६ के शासन में।

(१४) विद्यानन्दजी गेरुसोप्पे में योगागम में आसक्त मुनिवृन्द की गणाग्रणी गुरु की तरह पालन करने के कार्य में तत्पर हुए (पद्य १७)।

उपर्युक्त महत्वपूर्ण कार्यों को संपन्न करके विद्यानन्दजी (पृष्ठ ३१६, पद्य २२) शालि. श. १४५३ शार्वरी संवत्सर, अर्थात् ई. सन् १५४० में दिवंगत हुए।

इस ग्रंथ के अन्त में दिये गये (पृ.६११, पद्य३६) शार्दूलविक्रीडित वृत्त से यह ग्रंथ शालि. श. १४६४, प्लव स.। (अभांत) श्रावण कृष्ण अष्टमी (अर्थात् पूर्णिमांत भाद्रपद कृष्ण अष्टमी) प्रभाकर अर्थात् आदित्यवार, ई. सन् १५४२, जुलाई १४ में रचित सिद्ध होता है। परन्तु इसके पूर्व (पृष्ठ ६०६, पद्य २३) विजयनगर के कृष्णराय का भांजा रामराज ने सदाशिवराय को विजयनगर के सिंहासन पर बैठाने का उल्लेख इसमें किया गया है। सदाशिवराय ई. सन् १५४२-४३ में सिंहासन पर आरुढ़ होने के कारण यह उल्लेख इस ग्रंथ रचना के द्वारा ग्रंथ रचने के बाद किया गया होगा। इससे मालूम होता है कि यह ग्रंथ एक ही बार नहीं रचा गया है। इस बात को मैं ऊपर भी उल्लेख कर चुका हूं। यह ग्रंथ अवश्य प्रकाशनीय है। प्रकाशकों को इस ओर अवश्य ध्यान देना चाहिये।

●●●

साधक

जीते क्रोध क्षमा से साधक
और मान को मार्दव से
माया को आर्जव से जीते
और लोभ को सन्तोष से।

अर्हत्

४३

पं० चैनसुखदास और 'भावना विवेक'

□ पं० मिलापचन्द शास्त्री

श्रद्धेय पं. चैनसुखदासजी न्यायतीर्थ का जीवन बाधाओं से परिपूर्ण था। शरीर से अपंग बचपन में ही माता पिता का वियोग, भाइयों की असमायिक मृत्यु तथा आर्थिक परिस्थिति के विषम होते हुए भी उन्होंने इन अभाव अभियोगों का डट कर मुकाबला किया। वे जीवन पथपर हंसते हुए बढ़ते रहे और जिस कार्य को भी उन्होंने हाथ में लिया उससे कभी पीछे नहीं हटे। कभी-कभी तो उन्हें प्रबल शक्तियों से भी जूझना पड़ता था। पर कर्त्तव्य के प्रति समर्पित होना सीख था व्यक्ति के प्रति नहीं। वास्तव में महान आत्माएं परिस्थितियों के प्रवाह में न बह कर नवीन मार्ग का निर्माण किया करती हैं। जैसा कि एक डाक्टर ने कहा हैं:—

है समय नदी की बाढ,
कि जिसमें सब बह जाया करते है,

लेकिन कुछ ऐसे होते हैं,
जो इतिहास बनाया करते है।

कविवर पं. चैनसुखदास उच्चकोटि के के साहित्यकार थे। उन्होंने मौलिक संस्कृत साहित्य का निर्माण करके भारतीय साहित्य को पल्लवित और पुष्पित किया है। उनका प्राकृत तथा हिन्दी भाषा के साथ संस्कृत भाषा पर भी पूर्ण अधिकार था। सरल एवं सुबोध संस्कृत में कविता बनाने में आप बड़े कुशल और सिद्ध हस्त थे। उन्होंने संस्कृत में "जैनदर्शनसार, भावना विवेक, पावन प्रवाह एवं निक्षेप चक्र जैसे ग्रन्थों का निर्माण कर अपनी अद्भुत विद्वता का परिचय दिया है। इनमें से "जैनदर्शनसार" तो जैन दर्शन सम्बन्धी उच्चकोटि का ग्रंथ है। "पावन प्रवाह" भी उनकी एक अद्भुत आध्यात्मिक कृति है। कविवर की तीसरी स्वतन्त्र रचना "भावना विवेक" की समीक्षा पाठकों के समक्ष प्रस्तुत है।

"भावना विवेक" दर्शन विशुद्ध्यादि सोलह कारण भावनाओं पर एक पद्यमय आध्यात्मिक रचना है। जैन धर्म में इन भावनाओं का अत्यधिक महत्व है, क्योंकि इनको भाए बिना कभी कोई तीर्थंकर नहीं बन सकता। सोलह कारण भावनाओं पर जैसा सर्वांगीण विशद विवेचन प्रस्तुत ग्रन्थ में हुआ हैं वैसा अन्यत्र उपलब्ध नहीं होता। इन भावनाओं पर रइधू कवि की अपभ्रंश जयमाला अवश्य है और उसी जयमाला का विस्तृत स्पष्टी-

करण रत्नकरंड श्रावकाचार की हिन्दी टीका में पं. चैनसुखदासजी ने किया है, फिर भी उसमें विषय का सर्वांगीण वर्णन नहीं हो सका। उसमें तो मुख्यतः इन भावनाओं की प्रशंसा की गई है। प्रस्तुत ग्रन्थ में विषय को विशद रूप से समझाने का प्रयास किया गया है और ग्रन्थकार किसी सीमा तक इसमें काफी सफल हुआ है।

जैनागम में तीर्थंकर प्रकृति के कारण स्वरूप भावनाओं के अधिक से अधिक सोलह प्रकार सम्मत होने से प्रस्तुत पुस्तक सोलह अधिकारों में विभक्त है। कुल श्लोक संख्या ३१० है।

प्रथम अधिकार में ग्रन्थकार ने दर्शन विशुद्धि भावना को इतना खोलकर समझाया हैं कि वह पूर्ण पुस्तक का करीबन आधा कलेवर हो गया है, इसमें १३२ श्लोक हैं। सर्व प्रथम किसी व्यक्ति विशेष को नमस्कार न कर रत्नत्रय रूप शुद्ध भावों को ही नमस्कार का विषय बनाया है; क्योंकि जीव की स्वतन्त्रता और परतन्त्रता के, बन्ध और मोक्ष के, सुख और दु.ख के कारण उसके भाव ही है। "भावना भव नाशिनी" एवं भावना भव वर्धिनी कहकर जैन धर्म ने परिणामों का वर्गीकरण किया है। मिथ्या दर्शन, ज्ञान चारित्र से वह परतन्त्र और दुःख का पात्र बनता है तो सम्यग्दर्शन ज्ञान चारित्र रूप शुद्ध भावों से वह स्वतन्त्र एवं सुखी होता है। वस्तुतः जीव भावमय ही है तथा तीर्थंकर प्रकृति के कारण भूत सोलह भावनाएं भी आत्म भावों को छोड़कर और कुछ नहीं है। उस तीर्थंकर प्रकृति का बन्ध संसार के प्राणियों के उद्धार करने रूप उपाय विचय नामक धर्म ध्यान से होता है और ऐसे भावों का चूंकि केवली एवं श्रुत केवली के पादमूल में ही होना सम्भव है अतः उन्हीं के सानिध्य में मात्र कर्मभूमि वाला मनुष्य ही इस प्रकृति के बन्ध का प्रारम्भ करता है। वह बन्ध क्षायिक, क्षायोपशमिक तथा पक्षयिक तीनों सम्यक्त्वों में से किसी भी सम्यक्त्व में हो सकता हैं। इन सोलह भावनाओं में दर्शन विशुद्धि महान् है—वही सब भावनाओं का आधार हैं। आठ अंग सहित एवं पच्चीस दोष रहित सम्यग्दर्शन को दर्शनविशुद्ध कहा हैं। चूंकि सम्यकत्व आत्मगुण हैं, वह बन्ध का कारण नहीं हो सकता, अतः सम्यक्त्व के साथ रहने वाला शुभोपयोग ही तीर्थंकर प्रकृति का कारण है। वह बन्ध चौथे गुण स्थान से लेकर आठवें गुणस्थान के छठें भाग तक होता है।

सम्यग्दृष्टि की परिभाषा बतलाते हुए कवि ने कहा है कि जिसकी दृष्टि संसार प्रसिद्ध स्याद्वाद नामक श्रेष्ठ अंजन से निर्मल हो गई है वही सम्यग् दृष्टि है। संसार के संपूर्ण पदार्थ अनेकान्तत्मक हैं। उनमें एक साथ परस्पर विरोधी अनेक धर्म उपलब्ध होते है। उन धर्मो का आपेक्षिक प्रतिपादन करना ही स्याद्वाद है। यह जैन दर्शन की अपनी विशेषता है। वैयक्तिक, कौटुम्बिक, सामाजिक एवं राष्ट्रीय अशान्ति का एकमात्र कारण आग्रह होता है। स्याद्वाद विशाल एवं उदार दृष्टि वाला है; अतः विश्वशान्ति का यही एकमात्र कारण है।

आगे कविवर ने सम्यक्त्व के आठ अंग तथा सात भयों का विस्तृत स्वरूप समझाते हुए बतलाया है कि भय रहित होने से वास्तव में सम्यग्दृष्टि ही सुखी है :—

> सद्दृष्टेस्तु विना भीति, यत्सुखं शान्त चेतसः
> मिथ्यादृष्टेस्तु तत्सौख्यं, न कदापि भवेदिह।

अर्थात् सम्यग्दृष्टि दरिद्र भी हो तो वह अनन्त सम्पत्ति के स्वामी मिथ्या दृष्टि की अपेक्षा महा सुखी हैं। वह सम्यग्दर्शन सराग, वीतराग भेद से दो प्रकार का, वेदक–क्षायिक और क्षापोपशमिक के भेद से तीन प्रकार का तथा आज्ञा मार्ग वगैरह

भेद से दश प्रकार का है। इन सबका विशद वर्णन ग्रन्थकार ने किया है।

उस सम्यकत्व को आठ अंग सहित तथा २५ दोष रहित धारण करना चाहिए। सम्यकत्व के २५ दोष आठ अंगों के उल्टे आठ दोष तथा ८ मद, तीन मूढता और ६ अनायतन हैं। आत्मा में धर्म का अंकुर सम्यकत्व से ही उगता है; अतः सम्यग्दर्शन आत्मा का सबसे अधिक हितकारी है और मिथ्यात्व उसका बड़ा शत्रु है। अतः मिथ्यात्व को त्याग कर निर्मल सम्यग्दर्शन को धारण करने का प्रयत्न दर्शन विशुद्धि भावना है।

२. विनय सम्पन्नता भावना

विनय शब्द का निरुक्ति सिद्ध अर्थ करते हुए दो तरह से अर्थ किया है। विनयतीति-अपनयनीति विनयः अर्थात् जो बुरे कर्मों को दूर करता है उसे विनय कहते हैं। और दूसरा विनयत्ति–विशेषेण नयतीति–विनयः अर्थात् जो विशेष रूप से स्वर्ग मोक्षादि अभ्युदयों को प्राप्त करावे वह विनय है। विनय नम्रता को कहते हैं—उससे मुक्त जीव विनय सम्पन्न कहलाता है और उसके भाव को विनय सम्पन्नता कहते हैं। विनय की आराधना क्यों की जाय, बतलाते हुए कवि ने कहा है:—

विनयो मदमाहन्ति विनयेनाप्त भवन्ति सर्वगुणाः।

विनयः शिक्षासारं ततः समाराध्य इह विनयः।

अर्थात् विनय के द्वारा अभिमान का नशा चूर-चूर हो जाता है तथा विनय के द्वारा ही संपूर्ण गुण प्राप्त हो सकते हैं एवं विनय के द्वारा ही शिक्षा की शोभा और प्रशंसा है। विनय हीन को दी गई शिक्षा मंगलमय नहीं होती। विनय हीन तो जिनलिंग भी धारण करले तो वह मात्र आत्म विडम्बना का ही कारण होता है।

दर्शनविनय, ज्ञानविनय, चारित्र विनय तथा उपचार विनय के भेद से वह विनय चार प्रकार का है। सम्यग्दर्शन को निर्मल बनाने के प्रयत्न को दर्शन विनय कहते हैं। सम्यग्यज्ञान को अष्ट अंग सहित धारण करने के प्रयत्न को ज्ञान विनय कहा जाता है। वे अंग कालाचार, विनयाचार, उपधानाचार, बहुमानाचार, अनिह्नवाचार, व्यंजनाचार अर्थाचार तथा उभयाचार है। चारित्र को निर्मल बनाने का प्रयत्न करना चारित्राचार है और वह अपनी प्रवृत्ति को सुधारने से ही सम्भव है। विनय प्रत्यक्ष और परोक्ष के भेद से दो प्रकार का है। पूज्य पुरुषों गुरुजनों का साक्षात्कार होने पर खड़ा होना, ऊंचा आसन देना, पीछे पीछे गमन करना नमस्कारादि करना-प्रत्यक्ष उपचार विनय है, गुरुजनों के परोक्ष होते हुए गुण स्तवन, जयघोष गुणचिंतन तथा नमस्कारादि करना परोक्ष उपचार विनय है। किन्हीं-किन्हीं ग्रंथों में तप विनय को पांचवां भेद माना हैं। तपस्वियों की सेवा करना यथोचित सत्कार करना तप विनय है।

३. शीलव्रतेष्वनतिचार भावना

प्रायः करके इस भावना का अर्थ ब्रह्मचर्य व्रत को अतीचार रहित पालन करना किया है। पर इस ग्रंथ में ग्रंथकार ने अलग दृष्टि अपनाई हैं। उन्होंने तीन गुणव्रत और चार शिक्षाव्रतों को शील माना है तथा व्रतेषु शब्द से अहिंसादि पांच व्रतों को ग्रहण कर बारह व्रतों को निरतिचार पालन करना इस भावना का अर्थ किया है।

४. अभीक्ष्ण ज्ञानोपयोग भावना

निरन्तर ज्ञान प्राप्ति के लिए मनोयोग को प्रवृत्त करना अभीक्षण ज्ञानोपयोग है। ज्ञान आत्मा

का स्वभाव है और उसे प्राप्त कर ही आत्मा अपना उत्थान कर सकता है। ज्ञान के द्वारा ही वह हेयाहेय, कर्तव्याकर्त्तव्य तथा सत् असत् का निर्णय कर सकता है। ज्ञान के द्वारा ही उसे अपनी पहचान होती है। ज्ञान की अपार महिमा का दिग्दर्शन कराते हुए कवि ने क्या ही अच्छा कहा है:—

ज्ञानादृते निवृत्तिरस्तिनैव
न लौकिकोत्थानमिदं विनास्यात्
निरन्तराभ्यास वशात् ततोऽयम्,
ज्ञानोपयोगः खलु वर्द्धनीयः

अर्थात् इह लौकिक तथा पारलौकिक उत्थान का यदि एक मात्र कोई साधन है तो वह ज्ञान ही हैं; क्योंकि सांसारिक जितने पद हैं वे सब ज्ञान के द्वारा अनायास प्राप्त हो जाते हैं, तथा मोक्ष प्राप्ति जो भेदज्ञान के द्वारा ही प्राप्त होती है। वह भेद-अर्थात् स्वपर की पहिचान ज्ञान द्वारा ही संभव होती है : अतः कल्याण चाहने वालों को निरन्तर सम्यग्ज्ञान प्राप्त करने की चेष्टा करते रहना चाहिए।

५. संवेग भावना

संसार दु;खों का घर है। वे दुःख शारीरिक और मानसिक दो कोटि में विभाजित किए जा सकते हैं। इन दोनों प्रकार के दुःखों से नित्य डरते रहना संवेग कहलाता है। जब प्राणी दुःखों से भयभीत होगा। तो उन दुःखों को उत्पन्न करने वाले विचारों तथा कार्यों से बचेगा और आत्मोत्थान की ओर प्रवृत्त हो सकेगा। ग्रंथकार ने दुःखों से डरते रहने की प्रशंसा करते हुए कहा है:—

वियोग संयोग परंपरात्र
ददाति दुःखं बहुशोकजेभ्यः
किञ्चिन्न नित्यं खलु विद्यतेऽत्र
अस्माद्धि भीरुत्वमतः प्रशस्तम्

संसार में संयोग और वियोग की परम्परा अनादि काल से चली आई है। यह प्राणी मोहमत्त होकर संयोग और वियोग में सुख दुःख की कल्पना कर दुखी होता है। वास्तव में तत्त्वज्ञानी तो न संयोग में आनन्द मनाता हैं और न वियोग में दुःख क्योंकि वह जानता है कि ये दोनों ही नश्वर है। साधारण प्राणी यह नहीं सोच पाता और इसीलिए निरन्तर दुःखी रहता है। समझदार लोगों का कर्त्तव्य है कि इन सांसारिक दुःखों से डरकर संसार में पतन कराने वाले पाप और विषयों से मुक्त होकर आत्मोत्थान में प्रवृत्त होवे।

६. शक्तितस्त्याग भावना

अपनी शक्ति-सामर्थ्य के अनुसार पदार्थों को छोडने का अभ्यास करना शक्तितस्त्याग भावना है। शक्तिः का अर्थ है न तो सामर्थ्य को छिपाकर और न शक्ति का अतिक्रमण करके। प्रायः लोग दान के सम्बन्ध में अपनी शक्ति का खयाल नहीं करते।

उस दान के आहार दान, औषधिदान, अभय दान और ज्ञानदान इस तरह चार भेद किए हैं। कोई कोई आचार्य आहार दान और औषधि दान को एक मानकर तीन भेद भी करते हैं। यों तो चारों दानों की ही अपनी जगह प्रमुखता हैं पर जितना महत्त्व ज्ञानदान को दिया जा सकता है उतना औरों को नहीं। शेष तीनों दान कुछ समय के लिए शारीरिक बाधा शान्त करने वाले है वहां ज्ञानदान सदा के लिए जीव को निर्भय और आत्म स्थित करता है—आत्मा का सर्वतोमुखी विकास करता है। ज्ञान की अपूर्व महिमा बतलाते हुए कहा है।

ज्ञानेन सर्वंह्युपभोग योग्यम्,
संप्राप्यते वस्तु बिना श्रमेण

ज्ञानेन संसार सुखापवर्गो,
ज्ञानं परं मंगलमस्ति लोके ।

अर्थात् अज्ञानी को जो पदार्थ बहुत परिश्रम द्वारा भी प्राप्त नहीं होते वे ज्ञानी को बिना परिश्रम के प्राप्त हो जाते हैं । ज्ञान के द्वारा जहाँ सांसारिक सुख सुलभ हैं वहां अविनाशी मोक्ष सुख भी । ज्ञान की सामर्थ्य से नहीं समझ में आनेवाली बात भी सहज समझ में आजाती है और जो चीजें अदृश्य हैं वे सब ज्ञान चक्षु के द्वारा हेय हो जाती हैं । आत्म दर्शन ज्ञान के द्वारा ही संभव है ।

७. शक्तितस्तप भावना

तप का विश्लेपण करते हुए ग्रन्थकार ने दो लक्षण प्रतिपादित किए हैं । कर्मों का नाश करने के लिए जो कसकर साधना की जाती है वह तप है, अथवा वांछा पिशाचिनी का विरोध करना—मन वचन काय पर पूर्ण नियंत्रण करना तप है । मूल तप के दो भेद किए हैं—वाह्य तथा अन्तरंग । अनशन वगैरह वाह्य तप यदि आत्मा के उत्थान में सहायक हों तभी वे तप कहलाने के अधिकारी हैं । उनके द्वारा चित्तवृत्तियों पर अंकुश लगना चाहिए, ध्यान की स्थिरता में वे सहायक बने—तभी उनकी सार्थकता वतलाते हुए ग्रन्थाकार ने कहा है—

तपो ति तपनादुक्तं मानसेन्द्रिययो स्तथा,
चित्त शुद्धि विना योक्तं, मुधा सर्वं तपो यत ।

अर्थात् मन और इन्द्रियों को तपाने से तप होता है । जब चित्तवृत्ति शुद्ध नहीं हुई तब तप का क्या प्रयोजन । अतः जो आत्मा को ध्यान की ओर अग्रसर करे वही वाह्य तप है ।

८ साधु समाधि भावना

साधु किसे कहा जाय वतलाते हुए कवि ने कहा है :—

साध्नोतियः स्वस्य परस्य कार्यं

लोकोत्तरं त्तां खलु वच्मि साधुन् अर्थात् जो अपने तथा परके आत्मा के उत्थान का कार्य सम्पादन करता है वही साधु कहलाने का अधिकारी है समाधि का अर्थ है—समर्थन करना अर्थात् उनको अपने कार्य में संलग्न रखना । चूंकि योगियों के द्वारा ही संसार का कल्याण होता है अतः उन योगियों के तपस्या में विघ्न उपस्थित हो जाने पर उसे यथोचित उपायों से दूर करना साधु समाधि है । जिस तरह जिस मकान में कीमती वस्तुएं रखी होती हैं उसकी सर्व प्रथम रक्षा करना दायित्व होता है उसी प्रकार साधु भी रत्नत्रय का धारी होता हैं, अतः उसको उपसर्गो से बचाया जाना अत्यावश्यक है ।

साधु की महिमा अपरम्पार है । परोपकार ही उसका धन है । वे निःस्वार्थ जगत के जीवों के हित की कामना करते हैं । वे राजा तथा रंक को समान दृष्टि से देखते हैं । सच्चे साधु की उपस्थिति में न तो कोई उपद्रव होता है और न अराजकता । सारे ऐहिक तथा पारलौकिक सुख साधु समागम से अनायास प्राप्त हो जाते हैं । साधु की वाणी में वह जादू होता है कि वह पतित तथा पथभ्रष्ट लोगों को क्षण में सन्मार्ग पर लगा देता है । सैकड़ों वर्षो के मनमुटाव तथा झगडे उनकी वाणी से शान्त हो जाते हैं । भव्य जीव उनका संसर्ग पाकर किस तरह पवित्र हो जाते हैं कवि ने कहा है :—

अभ्यन्तर यस्य महापवित्रं,
वाह्यं तथा पूतत्तमं महर्षेः
संयोगतस्तस्य कथं न लोकाः,
स्वयं पवित्रा हि भवन्ति भव्याः ।

अर्थात् जो साधु भीतर बाहर एक हैं, जिनकी कथनी करनी में कोई अन्तर नहीं है। उनकी संगति से भव्य जीवों का उद्धार तो हो जाता है। वे अपना भी आध्यात्मिक उत्थान करते हैं तो संसर्ग में आने वालों का भी। वे जगत में एक अलौकिक प्रकाश फैलाते हैं। ऐसे निज पर का उद्धार भी कामना करने वाले साधुओं पर आए हुए उपसर्गों को दूर करना साधु समाधि है।

९. वैयावृत्य भावना

वैयावृत्य का अर्थ प्रतिपादन करते हुए ग्रन्थ कार ने कहा है कि व्यपनोद, व्यावृत्ति तथा वैयावृत्ति ये सब पर्यायवाची शब्द हैं— जिनका अर्थ है दूर करना हटाना अर्थात् दुःखों को दूर करना। साधु तथा श्रावकादि के शारीरिक रोग तथा अन्य प्रकार दुःख आजाने पर उनको उचित अहिंसक उपायों से दूर करना वैयावृत्य कहलाता है। धर्मात्मा लोगों की सेवा टहल वन्दगी करके ही धर्म की रक्षा की जा सकती है क्योंकि "न धर्मो धार्मिकै विना"। विपत्ति आने पर महान से महान व्यक्ति धर्म से चलायमान होने लगता है। उस समय यदि सेवा करने वाला हो तो परिणामों के बिगड़ने में देर नहीं लगती। अतः आपत्ति आने पर दुःखी जीवों की सेवा सुश्रुषा करना परमावश्यक है जिसकी भावना साधुओं की सेवा करने की होती है उसे ही साधुओं का समागम होता है तथा उनकी सेवा का अवसर प्राप्त होना तो महान् पुण्य से ही संभव है।

श्रावक ही साधु का वैयावृत्य करें—यह नियम नहीं साधु भी परस्पर एक दूसरे की सेवा करते हैं और तभी संघ की व्यवस्था सुचारु रूप से चलती है। साधु सेवा से महान् लाभ होता है। लोक में भी कहावत है "करोगे सेवा पावोगे फल मेवा" कवि साधु सेवा का फल बतलाते हुए कहता है:—

संचारो हि गुणानां, वैयावृत्यादशंसयं भवति।

अर्थात् साधुओं की सेवा से मनुष्य में साधु के गुणों का संचार हुए बिना नहीं रहता। गुणों की प्राप्ति करना प्रत्येक मनुष्य का ध्येय होता है और वह जब साधु सेवा से सुलभ हो तो क्यों नहीं हम अपने नाशमान् शरीर द्वारा साधुओं की सेवा कर गुणों की प्राप्ति से लाभान्वित हों।

१०. अर्हंद् भक्ति भावना

जो चार घातियां कर्मों के नाश कर देने केकारण पूजनीय हैं—ऐसे तेरहवें तथा चौदहवें गुणस्थान वर्ती जीव को अर्हन्त कहा जाता है। वे ही द्वादशांग के प्रवर्तक होते हैं ऐसे वे अर्हन्त भगवान संसार में अधिक से अधिक कुछ कम एक करोड़ पूर्व तक रहते हैं।

वैसे आठ कर्मों का नाश करने के कारण सिद्ध अर्हन्तों से उत्कृष्ट हैं, अतः नमस्कार मन्त्र में पहले उन्हें नमस्कार किया जाना चाहिए था, परन्तु अर्हन्त ही धर्मतीर्थ की प्रवृत्ति करते हैं—अतः वे सर्वप्रथम पूजनीय हैं। वे अर्हन्त सात प्रकार के हैं— पांच कल्याणधारी, तीन कल्याणधारी, दो कल्याण धारी, सातिशय केवली, सामान्य केवली, उपसर्ग केवली तथा अन्तःकृत केवली। जिन्होंने पहले जन्म में तीर्थंकर प्रकृति का बन्ध किया हो वे पंच कल्याणधारी तीर्थंकर होते है। जिन्होंने उसी भव में गृहस्थ अवस्था में बन्ध किया हो वे तीन कल्याण धारी तथा मुनि दीक्षा के पश्चात् बन्ध किया हो तो दो कल्याणधारी तीर्थंकर होते हैं। तीन तथा दो कल्याणधारी विदेह क्षेत्र में ही होते हैं। अर्हन्तों के जो ४६ गुण बतलाये हैं वे पंच कल्याणधारी के

ही होते है। तीन तथा दो कल्याण वालों के जन्म से १० अतिशय नहीं होने से ३६ ही होते है।

सातों प्रकार के अर्हन्तों की जो भक्ति की जाती है वह अर्हद् भक्ति कहलाती है। भक्ति क्यों की जाय उसका स्वरूप क्या हो—वर्णन करते हुए कवि ने कहा है—

पूज्यानां गुण वृन्देष्वनुरागो भक्तिरूच्यते,
गुणलब्ध्यर्थमेवेयं, क्रियते नान्यहेतुतः।

अर्थात् पूज्य महापुरुषों के गुणों में अनुराग करना भक्ति है और वह उन गुणों की प्राप्ति के लिए ही की जाती है। गुणों के प्राप्त करने का प्रयत्न करना ही भक्ति है। पूज्य पुरुषों के मात्र शरीर का दर्शन या पूजन कर लेना भक्ति नहीं कहला सकती। भक्ति तभी सार्थक होती है जब पूज्य पुरुषों के समान पूजक बनता है।

जीवन में आए नहीं सत्य और ईमान
तब आया किस काम में, ईश्वर का गुणगान।

भगवान को जो पतितोद्धारक, तारण तरण, अधम उद्धारक कहा जाता है वह उपचार से है—वास्तव में नही; क्योंकि जिनेन्द्र भगवान वीतराग होते है। वे दूसरों के उद्धार की चिन्ता क्यों करेंगे। उन्हे संसार के जीवों से क्या लेना देना है; अतः भक्ति को जो संसार के संपूर्ण सुखों का कारण बतलाया है—वह इसी अर्थ में है कि भगवान की निष्कपट भक्ति करने से प्राणी के विचार शुभ बनते हैं और उन शुभ भावो से पुण्य का आश्रय होता है और उससे स्वतः सांसारिक विभूतियां प्राप्त हो जाती है। भक्ति का साफल्य तभी है जब उपासना से आत्मा पवित्र बने और एक दिन वह नर से नारायण हो जाय।

११ आचार्य भक्ति भावना

सर्वप्रथम कवि ने आचार्य का लक्षण बतलाते हुए कहा है:—

पंचाचारान् महोत्कृष्टानाचरन्तो मनीषिणः.
आचारयन्तः संघस्थान् आचार्या इह विश्रुताः

जैन सिद्धान्त में आचार पांच माने गए हैं—दर्शनाचार. ज्ञानाचार, चरित्राचार, तपाचार और वीर्याचार। जीवादि तत्वों की दृढ़ श्रद्धान परिणति दर्शनाचार है-इन्हीं जीवों की ज्ञान रूप प्रवृत्ति ज्ञानाचार है। पापों के अभाव रूप प्रवृत्ति चरित्राचार है। अन्तरंग तथा बाह्य तपों में प्रवृत्ति तपाचार है तो आत्मोत्थान के कार्यों में अपनी शक्ति को न छिपाने रूप प्रवृत्ति वीर्याचार है। इन पांच उत्कृष्ट आचारों का जो स्वयं आचरण करते है तथा संघस्थ साधुओं को आचरण कराते हैं वे आचार्य कहलाते हैं। 'परोपदेश पांडित्य" सब के लिए आसान है पर स्वयं को आचारवान् बनाना बड़ा कठिन होता है।

यद्यपि आचार्यो के १२ तप १० धर्म, छ आवश्यक, पंचाचार ३ गुप्ति ये ३६ गुण माने गये हैं; पर यह उनका लक्षण नहीं बन सकता; क्योंकि वे गुण अन्य साधुओं में भी पाए जाते हैं। आचार्यत्व की परिभाषा करते हुए कवि ने कहा है!—

नगाधीशाः यथा लोके, प्रजानां शासकाः मताः
सयताना तथाचार्याः, दण्डादिविधिशासने।

उनके आचारवान्, आधारवान्, व्यवहारवान् प्रकर्त्ता अपायोपय विदर्शी, अवधीद्रक, अपरिभाषी और निर्यापक ये आठ गुण हैं। इन गुणों के द्वारा संघ की व्यवस्था सुचारू रूप से चलती है। ऐसे आचार्यो के गुणों में अनुराग करना आचार्य भक्ति हैं।

१२ बहुश्रुत भक्ति भावना

बहुश्रुत शब्द उपाध्यायों के लिए रूढ हैं। वैसे आचार्य एवं साधु भी बहुश्रुत होते या हो सकते हैं पर समभिरूढ नय की अपेक्षा बहुश्रुत नाम से उपाध्यायों का ही ग्रहण होता है। वे द्वादशांग वाणी के ज्ञाता होने से या अधिक ज्ञानी होने के कारण बहुश्रुत कहलाते हैं। वे ११ अंग तथा १४ पूर्वो का स्वयं पाठ करते हैं एवं संघस्थ मुनियों को पढाते हैं; अत: उन्हें पांठक भी कहा जाता है। उपाध्याय शब्द का निरुक्तिसिद्ध अर्थ "उपेत्याधीयते यस्मात् सोंपाध्यायो गुरुर्मतः" अर्थात् जिसके पास बैठकर पढा जाय वह उपाध्याय कहा जाता है और वह संघस्थ साधुओं का विद्यागुरू होता है। आचार्य और उपाध्याय में से आचार्य आदेश और उपदेश दोनों के अधिकारी है वहां उपाध्याय मात्र उपदेश देने के। संघ की शासन व्यवस्था आचार्यो के जिसे होती है तो पठन पाठन की व्यवस्था उपाध्याय के।

आचार्य, उपाध्याय एवं साधु ये तीनों ही पद करणानुयोग एवं चरणानुयोग दोनों की अपेक्षा से माने गए हैं। पर करणानुयोग की अपेक्षा कौन द्रव्य लिंगी हैं और कौन भाव लिंगी यह छद्मस्थ नहीं जान सकता। वह तो बाह्य चारित्र को देखकर ही पात्रापात्र की पहिचान करता है। बाह्य में जिनका आचरण शुद्ध है ऐसे उपाध्यायों की भक्ति पूजास्तुति आदि करना बहुश्रुत भक्ति कहलाती है जो कि स्वर्ग मोक्ष प्रदान करने वाली कही जाती है। कहावत प्रसिद्ध है कि "गुरुबिन कौन बतावे बात" और बिनामार्ग जाने मोक्ष नही अत: ऐसे गुरूओं की भक्ति करना परमावश्यक है।

१३ प्रवचन भक्ति भावना

सर्वोत्कृष्ट वचन को प्रवचन कहा जाता है और वह जिनेन्द्र भगवान के द्वारा कहा हुआ वचन ही हो सकता है। ग्रन्थाकार ने इसके दो कारण प्रस्तुत किए हैं। पहला यह कि:—

तीर्थत्वात्तद वचः प्रोक्तं; प्रकृष्टं हि गणाधिपैः।
भवाम्भोनिधितोभव्यान्, तारयत्याशु तज्जनान्।

अर्थात् गणधरों ने जिनेन्द्र भगवान की वाणी को प्रकृष्ट इसीलिए कहा है कि वह तीर्थ रूप हैं। वह भव्य जीवों को संसार सागर से पार उतार देने वाला है क्योंकि वह एक श्रेष्ठ और सत्य मार्ग है—वहां असत्य का प्रवेश नहीं।

१४ आवश्यकापरिहाणि भावना

जो क्रियाएं प्रतिदिन करने की है उनको कभी न छोडना निरन्तर करते रहना आवश्यका परिहाणि भावना है। वे क्रियाएं मुनि और श्रावक के भेद से दो प्रकार की है। आचार्यो ने साधु तथा श्रावक के छह छह आवश्यक प्ररूपित किए हैं। सामायिक, स्तवन, वन्दना, प्रतिक्रमण, प्रत्याख्यान और कायोत्सर्ग ये साधु के छह आवश्यक है। सांसारिक सभी पाप सामग्रियों से विरक्त होना सामायिक है। तीर्थकर भगवान के गुणों का वर्णन करना स्तवन है। त्रिशुद्धि, दो आसन, चार शिरोनति तथा बारह आवर्त जिसमें किए जांय वह वन्दना है। भूतकाल में किए गए पापों की निंदा करना प्रतिक्रमण हैं। भविष्यत् काल में लगाने वाले दोपों का त्याग करना प्रत्याख्यान हैं। नियमित समय तक शरीर से महत्त्व न रखना कायोत्सर्ग कहलाता है। कुछ आचार्यो ने इस के स्थान पर स्वाध्याय को छटा आवश्यक माना है। श्रावक के छह आवश्यक देवपूजा, गुरूसेवा, स्वाध्याय, संयम तप और त्याग बतलाए गए हैं। भगवान जिनेन्द्र देव की पूजा करना—देवपूजा है। निग्रन्थ गुरू की सेवा करना गुरूसेवा है। आत्मोत्थान करने वाले शास्त्रों का पढना-स्वाध्याय है। इन्द्रिय और मन

को वश में रखना तथा छह काय के जीवों की रक्षा करना संयम है। इच्छाओं पर नियंत्रण करना तप है एवं शक्ति के अनुसार चार प्रकार का दान देना—दान कहलाता है मुनि और श्रावक को अपने अपने कर्तव्यों का प्रतिदिन पालन करना चाहिए अन्यथा वे मुनि और श्रावक कहलाने के पात्र नहीं।

१५ मार्ग प्रभावना भावना

प्रभावना का विश्लेषण करते हुए कवि ने कहा है:—

मिथ्यामार्ग तिरस्कार, क्षमया विद्यया तथा
सद्धर्मद्योतनं मार्ग,- प्रभावनमिहोच्यते।

समीचीन धर्म का प्रकाश पाखंड का खंडन करने से होता है अतः सम्यग्ज्ञान के प्रकाश के द्वारा सत्य धर्म को प्रकट करना प्रभावना है। जो गन्तव्य स्थान मोक्ष- को प्राप्त करावे वह मार्ग कहा जाता है और वह मार्ग जैन धर्म ही हो सकता है; क्योंकि वह इह लोक और परलोक दोनों का कल्याणकारी है। प्रभावना कहां से चालू हो बतलाते हुए कवि ने कहा है

निजात्मा सर्वतः पूर्वं, रत्नत्रयतेजसा
प्रभावनीयो लोकस्तु तपोज्ञानार्चनादिभिः।

आगे कवि ने यह बताया है कि यह प्रभावना देश काल के अनुसार होनी चाहिए। कहां किस समय किस कार्य के करने से धर्म की प्रभावना होगी यह धर्म प्रभावक को अवश्य देखना चाहिए और तद्नुकूल ही प्रवृति करना चाहिए। यदि वह परम्परा से जकड़ा रहा—रूढियों से ग्रस्त रहा तो वह कभी भी धर्म की प्रभावना नहीं कर सकता।

१६ प्रवचन वत्सलत्व भावना

प्रवचन वत्सलत्व भावना का लक्षण करते हुए कवि ने कहा है :—

स्यात्सधर्मी प्रवचनः, वात्सल्यं तत्र यद्भवेत्
धेनोर्वत्सेव तत्प्रोक्तं, वात्सल्यं परमं खलु।

जिस प्रकार गाय अपने बच्चे से निःस्वार्थ प्रेम करती है—उसकी रक्षा के लिए वह शेर का भी मुकाबला करने पर कटिबद्ध हो जाती है उसी प्रकार समान धर्म के मानने वाले साधर्मी मनुष्यों से निष्कपट-बिना प्रति फल की वांछा के प्रेम करना प्रवचन वात्सल्य है। आचार्यो ने पन्द्रहवीं भावना में बताया कि संसार को जैन धर्म का सन्देश सुनाओ, अर्थात् संसार को जैनी बनाओ, पर यदि हमने उनके साथ वात्सल्य, सहानुभूति, प्रेम का व्यवहार नहीं किया तो क्या यह सम्भव है कि वे जैन बने रहें। वात्सल्य ही एक ऐसा गुण हैं कि जो उन्हें धर्म पर टिकाए रख सकता है। कवि ने वात्सल्य की महिमा कर गुणानुवाद करते हुए कहा है :—

वत्सलत्वेन चैतेन, धर्मवृद्धि प्रजायते,
मिथः स्नेहाभिवृद्धिश्च, सधर्मजनतासुच।

अर्थात् धार्मिक जनों में परस्पर प्रेम संचार से धर्म की वृद्धि होती है। आपस में स्नेह सहानुभूति बढती है। उससे संगठन बढ़ता है। संसार में संगठन के द्वारा ही असंभव कार्य भी संभव हो जाते है। प्रवचन वत्सलत्व के द्वारा वह संगठन अनायास सुदृढ होता है अतः प्रवचन वात्सल्य को अपनाना महान् कार्यकारी है।

इस तरह ग्रन्थकार ने इस ग्रन्थ में सरल एवं सुबोध संस्कृत में सोलह कारण भावनाओं का सांगोपांग एवं सविस्तृत वर्णन कर एक बहुत बड़ी कमी की पूर्ति की है। ग्रन्थ की प्रस्तुत समीक्षा मात्र बानगी है। पूरा आनन्द तो ग्रन्थ के आद्योपान्त स्वाध्याय से ही प्राप्त होना संभव है। यह ग्रन्थ पवित्र भावनाओं से ओतप्रोत है इसे एकाग्रचित्त होकर पढने से आध्यात्मिक आनन्द प्राप्त होता है।

हिन्दी जैन काव्य में दार्शनिक शब्दावली

□कु० अरुणलता जैन, एम. ए. शोध छात्रा (कायमगंज)

किसी भी काव्य की विशिष्टता जानने के लिए उसके मूल में निहित उस भावना का अवलोकन करना आवश्यक है जिससे प्रेरित होकर काव्य लिखा जाता है इसीलिये हिन्दी जैन काव्य में दार्शनिक शब्दों का महत्व जानने से पूर्व हमें जैन दर्शन को समझना होगा जिससे अनुप्राणित हो काव्य रचना की जाती रही।

वस्तुतः, दर्शन का क्षेत्र सत्य की खोज है। इसकी खोज में मानव मस्तिष्क चिरकाल से लगा रहा है। वास्तविक सत्य की खोज में दो प्रमुख विचार हैं। एक विचारधारा के अनुसार सत्य आत्मा है जो परम है। 'प्रवचन सार' में वृन्दावन लाल ने आत्मा का स्वरूप इस प्रकार दर्शाया है।

"जामें मोह क्षोभ नही व्यापत,
चिद्विलास दुति वृन्द गहै।
सो परिनाम सहित आतम को
ज्ञान नाम अभिराम अहै।

दूसरी विचार धारा के अनुसार वास्तविक सत्य पदार्थ हैं जो इन्द्रिय जन्य है और जिसका विभिन्न दृष्टिगोचर रूप सृष्टि है। जैन दर्शन में इन्हें निश्चयनय तथा व्यवहार नय के रूप में सम्बोधित किया है। वनारसीदास जी ने लिखा है

"निहचे में एक रूप, विवहार में अनेक।
याही के विरोध में जगत भरमायो है।।"

मानव जीवन और दर्शन का घनिष्ट सम्बन्ध है। दर्शन जीवन को गति देता है। उसकी धारा और प्रवाह को निश्चित करता है। मानव उसी को अपना जीवन आधार बना कर अपनी जीवन क्रिया सम्पन्न करता है। मानव जीवन में उसके दर्शन का अनुमान कर सकते है। प्रत्येक व्यक्ति को अपने 'स्व' के विकास के साथ साथ उसके जीवन के प्रति एक विचार धारा बन जाती है वही उसका दर्शन हैं। उसके विचारों, उसकी रचनाओं तथा प्रतिक्रियाओं में उसका दर्शन झलकता हैं। साहित्य प्रेमियों को किसी भी साहित्य विशेष पढ़ने से उसके रचयिता के जीवन-दर्शन की झलक मिल जाती है।

साहित्य अपनी सीमाओं के भीतर अध्यात्म के जिस रूप को विकसित करता है वह अध्यात्म का भाव पक्ष है। इस भावात्मक रूप की उपलब्धि के लिए व्यक्ति को अन्तमुर्खी होन। पड़ता है, और व्यक्ति जब अन्तर्मुखी होता है तो वह अपनी प्रतिभा और प्रकृति के अनुरूप या तो श्रद्धा के माध्यम से आत्मा को पाता है या विवेक से। इस प्रकार अध्यात्म के दो रूप हो जाते हैं—भक्ति का

दूसरा ज्ञान का। श्रद्धा भक्ति मानव के विकास मार्ग की पहली मंजिल है ज्ञान दूसरी और विवेक पूर्ण आचरण की तीसरी मन्जिल है। श्रद्धा, ज्ञान, आचरण के सम्यक समन्वय का ही नाम मोक्ष है। भैया भगवतीदास ने द्रव्य संग्रह में लिखा है—

"सम्यक् दरस प्रमाण, ज्ञान पुनि सम्यक् सोहै।
अरु सम्यक् चारित्र त्रिविधि कारण शिव जोहै।।

जैन काव्य पर दृष्टिपात करने से विदित हो जाता है कि वह धर्म तथा अध्यात्म प्रधान है। जैन कवियों पर जैन दर्शन का पूर्ण प्रभाव पड़ा और उन्होंने शान्त रस में आप्लावित हो जिस काव्य की रचना की तथा जैन दर्शन के जिन गहन तत्वों का विश्लेषण किया वह उनके जैन सिद्धांत विषयक गभीर ज्ञान का स्पष्टीकरण है। जैन कवियों की रचनाएं किसी न किसी रूप में अध्यात्म विषयों से ओत-प्रोत है। ऐसा लगता है मानो आत्मा परमात्मा के गुण गान में कवि ऐसे सने हुए है कि उसका प्रत्येक शब्द अध्यात्म की छाया लेकर निकलता है।

"ऐसा योगी क्यों न अभय पद पावै।"

जैन साहित्य में अध्यात्म का भक्ति मूलक भाव-पक्ष आदि काल से लेकर अब तक जिन रूपों में हुआ हैं वे हैं—स्तोत्र, रासा, स्तवन, स्तुति पद भजन आदि। हिन्दी जैन कवियों के जो मधुरपद अब तक प्रकाशित हुए हैं उनमें भक्ति तथा संसार की नश्वरता का बड़ा सुन्दर चित्र उपस्थित हुआ है। इनमें भक्ति का जो रूप उभरा हैं उनमें आत्म निवेदन, विनीत भाव से किया गया है जिसका लक्ष्य अष्टकर्मो को क्षय कर आवागमन के बन्धनों से मुक्ति पाना है। 'जैन रामायण' ग्रन्थ में पं. कस्तूरचन्द्र नायक ने लिखा है—

"जैन दिगम्बर मुनि यथा, करके निर्मल ध्यान।
अष्टकर्म को छेद कर, पाते हैं निर्वाण।।"

जैन दार्शनिकों ने मानवीय जीव के आध्यात्मिक और लौकिक या निवृत्ति तथा प्रवृत्ति दो पक्ष खड़े किए है। लौकिक पक्ष का लक्ष्य अभ्युदय और अध्यात्मिक पक्ष का निःश्रेयस है। जहाँ इनका जन्म होता हैं वही धर्म है तथा लोक कल्याण हैं। इसी आशय को सम्मुख रख कर धर्म सर्वस्व की परिभाषा यह की गई है कि जो अपने को बुरा लगता हैं वह आचरण दूसरे के साथ न करे। भ० महावीर की वाणी थी "जियो और जीने दो" जिसका आधार अहिंसा हैं। यह संदेश जैन साहि- में सर्वत्र बिखरा पड़ा है।

जैन दर्शन जीव अजीव तत्व को स्वीकार करता हैं—यथा—

"जैसे-जल कर्दम कुतक फल भिन्न करै।
वैसे जीव अजीव विलछन करतु हैं।"

जिसके आधार तत्व अध्यात्म भावना, अहिंसा, अनेकान्त, तप, ज्ञान, कर्म तप, संयम आदि पर विशेष बल दिया गया है। वैदिक काल तक भारतीय भोजन में मांस चलता था। यज्ञों में पशु बांधने के लिए यूपों की चर्चा मिलती है। यज्ञ शेष का भक्षण आदि का उल्लेख मिलता है जिससे स्पष्ट हैं कि वैदिक काल से स्मृति काल तक मानव मांस भक्षी था किन्तु जैन की धार्मिक क्रांति का वैदिक धर्म पर भी प्रभाव पड़ा और भारतीय धार्मिक आचार्यो ने जैन धर्म का सबसे महत्वपूर्ण दार्शनिक शब्द अहिंसा में अध्यात्मिकता का पूर्ण समर्थन पा उसे अपने धर्म का अविभाज्य अंग बना लिया। जैन दर्शन में अहिंसा के दो पक्ष हैं-- विचार की अहिंसा और आचार की अहिंसा। प्रथम विचारों का क्षेत्र स्पष्ट और स्वच्छ होना

चाहिये तभी आचार विशुद्ध हो सकेगा। विचारों में तो कूड़ाकरकट भरा हो और जीवन व्यवहार में निस्तेज अहिंसा का दिखावा करें तो यह अहिंसा का विशुद्ध रूप न होगा। जैन धर्म में तो प्राणी-मात्र का अस्तित्व, महत्व स्वीकारा है। जैन धर्म ने अहिंसा का इतना संकुचित अर्थ नहीं लिया जितना लोक में समझा जाता है। इसका व्यापार भीतर और वाहर दोनों है। वाहर से किसी भी छोटे वड़े जीव को अपने मन, वचन, काय से किसी प्रकार की भी हानि या पीड़ा न पहुंचाना तथा उसका दिल न दुखाना अहिंसा है और अन्त-रंग में रागद्वेष परिणामों से निवृत होकर साम्य भाव में स्थित होना अहिंसा है।

वास्तव में अन्तरंग में आंशिक साम्यता आये विना अहिंसा सम्भव नहीं। इस प्रकार इसके अतिव्यापक रूप में सत्य अचौर्य, ब्रह्मचर्य सभी सद्‌गुण आ जाते हैं। इसलिए अहिंसा को "परम-धर्म" कहा गया गया है। जलथल आदि में सर्वत्र ही क्षुद्र जीवों का सद्‌भाव होने के कारण यद्यपि वाह्य में पूर्ण अहिंसा पालन असम्भव है। किन्तु यदि अन्तरंग में साम्यता और वाह्य में पूरा-पूरा यत्नाचार रखने में प्रमाद न किया जावे तो वाध्य जीवों के मरने पर भी अहिंसा ही रहेगी। जैन काव्य में सर्वत्र ही सभी जैन कवियों ने अपनी रचनाओं में अहिंसा का महत्व प्रतिपादित किया है—

"सव धर्मों में श्रेष्ठ है, परम अहिंसा धर्म।
हिंसा के पीछे लगे, पाप भरे सव कर्म॥"

अनेकान्त विचारों को प्रकाशमान वनाता है। आचरण की अहिंसा से पूर्व विचार के क्षेत्र में अनेकान्त का होना आवश्यक है। जो वस्तु एक दृष्टि से अनित्य प्रतीत होती है वह किसी अन्य दृष्टि से अनित्य प्रतीत हो सकतीहै। कोई विरोधी वस्तु अपेक्षा की दृष्टि से अविरोध भी वन सकती है। एक वस्तु में वस्तुत्व को उपजाने वाली परस्पर विरुद्ध दो शक्तियों का प्रकाशित होना अनेकान्त एक दृष्टि है और इस दृष्टि को जिस भाषा पद्धति द्वारा अभिव्यक्ति मिलती है वही स्याद्वाद है। भारतीय दर्शनों में अनेकान्तवाद जैन दर्शन की एक अपूर्व देन है। इसके द्वारा सामाजिक, पारवारिक, राजनीतिक, धार्मिक सभी विवादों को दूर किया जा सकता है। सभी जैन कवियों ने अनेकान्त दृष्टि का निरूपण किया है। निम्न लिखित दोहे में इस भाव की पूर्ण रूप से पुष्टि मिलती है यथा—

"याही भांति प्ररूपता सिद्ध दशा के मांह।
उत्पत व्यय ध्रुव, सधत है अनेकान्त की छांह॥

□ □

"जाके विवाद नाशिवै को जिन आगम है।
जामें स्याद्वाद नाम लक्षण सुहाए है॥"

अहिंसा और अपरिग्रह जैन धर्म का आधार है। आज के भौतिक युग में इनकी बड़ी आवश्य-कता है। अहिंसा, प्रेम, बंधुत्व का भाव ग्रहण कराती है और अपरिग्रह अनासक्ति की ओर ले जाती है। समाज की विपम समस्याओं को अहिंसा और अपरिग्रह से ही सुलझाया जा सकता है। जीवात्मा संसारिक वस्तुओं के प्रति जितना अना-सक्त होता है उतना अपरिग्रह के निकट पहुंचता हैं जो उसके मुक्ति का द्वार खोलता है। आज जीवन में जो खींचा तान पड़ी हुई है वह इसी कारण है कि व्यक्ति भौतिकवादी हो गया है और आवश्यकता से अधिक वस्तुओं में उसकी आसक्ति है। ऐसी जटिल परिस्थितियों में जैन दर्शन को महत्वपूर्ण तत्व अप-रिग्रह की महती आवश्यकता है। हमारे कवि मनी-षियों ने इस समस्या का अनुभव किया और अपनी भाव-लहरी द्वारा इस महत्ता का प्रतिपादन किया। जैन काव्य में उनके ये भाव मोती की भांति झिल-मिलाते दृष्टिगोचर होते है—

"भोग संजोग, संग्रह मोह
विलास करे जहां ऐसे ।
पूछत शिष्य आचारज को यह
सम्यकवंत निराश्रव कैसे ।।"

□

सात पैड चल हरि को दीने,
नन्दनवन कल्याणक कीन्हे ।
लुंच केश प्रभु परिग्रह छोरे,
भक्त नृपति हुं दीक्षा धारै ।।"

हिंसा अनृत तसकरी अब्रह्म परिग्रह पाप ।
दस अलव सव त्यागिवो धर्म दोय विधि थाप ।।"

जैन धर्म आचार-प्रधान है । अहिंसा तथा सदाचार को वड़ा महत्व दिया गया है । जैन मुनि छोटे से छोटा पाप कर्म भी महान अपराध वतलाते है । इस दृष्टि से अचौर्य का विशेष महत्व है । स्वेच्छा से न दी गई वस्तु के प्रति अग्रहण भाव होना चाहिए । यदि ऐसा नहीं तो उक्त दोष का प्रायश्चित अनेक जन्मों में करना पड़ता है। इस प्रकार कर्म-विपाक ही पुर्नजन्म का एक मात्र कारण है । जैन दर्शन की मान्यता है कि जीव इस संसार में कर्म मे प्रेरित हो चार कषाय, क्रोध, मान, माया लोभ में आसक्त एवं मिथ्या संयम के वशीभूत होकर अनेक जन्म धारण करके संसार में विचरता है । ये वामना रूप होते हैं व्यक्त रूप नहीं । जहां पर पदार्थों के प्रति 'स्व' 'पर' की वासना जीव में पाई जाती है वहां पर अनन्तानुवन्धी कषाय है क्योंकि वह जीव का अनन्त संसार से वन्ध कराती है ।

"चेतन परिणाम सो कर्म जिते बांधियत ।
ताको नाव भाव वन्ध ऐसो भेद कहिए ।।"

फिर जीव को मुक्ति कहां ?" त्रेपन क्रियाकोश में श्रावक की त्रेपन क्रियायों का वड़ा सुन्दर निरूपण किया गया है ताकि जीव वैसा ही आचार विचार कर अशुभ कर्मों के वन्ध से मुक्त हो सके । इन चारों कषायों की जैन कवियों ने खूब भर्त्सना की है—

"क्रोध मान माया लोभ,
चारों मिलकर किया क्षोभ ।"

जैनागम में पंचास्ति काय का निजी महत्व है । जीव. अजीव पुद्गल, धर्म अधर्म, आकाश, काल ये छः द्रव्य स्वीकार किए गए हैं । इनमें काल द्रव्य कायवान नहीं है । जीव चेतन अथा अजीव अचेतन पुद्गल का आकार है । इसलिए वह मूर्त रूप है शेष अमूर्त है । जीव आत्मा का ही स्वरूप है जो अनन्त दर्शन आदि गुणों से सम्पन्न है ।

"यह परमातम यह मम आतम,
भेद बुद्धि न रहाय रे ।"

पुद्गल परमाणुओं का पुंजीभूत है जिसकी प्रकृति वदल जाती है जिसके परिणामस्वरूप वह विभिन्न प्रकार के शरीर धारण कर संसार में भ्रमण करता है—

'मूल अनादि थकी जग भटकत
लै पुद्गल जामा ।"

जीव और पुद्गल चिरकाल से साथ साथ है । पुद्गल द्वारा ही जीव का वंध होता है । मिथ्या दर्शन, ज्ञान तदनुसार आचरण कर जीवात्मा सत्पथ से भटक जाता है ।

"जीव पुद्गल में विराजे दोउ परजाय ।
विभाव तथा सुभाव जीव जैसो लहै है ।।"

जैन दर्शन में आठ प्रकार के कर्म वताए हैं यथा ज्ञानावरण, दर्शनावरण, मोहनीय, अन्तराय, वेदनीय, आयु, नाम एवं गोत्र । इनमें ज्ञानावरण, दर्शनावरण, मोहनीय, अन्तराय कर्म जीव का घात

करने के कारण घाति कर्म कहलाते है। वेदनीय आयु, नाम, गोत्र द्वारा कर्मों का नाश सम्भव नहीं है। अतः इन्हें अघाति कर्म कहते हैं। जैन काव्यों में घातियां तथा अघातियां कर्मों की भलीभांति अभिव्यक्ति मिलती है।—

"जो चउ घातिया कर्म महामल,
धोई अनन्त चतुष्टय पाई।
धर्म दुधातम के करता प्रभु
तीरथ रूप त्रिलोक के राई॥"

+ + +

"देश घाति की छव्वीस, बाकी एक सौ
अघाती।
तीनों घाती कर्म घात, आप शुद्ध जानिए॥"

ज्ञानावरण कर्म जीव के ज्ञान विकास में बाधक बनते है। जीवात्मा अशुद्ध कर्म का क्षय तथा ज्ञान का प्रकाश अपने जीवन में पाना चाहता है। जैन कवियों ने सम्यग्ज्ञान का महत्त्व इन शब्दों में दिया है—

'ज्ञान दरश, चारित्र, तप वीरज परम
पुनीत।
ये ही पापाचार में विचरहि श्रमण
सभीत॥"

+ + +

"पञ्च भेद जाके प्रगट, ज्ञेय प्रकाशन मान।
मोह तपन हर चन्द्रमा सोई सम्यक् ज्ञान॥"

दर्शनावरणी कर्म आत्मा के दर्शन गुण में बाधक होते है। आत्मा के स्वरूप के दर्शन जीव इस कर्म के प्रभाव में नहीं कर पाता। जैन-आम्नाय में सम्यक् दर्शन को प्रधानता दी गई है। सम्यक् दर्शन करके ही जीवात्मा सम्यक् ज्ञान प्राप्त कर सकता है और जब तत्निर्देश नियमों का आचरण करता है तभी सम्यक् ज्ञान अपने में मुखरित होता है। इन तीनों के सम्मिलित रूप को जैन दर्शन में 'रत्नत्रय' कहा गया है। रत्नत्रय मोक्ष मार्ग का प्रथम सोपान है। जैन काव्य में रत्नत्रय का प्रतिपादन इस प्रकार मिलता है।

"रत्नत्रय की प्रापति लीन्हें,
दुर्लभ, सफल मनुज सब कीन्हे।"

+ + +

"सम्यग्दर्शन, सम्यग्ज्ञान,
सम्यग्चारित्र परम महान।

+ + +

चहुंगति फणि विष हरण मणि,
दुख पावक जलधार।
शिव सुख सुधा सरोवरी
सम्यक्त्रयीनिहार॥"

कर्म बन्धन तथा अनेक कारणों का अभाव होकर परिपूर्ण आत्मिक विकास ही निर्वाण है निर्वाण साधन में निम्न तत्त्वों का समागम होता है—

'जीव, आश्रव, बंध, संवर, निर्जरा मोक्ष'

कर्म पुद्गल की जीव द्रव्य के संयुक्त होने की अवस्था आश्रव कहलाती है। जीव के द्वारा प्रतिक्षण मन से, वचन से काम से. जो कुछ अशुभ या शुभ प्रवृत्ति होती है वही जीव का आश्रव है। सर्व साधारण जनों को कषायवश होने के कारण ये आश्रव आगामी बन्ध का कारण बनता है। हिंसा, चौर्य, असत्य, परिग्रह कुशील ये आश्रव के पांच द्वार है।

आश्रव के कारण जीव का वन्ध होता है। जब जीव अपने अनन्त अनादि जैसे स्वाभाविक गुणों के स्मरण द्वारा कर्म वन्धन से मुक्त होने की चेष्टा करता है। तभी कर्म के आश्रव में बाधा पड़ती है।

"कर्मन के आश्रव निरोधिवे के भाव भए।
तेहि परिणाम भाव संवर कहीजिए।।"

आश्रव का निरोध ही संवर है। संवर आश्रव के द्वार वन्द कर देता है नवीन कर्मों का आगम रुक जाता है। संवर के आश्रम में गुप्ति, समिति अनुप्रेक्षा, परीषह, व्रत, चारित्र आते है। इनके पुंजीभूत रूप संवर है जिसके द्वारा आत्मा पुद्गल से अपनी रक्षा करता है। संवर के द्वारा नवीन कर्मो का आस्रव रुकता है तथा संचित कर्मो का क्षय होता है। कर्मो का क्षय होना ही निर्जरा है। निर्जरा की प्राप्ति तप, संयम से होती है। तप निर्जरा से जीवात्मा निर्मल हो जाती है और अपनी साधना द्वारा मोक्ष को प्राप्त करती है जो चिर-सत्य है और जिसे प्राप्त करने को मानव चिरकाल से प्रयत्नशील है।

मुनि श्रमण

सच्चा श्रमण वही है जिसका
नहीं किसी से द्वेष हो।
सारे जीव जिसे प्यारे हों।
समदर्शी परिवेश हो।।

—अर्हत्

Place of Jaina Acaryas and Poets in the history of Kannada Language, Literature and Culture

Dr. A. N. Upadhye, Kolhapur

I have been, in my own humble way, associated with the Bharatiya Jnanapitha ever since its inception, a quarter of a century ago. when it was suggested that I should say a few words on the contributions of Jaina Poets and Aearyas to the enrichment of Kannada Language, literature and Culture. I thought it was indeed my duty to do so. Sahu Jain Charitable Society has established a Chair of Jainology in the University of Mysore, and there could be no better occasion than this to make an honourable mention of these contributions in general.

History exists only for those who care to know it. Any society which is unmindful of the achievements of its ancestors may be in danger of losing its individuality in the dismal abyss of time; and a creditable future cannot be built up except on the foundations of the past and without worthy efforts in the present Karnatak has its own past, and its future could not be anything but promising. It is on the whole a territory of rich black soil, as its very name indicates, watered by rivers like the Krishna and the Kaveri. it is but natural that it proved a fertile bed for the growth of prosperous Kingdoms and great cultural centres. Jaina saints have been associted with this area right fron the days of Chandragupta Maurya who, as tradition tells us, abandoned his kingdon and accompainied Bhadrabahu to Kalbappu, the present site of Shravan Belgol.

Wherever the Jaina saints went, they used the language of the local people and enriched it for effective expression. For them language has been only a means to an end. They never invested any language with sentimental importance, much less did they cultivate in isolation. They wanted people to learn lessons in good behaviour for so-

cial stability; and they expected their energy in building up such literature as would inculcate ethical standards and moral values in the society.

Lord Mahavira was the first one to preach in the popular dialect of Magadha, and Buddha too adopted the same method. This example is followed by great men who had the interest of the common man uppermost in their minds Asoka and Kharavel recorded their inscriptions in Prakrit; and through our history, our Teachers, who wanted to good to the masses, always preferred the popular languanges. we have glaring examples of Basavesvara, Jnanesvara, Tulasidasa, Vidyapati and others.

The example of Mahavira has been followed by subseqent Jaina teachers and authors; and they have enriched the language of the locality wherever they lived. This is true of Tamilnadu, Karnatak, Rajasthan, Gujarat and other parts of India.

The earliest known prose works in Kannada, the Vaddaradhane and Cavumdarayaurna (978 A. D.), are by Jaina authors. The former (to be assigned to c. 900) is a remarkable piece of literature both from the points of view of language and contents. The classical style developed in Kannada Kavyas we owe to three great Jaina poets, commonly known as ratna-traya, viz., Pampa (942 A. D.), Ponna (950 A. D.) and Ranna (993 A. D.). They were well acquainted with classical Sanskrit models. They cultivated Kannada language so effectively that in their expression is seen a classical perfection, a matter of envy among the contemporaries. They were not working in isolation but were just expressing the spirit of the golden age that was inaugurated during the Rashtrakuta period, in which Virasena and Jinasena (837 A. D.) wrote their great commenteries, Dhavala, Jayadhavla and Mahadhavala, remarkable achievements in the history of Indian literature. what they did for Jaina Siddhanta in the Rashtrakuta kingdom, Sayanacarya subsequently achieved for the Vedas under the great Vijayanagar rule. The efforts of Jaina authors inenriching kannada language went side by side with what some of them were doing in Sanskrit and Prakrit. The kavirajamarga (850 A. D.) attributed to the Rashtrakuta king Nrpatuiga clearly show that rich Kannada literature was already available in his times. In addition to there three great poets mentioned above, authors like Nagacandra (c. 1100 A. D.), Nayasena (1112 A. D.), Aggala (1189 A. D.) and others developed a catching style, and they were imitated by subseuent poets. Andayya's (c. 1235 A. D.) style and vocabulary strike a new note

in the development of Kannada, and its full linguistic implications are a matter of investigation. In fact, he can be looked upon as one of the earliest of the purists.

Bhattakalanka (1604 A. D.) once raised a question whether Kannada could be considered dignified enough to be used for the Sastras and right answered it by pointing out to greet Kannada works of the past. Nemicandra, a contemporary of Camundaraya (978 A. D.), wrote Gommatasara and other works in Prakrit; and Kesavavarni (1359 A. D.) composed learned commentaries on them in Kannada. It is an event in literary history that one Nemicandra, resident of Chittor (in Rajasthan came to Karntak, studied these Kannada commentaries under Visalakirti during the reign of Saluva Malliraya (beginning of 16th century A. D.), and rendered them into Sanskrit. It is this commentary and its Hindi translation by Pt. Todaramallaji of Jaipur that are studied even today, At present we are only talking of culturai integration, but our ancestors Just practised it as a part of their dignified intellectual living. It is no exaggeration to say that Kannada would not have developed it as rich vocabulary and chaste style but for the pioneer efforts of Jaina poets and authors.

The literary aptituds of Jaina authors were broad-based and covered subjects even outside their religion. They could thus receive approbation of the intellectuals of their times. Apart from the Kavyas, the Jaina authors like Kesiraja (1260 A. D.) and Bhattakalanka (1604 A. D.) wrote on grammar, Nagavarma (c. 990 A. D.) on metrics, Rajaditya (c. 1190 A. D.) on methematics and Manaraja (1380 A. D.) on medicine. Eminent logicians like Akalanka, Vidyananda and Vadiraja who have to their credit Jaina Nyaya works in Sanskrit belong to this very area. Karnatak is rich in inscriptions as one can easily see from the volumes of the Epigraphia Carnatica. The number of these in Srvana Belgol is very large, and some of them are fine specimens of literature. The great poet Ranna has left his autograph Kavi Ratna on aboulder in Belgol, If this Ranna was the poet of the princes, Ratnakera (1530 A. D.) was the poet of people. Ratnakara's verses are sung by boys and girls in South Kanara; old ladies recite them on the grinding wheel; and elderly people make them a part of their daily study. Ratnakaras Bharatesa Vaibhava is a poetic prism in which manifold aspects of life duly reflected.

A fertile territory is often characterised by stable kingdoms which in turn

give rise to a number of cultural activities. Though sudraka has dig at the Karnatak quarrel, the people of Karnatak have been, generally speaking, quite hospitable and peace-loving. The Jain saint by his detachment and pious life has won respect from the entire society. Acarya Simhanandi blessed the Ganga King Madhava, and what he has preached to him constitutes eternal moral guidance for any society. That famous verse runs thus :

नुडिदुद नारो ऊं नुडिदु तप्पिदोडं जिनशासन क्कोडं
वडदोड मन्य नारि गेरेददद्दोडं मधुमांस सेवेगे
य्दोऽम कुली नरप्प वर कोट कोडेयदी डम थिगर्थमं
कुड दोड माह वांगण दोलो डिदोडं किडुगुं
कुलव्रतं ॥

This passage can be freely rendered thus: If you fail to keep your promise, if you reject the Jaina ethos, if you desire others' wife, if you eat flesh or drink, if you breed familiarity with the unworthy, if you refuse help to the needy, if ‹u desist the battle-field, you will-bring disgrace to your family.

Jinasena was respected by Amoghavarsha, and Ajitasena was revered by Camundaraya. A forlorn author from the North like Puspadanta (965 A.D.) came to Manyakheta (mod. Malakhed), the then capital of the Rashtrakutas, enjoyed patronage there and wrote his monumental works in Apabhramsa. This is a typical example of how the Karnatak rulers extended patronage to poetic talents wherever they were found. Jaina saints preached fourfold dana or gifts: ahara (food), abhaya (shelter), ausadha (medicine) and sastra (Knowledge); and these bestowed tremendous benefit on society In fact this is one of the important aspects of Jainism as its emphasis on social service, and this made it easily acceptable to any pecple. The parctice of this religion was not merely a formality or social conformity; but it went deeper. The Ganga ruler Marsimha (974 A. D.) and the Rashtrakuta king Indra IV (982 A.D.) relinquished their soveriegnty and practised the Jaina vow of Sellekhana on the eve of their life: the former died at Bankapur and the latter at Sravana Belgol. Temples of Jaina were built everywhere, and many of them are remarkable for their exquisite beauty and architectural skill. It is from here that Gujarat took inspiration; and what was cut in black stone in Karnatak came to be chiselled in marble in Gujarat, Great rulars, generals, merchanįs and eminent ladies had a warm sympathy for Jaina institutions. The monolithic image of Gommatesveara at Sravana Belgolgot carved by Gamundaray, who combined in himself an author in Kannda and Sanakrit and a general with great military feats to his credit, is a national monnment of universal interest. Gommatesvara is standing on the peak of a hill facing the North. His benign fact with subdued smile quietly conveys the message that fraternal feuds cannot be settled on the battle field. The freestanding pillars (manastambha) in front

of the Jaina temles, especialy in Karnataka, are a specimen of fine art. The collections of Mss in some of the Jaina Mathas and temples are part of our natinol wealth. who does not know the name of that great lady, Attimabbe, the daughter of general Mallappa, under the western Chalukya ruler Tailapa (997 A. D.) She wos a great lady of ideal piety. She was so pure and noble that a poet had compared her with the Ganges and a heap of snow-white cotton. She got prepared 1000 copies of Ponna's Santipurana and distributed them all over the country. Perhaps, Smt Ramaji here is emulating the great example of Attimabbe, and the Bharatiya Jnanapitha under her presidenntship is printing 1000 coipes of rara works. The Jaina have thus contributed a great deal to the culture of Karnatak as much as they have done to some other part our country.

I must also mention that Jains and their institutions have suffered a good bit in the socio-poltical upheavals in the history of the South; but the historians have recognised it to their credit that even when they enjoyed political patronage or weilded political power, there was not a singie instance of religious persecution in the annals of Jaina history. Like the true sons of the soil they have been constantly loyal to their land, fostering meximum amity and tolerance with all those with whom they were destined to live. A poet rightly speaks of the beautiful Karnatak which has been the veritable home of Jainism:

जिनधर्मावासमादन्त मल विनय-
दागार मादन्तु पद्मा-
सन निर्यासद्मादन्त तिवि
शदयशोधाम मादन्त विद्या-
धन जन्म स्थान मादन्त समतरल
गम्भीर सदेहमाद-
त्ते निय सत्कि तुल्ल नाना महिमे
योले सेगु चारू कर्णाटदेशं ।

To render it freely, this charming Karnatak, the abode of Jainism, the home of pure modesty, is the favourite haunt of the Brhman. This land shines in its many spelndoured glory; it is the fountainhead of all (the wealth of) Knowledge and it preserves its own solemn dignity.

* This lecture was deliverd by Dr. A. N. Upadhye in Delhi.

हरिवंश-कार जिनसेन की गुरु-परम्परा

□प्रेमचन्द जैन

आचार्य जिनसेन ने अनेक परम्पराओं का उल्लेख किया है। भार्गव ऋषि की शिष्य परम्परा के सम्बन्ध में बताया गया है कि भार्गव का प्रथम शिष्य आत्रेय था उसका शिष्य कोयुमि-पुत्र, कौयुमि का अमरावर्त, अमरावर्त का सित, सित का वामदेव, वामदेव का कपिसूल, कपिसूल का जगत्स्थामा, जगत्स्थामा का सखट, सखट का शरासन, शरासन का रावण और रावण का विद्रावण और विद्रावण का पुत्र द्रोणाचार्य था। यह परम्परा इस रूप अन्यत्र देखने को नहीं मिलती।

हरिवंश पुराण के ६६ वें सर्ग में महावीर भगवान से लेकर लोहाचार्य तक की आचार्य परम्परा दी गई है। वहां बताया गया है कि भगवान महावीर के निर्वाण के बाद ६२ वर्ष में क्रम से गौतम, सुधर्म और जम्बूस्वामी ये तीन केवली हुए। उनके बाद सौ वर्ष में समस्त पूर्वों को जानने वाले नन्दि, नन्दिमित्र, अपराजित, गोर्वधन और भद्रबाहु ये पांच श्रुत केवली हुए। उसके बाद १८३ वर्ष में विशाख, प्रोष्ठिल, क्षत्रिय, जव, नाग, सिद्धार्थ, धृतिषेण, विजय, बुद्धिल, गंगदेव और सुधर्म ये ग्यारह मुनि १० पूर्व के धारक हुए। तदनन्तर २२० वर्ष में नक्षत्र, जयमाल, पाण्डु ध्रुवसेन और कंसार्य ये पांच मुनि ग्यारह अंग के धारी हुए। उनके बाद ११८ वर्ष में सुभद्रगुरु, जयभद्र, यशोबाहु और महापूज्य लोहार्य गुरु ये चार मुनि प्रसिद्ध आचारांग के धारी हुए।

इनके बाद महातपस्वी विनयंधर, गुप्त श्रुति, गुप्तऋषि, मुनीश्वर, शिवगुप्त, अर्हद्बलि, मन्दरार्य मित्रवीरवि, बलदेव, मित्रक बढ़ते हुए पुण्य से सहित रत्नत्रय के धारक एवं ज्ञान लक्ष्मी से युक्त सिंहबल, वीरवित, गुणरूपी कमलों के समूह को धारण करने वाले पद्मसेन, गुणों से श्रेष्ठ व्याघ्रहस्त, नागहस्ती, जितदण्ड, नन्दिषेण, स्वामी दीपसेन, तपोधन, श्रीधरसेन, सुधर्मसेन, सिंहसेन, सुनन्दिषेण, ईश्वर सेन, मुनन्दिषेण, अभयसेन, सिद्धसेन, अभयसेन, सिद्धसेन, अभयसेन, भीमसेन जिनसेन और शांतिसेन आचार्य हुए।

इनके बाद जो अखण्ड मर्यादा के धारक होकर परिपूर्ण षट्खण्डों (१–जीवस्थान, २–क्षुद्रबन्ध—३ बन्धस्वामी, ४–वेदनाखण्ड, ५–वर्गणाखण्ड और ६–महाबन्ध) से युक्त समस्त सिद्धान्त को अर्थ रूप से धारण करते थे अर्थात् षट्खंडों के ज्ञाता थे, कर्म प्रकृति रूप श्रुति के धारक थे और इन्द्रियों की वृत्ति को जीतने वाले थे, ऐसे जयसेन नामक गुरु हुए। उनके शिष्य अमितसेन गुरु हुए जो प्रसिद्ध वैयाकरण, प्रभावशाली और समस्त सिद्धान्त रूपी सागर के पारगामी थे। ये पवित्र पुन्नाट गण के

अग्रणी-अग्रेसर आचार्य थे। जिनेन्द्र शासन के स्नेही, परम तपस्वी, सौ वर्ष की आयु के धारक एवं दाताओं में मुख्य इन अमितसेन ने शास्त्र दान के द्वारा पृथ्वी पर अपनी वदान्यता-दानशीलता प्रकट की थी। इन्हीं अमितसेन के अग्रज धर्मबन्धु कीर्तिषेण नामक मुनि थे जो बहुत ही शान्त थे पूर्ण बुद्धिमान थे, शरीरधारी धर्म के समान जान पड़ते थे और जो अपनी तपोमयी कीर्ति को समस्त दिशाओं में प्रसारित कर रहे थे उनके प्रथम शिष्य आचार्य जिनसेन हुए जो इस महान् ग्रन्थ के रचयिता हैं।

उपर्युक्त वर्णित आचार्यो में से प्रारम्भ के चार तो वही मालूम होते हैं जिन्हें इन्द्रनन्दि ने अपने श्रुतावतार में अंगपूर्ण के एक देश को धारण करने वाले आरातीय मुनि कहा है और जिनके नाम विनयधर, श्रीधर, शिवदत्त और अर्हद्दत्त हैं। विनयन्धर और विनयधर में तो कोई फर्क नहीं है। शिवदत्त और शिवगुप्त भी एक हो सकते हैं। प्राकृत रूप 'गुप्त' भ्रमवश दत्त भी हो सकता है। बीच के दो नाम शकास्पद हैं। ,महातपोभृद् विनयंधर श्रुतामृषिश्रूति गुप्तपदादिकां दधत्' इस चरण का ठीक अर्थ नहीं बैठता, [२] शायद कुछ अशुद्ध है। श्रुतिगुप्त और ऋषिगुप्त की जगह गुप्तऋषि और गुप्तश्रुति नाम भी शायद हों। यहां यह भी खयाल रखना चाहिए कि अक्सर एक ही मुनि के दो नाम भी होते है जैसे कि लोहार्य का दूसरा नाम सुधर्मा भी है।

इसमें शिवगुप्त का दूसरा नाम अर्हद्वलि है और ग्रन्थान्तरों में शायद इन्हीं अर्हद्वलि को संघों का प्रारम्भ कर्ता बताया है अर्थात् इनके बाद ही मुनिसंघ जुदा-जुदा नामों से अभिहित होने लगे।

वीर निर्वाण की वर्तमान कालगणना के अनुसार वि. संवत् २१३ तक लोहार्य का अस्तित्व समय है और उसके बाद जिनसेन का समय वि. संवत् ८४० हैं। अर्थात् दोनों के बीच में यह जो ६२७ वर्ष का अन्तर है जिनसेन ने उसी बीच के उपर्युक्त २९-३० आचार्य बतलाये हैं। यदि प्रत्येक आचार्य का समय इक्कीस बाईस वर्ष गिना जाय तो अन्तर लगभग ठीक बैठ जाता है।

वीर निर्वाण से लोहार्य तक अट्ठाईस आचार्य बतलाये गये हैं और उन सबका संयुक्त काल ६८३ वर्ष अर्थात् प्रत्येक आचार्य की औसत २४ वर्ष के लगभग पड़ती है और इस तरह दोनों कालों की औसत भी लगभग समान बैठ जाती है।

इस उपर्युक्त विवरण से हम इस नतीजे पर पहुंचते हैं कि वीर निर्वाण के बाद से विक्रम संवत् ८४० तक की एक अविछिन्न-अखण्ड गुरु परम्परा इस ग्रन्थ में सुरक्षित है, जो किसी अन्य ग्रन्थ में नहीं देखी गई और इस दृष्टि से ग्रन्थ बहुत ही महत्व का है।

१. देखिये-जैम हरिवंश पुराण-४५-४५-४७

२. इस चरण का अर्थ पं. गजाधरलाल शास्त्री ने 'नयंधर ऋषि, गुप्तऋषि' इतना ही किया है और पुराने वचनिकाकार पं. दौलतराम जी ने 'नयन्धर ऋषि श्रूति ऋषि गुप्ति' किया है।